प्रश्न और उत्तर

(१९५४)

प्रश्न और उत्तर

(१९५४)

श्रीमातृवाणी

प्रश्न और उत्तर

(१९५४)

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण १९८०
मूल फ्रेंच भाषा में 'आंत्रतिर्वे : १९५४' के नाम से सन् १९८० में प्रकाशित
स्वत्वाधिकार श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट १९८०
हिन्दी अनुवाद © श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९८०
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ४५.००

खंड ६

श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्टकी ओरसे
श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित
श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी द्वारा भारतमें मुद्रित
वितरक :
शब्द : श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी, पांडिचेरी-६०५००२

२७ जनवरी, १९५४

(यह वार्ता माताजीके लेख "शारीरिक शिक्षा"-
पर आधारित है।)

मां, क्या व्यक्तिकी शरीर-रचना उसके चरित्रको व्यक्त कर सकती है?

नहीं। चरित्र भी तो अपने-आपमें कोई सरल वस्तु नहीं है, दूसरे शब्दोंमें, किसी व्यक्तिका चरित्र उसकी सच्ची सत्ताकी अभिव्यक्ति नहीं होता, बल्कि कई वस्तुओंका परिणाम होता है। उदाहरणार्थ, पूर्वजोंसे समानताका, यानी, व्यक्तिको जो कुछ पितासे प्राप्त होता है, जो मातासे और जो दोनों-से प्राप्त होता है — इन सबका विभिन्न प्रकारका परिणाम हो सकता है; उनके पहले क्या हुआ — पूर्व इतिहास, दादा, परदादा, आदि, भी उनके चरित्र-निर्माणमें भागी होते हैं; और फिर जिस वातावरणमें वे तब रहे थे जब वे बहुत छोटे थे, तथा पूर्णतया दूसरोंपर निर्भर थे — इस सबका भी चरित्रपर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। चरित्र भी शारीरिक रचनापर अपना प्रभाव छोड़ सकता है। अतएव, किसीको देख लेनेसे ही तुम यह नहीं कह सकते कि उसकी सच्ची प्रकृति क्या है। उसकी प्रवृत्तियोंकी तुम विवेचना कर सकते हो, उसकी कठिनाइयां और संभावनाएं जान सकते हो, किंतु जब उसकी चेतना विकसित हो जाय और उसका विकास उसकी अपनी इच्छासे व्यवस्थित रूप धारण कर ले तभी शरीर उसके सच्चे स्वभावको व्यक्त कर कर सकेगा।

और जब शरीर बीमारीसे विकृत हो जाय?

जानते हो, इसका कारण कोई दुर्घटना भी हो सकती है। दुर्घटनाओंके कई कारण होते हैं; वस्तुतः ये प्रकृतिमें शक्तियोंके संघर्षके फलस्वरूप होती हैं और यह संघर्ष विकास और प्रगतिकी शक्तियों और विनाशकी शक्तियोंके बीच-में होता है। जब कोई ऐसी दुर्घटना होती है जिसके परिणाम स्थायी होते हैं तो वह सदा ही विरोधी शक्तियों, अर्थात्, विघटन और अव्यवस्था-की शक्तियोंकी थोड़ी-बहुत आंशिक विजयके परिणामस्वरूप होती है। यह देखनेकी बात है।

कुछ ऐसी शिक्षाएं भी होती हैं, उदाहरणार्थ, थियोसोफीकी जो कर्मको एक बिलकुल तलीय और मानवीय अर्थमें ही लेती हैं और तुमसे कहती हैं: "ओह! तुम्हारे साथ यह दुर्घटना इसलिये हुई कि पूर्व जन्ममें तुमने कोई बुरा काम किया था, अतएव वही तुमपर अब दुर्घटनाके रूपमें आया है।" यह ठीक नहीं है, बिलकुल ठीक नहीं है। यह न्याय केवल मानवी ढंगका है, प्रकृति या भगवान्‌का नहीं।

स्वभावतया शरीरकी रचना इस अर्थमें बहुत महत्त्व रखती है कि यदि व्यक्ति, उदाहरणार्थ, सदा ही अवसाद, निराशा या निरुत्साहके प्रभावके तले रहे और जीवनमें विश्वास या भरोसेको खो दे, तो कहा जा सकता है कि यह सब उसकी सत्तामें घुस जाता है और तब दुर्घटनाकी संभावना होते ही मनुष्य उसमें अवश्यम्भावी रूपसे ग्रस्त हो जाते हैं। जब कभी उन्हें कुछ होनेकी संभावना होती है, चाहे वह दुर्घटना हो या कोई रोग, वे उसकी चपेटमें आ जाते हैं। तुम्हारे सामने निरीक्षणके लिये सारा क्षेत्र खुला पड़ा है — हमेशा वह-के-वही लोग दुर्घटनाओंकी चपेटमें आते हैं। दूसरे भी वही कार्य करते हैं, उनके साथ भी दुर्घटनाके कई अवसर आते हैं, किंतु वे अछूते बने रहते हैं। यदि तुम इनके चरित्रका निरीक्षण करो तो देखोगे कि पहले प्रकारके व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति निराशावादी होती है और वे किसी असुखकर घटनाकी ही आशा करते रहते हैं — और फिर वह हो भी जाती है। या फिर उनमें हर समय एक भय समाया रहता है। हम जानते हैं कि भय सदा वही वस्तु हमारे सामने ले आता है जिससे हम भय करते हैं। यदि तुम दुर्घटनासे डरते हो, तो यह डर उसे तुम्हारी ओर ले आनेके लिये चुंबकका काम करेगा। इस अर्थमें, यह कहा जा सकता है कि यह व्यक्तिके चरित्रका ही परिणाम है। और यही बात बीमारीके साथ भी है। कुछ लोग बीमारोंके बीच तथा उस स्थानपर जहां महामारी फैली हुई है बड़े आरामसे घूम-फिर सकते हैं, उन्हें कभी कोई बीमारी ही नहीं होती। और कुछ ऐसे होते हैं जिनके लिये किसी रोगीके साथ एक घंटा बिताना ही काफी होता है, वे चट-से बीमारीकी लपेटमें आ जाते हैं। यह भी उसीपर निर्भर करता है कि वे अंदर क्या हैं।

क्या बच्चोंके साथ भी ऐसा होता है?

कहा नहीं जा सकता। यह एक नैतिक प्रश्न है, नैतिक दृष्टिसे इस समस्यापर विचार नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहना चाहिये कि जो

बच्चे सदा स्वस्थ रहते हैं, जिनके साथ कुछ भी नहीं होता वे "अच्छे बच्चे" हैं और जिनके साथ दुर्घटनाएं होती हैं या जिनपर विपत्तियां आती हैं वे "बुरे" हैं। यह बात ठीक नहीं है। कारण, जैसा कि मैं कह रही थी, प्रकृतिका तर्क मानवी तर्क नहीं है और उसकी न्याय-भावनाका तर्क भी (यदि उसमें कोई है तो) मानव अर्थोंमें तर्क नहीं है। जिसे हम बुरा या भला कहते हैं वह नाममात्रको ही है। बल्कि यह कहा जा सकता है, वहां जो कुछ उपस्थित है वह या तो रचनात्मक है या विनाशकारी, प्रगतिशील है या ह्रासकारी। यह सचमुच बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। और फिर ऐसे लोग भी हैं जो प्रकाशपूर्ण, प्रसन्न, प्रफुल्ल और सदा मुस्कराते रहते हैं और कुछ ऐसे हैं जो उदास, सुस्त, द्रोही और असंतुष्ट रहते हैं, अंधकारमें ही निवास करते हैं। ये ही लोग हमेशा अप्रिय स्थितियोंमें जा गिरते हैं। जो लोग दीप्तियुक्त हैं (आध्यात्मिक दीप्ति भले न हो, यह दीप्ति विवेक-बुद्धिकी, संतुलनकी, एक आंतरिक विश्वासकी और जीनेके आनंदकी भी हो सकती है), जिन लोगोंमें जीनेका आनंद होता है, वे प्रकृतिके साथ सामंजस्यके भावमें रहते हैं और प्रकृतिके साथ सामंजस्य रखकर ये साधारणतया दुर्घटनाओंसे बच जाते हैं, बीमारियोंसे भी बचे रहते हैं, उनका जीवन इस संसारमें, जैसा कि वह है, यथासंभव सुखकर रूपमें विकसित होता रहता है। और अब?

"यह एक प्रचलित विश्वास है कि प्रतिभावान् मन दुर्बल शरीरोंमें पाये जाते हैं।" मेरी समझमें यह बात नहीं आ रही।

यह पिछली सदीके पुराने विचार थे। आजकल इनका चलन नहीं है, किंतु पिछली सदीके अंतमें कहा जाता था कि व्यक्ति जितना अधिक दुबला और रोगी होगा उतना ही अधिक बुद्धिमान भी होगा! कुछने तो यह भी कहा कि ऐसे व्यक्तियोंकी बुद्धि इसलिये विकसित हो जाती है क्योंकि वे अपने शरीरसे कुछ आनंद नहीं प्राप्त कर सकते — क्योंकि वे पूर्ण जीवन बितानेमें बिलकुल असमर्थ होते हैं और उनका सारा ध्यान मनकी ओर चला जाता है, और इसी प्रकार उनकी बुद्धि विकसित होती है। एक ऐसा समय भी था जब थोड़ा रोगी दीखना फैशन बन गया था। उदाहरणार्थ, कवि ऐसा ही दीखनेकी कोशिश करते थे...। कलाकारको थोड़ा रोगी-सा दीखना पड़ता था ताकि लोग समझें कि उसके मनमें एक आग जल रही है! पर अब यह सब समाप्त हो गया है। मेरा ख्याल है कि यह बात तुम्हारे जन्मसे पहले ही समाप्त हो चुकी है। पिछली

सदीका अंतिम भाग रूमानी भावनाका युग था। उदाहरणार्थ, मूसे जैसे व्यक्ति — मुझे नहीं मालूम कि तुमने कभी मूसे का चित्र देखा है या नहीं, वह सचमुच बड़ा भावुक और रोगी-सा दीखता था, और ऐसा अधिक-से-अधिक दीखनेके लिये वह कपड़े भी वैसे ही पहनता था। तब ऐसा समझा जाता था कि यह सब उसे एक कलात्मक और काव्यमय रूप प्रदान कर रहा है। किंतु अब इसका जमाना नहीं रहा। लोग स्वस्थ एवं संतुलित शरीर, अच्छा स्वास्थ्य, और सबल शरीर पसंद करते हैं और यह सब बच्चोंको शारीरिक प्रशिक्षण देनेसे ही प्राप्त होता है।

मैंने एक बार एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकारकी पूर्वऐतिहासिक परिवेश या पत्थर-युगकी एक कहानी पढ़ी थी (यह एक उपन्यास था), जब मनुष्य गुफाओंमें रहते थे, जानवरोंकी खालके कपड़े पहनते थे और अपने भोजन एवं सुरक्षाके लिये शिकारपर निर्भर रहते थे। एक बार क्या हुआ, किसी दुर्घटनावश एक बच्चा लंगड़ा पैदा हुआ, वह विकलांग था या कुबड़ा या ऐसा ही कुछ और। और उन दिनों सामान्यतया (मुझे पता नहीं, पर उस कहानीमें ऐसा कहा गया है), विकलांग बच्चे नष्ट कर दिये जाते थे, क्योंकि वे बोझ बन जाते थे। किसी-न-किसी कारणसे मांने उसे छुपा दिया था और वह जीता रहा। यह लड़का बड़े होनेपर न शिकार कर सकता था और न कोई ऐसा काम जो उसके साथी करते थे। उसने अपने मनको इतना विकसित कर लिया कि कहते हैं वह पहला कवि बना, कारण, जो कुछ उसके साथी अपने हाथोंकी चेष्टाओंसे करते थे उसे वह अपने शब्दोंमें व्यक्त करने लगा। हां, तो ऐसे ही विचार इस भावनाके मूलमें कार्य करते हैं कि मनके सशक्त होनेके लिये शरीरको नकारा जा सकता है और यह भी कि व्यक्ति जितना अधिक रोगी होगा उतना ही अधिक बुद्धिमान् होगा। है न मूर्खता की बात?

यह सत्य है कि एक प्रकारकी स्वतंत्रता होती है। मैंने तुम्हें पिछली बार एक फ्रेंच कवि, सली प्रूद्योम, के बारेमें बताया था जो किसी गंभीर और कष्टप्रद रोगसे मर रहा था। ऐसे समयमें ही उसने अपनी सबसे सुन्दर कविताएं लिखी थीं और अपने मित्रोंसे सुन्दरतम बातें कही थीं। उसका मन उसके शरीरसे स्वतंत्र था। तो भी यह एक ऐकांतिक नियम नहीं है।

बच्चोंमें अंतरात्मा सदा आगे रहती है, ठीक है न?

सदा नहीं। अंतरात्मा उस समयसे पहले, जब वे बड़े हो जाते हैं और

उनका मन विकसित हो जाता है अवश्य अधिक "आगे" रहती है, किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि सभी बच्चोंमें अंतरात्माको अनुभव किया जा सकता है। और हम यहांके बच्चोंको देखकर ही अपना मत नहीं बना सकते, क्योंकि जब बच्चे यहां लाये जाते हैं तो उन्हें यहां रखनेके लिये मेरी शर्त यह होती है: यदि मैं उनकी अंतरात्मा उनके ऊपरी तलपर देख लूं तो मैं उन्हें ले लेती हूं, पर यदि वह तरह-तरहकी विकृत चेष्टाओंमें छुपी होती हैं तो मैं उन्हें स्वीकार नहीं करती। अतएव, जो बच्चे यहां हैं वे अपवाद हैं। वे श्रेष्ठ सार-रूप हैं, चुने हुए हैं।

किंतु इनमें लोभी बच्चे क्यों हैं?

ओह! लोभी! यह तो कोई भारी अपराध नहीं है! लोभी बच्चे हैं। शायद उनकी पाचन-क्रिया कमजोर है, इसलिये वे सदा खाते रहना चाहते हैं। पर खानेसे उन्हें कुछ लाभ नहीं होता। समूची बाह्य सत्ता ही सभी प्रकारकी कठिनाइयोंमें ग्रस्त है, सभीकी—बच्चोंकी भी—यही अवस्था है। यह अधिक उचित होता, यदि तुम मुझसे यह पूछते: "कुछ बच्चे क्रूर क्यों हैं?" यह बात सबसे अधिक भयानक है ...। किंतु यह अ-चेतनताके कारण होता है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि उन्हें यह भी पता नहीं कि वे दूसरोंको कष्ट पहुंचा रहे हैं। सामान्यतया, यदि उन्हें यह बात समझा दी जाय — उदाहरणार्थ, उनके अपने अनुभवद्वारा — तो वे समझ जाते हैं। जो बच्चे जानवरोंके साथ बुरा व्यवहार करते हैं (ऐसे कई हैं) — हां तो, वह इसलिये कि उन्हें यह पता ही नहीं कि जानवर भी उन्हींकी तरह कष्ट अनुभव करते हैं। जब उन्हें यह बात समझा दी जाय कि जब वे जानवरोंको चुटकी भरते हैं या उनके बाल खींचते हैं या उन्हें मारते हैं तो उन्हें भी पीड़ा होती है और यदि आवश्यकता पड़े तो उनके शरीरमें भी ऐसी ही पीड़ा पहुंचाकर उन्हें यह दिखा दिया जाय तो वे फिर नहीं करते!

कुछ बच्चे विशेष रूपसे दुष्ट होते हैं। ये एक विश्वासघाती प्रभाव-तले होते हैं। और कभी-कभी यह बात इनके शैशवसे ही दृष्टिगोचर होने लगती है और यदि उन्हें बदला न जाय तो वे सारी आयु ऐसे ही बने रहेंगे, उन्हें बदलना आसान नहीं होता।

भौतिक और आंतरात्मिक सत्तामें तथा मानसिक और प्राणिक सत्तामें एक प्रकारका संबंध होता है। मानसिक सत्ता अधिकतर प्राण-प्रधान होती है। आंतरात्मिक सत्ता अधिकतर देह-प्रधान होती है। क्योंकि बच्चोंकी आंत-

रात्मिक सत्ता आगेकी ओर होती है, ठीक इसीलिये वे पूरी तरह अपने शरीरमें ही रहते हैं। किंतु ज्यों ही मन विकसित होने लगता है, उनकी इस संबंधकी ओर रुचि भी बढ़ने लगती है और उसके साथ विकृतियां भी। जो लोग पुरुष और स्त्रीमें बड़ा कड़ा विभेद करते हैं (मुझे पता नहीं क्यों, दोनों समान रूपसे अच्छे हैं), वे कहते हैं कि पुरुष मानसिक और प्राणिक सत्ता है, जब कि स्त्री भौतिक और आंतरात्मिक। इसमें कुछ सत्य-का अंश अवश्य है। किंतु स्वभावतया इसमें सब प्रकारके संभव अपवाद और जटिलताएं भी हैं। ये सब मनमाने सरलीकरण हैं। वस्तुतः भौतिक सत्तामें एक प्रकारकी सरलता होती है और सद्भावना भी (जो सदा बहुत ज्ञानपूर्ण नहीं होती, बिलकुल नहीं), किंतु ऐसी सरलता और सद्भावना होती है जो इसे प्राणके आवेगों या मनकी छलनाओंकी अपेक्षा अंतरात्माके अधिक निकट संबंधमें ले आती है। और शायद इसीलिये ही बच्चोंमें उनकी आंतरात्मिक सत्ता अधिक शांतिसे रह सकती है, क्योंकि वहां मानसिक और प्राणिक विरोध उसे सब समय झकझोरते नहीं रहते।

यह कैसे जाना जाय कि आंतरात्मिक सत्ता आगेकी ओर है या नहीं?

कौन? व्यक्ति स्वयं? ... उसका अनुभव नहीं होता क्या? तुम्हें अनुभव नहीं होता? मैं छोटे बच्चेकी बात नहीं कह रही हूं, क्योंकि उसमें न नियंत्रण-की शक्ति है और न निरीक्षणकी, उसमें अपने-आपको देखनेकी योग्यता भी नहीं होती। किंतु, जब व्यक्ति बिलकुल छोटा बच्चा नहीं रहता, क्या तब भी वह अनुभव नहीं करता? क्या उसे कोई अंतर नहीं अनुभव होता? ... (बच्चा "हां" में सिर हिलाता है।) ओह! ... तुममेंसे ऐसा एक भी नहीं होगा जो मुझसे यह कहनेका साहस कर सके कि जब उसमें अंतरात्मा आगे होती है, जब वह अपने अंदर अच्छा महसूस करता है, अपनेमें प्रकाश, आशा, सद्भावना, उदारता, संसारके लिये करुणा, आदि, अनुभव करता है, और जीवनको कर्म, विकास और चरितार्थताके क्षेत्रके रूपमें लेता है तो उसे कुछ अंतर नहीं प्रतीत होता। क्या इस अवस्थामें और उसमें फर्क नहीं लगता जब वह ऊबा हुआ होता है, शिकायत करता है, जब उसे सब कुछ कुरूप, असुखकर और दुष्टतापूर्ण दिखायी देता है, जब वह किसीसे प्यार नहीं करता, सब कुछ तोड़-फोड़ देना चाहता है, क्रोधित हो उठता है, क्षुब्ध, निःशक्त, निरुत्साहित और निरानंद हो उठता है? इससे फर्क पड़ता है, पड़ता है न?

अंतर हो सकता है, किंतु व्यक्ति यह नहीं समझता कि अंतरात्मा कोई अलग वस्तु है?

स्वभावतया, यदि तुम्हें किसीने कभी यह नहीं सिखाया हो कि अंतरात्मा क्या है या प्राण क्या है, तो तुम्हें उसके बारेमें कोई धारणा नहीं होगी। तुम कह सकते हो: "आज मेरी अवस्था अच्छी है, कल ऐसी नहीं थी।" चौबीस वर्षकी आयुतक मुझे इन सब बातोंके विषयमें कुछ पता न था, पर तो भी मैं अपनी इन क्रियाओंमें विभेद कर सकती थी। मैं इन शब्दोंका प्रयोग अवश्य नहीं करती थी क्योंकि किसीने इस विषयमें मुझे बताया नहीं था, न ही मैंने पढ़ा था, किंतु मैं बड़े स्पष्ट रूपसे विभिन्न क्षणोंमें या अपनी चेतनाकी अवस्थाओंमें भेद कर सकती थी।

किंतु तुम तो यहां हो, और तुमने इस संबंधमें जो कुछ सुना है, पढ़ा है और जो कुछ मैंने तुम्हें सिखाया है उसके बाद तुम्हें अपने अंदरकी क्रियाओंसे अभिज्ञ होना ही चाहिये और उनके विषयमें यह कह सकना चाहिये: "यह यह है, यह कुछ और है।"

क्या तुम्हें उन दिनोंका पता रहता है जब तुम स्वस्थ रहते हो और उन दिनोंका भी जब तुम बीमार हो जाते हो? मेरा मतलब शारीरिक अवस्थासे है। क्या तुम्हें पता होता है?

शरीरके बारेमें, हां।

शरीरके बारेमें, निश्चित रूपसे? जब तुम सवेरे जागते हो, तो क्या तुम कह सकते हो कि आज संतुलन ठीक है या नहीं?

वह तो रोज बदलता रहता है।

यह सच है, वह सब समय बदलता रहता है। एक दिनमें भी कई बार। किंतु जब तुम सवेरे उठते हो, जागकर अपना दिन आरंभ करते हो, तो क्या नित्य प्रति एक ही तरहसे आरंभ करते हो?

नहीं।

ओह! कुछ ऐसे दिन होते हैं जब सब कुछ सामंजस्यपूर्ण प्रतीत होता है, और कुछ ऐसे, मानों तुम चक्कीमें पिस रहे हो। तुम्हारे अंदर वस्तुएं

चक्कर नहीं काटती, वरन् रगड़ी जाती है। हां तो, कुछ-कुछ ऐसा ही होता है। पहले शरीरकी ओर देखो, फिर अपने वेदनों और संवेदनों को भी देख सकते हो (यह एक प्रकारका आंतरिक आभास होगा), और फिर तुम अपने मस्तिष्कको भी देख सकते हो कि तुम्हारा सिर स्वच्छ है या धुंधला। हां?

हां।

हां, तो यह वही बात है।

सत्ताके कौन-से भागमें निरीक्षणकी शक्ति विकसित होती है?

मेरा ख्याल है कि निरीक्षणकी शक्ति सत्ताके सभी भागोंमें विकसित होती है। तुम्हारे अंदर मनकी निरीक्षण-शक्ति हो सकती है, प्राणकी निरीक्षण-शक्ति हो सकती है और शरीरकी निरीक्षण-शक्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ, जब तुम विचारोंको, विचारोंकी शृंखलाको, विचारोंके तर्कको देखते हो, तब निरीक्षणकी वही शक्ति नहीं होती जिसे तुम तब देखते हो जब तुम अपने किसी मित्रको व्यायाम, आदि, करते देखते हो और यह देखते हो कि व्यायामकी क्रियाएं ठीक ढंगसे कर रहा है या नहीं। यानी, मनोयोगकी क्षमता दोनों अवस्थाओंमें है, किंतु उसका कार्यक्षेत्र भिन्न है। यह नहीं कहा जा सकता कि सत्ताका एक भाग दूसरे भागोंको देख रहा है; सत्ताके प्रत्येक भागमें देखनेकी सामर्थ्य — अर्थात्, एकाग्रता और मनोयोगकी सामर्थ्य विकसित हो रही है। निरीक्षणकी सामर्थ्यको विवेककी सामर्थ्यके साथ नहीं मिला देना चाहिये। विवेक बौद्धिक क्षमता है। निर्णय जैसी वस्तु भी उसमें होती है, जिसे हम "विभेद कर सकनेकी क्षमता" कहते हैं: तुम किसी एक या दूसरी वस्तुके मूलस्रोत तथा इन वस्तुओंके पारस्परिक मूल्यके बीचमें विभेद कर सकते हो। किंतु यह कार्य यथार्थ निरीक्षणपर आधारित होना चाहिये। निरीक्षणकी शक्ति पहले आती है, विभेद करनेकी बादमें।

क्या अंतरात्मामें निरीक्षणकी शक्ति होती है?

इससे भी अधिक! उसमें वस्तुओंकी ओर सीधा देख सकनेकी शक्ति भी होती है। वह एक दर्पणके समान होती है जिसमें सब वस्तुओंकी परछाई पड़ती है, वे चाहे जो भी हों। और यह बात बड़े स्पष्ट रूपसे

अधिकतर बच्चोंमें होती है — यदि वे विकृत न हों तो — उदाहरणार्थ, जो कोई उनके पास आता है उसके वायुमंडलके प्रति उनमें संवेदनशीलता होती है। ऐसे बच्चे होते हैं जो, बिना किसी प्रत्यक्ष कारणके, एक व्यक्ति-की ओर ललककर जाते हैं और दूसरेसे डरकर भागते हैं। तुम्हारे लिये दोनों समान रूपसे अच्छे हैं, या अच्छे नहीं हैं, तुम उनमें विभेद नहीं करते। किंतु बच्चा एक अवस्थामें किसी व्यक्तिके प्रति तत्काल ही आकर्षित हो जाता है, और दूसरीमें, चाहे तुम जितनी कोशिश क्यों न करो, वह रोने लगेगा, चिल्लायेगा अथवा भाग जायेगा, पर उस आदमीके पास नहीं फटकेगा; और यह सब चाहे अनजानेमें करता है, पर क्योंकि उसे व्यक्ति-के आंतरात्मिक गुणका प्रत्यक्ष रूपसे आभास मिल जाता है यह उसकी चेतनामें एक आंतरात्मिक तथ्यका अनूदित रूप धारण कर लेता है।

कुछ लोग बड़ी जल्दी ही एकाग्र हो सकते हैं जब कि दूसरे ऐसा नहीं कर सकते।

वे शायद किसी एक या दूसरे कारणसे, जन्मसे ही ऐसे होते हैं, या फिर शायद यह जाने बिना कि वे क्या कर रहे हैं वे एकाग्रताका अभ्यास कर चुके हैं। हां, कुछ ऐसे बच्चे हैं जो, अपनी छोटी अवस्थामें ही, किसी बातको बड़े ध्यानपूर्वक सुनते हैं, जब कि कुछका ध्यान सदा ही बंट जाता है। किंतु विभिन्न सत्ताओंकी आंतरिक रचना ऐसी ही होती है। कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नहीं होते। कुछ व्यक्तियोंमें एकाग्रताकी महान् शक्ति होती है और कुछमें नहीं।

क्या इसे बढ़ाया जा सकता है?

हां, इसे विकसित किया जा सकता है, और इस विकासका कोई अंत नहीं। और इसे विकसित करना सर्वथा अनिवार्य भी है।

३ फरवरी, १९५४

(यह वार्ता माताजीके लेख "प्राणकी शिक्षा"-
पर आधारित है।)

> "कुछ प्राचीन गुह्यवेत्ता कहते थे कि व्यक्ति जिन इन्द्रियोंको विकसित कर सकते हैं वह संख्यामें पांच नहीं सात हैं और कुछ विशेष अवस्थामें बारह हैं। किन्हीं युगोंमें कुछ विशेष जातियोंने आवश्यकतावश, थोड़ी-बहुत पूर्णताके साथ इन परिपूरक इन्द्रियोंमेंसे एक या दूसरीको विकसित किया है। यदि लम्बे समयतक ठीक ढंगसे अनुशासनका पालन किया जाय, तो वे सब लोग जो सचमुच इनके विकास और उसके परिणामोंमें रुचि रखते हैं यह विकास साधित कर सकते हैं। जिन क्षमताओंकी प्रायः चर्चा की जाती है उनमेंसे, उदाहरणार्थ, एक यह है: भौतिक चेतनाको विस्तारित करना और उसे अपनेसे बाहर इस प्रकार प्रक्षिप्त करना कि व्यक्ति एक निश्चित बिंदुपर एकाग्र हो सके और दूरकी वस्तुको भी देख सके, सुन सके, सूंघ सके, चख सके, यहांतक कि उसका स्पर्श भी कर सके।"

इन बारह इन्द्रियोंके नाम क्या हैं?

नाम? कैल्डियन परम्परामें इनके नाम भी कैल्डियन थे। अन्य परंपराओंमें ये अन्य भाषाओंमें थे; मिश्रदेशमें ये चित्रमय लिपिमें लिखे जाते थे। प्रत्येक प्रणालीने इन्हें अलग-अलग नाम दिये थे। मेरे पास इन नामोंकी एक सूची तो थी — नामोंकी ही नहीं उसकी भी जिसके ये प्रतीक थे, प्रत्येक इन्द्रिय किसी शक्तिका प्रतिनिधित्व करती थी — किन्तु यह बहुत समय पहलेकी बात है, अब मुझे यह सब याद नहीं है। जैसा कि मैंने वहां कहा है, यह उन वस्तुओंके क्षेत्रसे संबन्ध रखती है जिन्हें चेतनाके एकाग्र प्रक्षेपके द्वारा दूसरीसे देखा एवं अनुभव किया जाता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति एक कमरेमें है, और किसी बीमारी या चोटके कारण, वह चल-फिर नहीं सकता। उसके कमरेके साथ लगा एक दूसरा कमरा है; उसके आगे एक प्रकारका पुल है, पुलके बाद कुछ सीढ़ियां हैं जो नीचे एक बागके बीचों-बीच बने बड़े-से कमरेकी ओर जा रही हैं। अब, जो

व्यक्ति कमरेमें लेटा है वह यह जानना चाहता है कि उस बड़े कमरेमें क्या हो रहा है। व्यक्ति अपनी चेतनाको एकाग्र करता है और फिर, कह सकते हैं, विस्तारित करता है (सचमुच उसने मानों उसे लगभग भौतिक रूपमें ही विस्तारित किया हो), और वह पूरा रास्ता पार कर उस कमरेमें जा पहुंचता है। यदि यह कार्य ठीक ढंगसे किया जाय, तो वह वहां जो कुछ हो रहा है उस सबको देख लेता है, उसे सुन भी सकता है, यद्यपि वह स्वयं वहां नहीं होता: शरीर कमरेमें पलंगपर पड़ा रहता है, खाली चेतना बाहर-की ओर प्रक्षिप्त की जाती है। यह भौतिक चेतना होती है। कोई आंत-रिक अवस्था नहीं, क्योंकि व्यक्ति भौतिक रूपमें देखता है, भौतिक रूपमें सुनता है। यदि उस कमरेमें लोग हैं तो वह उन्हें देखता है, और यदि वे कुछ बात कर रहे हैं तो वह उन्हें बात करते सुनता है। स्वभावतया, व्यक्तिको इस काममें पहले दिनसे ही सफलता नहीं मिलती; इसके लिये बड़े अनुशासन-की जरूरत होती है। यह कुछ-कुछ उस सामर्थ्यसे मिलती-जुलती है (बहुत थोड़ी) जो रेड इण्डियनोंमें उनके जीवनकी आवश्यकताके अनुसार विकसित हुई थी। अब मुझे पता नहीं उनकी क्या हालत है, पर उन दिनों वे पृथ्वीके साथ कान लगाते थे, और उनके कान इतने संवेदनशील होते थे कि वे मील-भरकी दूरीसे आनेवालेके पगोंकी आहट पा लेते थे। वे पृथ्वीपर कान लगाकर दो या तीन किलोमीटरकी दूरीपर चलनेवालोंकी पदचाप सुन सकते थे। या कुत्तेको ही लो, उसे यदि कोई वस्तु सुंघा दो, तो वह अपनी घ्राण-शक्तिके सहारे चलते-चलते उस वस्तुतक पहुंच जाता है। हां, तो यह एक प्रकारकी अति इन्द्रिय है, यानी, एक ऐसी इन्द्रिय जो तीव्रता एवं सूक्ष्मता-की एक ऐसी सीमातक पहुंच चुकी है कि वह उस सबको अनुभव कर सकती है जिसे सामान्य इन्द्रिय कुछ दूरीसे अनुभव नहीं कर सकती, वह सचमुच, भौतिक रूपमें दूरीसे, दीवारोंके आर-पारसे भी देख सकती है। कहा जाता है कि अंधे लोग एक ऐसी इन्द्रिय विकसित कर लेते हैं जो उन्हें दूरीसे ही किसी वस्तुको अनुभव करनेकी क्षमता प्रदान करती है। वे देख नहीं सकते, वे सदा काली रातके अंधेरेमें ही चलते हैं; किंतु उनमें दूरीसे स्पर्श पा लेनेकी क्षमतावाली एक प्रकारकी इन्द्रिय होती है, एक प्रकारकी भौतिक स्पर्शेन्द्रिय जिसके द्वारा वह वस्तुको सचमुचमें छूनेसे पहले ही जान लेते हैं; उदाहरणार्थ, यदि उनके रास्तेमें कोई कुर्सी, आदि, पड़ी हो, तो उससे टकरानेके बहुत पहले ही वे उसे दूरसे अनुभव कर लेते हैं।

बच्चे जब छोटे होते हैं तो उनका मन विकसित नहीं होता। क्या यही बात उनके प्राणके साथ भी है?

नहीं, उनका प्राण उनके मनसे कहीं अधिक विकसित होता है। तुम जानते हो कि मैंने कहा था कि वस्तुएं स्फटिक जैसा स्पष्ट रूप धारण कर लेती हैं,[1] यानी, वे एक रूप, अधिकाधिक यथार्थ रूप, अधिकाधिक ठोस रूप धारण कर लेती हैं (रूप जितना अधिक यथार्थ होगा उतना ही अधिक सुनिश्चित भी होगा)। बच्चोंमें यह पानीकी तरह तरल-सा होता है; उसका रूप बहुत ठोस और यथार्थ नहीं होगा। इसीलिये उनपर बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है, क्योंकि उपादान अभीतक लचकीला होता है, वह ठोस नहीं बना होता; यह बात देखी जा सकती है: उनमें कोई ऐसी वस्तु होती है जो जैसे चाहे मोड़ी जा सकती है, मानों कोई मक्खनको रूप दे रहा हो; किंतु, जब वे बीससे पच्चीस वर्षके हो जाते हैं, तो उनकी वह विशेष मनोवृत्ति पक्की बन जाती है, उनका चरित्र एक स्थिर मोड़ अपना लेता है और तब दोषोंको रोकनेके स्थानपर, उन्हें सुधारना आवश्यक हो जाता है। यह एक और ही बात है। यदि व्यक्ति उन्हें ऐसी शिक्षा देना चाहे जिससे वे अपनेमें बुरी आदतें न डालें या बुरी प्रवृत्तियोंके अनुसार न चलें, एक ऐसी शिक्षा जो बच्चोंको सदा ठीक रास्तेपर चलाये (जिसका वह उनसे अनुसरण कराना चाहता है), तो, ऐसा करना तभी संभव होगा जब वे छोटे होते हैं, बड़े होनेपर ऐसा करना कठिन हो जाता है। छापको बदलना आसान नहीं होता, कभी-कभी तो वस्तुओंके बदलनेके लिये उन्हें तोड़ना भी आवश्यक हो जाता है: ऐसा करना उन लोगोंके साथ आवश्यक हो जाता है जो प्रगतिशील नहीं हैं, जो रूढ़ हैं और रूढ़ ही बने रहना चाहते हैं, जो

---

[1] "कुछ लोगोंमें यह शिक्षा प्रकाशको व्यक्त करनेवाली क्रियाओंको सहायता पहुंचाती है, कइयोंमें इससे उल्टा भी होता है, दूसरे शब्दोंमें, वहां क्रियाएं अंधकारको व्यक्त करती हैं। यदि परिस्थितियां और वातावरण अनुकूल हों, तो प्रकाश अंधकारको पीछे छोड़कर विकसित होता जायेगा; अन्यथा इससे उल्टा भी हो सकता है। और इस तरह व्यक्तिका चरित्र प्रकृतिकी सनक या भौतिक और प्राणिक जीवनके निश्चयके अनुसार स्फटिकके समान ठोस रूप धारण कर लेगा, यही होगा जबतक कोई उच्चतर तत्त्व उसमें अपना प्रकाशपूर्ण हस्तक्षेप नहीं करता या फिर कोई चेतन संकल्प शक्ति प्रकृतिको अपनी सनककी प्रणालीके अनुसार चलनेकी अनुमति नहीं देती, बल्कि उसके स्थानपर एक युक्तिसंगत एवं स्पष्टदर्शी अनुशासनकी पद्धति ले आती है। इस चेतन संकल्प-शक्तिको ही हम शिक्षाकी युक्तिसंगत प्रणाली कहते हैं।"

अपनी पूरी सामर्थ्यसे अपनी तुच्छ आदतोंके साथ चिपटे रहते हैं। जब कि छोटे बच्चे नमनीय होते हैं, उनके मन बदले जा सकते हैं, उन्हें प्रगतिके पथपर चलाया जा सकता है, यह समझाया जा सकता है कि उन्हें आजकी अपेक्षा कल ज्यादा अच्छा होना चाहिये।

क्या बुरी आदतों, उदाहरणार्थ, वस्तुओंको व्यवस्थित रूपमें न रखनेकी आदतका कारण प्राणमें होता है?

यह कई बातोंपर निर्भर है। उदाहरणार्थ, कुछ बच्चे व्यवस्था-बद्ध नहीं होते, वे अपनी वस्तुओंको संभालकर नहीं रख सकते, उन्हें खो देते हैं या नष्ट कर देते हैं — इसके तीन कारण होते हैं। अधिकतर ऐसा उस बच्चे-के साथ होता है जिसमें प्राणिक शक्तिकी कमी हो। जब ऐसा होता है, जब वह अपनी वस्तुओंको संभालकर नहीं रख सकता या उसके चारों ओर सब चीज अव्यवस्थित रहती है, तो यह सदा प्राणिक शक्तिकी कमीका लक्षण होता है; वह इन बाह्य वस्तुओंमें रुचि नहीं ले पाता, क्योंकि उसमें इसके लिये काफी प्राणिक शक्ति नहीं होती। दूसरा कारण है भौतिक वस्तुओंमें रुचिका अभाव और अनुशासनका अभाव, वह अपनेको अनुशासनमें नहीं रख पाता। उदाहरणार्थ, जब बच्चे कपड़े उतारते हैं तो उन्हें चारों ओर फेंक देते हैं; या फिर, जब खिलौनोंसे खेल चुकते हैं, तो उन्हें वहीं बिखरा छोड़ देते हैं; स्कूलका काम समाप्त किया, तो सब कुछ वहीं छोड़कर उठ गये : कलम एक ओर, कापी दूसरी ओर, पुस्तक किसी और स्थानपर, और तब ये सब वस्तुएं खो जाती हैं। दुर्भाग्यवश, यही बात यहां स्कूलके अधिकतर बच्चोंमें है, वे सब कुछ खो देते हैं। मैंने पुस्तकोंको लुगदी-सा बना देखा है क्योंकि वे सारी रात किसी गमलेपर पड़ी रहीं और अगली सुबह पानी बरस गया! जब वे मिलीं, तो लुगदी-सी बन गयी थीं। किंतु ऐसा कभी-कभी होता है। पेंसिलोंका भी यही हाल होता है — मेरे पास ऐसी बहुत-सी कलमें और पेंसिलें हैं जो ऐसे ही, यहां-वहांसे उठायी गयी थीं, जो खो गयी थीं। ये प्रकृतियां बिलकुल अनुशासनहीन हैं, इनमें कार्य करनेकी कोई विधि नहीं होती, और इनके भीतर भी कोई पद्धति नहीं होती। और फिर फल यह होता है कि वे वस्तुओंसे घृणा करने लगते हैं — तो, जैसा श्रीअरविंद कहते हैं, वे वस्तुएं पानेके अधिकारी नहीं हैं। जो लोग अपनी वस्तुओंको साज-संभालकर रखना नहीं जानते, वे उन्हें पानेके योग्य नहीं हैं। श्री-अरविंदने अपने पत्रोंमें प्रायः ही इस बातकी चर्चा की है। उन्होंने कहा

है कि यदि तुम भौतिक वस्तुओंकी देखभाल नहीं कर सकते, तो तुम्हें उन्हें पानेका कोई अधिकार नहीं है। सचमुचमें यह मानव सत्तामें एक प्रकारके अहंभावका, एक अव्यवस्थाका द्योतक है, और यह अच्छा लक्षण नहीं है। और फिर बादमें जब लोग बड़े होते हैं, तो एक अलमारी अथवा अलमारीका एक खाना भी ठीक तरहसे नहीं रख पाते। वे एक साफ-सुथरे कमरेमें हो सकते हैं, लेकिन तुम मेजका एक खाना या अलमारी खोलो, तो वह मानों युद्धक्षेत्र होगा! सब कुछ तितर-बितर है। तुम प्रत्येक वस्तुको उलझा पाओगे; वहां कुछ भी व्यवस्थित नहीं होगा। ऐसे लोगोंका बेचारा मस्तिष्क भी ऐसी हालतमें होता है जिसमें उनके विचार भी उनकी भौतक वस्तुओंकी भांति अस्तव्यस्त पड़े रहते हैं। उन्होंने अपने विचारोंको व्यवस्थित नहीं किया है। उन्होंने उन्हें व्यवस्थित नहीं किया है। ऐसे लोग मस्तिष्ककी गड़बड़ीकी अवस्थामें निवास करते हैं। और यह एक निश्चित लक्षण है, इसमें मैंने कहीं अपवाद नहीं देखा है : जो लोग अपनी भौतिक वस्तुओंको व्यवस्थित ढंगसे रखना नहीं जानते — उनके विचार भी उनके मस्तिष्कमें ऐसे ही रहते हैं, हमेशा। वे इकट्ठे मिलकर रहते हैं, अत्यधिक विरोधी विचार भी इकट्ठे रख दिये जाते हैं, और विश्वास रखो कि यह किसी उच्चतर समन्वयके द्वारा नहीं, बल्कि अपने विचारोंको व्यवस्थित करनेकी अक्षमता तथा एक प्रकारकी अव्यवस्थाके कारण होता है। यदि तुम किसी ऐसे व्यक्तिके कमरेमें घुस सको और उसकी मेजका दराज खोल सको या उसकी अलमारीमें झांक सको तो तुम्हें उससे दस मिनट बात करनेकी भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। ऐसे लोगोंकी मनोव्यवस्थाका तुम्हें पता चल जायगा, ठीक है न?

दूसरी ओर, एक ऐसे व्यक्ति भी थे (मैं तुम्हें पीछे बताऊंगी कि वे कौन थे) जिनके कमरेमें सैकड़ों पुस्तकें पड़ी थीं, अनगिनत कागजके पन्ने, कापियां और सभी प्रकारकी वस्तुएं, और कमरेमें प्रवेश करते ही तुम्हें सर्वत्र पुस्तकें और कागज, आदि, ही नजर आते — इनका एक बड़ा ढेर रहता, कमरा इन वस्तुओंसे भरा रहता था। किंतु यदि दुर्भाग्यवश तुम कागजका एक टुकड़ा भी इधर-उधर करते, तो उन्हें एकदम पता लग जाता और वे कहते: "मेरी वस्तुओंको किसने छुआ है?" तुम कमरेके अंदर घुसते ही इतनी सारी चीजें देखकर खोये-से महसूस करने लगते। और फिर भी प्रत्येक वस्तुका अपना स्थान था। और वे इतने सचेतन थे कि जैसा मैं तुम्हें पहले भी कह चुकी हूं, यदि एक कागज भी अपने स्थानसे इधर-उधर हो जाता — उदाहरणार्थ, यदि कोई किसी कागजको जिसपर कुछ अंकित होता या किसी पत्र या किसी और ही वस्तुको, वस्तुओंको करीनेसे

लगा देनेके ख्यालसे, किसी और ही स्थानपर रख देता — तो वे कहते : "तुम ने मेरी वस्तुओंको छुआ है; तुमने उन्हें इधर-उधर कर दिया है और मेरी चीजोंको अस्त-व्यस्त कर डाला है।" ये स्वभावतया श्रीअरविंद ही थे ! अतएव, तुम व्यवस्थाको गरीबीके साथ न मिला दो। स्वभावतया यदि तुम्हारे पास केवल एक दर्जन पुस्तकें हैं या बहुत कम वस्तुएं हैं तो उन्हें करीनेसे रखना अधिक सरल है, किंतु जो बात कर सकनी चाहिये वह है बहुत-सी वस्तुओंको व्यवस्थित ढंगसे रखना — और यह ढंग भी तर्क-संगत, चेतन और बुद्धिमत्तापूर्ण होना चाहिये। इसके लिये व्यक्तिमें व्यवस्था रखनेकी योग्यताका होना आवश्यक है।

हां, यदि कोई बीमार हो, उसमें कुछ करनेकी शक्ति न हो, तो बात और हो जाती है। किंतु यहां भी, कुछ सीमाएं हैं। मैं ऐसे बीमार व्यक्तियोंको जानती थी जो तुमसे कह सकते थे : "इस दराजको खोलो और इसके बांएं कोनेमें पीछेकी ओर, उस वस्तुके नीचे तुम्हें यह वस्तु मिलेगी;" वह व्यक्ति खुद हिल-डुल नहीं सकता और अपने-आप वस्तुको नहीं ले सकता, किंतु वह यह भली-भांति जानता है कि वह कहां रखी है। किंतु इसके अतिरिक्त, एक बात और भी है, आदर्श यह है कि कुछ सुव्यवस्था हो, उदाहरणके लिये, जैसी पुस्तकालयोंमें होती है, जहां हजारों, लाखों पुस्तकें रखी रहती हैं, प्रत्येकका वर्गीकरण किया जाता है (स्वभावतया ही यह कार्य एक ही आदमी नहीं करता), किंतु यह एक ऐसा कार्य है जिसमें पुस्तकोंका वर्गीकरण इतना अच्छा होता है कि यदि तुम एक कार्ड लाकर कहो कि "मुझे यह पुस्तक चाहिये" तो तुम्हें पंद्रह मिनटमें अथवा कभी-कभी पांच मिनटमें ही वह पुस्तक मिल जाती है। व्यवस्था इसीको कहते हैं। और फिर भी वहां कमरे पुस्तकोंसे भरे रहते हैं। किंतु यह सब बहुत-से लोगोंद्वारा कुशलतापूर्वक किये गये कार्यका, एक व्यावसायिक संगठनका परिणाम है। हां तो, व्यक्तिको भी अपनी वस्तुओंको इसी प्रकार सुव्यवस्थित ढंगसे रखना चाहिये — साथ ही अपने विचारोंको भी — और उसे यह ठीक जानना चाहिये कि उसकी वस्तुएं कहां पड़ी हैं और क्योंकि उसकी व्यवस्था युक्तियुक्त है उसे उनतक सीधा पहुंच सकना चाहिये। यह तुम्हारी अपनी युक्ति होती है — हो सकता है पड़ोसीकी युक्ति न हो, तुम्हारे पड़ोसीकी नहीं, यह आवश्यक नहीं है, यह तुम्हारी अपनी युक्ति है — किंतु व्यवस्था-संबंधी तुम्हारा ढंग युक्तियुक्त हो, तो तुम्हें पता होता है कि तुम्हारी वस्तु कहां है और, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूं, यदि वह वस्तु कहीं इधर-उधर हो जाय, तो तुम्हें तत्काल ही पता लग जाता है। और जो लोग ऐसा कर सकते हैं वे सामान्यतया वे ही होते है जो अपने विचारोंको भी व्यवस्थित कर

सकते हैं और फलस्वरूप अपने चरित्रको भी और अंतमें अपनी क्रियाओंपर भी नियंत्रण रख सकते हैं। और फिर, यदि तब व्यक्ति कुछ विकास करता है, तो वह अपने भौतिक जीवनको भी शासित करनेमें सफल हो जाता है: वह अपनी शारीरिक क्रियाओंको नियंत्रित रखने लगता है। यदि व्यक्ति जीवनको इस रूपमें ले, तो वह सचमुच बहुत रोचक हो जाता है। यदि वह गड़बड़ीमें या अव्यवस्थामें एक ऐसे आंतरिक और बाह्य गड़बड़झालेमें निवास करे जिसमें सब कुछ गड़बड़ रहता है और यदि वह किसी भी वस्तुके प्रति सचेतन न हो, स्वामी होनेकी तो बात ही दूर है, तो इसे जीवन नहीं कहा जा सकता। हां, यह जीवन नहीं है, यह तो उसका निश्चेतनाके समुद्रमें डूब जाना हुआ, इस प्रकार वह लहरोंद्वारा इधर-उधर पटका जाता है, भंवरोंमें फंस जाता है, चट्टानोंके साथ टकराता है, फिर और लहरें उसे दुबारा चट्टानकी ओर फेंक देती हैं; और इस प्रकार वह चोटें, आघात और झटके खाता जीवन व्यतीत करता है। और तब, यदि पूछा जाय : "ऐसा क्यों?" — "मुझे पता नहीं।" "ऐसा तुमने क्यों किया?" —"मुझे पता नहीं।"—"तुम इस ढंगसे क्यों सोचते हो?" "मुझे पता नहीं।" —"तुमने ऐसी चेष्टा क्यों की?" सभी प्रश्नोंका एक ही उत्तर होता है: "मुझे पता नहीं।"

मूल रूपमें जीवनका सच्चा हेतु केवल एक ही है : अपने-आपको जानना। हम पृथ्वीपर सीखनेके लिये आये हैं — यह सीखनेके लिये कि हम क्या हैं, यहां क्यों हैं, और हमें क्या करना है। और यदि हम यह भी नहीं जानते तो हमारा जीवन बिलकुल खोखला है — अपने लिये भी और दूसरोंके लिये भी।

अतएव, सामान्यतया, जल्दी शुरू कर देना ही अधिक अच्छा है, क्योंकि सीखनेको बहुत कुछ है। यदि व्यक्ति जीवनके और जगत्के वर्तमान स्वरूपको, और जीवनके 'क्यों' और 'कैसे', इन प्रश्नोंको जानना चाहता है, तो वह बहुत छोटी अवस्थासे ही यह कार्य आरंभ कर सकता है, उस समयसे जब कि वह बहुत, बहुत छोटा होता है — पांच वर्षकी अवस्थासे भी पहले। और तब, वह सौ वर्षकी आयुतक भी सीखता रह सकता है। तो बड़ी मनोरंजक बात है यह। और सब समय उसके सामने आश्चर्यजनक बातें आ सकती हैं, सब समय वह कुछ-न-कुछ ऐसा सीख सकता है जिसे वह पहले नहीं जानता था, उसे ऐसी अनुभूति प्राप्त हो सकती है जो उसे पहले कभी नहीं हुई, उसे कोई ऐसी वस्तु उपलब्ध हो सकती है जिसके विषयमें वह पहले कुछ भी नहीं जानता था। निश्चय ही यह सब बहुत मनोरंजक है। और जितना अधिक व्यक्ति जानता है, उतना अधिक वह इस बातके प्रति जागरूक होता

है कि अभी सब कुछ सीखना बाकी है। सचमुचमें, मैं यह कह सकती हूं, केवल मूर्ख-जन ही यह सोचते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं। यह इस बात-का निश्चित लक्षण है, यदि कोई तुमसे आकर यह कहे: "ओह! मैं यह सब जानता हूं; ओह! मुझे सब पता है"; तो तुम एकदम उसकी थाह ले सकते हो!

आपने कहा है: "प्रत्येकके पास... चरित्र-संबन्धी दो विरोधी प्रवृत्तियां होती हैं,... जो एक ही वस्तुका मानों प्रकाश और छाया-पक्ष होती हैं।"[1]

ये वस्तुएं इस प्रकार निर्मित क्यों की गयी हैं? क्या किसीके पास केवल प्रकाश ही नहीं हो सकता?

हां, यदि व्यक्ति छायाको अलग कर सके। किंतु इसे अलग करना पड़ता है। यह काम अपने-आप नहीं होता। संसार जैसा कि इस समय है एक मिश्रित-सा संसार है। तुम्हें ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल सकती जो एक ओर प्रकाश ग्रहण कर रही हो और दूसरी ओर उसकी छाया न पड़ रही हो। बात ऐसी ही है, बल्कि वास्तवमें छायाएं ही तुम्हें प्रकाश देखनेमें सहायता पहुंचाती हैं। संसार ऐसा ही है, यदि व्यक्ति केवल प्रकाश ही चाहता है तो उसे निश्चित रूपसे छाया दूर करनेके लिये आवश्यक तपस्या करनी होगी। इसे ही मैंने और आगे समझाया है; मैंने कहा है कि यह

---

[1] "...प्रत्येक व्यक्तिमें काफी मात्रामें, और असाधारण व्यक्तिमें अधिकाधिक यथार्थताके साथ चरित्र-संबंधी दो विरोधी प्रवृत्तियां होती हैं, दोनों-का अनुपात प्रायः समान होता है, वे एक ही वस्तुके प्रकाश और छाया-पक्ष प्रतीत होते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति असाधारण रूपसे उदार हो सकता है वह अचानक ही अपनी प्रकृतिमें दुराग्रहपूर्ण लोभको देखता है, साहसी कहीं-न-कहीं कायर होगा और अच्छे व्यक्तियोंमें अचानक दुष्ट प्रवृत्तियां उठती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन प्रत्येक व्यक्तिको किसी आदर्श-को अभिव्यक्त करनेकी संभावनाके साथ-साथ कुछ विरोधी तत्त्व भी भेंटमें देता है जो इस बातका स्पष्ट प्रतीक होता है कि उसे एक युद्ध करना है और उसमें विजय प्राप्त करनी है ताकि उपलब्धि संभव हो सके। इस प्रकार, सारा जीवन एक शिक्षा है जो थोड़ी-बहुत चेतन रूपसे तथा सोच-विचारकर प्राप्त की जाती है।"

छाया मानों उस वस्तुका संकेत है जिसे तुम्हें अपनी प्रकृतिमें जीतना है ताकि तुम उस कार्यको संपन्न कर सको जिसे करनेके लिये तुम पृथ्वीपर आये हो। यदि तुम्हें पृथ्वीपर कोई भूमिका निभानी है, किसी कार्यको पूरा करना है, तो सदा ही वह मुख्य कठिनाई तुम्हारे अंदर उपस्थित रहेगी जो तुम्हें उसे दूर करनेसे रोकती है, इस प्रकार वह विजय तुम्हारी पहुंचमें रहती है जिसे तुम्हें प्राप्त करना ही है। यदि तुम्हें किसी ऐसी कठिनाईके विरुद्ध संघर्ष करना हो जो पृथ्वीपर सर्वत्र मौजूद है, तो ऐसा करना बहुत कठिन हो जायगा (उस अवस्थामें तुम्हारे पास एक अत्यंत विशाल चेतना और एक अत्यधिक महान् शक्ति होनी चाहिये), उधर यदि तुम्हारी प्रकृतिमें एक छाया या दोष हो जिसपर तुम्हें विजय प्राप्त करनी है, तो, वह तुम्हारी पहुंचके भीतर ही है: तुम उस वस्तुके प्रभाव सब समय देखते रहते हो और एकदम उसके साथ सीधा युद्ध छेड़ सकते हो। यह बहुत व्यावहारिक व्यवस्था है।

तुमने क्या 'बुलेटिन' में श्रीअरविंदका वह पत्र नहीं पढ़ा: "अशुभ व्यक्ति"?[1] 'बुलेटिन'में यह बात भली-भांति समझायी जा चुकी है।

---

[1] 'अशुभ व्यक्ति

"जो कुछ तुम "अशुभ व्यक्तित्व"के बारेमें कहते हो वह मुझे बड़ा रोचक लगा क्योंकि यह बात इस संबंधमें मेरी सुसंगत अनुभूतिसे मेल खाती है कि जिस व्यक्तिको कार्यकी विशेष क्षमता दी गयी है उसके साथ, सदा या प्रायः सदा, — शायद इन वस्तुओंके बारेमें कोई कठोर वैश्व नियम नहीं बनाना चाहिये — एक सत्ता जुड़ी रहती है जो कभी-कभी उसीका एक अंग प्रतीत होती है पर यह व्यक्ति जिस वस्तुका अपने कार्यमें मुख्य रूपसे प्रतिनिधित्व करता है उसकी ठीक विरोधी वस्तु होती है। या यदि वह शुरूमें न भी हो, उसके व्यक्तित्वके साथ न भी जुड़ी हो, तो ज्यों ही वह अपनी चेष्टामें सफलता पानी शुरू करता है, इस प्रकारकी एक शक्ति उसके वातावरणमें प्रवेश कर जाती है। इस शक्तिका कार्य विरोध करना, रास्तेमें रोड़े अटकाना, बुरी परिस्थितियां पैदा करना, एक शब्दमें कहें तो, उसके सामने उस कार्य-की जिसे उसने शुरू किया है सभी समस्याएं उपस्थित करना प्रतीत होता है। तब ऐसा लगता है कि गुह्य मितव्ययी व्यवस्थाकी समस्या तबतक नहीं सुलझ सकती जबतक कि पूर्व-निर्धारित यंत्र उस कठिनाईको अपना न बना ले। यह बात उन कई वस्तुओंकी व्याख्या कर देती है जो ऊपरी तलपर बड़ी विक्षोभजनक लगती हैं।"

('लेटर्स ऑन योग' — वोल्यूम २४)

१० फरवरी, १९५४

(यह वार्ता माताजीके लेख "मनकी शिक्षा" पर आधारित है।)

"विस्तार और विशालता की क्षमताओं"को बढ़ानेकी विधि क्या है?

मैंने कहा है कि कई प्रकारके विषयोंका अध्ययन करना चाहिये। मैं समझती हूं कि यही तरीका है। उदाहरणार्थ, यदि तुम स्कूलमें हो, तो सभी संभव विषयोंका अध्ययन करो। अगर तुम घरपर पढ़ते हो तो एक ही प्रकारकी नहीं, नाना प्रकारकी चीजें पढ़ो।

किंतु, स्नेहमयी मां, स्कूलमें बहुत-से विषय ले लेना संभव नहीं होता। हमें किन्हीं विषयोंमें विशेषज्ञता प्राप्त करनी होती है।

हां, हां! मैंने यह सब सुना है, विशेषकर तुम्हारे अध्यापकोंसे। मैं सहमत नहीं हूं। और मैं यह भली-भांति जानती हूं, मेरे आगे यह बार-बार दुहराया जाता रहा है: यदि किसी वस्तुको ठीक ढंगसे करना है, तो उसमें विशेषज्ञता प्राप्त करनी होगी। खेलोंके साथ भी यही बात है। यह जीवनमें सभी वस्तुओंके साथ है। ऐसा कहा जाता है और बार-बार दुहराया जाता है, और कुछ लोग इसे प्रमाणित भी करते हैं: किसी वस्तुको भली प्रकार करनेके लिये व्यक्तिको उसमें विशेषज्ञ बनना होगा। उसे ऐसा बनना होगा और उसीपर एकाग्र होना होगा। यदि व्यक्ति अच्छा दार्शनिक बनना चाहता है, तो उसे केवल दर्शन-शास्त्रका ही अध्ययन करना होगा, यदि वह अच्छा रसायनशास्त्री बनना चाहता है, तो उसे केवल रसायन विद्याका ही अध्ययन करना होगा। और यदि कोई टेनिसका अच्छा खिलाड़ी बनना चाहता है, तो उसे केवल टेनिस खेलनी चाहिये। मैं केवल इतना ही कह सकती हूं कि यह मेरा मत नहीं है। मेरा अनुभव इससे अलग है। मैं सोचती हूं कि कुछ सामान्य क्षमताएं होती हैं और व्यक्तिके लिये उन्हें प्राप्त करना किसी एकमें विशेषज्ञता प्राप्त करनेसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है — हां, यदि श्री और श्रीमती क्यूरी

जैसी बात हो जो विज्ञानके एक विशेष पक्षको विकसित करके एक नवीन वस्तु खोजना चाहते थे, तो वे उसपर एकाग्र होनेके लिये बाधित थे। किंतु यह भी तभीतक जबतक उन्होंने यह खोज पूरी न कर ली; एक बार वह हो गया, तो कोई चीज उन्हें अपने मनको और व्यापक बनानेसे न रोकती थी।

मैंने अपने बचपनसे यही बात सुनी है, और मेरा ख्याल है कि हमारे दादा-परदादाओंने भी यही सुना था, और हमेशासे यही कहा जाता रहा है कि यदि तुम किसी विषयमें सफलता प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें केवल वही करना चाहिये। और मुझे तो इसके लिये सदा डांट खानी पड़ती थी कि मैं कई भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्य किया करती थी! और मुझसे सदा कहा जाता था कि मैं कभी कोई काम भली प्रकार नहीं कर सकूंगी। मैंने पढ़ा, चित्रकारी की, संगीत सीखा और कई और वस्तुओंमें भी लगी थी। मुझसे कहा जाता था कि मेरा संगीत कुछ बन न पायेगा, चित्रकारी किसी कामकी न होगी और पढ़ना भी अपूर्ण ही रह जायगा। शायद यह सच भी हो, किंतु फिर भी मैंने यह देखा है कि इसके भी अपने लाभ हैं — इन्हीं लाभोंके विषयमें मैं कह रही हूं, विस्तारित होना, अपने मन और बुद्धिको नमनीय बनाना। यह सत्य है कि यदि मैं पहले नंबरकी संगीतकार होना और सामूहिक वाद्य-सम्मेलनोंमें बजाना, आदि, चाहती तो मेरे लिये वह सब करना आवश्यक होता जो वे कहते थे। और चित्रकलाके बारेमें, यदि मैं उस समयके महान् कलाकारोंमें स्थान पाना चाहती, तब भी मुझे यही करना पड़ता। यह बात तो समझमें आती है। किंतु फिर भी, यह एक दृष्टिकोण है। मैं एक बहुत बड़ा कलाकार, महान् संगीतकार बननेकी आवश्यकता नहीं समझती। मुझे यह सदा ही एक झूठा अभिमान प्रतीत हुआ है। और इसके अतिरिक्त, अपनी-अपनी राय है...

इस विषयमें केवल एक दृष्टांत हो सकता है, और वह तब जब व्यक्ति कोई खोज करना चाहे। तब, स्वभावतया, उसे अपना पूरा प्रयत्न उसमें लगा देना चाहिये। किंतु तब भी जीवन-भर उसके लिये प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं — हां, कोई बहुत कठिन विषय चुना हो, जैसा कि क्यूरी दंपतिने चुना था, तो और बात है। और ऐसा समय भी आया जब उन्होंने अपनी खोज पूरी कर ली — वे इसके परे भी जा सकते थे।

फिर भी, सहज रूपमें जो लोग अपना संतुलन रखना चाहते हैं वे आराम करनेके लिये एक कामको छोड़कर दूसरा हाथमें ले लेते हैं। हमेशा बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं अथवा महान् कलाकारों या वैज्ञानिकोंके ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनमें किसी-न-किसी प्रकारकी सनक, कोई मनबहलावका

ढंग होता है। तुमने शायद इंगरे (Ingres) की वायलिनके बारेमें सुना होगा। वह वास्तवमें एक चित्रकार था; उसमें प्रतिभाकी कमी नहीं थी और जब कभी उसे खाली समय मिलता तो वह वायलिन बजाया करता था, वस्तुतः उसे चित्रकारीसे कहीं अधिक वायलिन बजानेमें रुचि थी। वह शायद वायलिन अच्छी तरह नहीं बजा सकता था किंतु उसे उसीमें अधिक रुचि थी, जब कि चित्रकारीमें वह बहुत अच्छा था पर उसकी रुचि कम थी। किंतु मेरे विचारमें यह इसलिये था क्योंकि उसे एक प्रकारके संतुलनकी आवश्यकता थी। मानव मनके लिये अपने सामान्य क्रियाकलापमें अपना लक्ष्य पानेके लिये एक ही वस्तुपर एकाग्र होना अति आवश्यक है, किंतु वह किसी ऐसी अन्य कार्य-पद्धतिको भी साधित कर सकता है जो अधिक पूर्ण एवं सूक्ष्म हो। स्वभावतया, शारीरिक रूपसे मनुष्यकी अपनी सीमाएं होती हैं, क्योंकि भौतिक जीवनमें वह बहुत हदतक काल और देशपर निर्भर रहता है, और साथ ही विशेष एकाग्रताके बिना महान् कार्य साधित करना कठिन है। किंतु यदि व्यक्ति एक उच्चतर और गहनतर जीवन बिताना चाहता है, तो मेरे विचारमें वह प्रतिबन्ध और सीमाके बंधनकी जगह शायद अन्य विधियोंसे अधिक बड़ी क्षमताएं प्राप्त कर सकता है। अपनी सीमाओं-से मुक्त होनेमें बहुत फायदा है, चाहे सक्रिय चरितार्थताके दृष्टिकोणसे न भी हो, कम-से-कम आध्यात्मिक उपलब्धिके दृष्टिकोणसे तो हैं ही।

हम बातें भूल क्यों जाते हैं?

ओह! मेरे विचारमें इसके कई कारण हैं। पहला, क्योंकि व्यक्ति याद रखनेके लिये स्मरण शक्तिका प्रयोग करता है। स्मृति एक मानसिक उप-करण है और मस्तिष्ककी रचनापर निर्भर है। तुम्हारा मस्तिष्क लगातार विकसित होता रहता है, जबतक कि उसका ह्रास ही न शुरू हो जाय, किंतु तो भी उसका विकास बड़े लंबे समयतक चलता रह सकता है, शरीरके विकाससे कहीं अधिक लंबे समयतक। और इस विकासमें, आवश्यक रूपसे कुछ वस्तुएं दूसरी वस्तुओंका स्थान लेंगी। और जैसे-जैसे मानसिक यंत्र विकसित होता जायगा, वैसे-वैसे जिन वस्तुओंका काम या विकासकी क्रियामें जिनका अस्थायी समय समाप्त हो गया है वे अपना स्थान इस सबके परिणामको देकर मिट सकती हैं। इस प्रकार जो कुछ तुम जानते हो उस सबका परि-णाम उसके अंदर, सजीव रूपमें, रह जाता है, किंतु जिस मार्गसे उस-तक पहुंचा गया है वह पूरी तरहसे धुंधला पड़ जाता है। दूसरे शब्दोंमें, यदि स्मृति अच्छी तरह कार्य कर रही है तो इसका यह अर्थ होगा कि

केवल परिणाम ही याद रहेगा ताकि वह आगे बढ़नेके लिये और नयी रचनाके लिये आवश्यक तत्त्वोंको सुरक्षित रख सके। यह बात मनमें कठोर रूपसे वस्तुओंको जमा रखनेकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अब, एक पक्ष इसका और भी है। मानसिक स्मृति दोषपूर्ण चीज है, उसके बाहर भी चेतनाकी अवस्थाएं हैं। व्यक्ति चेतनाकी जिस किसी अवस्थामें हो, वह अवस्था उस समयके देखे हुए विषयोंको, वे चाहे जो क्यों न हों, अंकित कर लेती है। यदि तुम्हारी चेतना पारदर्शी, विशाल एवं सशक्त रहती है, तो तुम किसी भी समय, एकाग्र होकर, उस सबको जो तुमने पहले कभी किया, सोचा, देखा, परखा है अपनी सक्रिय चेतनामें ला सकते हो; अपने अंदर चेतनाकी उसी अवस्थाको लाकर इस सबको याद कर सकते हो। और वह फिर कभी नहीं भूलता। हजारों वर्ष जीवित रहनेपर भी तुम उन्हें याद रख सकते हो। अतएव, यदि तुम किसी वस्तु-को भूलना नहीं चाहते, तो उसे तुम्हारी चेतनाको याद रखना होगा, मान-सिक स्मृतिको नहीं। तुम्हारी मानसिक स्मृति तो मिट भी जायगी, धुंधली भी पड़ जायगी, और फिर नयी वस्तुएं पुरानी वस्तुओंका स्थान ले लेंगी। किंतु तुम जिन वस्तुओंके प्रति सचेतन हो, उन्हें कभी नहीं भूलते। तुम्हें केवल चेतनाकी उसी अवस्थाको वापिस लाना होगा। और इस प्रकार तुम हजारों वर्ष पहलेकी बातें भी याद रख सकते हो, पर केवल तब यदि तुम चेतनाकी उसी अवस्थाको लाना जानो। इसी प्रकार व्यक्ति अपने पूर्व जन्मोंको याद रख सकता है। वे कभी नहीं मिटतीं, जब कि जो कुछ तुमने अपने बचपनमें भौतिक रूपमें किया था वह याद मिट जाती है, तुम्हें ऐसी कई बातें बतायी जायंगी जो तुम्हें इस समय याद नहीं। वह सब तत्काल ही धुल-पुंछ जाता है। कारण, मस्तिष्क लगातार बदलता रहता है और कुछ निर्बल कोषाणुओंके स्थानपर नये अधिक सशक्त कोषाणु आ जाते हैं, और अन्य संयोग एवं मस्तिष्क-संबंधी रचनाएं आती हैं। इस प्रकार, जो पहले था वह मिट जाता है या विकृत हो जाता है।

हजारों वर्ष पहले जो हुआ था वह भी याद रह सकता है!

हां, यदि तुम उस विशेष स्थानपर जाओ, यदि तुम हजारों वर्षों पहलेके स्थानके संपर्कमें आनेमें सफल हो सको। एक बात और है (मेरा ख्याल है मैंने यह कहीं लिखा भी है), पृथ्वीकी चेतनाका अपना लिखित अभिलेख है, और यदि तुम उस स्थानपर पहुंचना जान जाओ, तो तुम केवल अपने जीवनको ही नहीं बल्कि उस सबको भी जान सकते हो जो पृथ्वीपर घट

चुका है। वहां सब अंकित रहता है, और यह चेतनाका तथ्य है।

किंतु, मां, व्यक्ति यह सब कैसे याद रखता है, क्योंकि जब वह अपना शरीर बदल लेता है, तो मन...

मैंने अभी तो बताया है, मेरे बच्चे, शायद तुमने सुना नहीं कि मैंने क्या कहा। मैंने कहा था कि मानसिक स्मृतिके साथ सब कुछ मिट जायगा; अपने वर्तमान जीवनमें भी तुम ऐसी कई बातोंको जो बीस, तीस या चालीस वर्ष पहले हुई थीं, याद नहीं रख सकते। किंतु चेतनाकी अवस्था मानसिक अवस्था नहीं होती। इसका मनसे कोई संबंध नहीं होता। यह सच है कि अधिकतर मन शरीरके विघटनके साथ ही समाप्त हो जाते हैं, सिवाय उस अवस्थाके जब कोई भली-भांति निर्मित, बहुत अच्छी तरहसे "सुगठित" एवं संघटित विशेष रचना हो जो टिक सकती है। किंतु ऐसा बहुत कम होता है। ये केवल अपवाद ही होते हैं। किंतु चेतना बिलकुल ही दूसरी चीज है। चेतना एक सनातन अवस्था है। चेतनाकी अवस्था एक शाश्वत अवस्था है। सृष्टि चेतनासे ही उत्पन्न हुई है और यदि चेतना खींच ली जाय, तो सृष्टि भी न रहेगी। और यदि तुम चेतनाके संपर्कमें आ जाओ, तो तुम सृष्टिका पूरा इतिहास जान सकोगे, क्योंकि सृष्टि चेतनासे ही आती है। चेतना सनातन वस्तु है।

मां, कभी-कभी अप्रिय विचार आकर हमें विक्षुब्ध कर देते हैं। इनसे मुक्ति कैसे पायी जाय?

इसकी कई विधियां हैं। सामान्यतया — किंतु यह व्यक्तियोंपर निर्भर है — सबसे सरल विधि यह है कि व्यक्ति ऐसे समय किसी अन्य वस्तुके बारेमें सोचने लगे। दूसरे शब्दोंमें, वह अपना ध्यान किसी ऐसी वस्तुपर एकाग्र कर ले जिसका उस विचारके साथ कोई संबंध या नाता न हो, जैसे पढ़ना या किसी और रचनात्मक कार्यमें लग जाना। उदाहरणार्थ, जो लोग लिखते हैं वे लिखनेका कार्य करने लगें, कारण, जब वे लिखते हैं (एक उपन्यासकारको ही लो), जब वह लिखता है, तो और समस्त विचार वहांसे चले जाते हैं, क्योंकि वह अपने कार्यपर एकाग्र होता है। जब वह लिखना बंद कर देता है, और यदि उसे अपने ऊपर नियंत्रण न हो, तो वे विचार वापिस लौट आयेंगे। किंतु ठीक उस समय जब व्यक्तिपर ऐसे विचारका आक्रमण हो, वह कोई रचनात्मक कार्य करनेका प्रयत्न कर सकता है; उदा-

हरणार्थ, वैज्ञानिक कोई शोध-कार्य कर सकता है, किसी वस्तुकी खोजके लिये विशेष प्रकारका अध्ययन कर सकता है — कुछ भी, जो उसे पूरी तरह व्यस्त रख सके; यही सबसे सरल विधि है। स्वभावतया, जिन लोगोंने अपने विचारोंपर नियंत्रण करना आरंभ कर दिया है, वे परित्यागकी क्रियाको अपना सकते हैं, विचारको ऐसे ही पीछे ढकेल दे सकते हैं जैसे किसी भौतिक वस्तुको ढकेला जाता है। किंतु यह कार्य अधिक कठिन है और इसमें अपने ऊपर अधिक अधिकारकी आवश्यकता पड़ती है। यदि व्यक्ति ऐसा कर सके, तो यह अधिक क्रियाशील विधि होगी, इस अर्थमें कि यदि तुम उस क्रियाको, उस विचारको नकार दोगे, यदि तुम उसे पूरी तरह और लगातार या प्रायः बार-बार भगाते रहोगे, तो वह अंतमें आयगा ही नहीं। किंतु पहली विधिमें, वह सदा लौट सकता है। ये दो विधियां हुईं।

एक तीसरी विधि भी है, और वह यह कि एक पर्याप्त महान् प्रकाश ऊपरसे नीचे उतारा जाय जो गहनतर अर्थमें विचारको "अस्वीकृति" देगा; दूसरे शब्दोंमें, यदि आनेवाला विचार कुछ-कुछ अंधकारमय हो (और विशेषकर तब जब कि वह अवचेतन या निश्चेतनमेंसे आया हो और उसे सहज प्रेरणासे पोषण मिलता हो), यदि व्यक्ति ऊपरसे सच्चे ज्ञान और उच्चतर शक्तिका प्रकाश नीचे उतार सके, और उसे अपने विचारपर डाल सके, तो वह या तो उसे समाप्त कर सकता है या उसे आलोकित अथवा रूपांतरित कर सकता है — यह सर्वोच्च विधि है, पर है और भी अधिक कठिन। किंतु यह किया जा सकता है, और यदि कर लिया जाय, तो वह व्यक्ति छुटकारा पा जाता है — इतना ही नहीं कि विचार नहीं आता बल्कि उसका कारण ही दूर हो जाता है।

पहला पग है किसी अन्य वस्तुके बारेमें सोचने लगना (किंतु तुम जानते हो कि इस तरह तो यह करते ही रहना पड़ेगा); दूसरा है उससे संघर्ष करना; और तीसरा है उसका रूपांतर करना। जब व्यक्ति तीसरे पगतक पहुंच जाता है, तो वह छुटकारा ही नहीं पा लेता, बल्कि एक स्थायी प्रगति भी कर लेता है।

१७ फरवरी, १९५४

(यह वार्ता माताजीके लेख "चैत्य और आध्यात्मिक शिक्षा"पर आधारित है।)

एक बार जब सत्ता अन्तरात्माके संपर्कमें आ जाती है, तो फिर अन्तरात्मा अपने-आपको दुबारा छुपा क्यों लेती है?

अंतरात्मा अपने-आपको नहीं छुपाती, वह तो सत्ता ही अपनी पुरानी चेतनामें लौट जाती है! ... उसके लिये अपनी अधिकतम ऊंचाईतक टिके रहना कठिन होता है। वह नीचे फिसल आती है, गिर जाती है। केवल इतना होता है कि दूसरी बार उसे खोजना अधिक सरल हो जाता है। और प्रत्येक बार मार्ग अधिक सरल होता जाता है जब तक कि गिरना बंद ही न हो जाय।

मधुर मां, यह मेरी समझमें नहीं आया: "यह खोज (अपने शाश्वत तत्त्वकी खोज) बड़े सामान्य रूपसे एक गुह्यवादी भावना, एक धार्मिक जीवनसे जुड़ी हुई है, क्योंकि विशेष रूपसे धर्म ही इस काममें लगे रहे हैं। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा ही हो: भगवान्-संबन्धी गुह्यवादी विचारके स्थानपर सत्यका अधिक दार्शनिक विचार आ सकता है और तब भी खोजका स्वरूप अपने मूल रूपमें वही रहेगा, केवल उसतक पहुंचनेका रास्ता अत्यधिक दुराग्रही प्रत्यक्षवादीद्वारा भी अपनाया जा सकता है।"

तुम क्या नहीं समझे? मेरा मतलब यह है कि व्यक्ति जो कुछ सोचता है वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि विचारकी रचना होती है उस वातावरणसे जिसमें व्यक्ति पैदा होता है और उस शिक्षासे जो उसे मिली हो — किंतु यह तो केवल चीजें कहनेका एक ढंग है। और इन्हें कई और ढंगोंसे भी कहा जा सकता है: वे रहते वही हैं जो वे हैं। तुम क्या नहीं समझे?

यदि भगवान्-सम्बन्धी गुह्यवादी विचारका स्थान अधिक दार्शनिक विचार ले ले...

यह सब इसपर निर्भर है कि तुम "भगवान्" शब्दका क्या अर्थ करते हो। यह एक शब्द है (यह बात तुम्हें कम-से-कम चार-पांच बार बता चुकी हूं) "किसी ऐसी वस्तु"को व्यक्त करनेके लिये जिसे तुम जानते नहीं पर पानेकी कोशिश कर रहे हो। हां तो, यदि तुम्हें धार्मिक शिक्षा मिली है, तो तुम उसे "भगवान्" कहनेके अभ्यस्त हो। यदि तुम्हें अधिक प्रत्यक्षवादीकी-सी शिक्षा और अधिक दार्शनिक शिक्षा मिली है, तो तुम उसे कई नामोंसे पुकार सकते हो, और साथ ही यह भी सोच सकते हो कि यही परम सत्य है। यदि कोई भगवान्‌के विषयमें कुछ कहना चाहे और उनका वर्णन करना चाहे, तो उसे उन वस्तुओंका प्रयोग करना पड़ेगा जो हमारी चेतनाकी पहुंचके अत्यधिक परे हैं, और एक ऐसी वस्तुको भगवान् कहना पड़ेगा जो उस सबसे ऊपर है जिसे हम जानते हैं और समझते हैं और जो हम बन सकते हैं — जो कुछ हमारी समझसे बहुत दूरकी चीज है उसे ही हम भगवान् कहते हैं। कुछ ही धर्म ऐसे हैं (कुछ ऐसे हैं) जो भगवान्‌को एक सुनिश्चित रूप देते हैं; और कभी-कभी वे बहुत-से रूप दे लेते हैं और तब उनके बहुत-से भगवान् होते हैं; कभी वे एक ही रूप देते हैं और उनका एक ही भगवान् होता है; किंतु यह सब मानवी रचना है। "कोई वस्तु" अवश्य है, एक वास्तविक सत्ता है जो हमारे सभी वर्णनोंसे परे है, किंतु जिसके साथ व्यक्ति एक विशेष अनुशासनके अभ्यासद्वारा संपर्क स्थापित कर सकता है। उसके साथ एक हो सकता है। एक बार व्यक्ति उसके साथ एक हो जाय तो वह उसके स्वरूप-को जान लेता है, पर उसे व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि शब्द उसका वर्णन करनेमें असमर्थ रहते हैं। अतएव, यदि इसके लिये किसी प्रकारके शब्दोंका प्रयोग करना हो, यदि व्यक्तिका कोई विशेष मानसिक विश्वास हो, तो वह उसी विश्वासके अनुसार शब्दोंका प्रयोग करेगा। यदि तुम किसी और संघके हो जिसके कहनेका ढंग अलग है, तो तुम भी उसी ढंगसे बोलोगे, बल्कि सोचोगे भी उसी ढंगसे। मैं यह बात यह बतानेके लिये कह रही हूं कि एक ऐसी वस्तु है जो — विचारके द्वारा — हमारी समझमें नहीं आ सकती, पर जिसका अस्तित्व है। तुम उसे जो नाम चाहो दो, इसका अधिक महत्त्व नहीं है, बिलकुल नहीं — वह बस है। अतएव केवल एक ही कार्य करने लायक है, वह है उसके संपर्कमें आना — उसे कोई नाम देना या उसका वर्णन करना नहीं। वस्तुतः, उसे नाम देने या उसका वर्णन करनेका कोई लाभ नहीं। व्यक्तिको उसके संपर्कमें आनेका प्रयत्न करना चाहिये, उसपर एकाग्र होना चाहिये, उसको, उस सत्यताको जीवनमें उतारना चाहिये, और नाम चाहे जो दे लो, एक बार तुम्हें उसकी अनुभूति हो जाय तो नामका कोई महत्त्व नहीं रहता। केवल अनुभूतिका ही मूल्य

हैं। और जब लोग इस अनुभूतिका संबंध किसी विशेष अभिव्यक्तिसे जोड़ते हैं — और इतने संकीर्ण और बंद ढंगसे कि इस सूत्रसे अलग वे कुछ देख ही नहीं सकते — तो यह एक हीनता है। तुम्हें सभी संभव मार्गोंसे, सभी क्षणों, सभी रचनाओंसे गुजरकर उस सत्यताको **जी** सकना चाहिये; उसीको जीना होगा, क्योंकि यही सत्य है, यही सर्वोच्च रूपमें अच्छा है, यही सर्वाधिक शक्तिशाली है, यही सर्वज्ञाता है, यही . . .। हां, तुम उसे जी सकते हो, पर उसके विषयमें बात नहीं कर सकते। और यदि करते हो, तो जो कुछ भी कहते हो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। यह केवल कहनेका एक ढंग है, बस, इतना ही। ऐसे अनेकों दार्शनिक और अन्य व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने भगवान्‌के स्थानपर एक निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष 'सत्ता'के विचार या 'सत्य'के विचार या न्यायके विचार, यहांतक कि प्रगतिके विचारको रखा है — एक अनंत प्रगतिशील वस्तुके रूपमें; किंतु जिसमें उसके साथ तादात्म्य स्थापित करनेकी योग्यता है, उसके लिये उसके विषयमें जो कुछ भी कहा गया है उसका अधिक महत्त्व नहीं। कभी-कभी व्यक्ति दर्शनकी पूरी पुस्तक पढ़ जाता है पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ाता। कभी-कभी व्यक्ति धर्मका बड़ा भक्त हो सकता है पर विकास नहीं करता। ऐसे लोग भी है जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन ध्यान-चिंतनमें लगा दिया पर उन्हें प्राप्ति कुछ नहीं हुई। कुछ ऐसे लोग हैं (हमारे पास ऐसे कई जाने-माने उदाहरण हैं) जो बड़ा मामूली शारीरिक कार्य करते थे, जैसे पुराने जूते गांठनेवाला मोची है, पर उन्हें अनुभूति प्राप्त हुई। यह वस्तु सोचने और कहनेसे एकदम परे है। यह एक प्रकारकी देन है, बस, इतना ही। और आवश्यकता केवल इस बातकी है कि हम वही बन जायं — अपने-आपको उसके साथ एक करने और उसे जीवनमें उतारनेमें सफल हों। कभी ऐसा भी होता है कि तुम किसी पुस्तकमेंसे एक वाक्य पढ़ते हो और वह तुम्हें वहां पहुंचा देता है। और कभी-कभी तुम दर्शन अथवा धर्मकी सारी पुस्तकें पढ़ जाते हो और तुम कहीं भी नहीं पहुंचते। हां, कुछ ऐसे लोग अवश्य हैं जिन्हें दर्शनकी पुस्तकें पढ़नेसे आगे बढ़नेमें सहायता मिलती है। किंतु ये सब बातें गौण हैं। महत्त्वपूर्ण केवल एक ही वस्तु है: सच्चा और दृढ़ संकल्प, क्योंकि ये बातें पलक झपकते ही नहीं हो जातीं। इसलिये इस कार्यमें अध्यवसायकी आवश्यकता होती है, लगातार लगे रहना पड़ता है। जब व्यक्तिको ऐसा लगे कि वह आगे नहीं बढ़ रहा है तो उसे निरुत्साहित नहीं होना चाहिये; वरन् उसे यह जाननेकी कोशिश करनी चाहिये कि उसकी प्रकृतिकी कौन-सी वस्तु विरोध कर रही है, और तब उसे आवश्यक प्रगति करनी चाहिये। और वह सहसा आगे

बढ़ जाता है। और मार्गके अंततक पहुंचते ही उसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है। और विलक्षण बात यह है कि जिन लोगोंने बिलकुल भिन्न मार्गोंका अनुसरण किया है, जिनकी मानसिक रचनाएं भी बहुत भिन्न हैं, आस्तिक लोगोंसे लेकर नास्तिक लोगोंतक, जड़वादी भी, वे इसी अनुभूतिपर पहुंचे हैं, यह सबके लिये एक ही है। कारण, यह सत्य है — वास्तविक है, यही एकमात्र वास्तविक अनुभूति है। और यह बिलकुल सहज-भावमें वही है। मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहती। तुम उसके बारेमें कैसे बोलते हो, इसका कुछ महत्त्व नहीं है, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहां पहुंचनेके लिये मार्गका अनुसरण किया जाय, तुम्हारे मार्गका, चाहे वह कोई भी क्यों न हो।

आपने अन्तरात्माकी जो व्याख्या की है उसे मैं नहीं समझ सका: "व्यक्ति, उदाहरणार्थ, यह कह सकता है कि एक वैयक्तिक सत्ताकी उत्पत्ति, समस्त अभिव्यक्तिके सर्वोच्च स्रोतमें पहलेसे विद्यमान असंख्य संभावनाओंमेंसे एक संभावनाके स्थान और कालमें प्रक्षेपका परिणाम है। यह अभिव्यक्ति एकमेव वैश्व चेतनाके द्वारा व्यक्तिके विधान या सत्यमें ठोस रूप धारण कर लेती है और इस प्रकार यह उत्तरोत्तर होनेवाली प्रगतिके द्वारा उसकी आत्मा या आंतरात्मिक सत्ता बन जाती है।"

यह जरा दार्शनिक बात है...। तुम आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठका भेद जानते हो क्या? जानते हो! अच्छा, जरा उस वास्तविक 'सत्ता'की कल्पना करो जिसके विषयमें हम बात कर रहे थे, जो सब वस्तुओंके मूलमें विद्यमान है, जो आत्मनिष्ठ अवस्थासे वस्तुनिष्ठ अवस्थातक जाती है। दूसरे शब्दोंमें, जो वस्तु भीतर थी वह मानों बाहरकी ओर प्रक्षिप्त कर दी गयी। वस्तु वही है: बदलती केवल अवस्था है। और इस प्रकार उसमें बाह्य अस्तित्वकी सभी संभावनाएं मौजूद हैं; अंदर वे अभिव्यक्त नहीं हैं, अव्यक्त रहती हैं; बाहर वे प्रक्षिप्त की गयी हैं, जैसे पर्देपर चलचित्र प्रक्षिप्त किया जाता है: हम उसे अपने सामने देखते हैं। और ऐसा प्रत्येक तत्त्व जो अंदर संभावनाके रूपमें था, अब चरितार्थताका विधान बन जाता है। और इनमेंसे प्रत्येक संभावना सत्ताकी, या कहें कि व्यक्तिकी, उस वस्तुकी, सत्यता बन जाती है जो अपना बाह्य अस्तित्व रखती है। और यही विधान आंतरात्मिक सत्ताके केंद्रका मूल स्रोत है: यह सत्ताका सत्य है या

सत्ताका विधान है। बुद्ध इसे "धर्म" कहते थे, वे धर्मकी बात करते थे। यही सत्ताका सत्य है। यही इसे उसके मूल स्रोतसे अक्षय रूपमें बांधता है। और यही आंतरात्मिक सत्ताका प्रारंभिक बिंदु है। और इस प्रकार, जैसे-जैसे यह पर्देपरके चित्रके समान विकसित होता है, वैसे-वैसे अभिव्यक्तिमें अधिकाधिक जटिल और यथार्थ रूप धारण करता जाता है। किंतु उस रूपकी सत्यता एक ही है, यह एकमेव सत्ताके साथ जुड़ी है। और सभी इकाइयां भी परस्पर जुड़ी हैं तथा एकमेवके स्वरूपको पुनः गठित करती हैं।

क्या यह अधिक सरल नहीं है? ... (बालककी ओर देखते हुए) यह और भी अधिक कठिन है! किंतु यही तो मैंने यहां कहा है।

मधुर मां, आपने कहा है: "सुख-सुविधा, सन्तोष, उपभोग अथवा प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये समस्त व्यक्तिगत प्रयत्न त्याग दो। केवल विकासके लिये एक प्रज्वलित अग्निशिखाका रूप धारण कर लो, जो कुछ आये उसे उन्नतिके साधनके रूपमें स्वीकार करो और तुरन्त आवश्यक विकासको साधित करनेमें लग जाओ।"

हां, यह तो काफी सरल है! और बहुत स्पष्ट भी!

हां, किंतु यदि मैं, उदाहरणार्थ, खेलोंमें उन्नति करना चाहूं, तो क्या यह भी मेरा वैयक्तिक विकास ही होगा, होगा न?

हैं? क्या? खेलोंमें? नहीं, तुम्हारे संकल्पका मूल्य तुम्हारे उद्देश्यपर निर्भर है। यदि तुम यह सब सफलता पाने और अपने लिये यश प्राप्त करने तथा दूसरोंसे अच्छा बननेके लिये करते हो — या इसी प्रकारके किन्हीं अन्य विचारोंसे कार्य करते हो — तो यह बात बड़ी अहंभावयुक्त, बहुत अधिक वैयक्तिक बन जाती है और उस अवस्थामें तुम विकास नहीं कर सकते — हां, तुम एक प्रकारका विकास तो करोगे पर यह तुम्हें कहीं भी नहीं पहुंचायेगा। किंतु यदि तुम यही काम, चाहे शरीरमें ही सही, भागवत 'प्रभाव'के प्रति अपने-आपको खोलने, उसका एक अच्छा यंत्र बनने तथा भगवान्‌को अभिव्यक्त करनेके विचारसे करो, तो यह बहुत अच्छा है। क्यों, स्पष्ट नहीं हुआ?

जी, हां।

भौतिक वस्तुएं आवश्यक रूपसे मानसिक या भाविक वस्तुओंसे अधिक अहं-भावयुक्त नहीं होतीं। इसके विपरीत है। ये प्रायः कम ही अहंकारपूर्ण होती हैं। अहंभाव इसमें नहीं, बल्कि आंतरिक वृत्तिमें होता है। यह उस क्षेत्रपर निर्भर नहीं जिसमें तुम केंद्रित होते हो, बल्कि तुम्हारी वृत्तिपर निर्भर है। यह इसपर निर्भर नहीं कि तुम क्या करते हो, बल्कि इसपर निर्भर है कि तुम कैसे करते हो।

मधुर मां, आप कहती हैं: "भौतिक घटनाओंको उनके बाहरी रूपमें न लो। ये सदा किसी और वस्तुको, अर्थात्, सच्ची वस्तुको, जो तुम्हारी तलीय बुद्धिसे छूट जाती है, व्यक्त करनेका फूहड़ प्रयत्न होती हैं।" किंतु, मां, यह कहा जाता है कि व्यक्तिको निराशावादी नहीं होना चाहिये, और यहां आपने कहा है: "सदा ही फूहड़ प्रयत्न होती हैं...।"

इसका अर्थ यह है कि भौतिक जगत्, जैसा कि वह है, अपने पीछे स्थित सत्यको व्यक्त करनेमें बिलकुल फूहड़ है। यह स्पष्ट है। मैं सोचती हूं कि हमें यह सब देखनेके लिये अत्यधिक गहन विचारकी जरूरत नहीं है, जबतक कि ऐसे लोग हैं...। हां, "चार तपस्याएं" नामकी पुस्तकमें मैंने उन लोगोंके बारेमें कहा है जिन्होंने जीवनमें अपना ठीक स्थान बना लिया है और उन्हें सब कुछ अद्‌भुत लगता है, किंतु इनमेंसे मुझे अभीतक ऐसे व्यक्ति अधिक नहीं मिले जो जीवन-भर यह विश्वास बनाये रख सके हों। मैं आशावादियोंकी बात कह रही हूं — व्यक्ति जबतक स्वस्थ और युवा रहता है वह आशावादी रहता है, और इसके बाद, ज्यों ही उसकी शक्ति, उसका स्वास्थ्य क्षीण होने लगते हैं, उसका आशावाद भी तिरोहित हो जाता है। किंतु फिर भी, यदि व्यक्तिमें थोड़ी बुद्धि और संवेदनशीलता हो, तो वह आसानीसे यह देख सकता है कि यहां यथासंभव श्रेष्ठ जगत्‌में प्रत्येक वस्तु अधिक-से-अधिक भलाईके लिये ही नहीं है, क्योंकि यदि तुम्हें सब सुख-सुविधाएं प्राप्त हों और आवश्यकतानुसार तुम्हारे पास सब कुछ हो, यदि तुम्हारा जीवन ठीक चल रहा हो और तुम्हें कोई चिंता न हो, तो इसका यह अर्थ नहीं कि इस संसारमें ऐसे लाखों प्राणी नहीं हैं जिनकी अवस्था बड़ी कष्ट-प्रद और दुःखदायी है। तब, अपने विषयमें ही सोचना बड़ा सरल हो सकता है। किंतु यह बहुत वांछनीय बात नहीं है। मैं ऐसे कई लोगोंको जानती थी जो बहुत धनाढ्य थे और जो कभी ऐसे लोगोंके संपर्कमें नहीं आये जिनके पास कुछ भी नहीं हो या बहुत कम हो, यह बात उनके विचारमें

भी नहीं आ सकती थी। मैं एक ऐसी स्त्रीको जानती थी (बल्कि कइयों-को) जो एक बड़े सुन्दर मकानमें रहती थी, उसके पास बहुत-से नौकर तथा सभी सुख-सुविधाका सामान मौजूद था — वह सदा ही ऐसी सुख-सुविधामें रही थी और उसे ऐसी सुखप्रद परिस्थितियोंके सिवाय और किसीका ज्ञान ही नहीं था — और एक दिन मैंने उसे एक स्त्रीके बारेमें बताया जो बड़ी योग्य एवं प्रतिभावान् थी किंतु उसके पास कुछ भी न था, उसके पास खानेको भी काफी नहीं होता था — और मैंने उस स्त्रीसे उसके लिये सहायता मांगी, यह सहायता मैंने उसके लिये पैसेके रूपमें नहीं मांगी क्योंकि दूसरी स्त्री उसे स्वीकार न करती, किंतु मैंने यह कहा कि या तो उसे कोई कार्य दे दो या उसे अपने पास कुछ समय रहनेका निमंत्रण दे दो (क्योंकि यह स्त्री दार्श-निक प्रवृत्तिकी थी और उसे बौद्धिक रूपमें सहायता पहुंचा सकती थी)। अतएव मैंने उससे कहा: "जानती हो, वह सदा भरपेट खा भी नहीं पाती।" मैंने देखा कि यह बात उसकी समझमें नहीं आयी। मैंने कहा: "हां, उसके पास खाना खरीदनेके लिये भी पर्याप्त पैसा नहीं होता — रोटी या अन्य आवश्यक खाद्य सामग्री खरीदनेके लिये भी नहीं।" पहली स्त्रीने बड़े सहज-स्वाभाविक ढंगसे कहा: "किंतु निश्चय ही रसोईघरमें तो रोटी और खाद्य सामग्री सदा रहती है!" (सब हंस पड़ते हैं।)

२४ फरवरी, १९५४

(यह वार्ता भी माताजीके लेख "चैत्य और आध्यात्मिक शिक्षा" पर आधारित है)

स्नेहमयी मां, यहां आपने कहा है: "रूपके सीमांतोंके पारसे एक नयी शक्तिका आवाहन किया जा सकता है, चेतनाकी उस शक्तिका जो अभीतक अभिव्यक्त नहीं हुई है और जो, इस प्रकार प्रकट होकर, वस्तुओंके क्रमको बदल सकेगी और एक नये जगत्‌को जन्म दे सकेगी।" जिस शक्तिकी आपने यहां चर्चा की है क्या वह भगवान् ही हैं?

तुम भगवान् किसे कहते हो? भगवान्‌की अपनी परिभाषा तो बतलाओ।

यहां इस विषयपर हम एक बार पहले भी बातचीत कर चुके हैं।

जो कुछ पृथ्वीपर मौजूद है वह भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है न?

नहीं, मैं तुमसे उसके विषयमें पूछ रही हूं जिसे तुम भगवान् कहते हो। भगवान्‌के विषयमें तुम्हारी कोई धारणा है, है न? जब तुम "भगवान्" शब्द कहते हो, इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है?

जी, स्रष्टा।

यह केवल एक शब्द है। स्रष्टा!!!

मैंने कहां यह कहा था कि अपने अंदर स्थित भगवान्‌के साथ तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक है? — शायद 'बुलेटिन'में। क्या तुम्हें याद नहीं है?

बहरहाल, मैं तुम्हें पहले कई बार बता चुकी हूं कि अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है और वह सदा विकसनशील रहेगी और यह भी कि जो वस्तु किसी विशेष समय अभिव्यक्त होती है वह केवल उस वस्तुका आरंभ है जो आनेवाले युगमें अभिव्यक्त होगी। अतएव, यदि कोई सृष्टिकी ऊपरी चोटीपर पहुंचता है तो वह उस वस्तुके संपर्कमें आयगा जो अभीतक अभिव्यक्त नहीं हुई है पर आगे अभिव्यक्त होगी, क्योंकि ऐसे नये तत्त्व सदैव बने रहेंगे जो आगे अभिव्यक्त होंगे। मैंने ठीक यही बात कही है, मैंने कहा है कि यदि व्यक्ति चेतनाके शिखरको प्राप्त कर ले और अबतकके अभिव्यक्त रूपोंसे आगे निकल जाय, तो वह एक ऐसी शक्तिके, एक सत्य सत्ताके संपर्कमें आयेगा जो अभी तो अभिव्यक्त नहीं हुई है पर आगे अभिव्यक्त होगी। और चेतनाका यह शिखर कभी अंतिम नहीं होता। कारण, जो कुछ आज प्राप्त हुआ है, जो अभी अंतिम चेतना प्रतीत होती है वह केवल एक पग है, जिससे अगले दिन, अगले क्षण, अगले युगमें एक ऐसी वस्तु अभिव्यक्त हो सके जो परेकी वस्तु थी और जो उस समय अभिव्यक्तिके लिये तैयार नहीं थी, अर्थात्, तब अभिव्यक्त नहीं हो सकती थी।

अवसादकी अवस्थाओंको कैसे रोका जा सकता है?

ओह! इसका एक बड़ा सरल-सा उपाय है। अवसाद सामान्यतया प्राणमें

प्रकट होता है, और यह व्यक्तिको अपने चंगुलमें तभी ले सकता है जब वह अपनी चेतनाको प्राणमें रखे, वहीं निवास करे। बस, एक ही बात की जानी चाहिये : व्यक्ति प्राणकी चेतनासे बाहर निकलकर एक गहनतर चेतनामें आ जाय। उच्चतर मन — आलोकित, उच्चतर मन, अत्यधिक उच्चतर विचार भी उदासीको दूर भगानेकी शक्ति रखते हैं। जब व्यक्ति विचारके उच्चतम क्षेत्रोंमें जा पहुंचता है, तो भी साधारणतया अवसाद दूर हो जाता है। किंतु बहरहाल, यदि व्यक्ति अंतरात्मामें आश्रय ढूंढे, तो अवसादके लिये कहीं स्थान ही नहीं रहेगा।

अवसाद दो कारणोंसे आ सकता है : प्राणिक तुष्टिके अभावसे या फिर शरीरके स्नायुओंमें अत्यधिक थकावटसे। शारीरिक थकावटसे उत्पन्न अवसादको बड़ी सरलतासे दूर किया जा सकता है : उसमें केवल विश्रामकी आवश्यकता है। व्यक्ति चुपचाप बिस्तरेमें पड़कर सो जाय, या फिर विश्राम करे, स्वप्नलोकमें पहुंच जाय, आरामसे सीधा लेटा रहे, जबतक कि वह दुबारा स्वस्थ न अनुभव करने लगे। व्यक्तिमें प्राणिक असंतोष बड़ी आसानीसे उत्पन्न हो जाता है और उसका सामना सामान्यतया अपनी तर्क-शक्तिसे करना पड़ता है, व्यक्ति अपने अवसादके कारणके मूलमें जाकर देखे कि किस वस्तुने उसके प्राणमें असंतोष उत्पन्न किया है; और तब उसपर नजर जमाकर अपने-आपसे पूछे कि क्या उसकी आंतरिक अभीप्सासे उसका कोई संबंध है या वह बस, बिलकुल सामान्य-सी क्रिया है। साधारणतया व्यक्तिको यह पता लग जाता है कि इसका संबंध आंतरिक अभीप्सासे बिलकुल नहीं है और वह बड़ी सरलतासे विजय प्राप्त कर सकता है और पुनः अपने सामान्य काम-धंधेमें लग सकता है। यदि यह काफी न हो, तो व्यक्तिको अधिक गहरे, अधिकाधिक गहरे जाना होगा जबतक कि वह आंतरात्मिक सत्ताका स्पर्श न प्राप्त कर ले। तब उसे केवल यही करना होगा कि इस आंतरात्मिक सत्ताको अवसादकी क्रियाके संपर्कमें ले आये, और वह तत्काल हवामें उड़ जायगी।

रही बात स्वयं प्राणिक क्षेत्रमें अवसादके साथ युद्ध करनेकी — तो, कुछ अच्छे योद्धा हैं जिन्हें अपने प्राणके साथ संघर्षरत रहना बहुत प्रिय लगता है — लेकिन सच्ची बात तो यह है कि यह बहुत अधिक कठिन है।

एक बार आंतरात्मिक सत्ता सामने आ जाय, तो क्या वह फिर पीछे भी हट सकती है?

हां। सामान्यतया व्यक्तिको इस तादात्म्यकी एकके बाद एक बहुत-सी अनु-

भूतियां होती हैं जो शुरूमें बहुत तीव्र होती हैं, पर पीछे धीरे-धीरे कम होते-होते एक दिन गायब भी हो जाती हैं। पर इससे चिन्तित नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह सामान्य घटना है। किंतु अगली बार — दूसरी बार — संपर्क अधिक आसानीसे स्थापित किया जा सकता है। और तब एक ऐसा क्षण भी आता है, जो बहुत दूर नहीं है, जब एकाग्र भावसे अभीप्सा करते ही अंतरात्माके साथ संपर्क स्थापित हो जाता है। व्यक्तिमें इस संबंधको सारे समय बनाये रखनेकी शक्ति चाहे न भी हो, किंतु चाहनेपर वह यह संपर्क प्राप्त कर लेता है। तब, उस क्षणसे स्थिति बहुत सरल हो जाती है। जब व्यक्ति कोई कठिनाई अनुभव करे या कोई समस्या हल करनी हो, जब वह प्रगति करना चाहे या अवसादको जीतना हो या किसी बाधाको पार करना हो या सिर्फ तादात्म्यके आनंदके लिये ही (क्योंकि यह एक ऐसी अनुभूति है जो ठोस आनंद प्रदान करती है; इस तादात्म्यके क्षणमें सचमुच व्यक्तिको एक बहुत, बहुत बड़े आनंदकी अनुभूति होती है), तब, किसी भी समय, व्यक्ति तनिक रुककर एकाग्र भावसे अभीप्सा करे, और बड़े स्वाभाविक रूपमें संपर्क स्थापित हो जाता है और सब सुलझाने-योग्य समस्याएं भी सुलझ जाती हैं। उस समय बस, एकाग्र होनेकी आवश्यकता होती है — शांतिपूर्वक बैठकर व्यक्ति एकाग्र हो — इस तरह अभीप्सा करनेसे, कह सकते हैं, तुरंत संपर्क स्थापित हो जाता है।

जैसा कि मैं कह चुकी हूं, एक ऐसा समय आता है जब यह संपर्क तुम्हें नहीं छोड़ता, अर्थात्, वह तुम्हारी चेतनाकी गहराईमें स्थापित हो जाता है और तुम जो भी करो उस सबमें तुम्हारी सहायता करता है, और यह संपर्क कभी नहीं टूटता। तब कई चीजें दूर हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, अवसाद भी इनमेंसे एक है, असन्तोष, विद्रोह, थकावट, अवसाद, ये सब कठिनाइयां। और, हमारी भाषामें, यदि व्यक्ति अपनी चेतनामें एक पग पीछे हटकर, अपनी आन्तरात्मिक चेतनाके पर्देपर वस्तुओंको देखनेका अभ्यास डाल ले — सभी परिस्थितियोंको, सभी घटनाओंको सभी विचारोंको, समस्त ज्ञानको, सब कुछको देखनेका — तो उस समय वह उसे देख लेता है और तब उसे उन सब वस्तुओंके लिये, जो वह कर सकता है, एक बिल्कुल अचूक पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो जाता है। किंतु इसमें, आवश्यकतावश, बहुत अधिक समय लगता है।

जीवनसे भागने और 'अव्यक्त' सत्ताके साथ तादात्म्य स्थापित करनेके लिये क्या यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति केवल समस्त अहंभावसे ही मुक्त न हो वरन् उसमें अहं रहे ही नहीं?

स्वभावतः।

किंतु क्या 'अव्यक्त' के साथ तादात्म्य स्थापित करनेकी यह इच्छा, जब कि संसार कष्ट पाता रहे, स्वार्थ नहीं है?

हां, है। और इसके फलस्वरूप जो होता है वह भी बड़ा विलक्षण है, सदा एक ही परिणाम होता है: जिन्होंने ऐसा किया है, उन्हें अन्तिम क्षण एक प्रकारका संकेत मिला कि उन्हें वापिस संसारमें लौटकर अपना कार्य करना होगा। यह तो मानों ऐसा हुआ कि वे द्वारतक जा पहुंचे और सुना: "ओह, नहीं, नहीं, अभी नहीं — वापिस जाओ और काम करो। जब संसार तैयार हो जायगा, तब यह ठीक रहेगा।"

सचमुच कठिनाईके सामने यह पलायन-वृत्ति सबसे बड़ा अहंभाव है। तुमसे कहा जाता है: "यह करो, और तब, जब अन्य सब लोग इसे कर लेंगे, सारे संसारका काम ठीक हो जायगा," किंतु ऐसा कर सकनेके लिये बहुत थोड़े-से श्रेष्ठ व्यक्ति ही तैयार हैं। और ठीक ये ही लोग पृथ्वी-के लिये अधिकतम लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि वे इस बात-को दूसरोंसे अधिक जानते हैं, उन्होंने स्वयं कई कठिनाइयोंपर विजय पायी है और वे लोगोंको ठीक उन्हीं कठिनाइयोंमें सहायता पहुंचा सकते हैं जहां दूसरे नहीं पहुंचा सकते। किंतु यह समस्त मानव समुदाय, ये असंख्य मानव जन...। कारण, जब कुछको सफलता मिलती है — ये कई सौ भी हो सकते हैं — तो हो सकता है कि व्यक्तिकी यह सोचनेकी प्रवृत्ति हो कि यह सफलता "मानवजाति"को ही प्राप्त हुई है, पर सचमुच में तो यह मानवजातिके कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों, कुछ चुने हुए व्यक्तियोंको ही प्राप्त हुई है। यह विशाल मानव समुदाय, समूची पृथ्वीपर रहनेवाले सभी लोग — अकेले भारतमें ही रहनेवाला विशाल, अनगिनत जनसमुदाय — गांवों, देहातोंमें रहनेवाले, इन सबके लिये मुक्ति प्राप्त करनेका, आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये संसारको छोड़ देनेका प्रश्न ही नहीं उठता। उनके पास अपने बारेमें सचेतन होनेके लिये समयतक नहीं होता! वे बस, मौजूद हैं, अपने कार्यके साथ इस प्रकार जुड़े हुए हैं जैसे हलके साथ बैल। वे एक ही लीकपर चलते रहते हैं जिससे, सामान्यतया, हट नहीं सकते। अतएव उन्हें यह नहीं कहा जा सकता: "जैसा मैं कर रहा हूं वैसा तुम भी करो और सब कुछ ठीक हो जायगा।" कारण, "जैसा मैं करता हूं वैसा करो," इसका कुछ अर्थ नहीं है। कुछ सौ व्यक्ति ही शायद ऐसे हों जो ऐसा कर सकते हैं, बस, इतने ही!

शरीर थक क्यों जाता है? हमारे नित्य-प्रतिके कार्य एक ही ढंगके होते हैं, किंतु एक दिन हम शक्तिसे भरपूर होते हैं और अगले दिन बिल्कुल क्लांत।

यह प्रायः एक प्रकारके आंतरिक असंतुलनके कारण होता है। इसके कारण कई हो सकते हैं, किंतु उनका आशय एक ही होता है: सत्ताके विभिन्न भागोंमें असंतुलन। अब यह भी हो सकता है कि जिस दिन तुममें शक्ति होती है, उस दिन तुम बहुत अधिक खर्च कर देते हो, यद्यपि ऐसा छोटे बच्चों-के साथ नहीं होता; बच्चे तबतक शक्ति खर्च करते रहते हैं जबतक उनकी सारी शक्ति चुक नहीं जाती। बच्चा तबतक किसी-न-किसी क्रियामें लगा रहता है जबतक कि वह थककर एकदम सो नहीं जाता। अभी वह भाग रहा था, दौड़ रहा था; और फिर, धम! अचानक ही, खतम, गहरी निद्रामें लीन हो गया और इसी प्रकार उसका शारीरिक विकास होता है, वह अधिकाधिक शक्ति ग्रहण करता है। अतएव, शक्तिका खर्च नुकसान नहीं पहुंचाता। उसकी क्षति विश्राम लेनेसे पूरी हो जाती है — सब कुछ बिलकुल ठीक हो जाता है। नहीं, यह केवल असंतुलन ही है: सत्ताके विभिन्न भागोंमें काफी संतुलन नहीं होता।

लोग सोचते हैं कि जो कुछ वे सदासे करते रहे हैं वही उन्हें करते रहना है अथवा कम-से-कम चेतनाकी एक ही अवस्थामें सदा बने रहना है, नित्य-प्रति अपना वही थोड़ा-सा काम करते रहना है, और सब कुछ ठीक चलता रहेगा। किंतु बात ऐसी नहीं है। अचानक ही, कारण चाहे जो कुछ भी हो, सत्ताका एक भाग — तुम्हारी भावनाएं या तुम्हारे विचार या तुम्हारा प्राण — आगे बढ़ जाता है, उसे कोई वस्तु, कोई प्रकाश मिल जाता है, वह प्रगति कर लेता है। वह विकासको प्राप्त होकर ऊपर उठ जाता है। बाकी सब पीछे छूट जाते हैं। इसके फलस्वरूप असंतुलन पैदा हो जाता है। यही बात तुम्हें बहुत थकानेके लिये काफी है। पर वस्तुतः, यह थकावट नहीं है: यह एक ऐसी वस्तु है जो तुम्हें शांत रहने, एकाग्र होने और इस प्रकार अपने अंदर ही निवास करनेकी अभीप्सा करनेके लिये प्रेरित करती है जिससे तुम अपनी सत्ताके विभिन्न भागोंमें धीरे-धीरे एक नया सामंजस्य स्थापित कर सको। इसीलिये किसी विशेष क्षणमें, एक प्रकारका विश्राम आवश्यक हो जाता है, ताकि तुमने जो कुछ सीखा है उसे आत्मसात् करके सत्ताके विभिन्न भागोंमें सामंजस्य स्थापित कर सको।

अब, जैसा तुम्हें पता है, भौतिक दृष्टिकोणसे मनुष्य एक बड़े भयंकर अज्ञान-की अवस्थामें निवास करते हैं। वे ठीक-ठीक यह भी नहीं बता सकते...।

उदाहरणार्थ, क्या तुम मुझे यह ठीक-ठीक बता सकते हो कि प्रत्येक भोजनके समय तुम्हारे शरीरको कितने और किस प्रकारके खानेकी आवश्यकता है ? — केवल इतना ही, इससे अधिक नहीं : कितना खाना चाहिये और कब खाना चाहिये... । तुम्हें इसका कुछ पता नहीं, एक अस्पष्ट-सा विचार, एक कल्पना या भावना या अनुमान अथवा... बस, यही सब वस्तुएं जिनका सच्चे ज्ञानसे कोई संबंध नहीं। किंतु यदि वह यथार्थ ज्ञान हो : "मुझे यह खाना चाहिये, इतना खाना चाहिये" — और तब बात समाप्त हो जाती है। "मेरे शरीरको इसी वस्तुकी आवश्यकता है।" हां, तो ऐसा किया जा सकता है। एक समय आता है जब व्यक्ति यह सब जान जाता है। पर इसके लिये बरसों परिश्रम करना पड़ता है, और सबसे बढ़कर, यह परिश्रम भी बहुत हदतक बिना मानसिक नियंत्रणके, केवल इस चेतनाके साथ करना पड़ता है जो अति सूक्ष्म होनेके कारण रूपांतर और विकासके तत्त्वोंके साथ तुम्हारा संबंध जोड़ देती है। और व्यक्तिको यह भी जानना चाहिये कि वह कितना शारीरिक श्रम अथवा कार्य करे, कितनी शक्ति खर्च करे, कितनी खोई शक्तिको पुनः प्राप्त करे, जितना ग्रहण किया है और जितना दिया है उसमें अनुपात रखे, जो संतुलन बिगड़ गया है उसे पुनः स्थापित करनेके लिये शक्तियोंका प्रयोग किस प्रकार करे, जो कोषाणु उन्नतिके मार्गमें पीछे रह गये हैं उन्हें कैसे आगे बढ़ाये, उच्चतर विकासकी संभावनाके लिये उचित अवस्थाओंको कैसे पैदा करे, आदि... यह बड़ा भारी कार्य है। पर फिर भी, इसे करना ही है, क्योंकि केवल तभी व्यक्ति शरीरके रूपांतरकी आशा कर सकता है। सबसे पहले इसे आंतरिक चेतनाके साथ पूरी तरह समस्वरित कर देना चाहिये। और इसके लिये, प्रत्येक कोषाणुमें, दूसरे शब्दोंमें, प्रत्येक छोटी-से-छोटी क्रियामें, अंगोंकी प्रत्येक चेष्टामें कार्य करना होगा। दिन-रात व्यक्तिको और कुछ भी न करके इसीमें व्यस्त रहना होगा... । पर व्यक्ति हर समय इस प्रयत्नमें नहीं लगा रहता, सबसे बड़ी बात यह कि न उसमें वह एकाग्रता रहती है और न ही वह आंतरिक दृष्टि।

मैंने तुम्हारे आगे एक बड़ा स्थूल-सा प्रश्न रखा है : तुम्हें यह बड़ा आश्चर्यजनक-सा लगता है कि व्यक्ति यह जान भी सकता है कि उसे ठीक परिमाणमें कितना खाना चाहिये, किस समय क्या खाना चाहिये, और कब अगलेके लिये तैयार है ! हां, यह तो समस्याका एक बिलकुल ही तलीय अंग है, तो भी यदि तुम कोषाणुओंके संयोजन और आंतरिक व्यवस्थामें प्रवेश करते हो ताकि यह सब नीचे उतरती शक्तिको प्रत्युत्तर देनेके लिये तैयार हो सके, तो... । पर पहली बात, क्या तुम अपने शारीरिक कोषाणुओं तथा उनके विभिन्न गुणों और क्रियाओंके प्रति सचेतन हो कि उनमें कितनी ग्रहण-

शीलता है, उनमें कौन-से स्वस्थ हैं और कौन-से नहीं? जब तुम थक जाते हो, तो क्या निश्चयपूर्वक बता सकते हो कि तुम थके क्यों हो? जब तुम्हारे शरीरमें कहीं भी कष्ट हो, तो क्या तुम बता सकते हो: "मेरे कष्टका यह कारण है"? ...लोग डाक्टरके पास क्यों दौड़ते हैं? क्योंकि वे इस भ्रांतिमें होते हैं कि डाक्टर उनके अंदर झांककर यह देखनेका कार्य कि वहां क्या हो रहा है, उनकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता है — यह बात बहुत तर्कसंगत नहीं है, किंतु फिर भी यही आदत है! कौन व्यक्ति अपने अंदर ठीक और निश्चयात्मक ढंगसे झांककर देख सकता है और ठीक-ठीक जान सकता है कि वहां क्या गड़बड़ी है, यह क्षुब्धता क्यों और कैसे उत्पन्न हुई है? और यह सब कार्य बस, निरीक्षणसे हो सकता है; इसके बाद व्यक्तिको वहां पुनः व्यवस्था स्थापित करनेके लिये जो कुछ आवश्यक है वह करना चाहिये, और यह करना और भी अधिक कठिन है।

हां, तो शरीरके रूपांतरका क ख ग यही है। बस, आज इतना ही।

३ मार्च, १९५४

(यह वार्ता माताजीके लेख "मृत्युका भय और उसपर विजय पानेकी चार विधियां"पर आधारित है।)

> मधुर मां, इसका अंतिम भाग, अंतिम पैरा मेरी समझमें नहीं आया: "मृत्युके भयपर विजय पानेकी एक और भी विधि है, किंतु वहांतक इतने थोड़े व्यक्तियोंकी पहुंच है कि मैं यहां तुम्हें केवल सूचित करनेके लिये ही इसकी चर्चा कर रही हूं। जीवित अवस्थामें स्वेच्छा और चेतनापूर्वक मृत्युके क्षेत्रमें प्रवेश करना, और उसके बाद उस क्षेत्रसे शरीरमें पुनः लौटकर उसमें प्रवेश करना, तथ्योंको पूर्णतया जानते हुए, भौतिक जीवनके क्रमको पुनः आरंभ कर देना। किंतु इसके लिये दीक्षित होना जरूरी है।"

तुम क्या कहना चाहते हो? तुम मेरा अभिप्राय नहीं समझ पाये?...मुझे आश्चर्य नहीं है! कोई समझ पाया है...?

यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसके विषयमें मैंने अभीतक तुमसे कुछ भी न कहना ठीक समझा है, क्योंकि इसके लिये व्यक्तिको अपने प्रति बहुत अधिक सचेतन होना चाहिये, अपनी स्वयंचालित क्रियाओंपर पूरा नियंत्रण होना चाहिये तथा सबसे बढ़कर, उसे भयसे — भयकी सभी संभावनाओंसे — ऊपर होना चाहिये, केवल तभी वह इस क्षेत्रमें प्रवेश कर सकता है। यह एक ऐसा ज्ञान है जिसे आधुनिक जगत्में शायद ही कोई विज्ञानकी संज्ञा देता हो, किंतु है वह वैज्ञानिक, इस अर्थमें कि इसकी प्रक्रियाएं यथार्थ होती हैं और यदि ठीक वे ही परिस्थितियां दुबारा पैदा की जायं, तो वही परिणाम आते हैं। यह एक विकसनशील विज्ञान है और व्यक्ति इसका अध्ययन कर सकता है, इसमें न्यायसंगत ढंगसे काफी नियमित प्रगति उसी तरह कर सकता है, जैसे आधुनिक समयके सभी जाने-माने विज्ञानोंमें की जाती है। किंतु इसका संबंध एक ऐसे वास्तविक सत्य या कुछ सत्योंसे है जो अत्यधिक भौतिक क्षेत्रकी वस्तुएं नहीं हैं। उस क्षेत्रमें चेतन रहनेके लिये व्यक्तिके पास विकासका एक विशेष स्तर और कुछ विशेष योग्यताएं होनी चाहिये, क्योंकि वह हमारी सामान्य इन्द्रियोंकी पकड़में नहीं आता।

हमारी सूक्ष्म इन्द्रियां भी हैं; जैसे हमारा एक भौतिक शरीर है, उसी तरह हमारे अन्य सूक्ष्मतर शरीर भी हैं और उनकी भी इन्द्रियां हैं, कहीं अधिक सूक्ष्म इन्द्रियां जो हमारी शारीरिक इन्द्रियोंसे कहीं अधिक सूक्ष्म और बलशाली हैं। किंतु स्वभावतया, चूंकि वर्तमान शिक्षाके अनुसार उन क्षेत्रोंमें कार्य करनेकी परंपरा नहीं है, इसलिये ये वस्तुएं साधारणतया, हमारे सामान्य ज्ञानसे छूट जाती हैं। तो भी छोटे बच्चे सहज-भावसे उस क्षेत्रमें काफी निवास करते हैं। वे ऐसी वस्तुओंको देखते हैं जो उनके लिये उतनी ही वास्तविक हैं जितनी कि भौतिक वस्तुएं, वे उनके विषयमें बातें करते हैं — और साधारणतया उनसे कहा जाता है कि वे मूर्ख हैं क्योंकि वे ऐसी वस्तुओंकी चर्चा करते हैं जिन्हें दूसरे नहीं देख पाते, किंतु ये उनके लिये उतनी ही सच्ची, ठोस और वास्तविक होती हैं जितनी कि वे वस्तुएं जिन्हें सब लोग देख सकते हैं। उनके स्वप्नोंमें तीव्रता होती है और उनके जीवनमें वे बहुत अधिक महत्त्व रखते हैं। उनके मानसिक विकासकी तीव्रताके साथ ही उनकी ये योग्यताएं कम होती जाती हैं। अब, कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनमें सहज रूपमें, जन्मसे ही, आंतरिक इन्द्रियां विकसित होती हैं, और उनकी इस जाग्रत् अवस्थामें कोई भी वस्तु व्याघात नहीं पहुंचा सकती। यदि ये लोग ठीक समयपर किसी ऐसे आदमीसे मिल सकें जो उनके विधिबद्ध विकासमें उन्हें सहायता पहुंचा सके, तो वे इस गुह्य जगत्को जानने और खोजनेके लिये बड़े रोचक साधन बन सकते हैं। सभी युगोंमें ऐसे

शिक्षालय हुए हैं जिनमें इस विद्याकी शिक्षा दी जाया करती थी तथा विशेष रूपसे प्रतिभावान् व्यक्तियोंको इसकी शिक्षा दी भी गयी है। ऐसे शिक्षालय सदा ही गुप्त रूपसे अपना काम करते थे, क्योंकि सामान्य जन इन क्षमताओंके प्रति, जो उनकी पहुंचसे बाहर हैं, सहनशील नहीं होते — साथ ही ये उन्हें क्षुब्ध भी कर देती हैं। किंतु मानव इतिहासमें ऐसे सुन्दर समय आये हैं जब इन शिक्षालयोंको महत्त्व दिया गया, और इन्हें प्रशंसा एवं सम्मान भी मिला, ऐसा प्राचीन मिश्र, कैल्डिया, प्राचीन भारतमें, तथा आंशिक रूपमें यूनान एवं रोममें भी हुआ। सदैव ये ऐसे शिक्षालय होते थे, मध्ययुगीन यूरोपमें भी, किंतु वहां इन्हें बड़ी सावधानीसे छुपाकर रखा जाता था, क्योंकि सरकारी ईसाई धर्म ऐसे शिक्षकोंका पीछा करता था और उन्हें दंडित करता था और यदि कहीं यह पता लग जाता कि अमुक पुरुष या स्त्री इन गुह्यविद्याओंका अभ्यास करते हैं, तो उन्हें जादूगर समझकर बांधकर जला दिया जाता था! हमारे समयमें यह विद्या लुप्तप्राय हो गयी है; बहुत ही कम लोग इसे जानते हैं; किंतु मानसिक विकासके साथ वह असहनशीलता भी दूर हो गयी है। लोग इन वस्तुओंको भी चाहे अधिक पसंद नहीं करते — यह उनके अंदर विक्षोभ एवं चिढ़ पैदा कर देती है — किंतु तो भी उन्हें यह तो मानना ही पड़ता है कि ये कोई अपराध नहीं है (!) और अब गुह्यविद्याके अभ्यासियोंको न तो जलाया जाता है, न ही बन्दी बनाया जाता है! हां, बहुत-से व्यक्ति इस विद्याको जाननेका दावा करते हैं पर जाननेवाले हैं बहुत कम। जो भी हो, जैसा कि मैंने आरंभमें कहा था, इसका अध्ययन करनेसे पहले, व्यक्तिमें बहुत अधिक आत्म संयम, त्याग एवं आत्म-विस्मृतिकी भावना होनी चाहिये, उसमें अहंभाव और स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं होना चाहिये, तभी वह बिना किसी खतरेके इस विद्याका अभ्यास कर सकता है। कारण, यदि तुम कामनाओंसे भरी सब प्रकारकी अहंभावपूर्ण या आवेगपूर्ण गतिको बनाये रखो, तो इस विद्याका अभ्यास करते समय तुम्हारे साथ निश्चय ही ऐसी दुर्घटनाएं हो सकती हैं जिनके परिणाम बड़े घातक हों। जैसा कि मैंने आरंभमें कहा था, इसके लिये **सर्वथा** अनिवार्य शर्त एक ही है: व्यक्तिके अंदर एक ऐसी निर्भयता हो जो किसी भी प्रकारके डरको तुम्हारे अंदर प्रवेश न पाने दे। कारण, ऐसा प्रायः कहा गया है, और यह सत्य भी है, कि जब तुम अदृश्य जगत्के क्षेत्रमें प्रवेश करते हो, तो जो वस्तुएं पहले तुम्हारे सामने आती हैं वे सचमुच बड़ी भयंकर होती हैं। यदि तुममें भय नहीं है, तो कोई खतरा नहीं है, किंतु भयकी जरा-सी मात्रा भी तुम्हारे लिये संकट पैदा कर देती है। अतएव, किसीको इस विद्याका अभ्यास करनेकी अनुमति देनेसे पहले,

नौसिखियेको बहुत लंबे समयतक, कभी-कभी वर्षोंतक, एक ऐसे अनुशासनके अंदर रहना पड़ता था जो इस बातका विश्वास दिला दे कि वह जरा भी डरे बिना तथा बिना संकटके इसका अभ्यास कर सकता है। इसलिये, मेरे बच्चो, मैंने इसके विषयमें तुम्हें कभी नहीं बताया। यह लेख विशेष रूपसे तुम्हारे लिये नहीं था — 'बुलेटिन' पत्रिका सब जगह जाती है और यह कहीं-न-कहीं ऐसे लोगोंके पास भी पहुंच सकती है जो तैयार हैं। किंतु फिर भी, क्योंकि यह लिखा गया है, मैं इसके विषयमें तुम्हें आज बता रही हूं, और मैं तुमसे कहती हूं कि यदि तुममेंसे किसीमें यह विशेष प्रवृत्ति हो, उसके पास विशेष क्षमताएं हों और वह प्रत्येक दुर्बलतापर, समस्त अहं-भाव और भयपर विजय पानेके लिये तैयार हो, तो मैं उसे इस मार्गपर चलनेमें सहायता देनेके लिये तथा उसके आगे रहस्योद्घाटन करनेके लिये तैयार हूं। हां तो, बात यही है।

अब, यदि मैं इस कामको अपने हाथमें लूं तो तुम्हें जरा अधिक परिपक्व होना पड़ेगा।

मधुर मां, हम इसके लिये कब तैयार होंगे?

वह तो तुमपर ही निर्भर है, मेरे बच्चो! मैंने गुह्यविद्याका अभ्यास तब किया था जब मैं बारह वर्षकी थी। किंतु मैं यह कह सकती हूं कि मुझमें भय बिलकुल नहीं था, मैं किसी भी वस्तुसे नहीं डरती थी। व्यक्ति अपने शरीरसे बाहर जाता है, वह किसी ऐसी वस्तुसे बांध दिया जाता है जो एक अदृश्य-प्रायः, पतले धागेके समान होती है; यदि वह धागा तोड़ दिय जाय, तो बस सब कुछ समाप्त। जीवन भी समाप्त। व्यक्ति शरीर के बाहर जाता है, और तब वह उस संसारको देखना आरंभ कर सकता है जहां वह गया है। और सामान्यतः, जैसा कि मैंने कहा था, जो पहली वस्तुएं वह देखता है वे बड़ी भयानक होती हैं। कारण, तुम्हारे लिये वायु खाली है, उसमें कुछ भी नहीं है — तुम नीली या श्वेत वस्तु ही देखते हो, बादल, सूर्यकी किरणें, और वह सब बहुत सुंदर होता है—किंतु जब तुम्हें दूसरी दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो तुम देखते हो कि हवा ऐसी अनेक छोटी-छोटी रचनाओं-से भरी है जो इच्छाओं अथवा मानसिक विकृतियोंके अवशेष हैं और वे झुंड-के-झुंड एक समूहमें इकट्ठे हो जाते हैं, है न, और यह दृश्य सदा सुन्दर नहीं होता। कभी-कभी तो बहुत ही कुरूप होता है। वह तुमपर टूट पड़ता है; वह आता है, तुमपर दबाव डालता है, आक्रमण करता है; और यदि तुम उससे डर जाओ, तो बिलकुल भयंकर रूप धारण कर लेता है। स्वभावतया

हो, यदि तुम न हिचकिचाओ, यदि तुम उस सबकी ओर स्वस्थ जिज्ञासाके भावसे देख सको, तो तुम देखोगे कि वह उतना भयंकर बिलकुल नहीं है। वह सुन्दर चाहे न हो, पर भयंकर नहीं है।

मैं तुम्हें एक छोटी-सी कहानी सुनाती हूं।

मैं एक डेनिश चित्रकार को जानती थी जिसमें बहुत प्रतिभा थी और वह गुह्यविद्या सीखना चाहता था। जानते हो, वह यहां भी आया था और श्रीअरविंदसे मिला था; उसने उनका एक चित्र भी बनाया था। यह युद्धके समयकी बात है, और जब वह फ्रांस वापिस आया, तो उसने चाहा कि मैं उसे गुह्यविद्या सिखाऊं। मैंने उसे शरीरसे बाहर जाना सिखाया, और भी कई प्रकारके नियंत्रण, आदि। और मैंने उससे कहा कि इसके लिये पहली वस्तु है, किसी भी प्रकारका भय न हो। एक दिन उसने मेरे पास आकर कहा कि पिछली रात्रि उसे एक स्वप्न आया था। किंतु वह स्वप्न नहीं था, क्योंकि जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूं, वह कुछ हदतक अपने शरीरसे बाहर निकलना जानता था, और वह चेतन रूपमें ही बाहर गया था। और एक बार बाहर जाकर वह आस-पासकी वस्तुओंको देखने लगा, तभी अचानक उसने एक भयंकर बाघको अपनी ओर आते देखा, वह बड़े डरावने ढंगसे उसकी ओर बढ़ रहा था...। उसे मेरी कही बात याद थी, कि उसे डरना नहीं चाहिये। वह अपने-आपसे कहने लगा: "खतरेकी कोई बात नहीं है, मैं सुरक्षित हूं, मुझे कुछ नहीं होगा, मैं सुरक्षाकी शक्तिसे आवेष्टित हूं," और इस प्रकार वह निडर होकर उस बाघकी ओर देखता रहा। तब तत्काल ही बाघ अधिकाधिक छोटा होने लगा और — अंतमें एक छोटी-सी बिल्ली बन गया! (सब हंसते हैं)

यहां बाघ किस वस्तुका प्रतीक है?

शायद... उस दिन वह किसी पर क्रोधित था, अत्यधिक गुस्सेमें आकर वह अपने अंदर बुरे विचारोंको प्रश्रय दे रहा था; वह ऐसी कामना कर रहा था कि उस दूसरे व्यक्तिके साथ कुछ बुरा घटे। अब, गुह्यविद्याके प्रयोगमें "अपने ऊपर ही बात पड़ने"का डर रहता है। तुम किसीके प्रति बुरा विचार रखते हो और वह लौटकर तुम्हारे ऊपर ही आक्रमणके रूपमें आता है। यह भी एक कारण है जिसके लिये तुम्हें अपनी भावनाओं, वेदनों और विचारोंपर पूरा नियंत्रण रखना चाहिये, कारण, यदि तुम किसीके साथ नाराज हो या उसके प्रति बुरा विचार रखते हो, अथवा, यह और भी अधिक खराब है, यदि तुम उसका बुरा चाहते हो, तो, तुम स्वप्नमें

देखोगे कि वह बड़े जोर-शोरसे तुमपर आक्रमण कर रहा है। यदि तुम इन बातोंको नहीं समझते, तो तुम कहते हो: "हां, उसके प्रति बुरे विचार रखना तो उचित ही था!" किंतु यह बिल्कुल तथ्य नहीं है। वस्तुतः तुम्हारे अपने बुरे विचार ही तुम्हारे पास लौट आते हैं। और हो सकता है कि उस व्यक्तिको इस सबका बिल्कुल पता ही न हो, क्योंकि — और गुह्यविद्यामें यह एक बहुत सामान्य नियम है — यदि तुम कोई रचना गढ़ते हो, उदाहरणार्थ, यह मानसिक रचना कि अमुक व्यक्तिके साथ कोई दुर्घटना या कुछ दुःखद घटना चाहिये और तुम इस रचनाको बाहरकी ओर प्रक्षिप्त करते हो, यदि ऐसा हो कि वह व्यक्ति चेतनाकी एक बहुत ऊंची अवस्थामें हो, वह कोई बुरे विचार न रखता हो, उस मामलेमें न रुचि लेता हो, न उसमें लिप्त हो, तो वह रचना उस व्यक्तिके वातावरणसे टकरायेगी और उसके अंदर प्रवेश करनेके स्थानपर अपने निर्मातापर प्रतिघात करेगी। इस प्रकार कई गंभीर दुर्घटनाएं हो चुकी हैं। कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने गुह्य-विद्याके उस निम्न विकृत रूपका अभ्यास किया था जिसे जादू कहते हैं और उन्होंने इस जादूके द्वारा किसीके विरुद्ध कुछ रचनाएं बना लीं। किंतु वह व्यक्ति इन सब चीजोंसे बहुत ऊपर था और ये रचनाएं उसका स्पर्श भी नहीं कर सकतीं। अतएव वे उन्हीं लोगोंके पास, घातक रूपमें, लौट आयीं। यदि उन्होंने मृत्युकी रचना बनायी होती, तो मृत्यु स्वयं उन्हींकी होती।

मुझे पता नहीं तुम्हें वह घटना याद है कि नहीं जब श्रीअरविंदके घर-में पत्थर बरसा करते थे। इसे सब जानते हैं इसलिये मैं नहीं दुहराती।

जब यह रचना किसीका बुरा कर चुकती है तो फिर उसका क्या होता है? क्या वह फिर भी बनी रहती है?

नहीं। जब इस प्रकारकी रचना अपना काम करती है, तो वह एक निश्चित उद्देश्यके साथ जाती है। वह किसी निश्चित उद्देश्यसे बनायी जाती है। वह काम करती है और एक बार उसका कार्य समाप्त हो जाय तो वह विलीन हो जाती है, उसके अस्तित्वका फिर कोई हेतु नहीं रहता। वह एक विशेष कार्यके लिये ही रची गयी थी। जब कार्य पूरा हो गया, तो रचना विघटित हो जाती है। कई अन्य प्रकारकी रचनाएं भी होती हैं जिनका जीवनकाल थोड़ा-बहुत स्थायी होता है। मैं कहती हूं कि यह भी एक विद्या है — तुम रसायन विद्या एक घण्टेमें नहीं सीख सकते! लेकिन फिर भी, ऐसी अवस्थामें, जब रचना लौटकर अपने निर्मातापर

ही आक्रमण करे, तो वह समाप्त हो जाती है। उसका कार्य पूरा हो गया और वह समाप्त हो गयी।

वह पत्थरोंवाली कहानी सबको मालूम नहीं है...। आपने वह केवल छोटे बच्चोंको ही सुनायी थी, मां।

मैंने छोटे बच्चोंको सुनायी थी...

हां, किंतु बड़े बच्चे वहां नहीं थे! (सब हंसते हैं)

अब नौ बजे हैं। कोई और प्रश्न है क्या? यदि मैं तुम्हें वह कहानी सुनाऊं...

मधुर मां, आज प्रातः आपने कहा था कि आप सुनायेंगी।...

देखो, एक और कहानी थी। कितनी कहानियां सुनायी जा सकती हैं!

हां, तो यह दूसरी कहानी बहुत छोटी-सी है। और रोचक भी है। यह अपने-आपको डरसे छुटकारा दिलानेके बारेमें है। (शायद पवित्र उसका नाम जानते हों!)...एक फ्रेंच वैज्ञानिक था, उसने एक पुस्तक लिखी थी जिसमें उसने अपने एक अनुभवकी चर्चा की थी जो उसे "जार्दें दे प्लौंत" (पौधोंके बगीचे) में हुआ था। वह यह जानना चाहता था कि तार्किक बुद्धिका स्वचालित क्रियाओंपर किस हदतक प्रभाव पड़ सकता है। मुझे उसका नाम याद नहीं — वर्षोंतक मुझे उसका नाम याद था; अब भूल गयी हूं, पर फिर भी कहानी याद है। वह एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक था और उसने अपना प्रयोग एक पुस्तकमें लिखा है। यह प्रायः ही उदाहरणके रूपमें उद्धृत किया जाता है। वह यह जाननेमें बड़ी रुचि रखता था कि तार्किक बुद्धि, स्पष्ट ज्ञानसहित बुद्धि, स्वचालित क्रियाओंको किस हदतक प्रभावित कर सकती है, दूसरे शब्दोंमें, उन क्रियाओंको, सहज-स्वाभाविक क्रियाओंको जो अनायास ही अवचेतनसे उद्भूत होती हैं, और उसने यह प्रयोग किया: वह पैरिसमें "पौधोंके बगीचे" में गया जहां पौधे ही नहीं, जानवर भी रखे जाते थे। और इन जानवरोंमें कुछ बड़े-बड़े सांप भी थे। वहां एक सांप था (मैं उस सांपको जानती थी), जो अपने अत्यंत बुरे स्वभावके लिये कुख्यात था। यानी, उसे बड़ी आसानीसे गुस्सेमें लाया जा सकता था। वह बहुत ही बड़ा सांप था, बहुत सुन्दर; वह काला था। और उस वैज्ञानिकको वहांके

चौकीदारने बता दिया था कि वह बड़ा आक्रामक है। ये सांप बड़े-बड़े शीशेके बंद पिंजरोंमें रखे जाते थे, वह शीशा इतना मोटा होता था कि किसी दुर्घटनाका डर नहीं था, इसकी तो तुम कल्पना कर ही सकते हो। तो, वह सांपके पिंजरेके पास उस समय गया जब कि वह बहुत भूखा था (सांपने अभीतक कुछ नहीं खाया था; सांप खाते ही सो जाते हैं)। उसने अभीतक खाया नहीं था, इसलिये काफी भाग दौड़ कर रहा था। और वैज्ञानिक पिंजरेके सामने, शीशेके बिलकुल निकट जाकर खड़ा हो गया और सांपको उकसाने लगा — मुझे अब याद नहीं कि उसने क्या किया — और तबतक उसे छेड़ता रहा जबतक कि सांप गुस्सेमें ही नहीं आ गया। तब उसने कुंडली मारकर स्प्रिंगके समान उछलकर अपना फन शीशेके साथ दे मारा, ठीक वहीं जहां बाहरकी ओर वैज्ञानिक का मुख टिका था, और यह भली-भांति जानते हुए कि बीचमें मोटा कांच है और उसे कुछ नहीं हो सकता, वैज्ञानिक चौंककर पीछेकी ओर कूद पड़ा! और इस प्रयोगको उसने कई बार किया, परंतु एक बार भी वह पीछे हटनेकी क्रियापर नियंत्रण नहीं रख सका। हर बार जब सांप कूदता था, तो वह पीछे हट जाता था! (हंसी)

तो उसने अपने इस प्रयोगका उल्लेख किया है। किंतु उसमें ज्ञानके एक तत्त्वकी कमी थी, क्योंकि वह यह नहीं जानता था कि उसका इस भौतिक क्रियाके साथ सांपकी स्नायविक शक्तिका एक भारी प्राणिक प्रक्षेप भी जुड़ा हुआ था, और इसीने उसपर अपना प्रभाव डाला था। उसका कारण यही था। उसने वहीं अड़े रहनेका बहुतेरा प्रयत्न किया और अपनेसे कहा: "आखिर यहां डरकी तो कोई बात ही नहीं है, मुझे कुछ नहीं हो सकता, बीचमें शीशा है; मैं पीछे क्यों हट जाता हूं?" (हंसी) पर सब व्यर्थ हुआ। सांपका प्राणिक प्रक्षेप ही वस्तुतः उसे चौंका देता था और वह पीछे हट जाता था।

अच्छा तो, मेरे बच्चो, बिदा। पत्थरोंकी कहानी किसी और दिन। अब बहुत देर हो गयी है।

१० मार्च, १९५४

(यह वार्ता भी माताजी के लेख "मृत्युका भय और उसपर विजय पानेकी चार विधियां पर आधारित है।)

आपने यह लेख -- "मृत्युका भय" इन दिनों क्यों लिखा है?

क्योंकि यह कहना आवश्यक था।

मां, अभीतक तो आपने इस विषयपर कुछ नहीं कहा था, अब क्यों कह रही हैं?

आह! ऐसी बहुत-सी वस्तुएं हैं जो मैंने नहीं कहीं। वास्तवमें एक दिन शुरू करना ही पड़ेगा। मुझे ख्याल नहीं, न ही मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अबतक इसके लिये कोई अवसर आया था। शायद यह एक अनुभूति-के परिणामस्वरूप ही हुआ है...। अरे, हां, यह मैंने पीछे सोचा कि लोग इसमें कोई विशेष अर्थ देखेंगे, किंतु अर्थ कोई है नहीं! (हंसी) शायद तुम्हारे अपने अंदर कुछ होगा।

मैंने एक बात देखी है कि प्रत्येक बार जब आश्रममें किसीकी मृत्यु होती है, तो बहुत-से लोग आतंकित हो उठते हैं। और मैं यह नहीं कह सकती कि मैं इस बातको बहुत पसंद करती हूं! शायद इसीलिये मैंने यह लेख लिखा है। कारण, सचमुच ऐसा समय आ गया है कि हमें अब इन वस्तुओंसे — एक प्रकारके इस कंपनसे—मुक्त हो जाना चाहिये। मुझे याद है, जब पहली बार आश्रममें किसीकी मृत्यु हुई थी, तो सचमुच आतंक छा गया था। मैं ऐसे बहुत-से लोगोंको जानती हूं, पर मैं उनके नाम नहीं बताऊंगी; वे इसी विचारसे यहां आये थे (वे पहलेसे ही काफी वृद्ध थे) कि यहां रहनेसे मृत्यु नहीं होगी! यह एक पुराना विचार था, बहुत समय पहलेका। और जब पहली बार यहां किसीकी मृत्यु हुई, तो लोग सच्चे अर्थोंमें आतंकित हो उठे। हमें ढेरों पत्र प्राप्त हुए जिनमें लिखा था: "यह कैसे हो सकता है? तब तो हम सुरक्षित नहीं हैं!" मुझे उन्हें तब कहना पड़ा कि जीवनकी अमरता भारी प्रयत्नसे प्राप्त होती है, और केवल भारी प्रयत्न ही नहीं वरन् इसके लिये इतनी सारी वस्तुओंका त्याग

भी करना पड़ता है कि जो लोग इसकी शिकायत कर रहे हैं उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जो अमर जीवनके लिये अपनी आसक्तियोंको छोड़ देगा। यानी, अमर जीवनके लिये अपनी पुरानी आदतोंको छोड़नेकी अपेक्षा उन्हें बनाये रखना और मर जाना अधिक पसंद करेंगे! बहुत-सी वस्तुएं हैं जिनका त्याग करना ही होगा...। वैसे मैंने उस लेखमें इनका उल्लेख-भर किया है, पर इनके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं। वे सब क्षुद्र व्यक्तिगत तुष्टियां — सभी प्रकारकी तुष्टियां — सामन्यतया, विलीन होनी ही चाहिये। मुझे याद आ रहा है कि मैंने — बहुत समय पहले — किसीको भौतिक रूपांतरकी संभावनाके बारेमें बताया था, और कहा था कि उसका एक परिणाम यह होगा कि व्यक्तिको भोजन करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी, और वह सीधा वैश्व शक्तियोंसे अथवा भगवान्‌से अपने बलकी क्षतिपूर्ति कर लेगा। और तब मैंने देखा कि वह व्यक्ति भयातुर हो उठा और बोला: "और ये सब सुस्वाद वस्तुएं!" (हंसी) बस, बातें ऐसी ही हैं।

यदि हम अमर हो जायं, तो सर्जन-क्रिया तो समाप्त हो जायगी न?

कौन-सी सर्जन क्रिया?

मनुष्यकी उत्पत्ति।

ओह! स्वभावतया ही। इतना ही क्यों, अमर होनेसे बहुत पहले ही। यदि व्यक्तिमें अपने-आपको रूपांतरित करनेकी जरा भी इच्छा हो, तो यही वह पहली चीज होगी जिसे बंद होना होगा। मैंने यह कहीं कहा है, किंतु...

क्या भय ही मृत्युका एकमात्र कारण है?

ओह, नहीं! बिलकुल नहीं। और मैंने यह कहा भी नहीं है। मैंने कहा है कि यदि व्यक्ति मृत्युपर विजय पाना चाहता है तो उसे शुरू करना होगा उसका भय छोड़नेसे, और यह बात ही अलग है। किंतु मैंने यह नहीं कहा है कि भय ही मृत्युका कारण है।

आपने कहा है: "व्यक्ति मृत्युके समयको न तो टाल सकता

है, न उसे शीघ्र ला सकता है।" किंतु यदि व्यक्ति प्रगति करना बन्द कर दे तो उसकी मृत्यु आ जाती है। अतएव, यदि व्यक्ति प्रगति करता रहे, तो वह उस घड़ीको टाल सकता है। अथवा क्या इसका अर्थ यह है कि व्यक्तिके जन्मसे ही उसकी मृत्युका दिन और क्षण निश्चित हो चुका होता है?

नहीं। यह बिलकुल और ही बात है और है भी एक अन्य स्तरकी। मैंने कहीं यह भी लिखा है कि व्यक्ति केवल तभी मरता है जब वह मरना स्वीकार कर ले — यह बात उस बातकी विरोधी मालूम होती है जो मैंने यहां कही है। किंतु सत्य यही है। मेरा ख्याल है, मैं यह बात तुम्हें एक बार पहले भी कह चुकी हूं; जो भी हो, मैंने यह कहीं लिखा अवश्य है। इसके दो दृष्टिकोण हैं। यहां मैंने अपनी बात एक बड़े सामान्य, स्थूल और भौतिक चेतनाके दृष्टिकोणसे कही है। किंतु मैंने किसी स्थानपर यह भी समझाया है कि हमारी सत्तामें मानों "नियतियोंके विभिन्न स्तर" हैं। भौतिक सत्ताकी अपनी एक नियति है; प्राणिक सत्ताकी अपनी नियति है; मानसिक सत्ताकी अपनी; उच्चतर मन और अंतरात्माकी भी अपनी-अपनी नियति है। और फिर उच्चतर सत्ताओंकी भी अपनी नियतियां हैं — अतिमानसिक सत्ताकी अपनी नियति है। प्रत्येककी नियति इन सब नियतियों-के संयोगसे बनती है (निश्चय ही मैंने यह कहीं लिखा है)। यदि, उदाहरणार्थ, किसी एक क्षण, जब समूची भौतिक नियतिको मृत्यु लानी ही होती है, तब यदि तुम एक अत्युच्च नियतिके संपर्कमें आ जाते हो, उदाहरणार्थ, अतिमानसिक नियतिके संपर्कमें आकर दोनोंको जोड़नेमें सफल हो जाते हो, तब इस क्षण तुम भौतिक नियतिको पूर्णतया बदल देते हो: जो मृत्यु भौतिक नियतिसे निर्धारित थी वह टल जाती है, और अवस्थाएं बदल जाती हैं और उन्हें पीछे हटा दिया जाता है।

मैंने यह सब इस लेखमें नहीं कहा है। यहां मैंने केवल भौतिक दृष्टि-कोणसे अपने विचार प्रकट किये हैं। मैंने ऐसे लोगोंके दृष्टांत दिये हैं (उन लोगोंके जो प्रायः पूर्ण रूपसे अपनी भौतिक चेतनामें, यानी, मानसिक, प्राणिक और स्थूल चेतनामें निवास करते थे, समझे!), जो पचास वर्षके होते ही उत्सुकतापूर्वक मरनेकी कामना करने लगे—पर जीये सतासी वर्षतक। मेरे पास एक ऐसा उदाहरण है। मेरे पास एक उदाहरण और भी है जो बिलकुल इसका उलटा है, एक ऐसे व्यक्तिका जिसमें लंबा जीवन पानेकी बड़ी तीव्र इच्छा थी, वह सोचता था कि उसे जीवनमें बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य करने हैं, अतएव उसे मरना नहीं चाहिये, और उसके लिये वह बड़ी सतर्कता

बरतता रहा — पर फिर भी वह मर गया। ऐसे उदाहरण परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते हैं, किंतु यह उनका केवल बाहरी रूप है। इन सब वस्तुओंकी व्याख्या की जा सकती है, ये विभिन्न नियमोंको पालन करती हैं। यहां मैंने केवल स्थूल दृष्टिकोण अपनाया है।

यदि तुम एक उच्चतर नियतिका हस्तक्षेप नहीं करवा सकते, तो सचमुच तुम किसी भी वस्तुको नहीं बदल सकते। भौतिक नियतिको बदलनेका एकमात्र ढंग यही है। यदि तुम अपनी भौतिक चेतनामें ही बने रहकर अपनी नियतिको बदलना चाहो, तो यह नहीं कर सकते...। पहले महायुद्धमें मैं एक ऐसे लड़केको जानती थी जिसे यह बताया गया था कि उसकी मृत्यु गोली लगनेसे होगी (तुम जानते ही हो कि युद्धमें मृत्यु बड़ी सरलतासे आ जाती है), और उसे लगभग तारीख भी बता दी गयी थी। और उससे उसे इतनी यंत्रणा हुई कि वह किसी भांति लंबी छुट्टी पानेमें सफल हो गया। वह छुट्टीमें पैरिस आया। वह एक अफसर था और उसकी जेबमें पिस्तौल रहती थी। वह ट्रामसे कूदा और गिर पड़ा, पिस्तौल स्वयं ही चली और उसके गोली लग गयी और वह तत्काल मर गया। वह बच नहीं सका।

मैं तुम्हें ऐसे कितने ही उदाहरण बता सकती हूं। किंतु ये एक ही स्तरके हैं, शुद्ध रूपसे भौतिक स्तरके — जड़-भौतिकके, मानसिक और प्राणिक स्तरके। केवल उच्चतर ज्ञान और उच्चतर स्तरोंके साथ संपर्कसे और इन उच्चतर स्तरोंके भौतिक स्तरमें अवतरणसे ही परिस्थितियोंको बदला जा सकता है। इसी प्रकार, यदि अतिमानसिक स्तरको स्थायी रूपसे भौतिक जीवनमें उतारा जा सके, तो भौतिक जीवनका रूपांतर हो जायगा, दूसरे शब्दोंमें, वह पूरी तरहसे बदल जायगा। किंतु शर्त यही है। मैंने उस लेखमें यह सब नहीं कहा, वह एक अलग विषय है।

कुछ और?

व्यक्तिको भय क्यों लगता है?

मुझे यह बताया गया था — और यह एक बड़ी प्राचीन परंपराकी शिक्षा थी — कि पृथ्वीपर उपस्थित विरोधी शक्तियोंके प्रभावने ही भयकी रचना की है, क्योंकि मनुष्योंपर कार्य करनेका उनका यही ढंग था। किंतु पशुओं-को भी तो डर लगता है। अतएव इससे उस तर्ककी शक्ति कुछ कम हो जाती है, क्योंकि मुझे नहीं लगता कि विरोधी शक्तियोंकी पशुओंमें डर पैदा करनेमें कोई विशेष रुचि हो सकती है।

भय अचेतनाका एक तत्त्व है। यह एक प्रकारकी व्यथा है जो अज्ञानसे

आती है। व्यक्ति किसी चीजकी प्रकृतिको जानता नहीं, उसका क्या असर होगा या उसके साथ क्या घटेगा यह भी नहीं जानता, अपने कार्यके परिणामोंकी भी नहीं जानता, वह कितनी ही बातोंको नहीं जानता; और यह अज्ञान ही भयको जन्म देता है। व्यक्ति जिस वस्तुको नहीं जानता उससे डरता है। एक बच्चेको लो, यदि उसे किसी ऐसे व्यक्तिके सामने लाया जाय जिसे वह नहीं जानता (मैं यहां उस बच्चेकी बात नहीं कर रही जिसकी आंतरिक चेतना जाग्रत् है, मैं एक सामान्य बच्चेकी बात कर रही हूं),—तुम उसे किसी ऐसे व्यक्तिके सामने लाओ जिसे वह नहीं जानता, उसकी पहली चेष्टा सदा ही भयकी होगी। ऐसे बहुत कम बच्चे होते हैं जो बहुत साहसी होते हैं, उनकी चेतना ही कुछ और होती है। यह एक प्रकारकी मिली-जुली शंकालु वृत्ति भी हो सकती है जो एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। जब व्यक्ति सहज ही यह अनुभव करता है कि अमुक वस्तुमें संकट है और उसके पास इसका इलाज नहीं है, जब उससे बचनेका उसके पास कोई उपाय भी नहीं है, तो वह डर जाता है। मेरा ख्याल है कि डरनेके अनगिनत कारण हैं। पर हर हालतमें, यह अचेतनाकी एक क्रिया ही है।

जिस व्यक्तिके पास ज्ञान है, उसे भय नहीं। जो पूर्णतया जाग्रत् है, जो पूरी तरह सचेतन है और जो जानता है, वह भयसे मुक्त है। हमेशा अंधकारपूर्ण वस्तुको ही डर लगता है।

भयपर विजय पानेका सबसे बड़ा उपाय है भयको पैदा करनेवाली वस्तुका साहसपूर्वक सामना करना। तुम जिस संकटसे डरते हो तुम्हें उसीके सामने रख दिया जाता है और तुम फिर डर नहीं मानते। तब भय विलीन हो जाता है। यौगिक दृष्टिकोणसे, अनुशासनकी दृष्टिसे यही इलाज सुझाया जाता है। प्राचीन दीक्षाओंमें, विशेषतया मिस्रमें, गुह्यविद्याका अभ्यास करनेके लिये, जैसा कि मैं तुम्हें पिछली बार बता रही थी, मृत्युके भयको पूरी तरहसे दूर करना आवश्यक होता था। हां तो, उन दिनों वहां परंपरा यह थी कि नये शिष्यको पत्थरकी बनी कब्रमें लिटा दिया जाता था और कुछ दिनोंके लिये उसे वहीं छोड़ दिया जाता था, मानों वह मर गया हो। स्वभावतया, वे उसे मरनेको नहीं छोड़ते थे, न ही उसे भूखा-प्यासा रखा जाता था, उसका वहां दम भी नहीं घुटता था, किंतु फिर भी वह वहां मृतके समान पड़ा रहता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इससे उसका डर चला जाता था।

जब भय आये, तो उसी समय यदि व्यक्ति उसपर चेतना, ज्ञान, शक्ति एवं प्रकाश उंडेल सके, तो वह एकदम दूर हो जायगा। हां, ईसाई धर्म तो कहता

है कि हमारा अदनके बागमें सेब खाना ही भयका कारण है — अर्थात्, ज्ञानके साथ भय आता है; और पृथ्वीपर सदा वही भय समस्त जीवनपर, सभी मनुष्योंपर शासन करता है। किंतु, यहां मैं अपने तर्कको पुनः उपस्थित करती हूं कि पशुओंमें भी भय होता है — पशुओंने तो कोई अधर्मका काम नहीं किया है, सेब नहीं खाया है, तो उनमें डर नहीं होना चाहिये! अर्ध-चेतन अवस्था ही, जिसके साथ अज्ञानपूर्ण सहज-प्रवृत्ति जुड़ी होती है, संकटको प्रकाशमें लाती है और साथ ही वह उसका इलाज भी नहीं जानती। किंतु निश्चय ही, तथ्य यह है कि विरोधी सत्ताएं, प्राणिक जगत्की सत्ताएं जो भागवत 'कार्य'के विरुद्ध सदा ही युद्ध करती रहती हैं, भयका बड़े पैमानेपर प्रयोग करती हैं। इसीके द्वारा वे मनुष्योंको अपनी मजबूत पकड़में रखती हैं। ये ही नहीं, अन्य भी हैं: समस्त राजनीतिक और धार्मिक साधन भी ऐसे ही होते हैं। कुछ धर्म अपने अनुयायियोंको मृत्यु और उसके बाद होनेवाली बातोंके भयके द्वारा ही अपने चंगुलमें रखते हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम उनके नियमों और आदेशोंको अंधेकी तरह नहीं मानोगे तो तुम्हारे साथ मृत्युके बाद बहुत-सी विपत्तियां तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहेंगी।

यह भय विरोध-भावनासे, दूसरे शब्दोंमें, किसी चीजके साथ घनिष्ठताके अभावसे भी पैदा हो सकता है। कुछ लोग आगसे विशेष रूपसे भय मानते हैं, कुछ पानीसे, अन्य किसी एक-न-एक जानवरसे। इसका कारण होता है प्राणिक स्पन्दनोंके बीचकी असंगति और फिर यह शारीरिक अचेतनामें भयके द्वारा अनूदित होती है। शरीर बहुत ही अधिक अचेतन सत्ता है। उसे जरा-सी भी चेतना प्रदान करनेके लिये कितना कार्य करना पड़ता है! वह अपना सारा कार्य यांत्रिक रूपमें, अभ्यासवश ही करता है। बहुत अधिक अचेतन है वह।

तब, परिणाम?

> **"अतः मृत्युकी घड़ी कठोर रूपसे नियत प्रतीत होती है, कुछ लोगोंको छोड़कर जिनके पास कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं जो सामान्यतया मानवजातिके पास नहीं होतीं।"**

यही तो मैंने तुम्हें अभी बताया है। बहुत ही कम लोग हैं जो भौतिक नियतिके अंदर कोई अन्य नियति ला सकते हैं। ऐसे लोग मृत्युके समयको बदल सकते हैं। ठीक यही बात मैं तुम्हें अभी विस्तारसे बता रही थी। यह शक्ति जड़ चेतनामें उच्चतर चेतनाको उतारनेकी शक्ति होती है, और

उच्चतर चेतनाके साथ उच्चतर नियति भी लानी होती है जो भौतिक नियतिको बदल देती है। और यह शक्ति बहुत लोगोंमें नहीं होती। मैंने कहा है कि यह बहुत कम लोगोंमें होती है। वस्तुतः बहुत ही कम लोगोंमें।

आपने कहा है कि अंतिम विधि है जीवित अवस्थामें स्वेच्छा-पूर्वक और चेतन रूपमें मृत्युके क्षेत्रमें प्रवेश करना...

हां।

चेतन रूपमें मृत्युके क्षेत्रमें प्रवेश करने और चेतन रूपमें शरीरसे बाहर जानेमें क्या अन्तर है? बहुत-से लोग अपने शरीरसे बाहर जा सकते हैं, ठीक है न?

हां, किंतु वे सब मृत्युके लोकमें नहीं जाते।

क्या इसकी भी वही विधि है जो शरीरसे बाहर जानेकी है?

हां, किंतु वह केवल आरंभ है। व्यक्ति शरीरसे बाहर जाना सीखकर आरंभ करता है। बहुत-से लोग, अपनी निद्रावस्थामें, शरीरसे बाहर जाते हैं। वे थोड़े-बहुत चेतन रूपमें ही करते हैं — पर अधिकतर अचेतन रूप-से ही यह कार्य करते हैं, लेकिन कुछ लोग इसे अब भी चेतन रूपमें करते हैं। वे अपने शरीरसे बाहर जाते हैं पर रहते हैं भौतिक क्षेत्र-में ही। अधिक-से-अधिक वे किसी मानसिक क्षेत्रमें चले जाते हैं पर मृत्युके क्षेत्रमें नहीं।

कुछ लोग वहां जाते भी हैं, किंतु तब, प्रक्रियाको पूरा करनेके लिये ...तुम्हें यह जानना चाहिये कि जब व्यक्ति अपने शरीरसे बाहर जाता है, तो वह कुछ कड़ियोंसे शरीरके साथ बंधा रहता है — मैं उन्हें क्या नाम दूं? ... वे प्राणिक कड़ियां हो सकती हैं, मनकी कड़ियां, या अन्तरात्माकी कड़ियां हो सकती हैं — जब वह बाहर जाता है, तो सब प्रकारकी वस्तुएं शरीरसे बाहर जा सकती हैं। साधारणतया जो चीज बाहर जाती है वह बड़ी सूक्ष्म होती है, जैसे, मन या उच्चतर प्राण, बाकी काफी कुछ शरीरमें ही रहता है और वह शरीरको बेसुधीकी अवस्थामें जानेसे रोकनेके लिये काफी होता है। कुछ लोग निद्रावस्थामें चलते-फिरते भी

हैं: उनकी सत्ताका एक भाग तो बाहर चला जाता है, किंतु उनकी प्राणिक सत्ताका अत्यधिक स्थूल भाग शरीरमें ही रहता है। और जबतक वह रहता है, पूरी तरहसे प्राणके क्षेत्रमें ही रहता है। पहली बात यह है कि जो भाग मृत्युके समय शरीरको छोड़ता है ठीक उसी भागको शरीरसे अलग करना आसान नहीं होता। इसके लिये बड़े कठोर अनुशासन और बहुत लंबे अभ्यासकी आवश्यकता है। एक बहिर्गमनकी प्रक्रिया होती है जिसका अनुसरण करके ही वह भाग, जो मृत्युके समय शरीरको छोड़ता है, शरीरके बाहर जानेमें सफल होता है; और इस अवस्थामें शरीर एक अचेतन अवस्थामें चला जाता है। वह एक ऐसी अवस्थामें चला जाता है जो मृत्युकी-सी होती है। वह शीघ्र ही पूरी तरह से कड़ा पड़ जाता है। हां, तो यह सब बातें सीखनेसे ही आती हैं, और यह सीखना बहुत सरल नहीं है; और यदि व्यक्ति इसे पूरी तरहसे करना चाहे, तो वहां शरीरकी चौकसी करनेके लिये किसीको सदा उपस्थित रहना चाहिये ताकि कोई दुर्घटना न हो जाय। अकेले यह कार्य कभी नहीं किया जा सकता। शरीरकी रखवाली करनेके लिये किसीका वहां होना अति आवश्यक है।

किंतु यदि व्यक्ति यह सब कर भी ले, तो भी जिस अनुभूतिकी मैं बात कर रही हूं वह यह नहीं है। जिस अनुभवकी बात मैं कर रही हूं वह इससे भी कहीं अधिक कठिन है। एक बार यदि व्यक्ति शरीरको अचेतन अवस्थामें छोड़कर उससे बाहर चला जाय, तो वह उससे सम्बद्ध सारी कड़ियां तोड़ देता है। अतएव, वह वास्तवमें मर जाता है; दूसरे शब्दोंमें, हृदयकी धड़कन बन्द हो जाती है। किंतु "शरीरमें जीवन शक्ति" रहती है, और चूंकि ऐसा किसी दुर्घटनावश नहीं हुआ है बल्कि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक ज्ञान और शक्तिके साथ शरीरसे बाहर गया है, इसलिये वह जबरदस्ती वापिस लौट सकता है, अर्थात्, वह पहले सम्बन्धको पुनः स्थापित कर सकता है, और शरीरमें बलपूर्वक फिरसे प्रवेश कर सकता है। यह कोई सुखद कार्य नहीं है — सब कुछ बहुत कठिन है। यूं तो, कागजपर यह सब बड़ा सरल-सा प्रतीत होता है। किंतु यह सरल नहीं है।

आपने यहां कहा है: "ऐसा बहुत कम लोगोंकी पहुंचमें है।" इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ लोगोंने ऐसा किया है। फलस्वरूप वे अमर हो गये होंगे, किंतु अभीतक तो...

अमरत्व! न, मैंने यह नहीं कहा कि यह अमरत्व है। मैंने कहा है

कि वे मृत्युके सब प्रकारके भयसे मुक्त हो गये। यह एक और ही बात है।

किंतु वे मृत्युके क्षेत्रमें प्रवेश तो करते हैं न?

हां, किंतु उस समय शरीर अच्छी अवस्थामें होता है। शरीर स्वस्थ होता है और उसे फिरसे पाया जा सकता है — इस प्रकार लम्बे समय-तक शरीरसे बाहर रहनेका प्रश्न नहीं है!

किंतु उन्हें वह अनुभव तो प्राप्त हो गया, अतएव जब वे सचमुचमें मरे तो वे उसी वस्तुको दुहरानेकी कोशिश तो कर सकते हैं न?

केवल तभी यदि उनका शरीर ठीक अवस्थामें हो। किंतु सामान्यतया, जब व्यक्ति मरता है तो, तुम जानते ही हो, शरीरमें कुछ गड़बड़ होती है, गंभीर प्रकारकी गड़बड़। किंतु तो भी, अभी यह निश्चित नहीं हुआ है कि एक बार शरीरसे बाहर जाकर व्यक्ति इस अवस्थाको पुनः ठीक करनेकी योग्यता नहीं रखता जबतक कि शरीरके साथ कोई गंभीर बात ही न हो जाय, जैसे हृदयमें कोई छुरा मार दे या सिर काट ले! यह काफी गंभीर है किंतु फिर भी यदि शरीर ठीक-ठाक रहे, यदि उसमें कोई असंतुलन ही न हो, तो सम्बन्ध पुनः स्थापित हो सकता है।

मां, यदि वे कड़ियां टूट जायं तो फिर क्या होता है?

यदि कड़ियां टूट जायें? व्यक्ति मर जाता है।

किंतु जो भाग शरीरसे बाहर चला गया है उसका क्या होता है?

वह, यदि वह चेतन होता है, तो पूर्णतया चेतन रहता है। उसका अपना स्वतंत्र जीवन होता है, वह पूर्ण रूपसे सचेतन रहता है। उसकी डोरियां कटें या नहीं, उसके जीवनमें इससे कोई परिवर्तन नहीं होता। इस-से न तो उसे अधिक चेतनाकी प्राप्ति होती है और न उससे छिनती ही है — जो भी चेतना, ज्ञान और शक्ति उसके पास होती है वह उसीके पास रहती है। जो ऐसा कर सकता है वह शरीरपर निर्भर नहीं रहता।

दूसरे शब्दोंमें, चेतन होनेके लिये, व्यक्ति शरीरपर निर्भर नहीं करता, जरा भी नहीं। उसकी चेतना बिल्कुल स्वतंत्र होती है।

"मृत्युके क्षेत्र"का क्या अर्थ है?

इसके विषयमें प्रत्येक धर्मने भिन्न-भिन्न बातें कही हैं। यूनानियोंका "एलिजियम" था, व्यक्ति "नौका"में वहां जाता था। सभी प्रकारके स्वर्ग और नरक वहां है।

न, धर्मोंकी बात नहीं।

सामान्यतया, "मृत्युका क्षेत्र" नाम अत्यधिक स्थूल प्राणिक जगत्‌के एक क्षेत्रको दिया जाता है, उस जगत्‌को जिसमें व्यक्ति शरीर छोड़नेके बाद प्रवेश करता है। उसके जीवनका वह भाग — इसे कैसे कहा जाय? — जो कि साधारणतया सबसे अधिक सचेतन होता है, मृत्युके समय उस क्षेत्रमें प्रक्षिप्त किया जाता है। हां, तो वह क्षेत्र, वह स्थूल प्राणिक जगत् बड़ा अन्धकारमय होता है, वह उन विरोधी रचनाओंसे भरपूर होता है जिनके केंद्रमें कामनाएं, बल्कि विरोधी संकल्प-शक्तियां भी रहती हैं; ये वे अत्यंत प्रारंभिक सत्ताएं होती हैं जिनका जीवन बड़ा खंडित होता है, बल्कि वे खून चूसनेवाले भूत-प्रेत जैसे होते हैं जो मानवी सत्ताओंमेंसे फेंके गये टुकड़ों-पर निर्वाह करते हैं। अतएव, उस समय, मृत्युके आघातके समय — ऐसे बहुत कम लोग हैं जो बिना आघात पाये मर जाते हैं, अर्थात्, मृत्यु-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञानके साथ, चेतन रूपमें शरीरसे बाहर जाते हैं, ऐसे लोग अधिक नहीं हैं — सामान्यतया वह एक दुर्घटना होती है: अंतिम दुर्घटना; हां तो, मृत्युके उस आघातके समय वे सत्ताएं उधर, उस प्राणिक सत्वपर जो बाहर चला जाता है, लपक पड़ती हैं और उसे अपना आहार बना लेती हैं। जबतक व्यक्ति जीवित रहता है, वे उसका स्पर्श नहीं कर सकतीं। तुम सबको ऐसे दुःस्वप्नका अनुभव होगा जिसमें स्थिति-के सचमुच संकटपूर्ण होनेपर तुम अचानक जाग उठते हो — तुम अपने शरीरमें लौट आते हो, क्योंकि शरीर तुम्हारा सुरक्षा-स्थल है। शरीरमें वे तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं किंतु जब तुम शरीरसे पूर्णतया बाहर होते हो (यह कड़ी, जिसके बारेमें मैंने तुम्हें बताया था, तुम्हारे शरीरसे बाहर चले जानेपर तुम्हारी कुछ हदतक रक्षा करती है), यदि ये कड़ियां टूट जायें और तुम सर्वथा बिना शरीरके हो जाओ, तो ऐसा ही होगा, जब-

तक कि तुम किन्हीं विशेष परिस्थितियोंसे फायदा न उठा सको... उदाहरणार्थ, यदि मृत व्यक्तिपर उसके प्रिय सम्बन्धी जो उसे बहुत प्यार करते हैं अपने प्रेमपूर्ण विचार केंद्रित और एकाग्र करें, तो उसे वहां आश्रय मिल जाता है, और फिर यह बात उसे उन सत्ताओंके विरुद्ध पूर्ण सुरक्षा प्रदान करती है; किंतु यदि मृत व्यक्तिका ऐसा सम्बन्धी न हो जिसे उसके लिये विशेष मोह हो, और वह उस समय उन व्यक्तियोंसे घिरा हो जिन्हें उसने नुकसान पहुंचाया है और जो उसे प्यार नहीं करते अथवा जो बहुत अधिक अचेतन हों — तो वह ऐसी शक्तियोंका शिकारमात्र रह जाता है। ओह, यह एक ऐसा अनुभव है जिसे सह पाना बहुत अधिक कठिन होता है। ये शक्तियां केवल उसीका स्पर्श कर सकती हैं जो उनके अपने क्षेत्रकी वस्तु, अत्यधिक स्थूल प्राणिक वस्तु हो — उच्चतर प्राण उनकी पकड़से सर्वथा छूट जाता है, वहां वे कुछ नहीं कर सकतीं। इस प्रकार, स्थूल प्राणिक सत्ता तो बाहर चली जाती है, किंतु दूसरी पीछे रह जाती है; और इस उच्चतर प्राणिक सत्तापर सामान्य रूपसे अन्य संकटोंका आक्रमण होता है। और यदि यह भी चली जाय, तो मन पीछे रह जाता है। किंतु इस सबके पीछे आन्तरात्मिक सत्ता होती है जिसे कोई स्पर्श नहीं कर सकता, जो सभी संभव आक्रमणोंसे परे है, और वह सचमुच अपनी इच्छासे कहीं भी जा सकती है। साधारणतया — जबतक कि कोई विशेष अवसर न हो और वह पूर्ण विकासकी अवस्थातक पहुंच चुकी हो — वह आन्तरात्मिक जगतोंमें विश्राम करने चली जाती है। वहां वह एक प्रकारके परम आनन्दपूर्ण ध्यानावस्थामें जाकर कुछ समय ठहरती है, और अपने सारे अनुभवोंको आत्मसात् करती है, और जब वह उन्हें आत्मसात् कर लेती है और विश्राम भी कर चुकती है, तो वह पुनः एक नया जीवन ग्रहण करनेके लिये नीचे आनेकी तैयारीमें जुट जाती है। इस सत्ताका स्पर्श कोई नहीं कर सकता। किंतु अपनी आन्तरात्मिक सत्ताके प्रति सचेतन होनेवाले व्यक्ति इतने कम होते हैं कि ऐसा कहना बड़ा कठिन होता है कि यह अमुक-अमुक व्यक्ति हैं जिसे हम जानते हैं, क्योंकि लोग, जैसा कि हम उन्हें जानते हैं, आखिर किस वस्तुसे बने हैं? — उन्हीं सब भौतिक अनुभूतियोंसे, अपनी प्राणिक प्रतिक्रियाओंसे, अपनी मानसिक रचनाओंसे — यही सब : शरीर, चरित्र, विचार — और यह है हमारी मानवी सत्ता! हां, तो यह सब मृत्युके बाद नहीं टिक सकता जबतक कि वह आन्तरात्मिक सत्ताके चारों ओर इस हदतक संगठित और केंद्रित न हो कि वह आन्तरात्मिक सत्ताके साथ पूर्णतया युक्त हो जाय। अन्यथा यह सारा मिश्रण विघटित हो जायगा और आन्तरात्मिक सत्ता पीछे अकेली रह जती

है; कभी केवल एक लोकके रूपमें और कभी एक पूर्ण चेतन सत्ताके रूपमें।

यह तो एक सामान्य नियम है। पर वहां कई सेतु, "सुरक्षित मार्ग" भी होते हैं जिनका निर्माण प्राणिक जगत्‌में इसलिये हुआ है कि इनपरसे होकर व्यक्ति इन सब संकटोंसे पार हो सके। कुछ ऐसे वातावरण होते हैं जो उन लोगोंको, जो अपना शरीर छोड़ रहे होते हैं, आश्रय और संरक्षण देते हैं। वहां सभी प्रकारकी अवस्थाएं होती हैं; जो मैंने तुम्हें अभी बतायी है वह मृत व्यक्तिकी, सर्वसाधारण मनुष्योंकी सामान्य अवस्था है, किंतु यदि हम जरा अधिक उच्च प्रकारकी मानवताको लें, तो ये सब अवस्थाएं बदल जाती हैं। सामान्य नियम तबतक बना रहता है जबतक कि सत्ताके अंदर एक विशेष प्रकारका उच्चतर विकास ही साधित न हो जाय। कई लोगोंकी सत्तामें संघटन इतना पूर्ण होता है कि वे अपने शरीरपर निर्भर नहीं करते — बिल्कुल नहीं — चाहे वह हो या न हो।

किंतु सत्ताका यह सारा विकास ऐसे ही नहीं आ जाता कि बस, किसी-किसी समय इसके बारेमें सोच लिया, इसके लिये इच्छा और भी कम की जाय और अधिकतर व्यक्ति इसे भूला रहे — न, यह कार्य ऐसे नहीं हो सकता। ये भी एक प्रकारके अनुशासन हैं और मैं कह सकती हूं कि ये भी उतने ही कड़े अनुशासन हैं जितने कि कठोरतम आध्यात्मिक अनुशासन... । मूल रूपसे हम इसी कार्यके लिये पृथ्वीपर आये हैं। सच पूछो तो मानव इसी उद्देश्यसे बनाये गये हैं; इसी कार्यको करनेके लिये, और चूंकि वे इसे करना अस्वीकार करते हैं, इस जगत्‌में इतनी अस्तव्यस्तता है। यदि वे इसे सच्चाईसे करते, तो वस्तुस्थिति कहीं अधिक अच्छी होती।

मेरे बच्चो, अब नौ बजकर बीस मिनट हो चुके हैं; यदि तुम्हारे पास कोई अत्यंत रोचक प्रश्न पूछनेको है तो पूछो!

आपने कहा था कि आप पत्थरोंवाली कहानी सुनायेंगी।

वह एक अलग ही क्षेत्र है। वह मृत्यु-क्षेत्र नहीं है; वह स्थूल प्राणका, अत्यधिक भौतिक प्राणका क्षेत्र है जो भौतिक सत्तापर नियंत्रण रखता है तथा ठीक उसके पीछे स्थित है — स्थूल प्राण है यह।

उस समय हम "गेस्ट हाऊस"[1] में रहते थे। श्रीअरविंद दूसरी मंजिलपर

---

[1] श्रीअरविंद 'गेस्ट हाऊस' (४१, फ्रांस्वा मार्टिन स्ट्रीट) में १९१३ से १९२२ के सितम्बरतक रहे। यह घटना, जिसके विषयमें माताजी बता रही हैं, १९२१ में हुई थी — दिसम्बरके मध्यमें।

रहते थे, उस कोनेवाले कमरेमें जो अब बच्चोंके छाजावासका व्यानकक्ष है। मेरे ख्यालमें वहां साथ-साथ दो कमरे हैं, तब उनमेंसे एक स्नान-गृह था, अब वह कमरा है। उनके साथवाले कमरेमें मैं रहती थी — साथमें स्नानगृह और एक और कमरा भी था। श्रीअरविंद दूसरी ओरके कमरेमें थे।

तब हम कितने लोग थे उस मकानमें? . . . अमृत वहां थे (अमृतकी ओर मुड़कर), तुम थे न वहां, तुम्हें वह दिन याद है? (हंसी) हमारा एक रसोइया था, उसका नाम था बातेल। वह रसोइया बड़े बुरे स्वभावका था, अपने कामके बारेमें वह किसीकी डांट नहीं सुन सकता था। इसके अतिरिक्त, उसका कुछ मुसलमान व्यक्तियोंसे सम्बन्ध था, जिनके पास ऐसा प्रतीत होता है, जादूकी शक्तियां थीं — उनके पास जादूसम्बन्धी एक पुस्तक भी थी और वे जादूका अभ्यास भी कर सकते थे। एक दिन, उस रसोइयेने कोई बहुत बुरा काम किया जिसके लिये उसे डांटा-फटकारा गया — मुझे पता नहीं तुम इसको जानते हो या नहीं, उसीने डांटा था — और वह बौखला उठा। उसने हमें धमकाया और कहा: "तुम देखना, तुम्हें यह घर छोड़ना पड़ेगा।" हमने उस ओर ध्यान नहीं दिया।

दो-तीन दिनके बाद, किसीने मुझे बताया कि आंगनमें कुछ पत्थर गिरे हैं — तीन या चार ईंटके टुकड़े। हम सोचने लगीं कि साथवाले मकानसे कौन पत्थर फेंक रहा है। जो काम करनेके लिये बच्चोंको मना किया जाता है हमने वही किया: हमने छतपर दीवारोंपर जाकर देखनेकी कोशिश की कि कहीं कोई व्यक्ति या पत्थर या कोई भी वस्तु दीखे — पर वहां कुछ नहीं दिखायी दिया।

मेरा ख्याल है कि उस समय शामके कोई चार-पांच बजे थे। ज्यों-ज्यों शाम ढलती गयी, पत्थरोंकी संख्या बढ़ने लगी। अगले दिन इससे भी अधिक पत्थरोंकी वर्षा हुई। वे अधिकतर रसोईघरके दरवाजेके साथ टकरा रहे थे और उनमेंसे एक दरवाजे बाहपर लगा जो उस समय खोलनेकी ओर जा रही थी। पत्थरोंकी संख्या बढ़ती गयी और लोगोंका इस ओर ध्यान भी अधिकाधिक खिंचने लगा। ज्यों-ज्यों यह रुचि बढ़ने लगी, पत्थरोंकी संख्या भी बढ़ने लगी! और वे एक साथ कई दिशाओंमें गिरने लगे, ऐसे दिशाओंपर भी जहां न दरवाजे थे, न खिड़कियां; वहां जीनेमें कोई झरोखा नहीं था, उन दिनों कहीं भी कोई खिड़की आदि नहीं थी: केवल एक ओर एक छोटा-सा खोल छेद-सा था। पत्थर जीनेमें सीधे ऊपरकी ओरसे आ रहे थे; यदि वे उस छेदमेंसे आते, तो तिरछे आते, किंतु वे ठीक सिरके ऊपरसे आ रहे थे।

अतएव, लोग इस विषयमें सचमुच ही बहुत रुचि लेने लगे। मुझे तुम्हें यहां यह बता देना चाहिये कि बातल पिछले दो दिनसे नहीं आ रहा था — जबसे पत्थरोंकी वर्षा आरंभ हुई थी — उसने कहला भेजा कि वह बीमार है, नहीं आ सकता। तेरह-चौदह वर्षका एक छोटा लड़का जो उसके नीचे काम करता था वहीं था। वह लड़का कुछ मोटा-सा, उत्साहहीन और कुछ चुपचाप-सा, बल्कि कुछ मूर्ख था। और हमने देखा कि जब-जब वह इधर-उधर जाता पत्थर अधिक संख्यामें बरसने लगते। हमारे युवकों ने (उनमें अमृत भी था) उस लड़केको एक कमरेमें बन्द कर दिया, और उसके सारे दरवाजे-खिड़कियां बन्द कर दिये; उन्होंने वे प्रयोग करने शुरू कर दिये जो प्रेतों को बुलानेवाले करते हैं (हंसी) : "सब दरवाजे बन्द कर दो, खिड़कियां बन्द कर दो।" लड़का अंदर बैठा था और पत्थर वहीं गिरने लगे, और दरवाजे खिड़कियां बन्द! पथराव बढ़ता गया, यहांतक कि लड़केकी टांग जख्मी हो गयी। तब सबने सोचा कि अब यह चीज हद से बाहर जा रही है।

मैं तब श्रीअरविंदके साथ थी: हम शांतिपूर्वक इसपर कार्य कर रहे थे, ध्यान कर रहे थे। लड़कोंने आंख बचाकर हमारी ओर देखा कि हम क्या कर रहे हैं और उन्होंने हमें चेतावनी देनी शुरू कर दी, क्योंकि अब समय ऐसा आ गया था कि वे हमें स्थितिकी गंभीरतासे अवगत करा दें। मैं स्थितिको एकदम समझ गयी।

मैं तुम्हें यह भी बताती चलूं कि इससे पहले हम सामान्य और भौतिक प्रकारकी सभी संभव व्याख्याओंपर विचार करनेका पूरा प्रयत्न कर चुके थे। हमने पुलिसको बुलाया था और उनसे कहा था कि कोई हमारी तरफ पत्थर फेंक रहा है। वे यह सब देखनेके लिये आना चाहते थे। एक पुलिसवाला आया भी जो कि एक भला आदमी था — उसने तत्काल हमसे कहा: "ओह! बातल तुम्हारा रसोइया था! हां, हां, हमें पता है कि यह क्या हो रहा है!" उसके पास एक भरी हुई पिस्तौल थी और वह उसे लिये आंगनमें देरतक प्रतीक्षा करता रहा — पर कहीं पत्थरका नाम-निशान न था! मैं श्रीअरविंदके साथ ऊपर छतपर थी; मैंने श्रीअरविंदसे कहा: "यह तो बुरा हुआ, हमने पुलिसको बुलाया और तभी पत्थर गिरने बंद हो गये! यह ठीक नहीं, इससे तो वह सोचेगा कि हम झूठ बोल रहे हैं, क्योंकि पत्थर तो अब गिर नहीं रहे।" तत्काल पत्थरोंकी वर्षा फिरसे शुरू हो गयी। (हंसी)

एक बात और, पत्थर छतसे काफी दूर गिरते थे, हमारे आस-पास कहीं एक भी पत्थर नहीं गिरा।

तब पुलिसवाला बोला: "मेरा यहां ठहरनेका कोई फायदा नहीं, मुझे पता है यह क्या है, यह सब बातल ही आपके विरुद्ध कर रहा है, मैं जाता हूं।"

इसके बाद ही हमने उस लड़केको बन्द करनेका प्रयोग किया था, और पत्थर उस कमरेमें गिरने लगे और मुझे खबर मिली कि लड़केको चोट आयी है। तब मैंने कहा: "ठीक है, इस लड़केको अभी किसी दूसरी जगह भेज दो, किसी दूसरे घरमें, कहीं भी, और उसकी देख-भाल करो, पर उसे यहां मत रखो, बस। शांत रहो और डरो मत।" मैं श्रीअरविंदके पास उनके कमरेमें थी, मैंने सोचा: "देखते हैं कि यह सब क्या है।" मैं ध्यानमें चली गयी और थोड़ा आवाहन किया। मैंने कहा: "देखते हैं, यह कौन हमपर पत्थर बरसा रहा है? तुम हमारे सामने आकर बताओ कि ये पत्थर कौन फेंक रहा है।" ... मैंने तब तीन छोटी-सी, प्राणिक जगत्की सत्ताएं देखीं, ऐसी सत्ताएं जिनमें जरा भी शक्ति नहीं थी, वरन् उनमें इतनी ही चेतना थी जो केवल एक ही कार्य कर सकती थी — कुछ भी दम नहीं था उनमें; किंतु ये सत्ताएं जादूका अभ्यास करनेवालोंकी सेवामें रहती हैं। जादू करनेवाले इन्हें आनेका आदेश देते हैं और तब इन्हें उनकी आज्ञाका पालन करना पड़ता है। ऐसे कुछ संकेत, कुछ शब्द होते हैं। अतएव, वे आयीं, वे बहुत डरी हुई थीं — बहुत ही अधिक डरी हुई! मैंने उनसे कहा: "तुम इस प्रकार हमपर पत्थर क्यों बरसा रही हो? यह क्या बुरा मजाक है?" उन्होंने उत्तर दिया: "हमें इसके लिये विवश किया गया है, हां ... (हंसी), दोष हमारा नहीं है, हमें इसके लिये आदेश मिला है, हम दोषी नहीं हैं।"

मुझे उस समय बहुत हंसी आ रही थी, पर मैंने गंभीर मुख बनाकर उनसे कहा: "तुम्हें यह सब बन्द कर देना चाहिये, समझीं!" तब वे बोलीं: "आप क्या हमें अपने पास रखना नहीं चाहेंगी? आप हमसे जो करनेको कहेंगी हम करेंगे।" मैंने सोचा: "देखते हैं, यह शायद बड़ी रोचक बात हो।" तब मैंने उनसे कहा: "पर तुम कर क्या सकती हो?" —"हम पत्थर फेंक सकती हैं।" (सब हंसते हैं।) — "पर मेरी तो इसमें जरा भी रुचि नहीं है, मैं किसीपर भी पत्थर बरसाना नहीं चाहती ... पर क्या तुम कुछ फूल ला सकती हो? क्या गुलाबके फूल ला सकती हो?" इसपर वे निराश भावमें एक-दूसरेकी ओर देखने लगीं और बोलीं: "नहीं, हमारी सृष्टि इसलिये नहीं हुई है, हमें यह काम करना नहीं आता।" मैंने कहा: "मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं है, तुम जाओ, और विशेष ध्यान रखो कि वापिस मत आना, नहीं तो तुम्हारे साथ बुरा होगा!" वे भाग गयीं और दुबारा कभी नहीं आयीं।

एक बात मैंने खास देखी थी : हमने पत्थर छतके अंदरसे ही गिरते देखे थे — छतसे नीचेकी ओर; छतके पास या उसके ऊपर पत्थर नहीं थे। इसका अर्थ यह हुआ कि वह एक स्वयंभूत रचना थी। हवामें कुछ नहीं दिखायी देता था : वे यह स्थूल रूप घरके वातावरणमें ही धारण करते थे और वहीं गिरते थे।

और क्रियाको समाप्त करनेके लिये, अगली प्रातः — यह सब पिछली शामको हुआ था — मैं रसोईघर देखने नीचे आयी — रसोईमें कुछ खंभे थे — और एक खंभेपर मैंने कुछ लकीरें और अंक देखे, जो कोयलेसे लिखे गये थे, बड़े टेढ़े-मेढ़े — अब मुझे वे याद नहीं हैं — और कुछ तमिल शब्द भी थे। मैंने सावधानीसे सब कुछ मिटा दिया और उच्च शक्तिका आवाहन किया, और तब सब कुछ समाप्त हो गया, यह तमाशा खत्म हो गया।

लेकिन, पूरी तरह नहीं। बातलकी लड़की भी घरमें आयाका काम करती थी। वह दोपहर ढले आयी, बड़ी डरी-सी, और बोली : "मेरा पिता अस्पतालमें है, वह मर रहा है; आज प्रातः उसे पता नहीं क्या हो गया; एकदम ही बहुत बीमार हो गया और मरनेको है, उसे अस्पताल ले गये हैं, मुझे बड़ा डर लग रहा है।" मैं इसका कारण जानती थी। मैंने श्रीअरविंदसे कहा : "बातल बहुत बीमार है, वह मर रहा है।" श्रीअरविंदने मेरी ओर देखा और मुस्कुराये : "ओह, केवल कुछ पत्थरोंके लिये!" (सब हंसते हैं)

उसी शाम बातल ठीक हो गया। किंतु फिर उसने कभी ऐसा नहीं किया।

पत्थर दिखायी कैसे दिये ?

यही तो विचित्र बात है। कुछ ऐसी सत्ताएं होती हैं जो वस्तुओंको अमूर्त और मूर्त रूप देनेकी शक्ति रखती हैं। वे ईंटोंके मामूली टुकड़े थे, किन्तु ये टुकड़े उसी क्षेत्रमें मूर्त हुए जहां जादू किया गया था। जादू इस घरके लिये ही प्रयुक्त किया गया था, विशेषकर आंगनके लिये, इसलिये प्राणिक शक्तियोंका कार्य केवल वहीं हुआ। इसीलिये जब मैंने उस लड़केको वहांसे हटाकर दूसरे घरमें भेज दिया, तो उसे एक भी पत्थर नहीं लगा। जादूकी वह रचना केवल इसी घरके लिये की गयी थी और पत्थर भी इसी आंगनमें मूर्त रूप ग्रहण करते थे। और चूंकि यह सब उसके विरुद्ध रचा गया था, उसीकी बांहमें चोट भी लगी।

अभी एक बात और थी। ... हां। हमें पीछे पता लगा कि बातल

कौन-से जादूगरके पास गया था। वह यहां आस-पास काफी प्रसिद्ध था और उसने दातलने कहा था कि उन्हें (हमें) इस घरसे अवश्य ही चले जाना चाहिये, क्यों? पता नहीं। वह बहुत क्रोधित था। अतएव उसने जादूगरको यहां पथराव करनेके लिये कहा। जादूगरने उससे कहा भी: "किंतु इस घरमें तो श्रीअरविंद रहते हैं।" उसने उत्तर दिया: "हां।" — "म, मैं इस कार्यमें नहीं पड़ना चाहता! तुम्हें जो करना है स्वयं करो, मैं इसमें कुछ नहीं करना चाहता।" दातलने बहुत आग्रह किया; उसे अधिक बड़ा इनाम — थोड़े अधिक पैसे — देनेको कहा। तब जादूगरने कहा: "अच्छा, एक बात है; हम एक नियम बनायेंगे: श्रीअरविंदके चारों ओर, पच्चीस मीटरके घेरेमें" — बीस या पच्चीस मीटर शायद उसने कहा था — "पत्थर नहीं गिरेंगे। श्रीअरविंद और पत्थरोंमें सदा पच्चीस मीटरकी दूरी रहेगी।" और इसी प्रकार उसने अपना जादू चलाया। और इसीलिये एक भी पत्थर हमारे निकट कभी नहीं गिरा, कभी नहीं। वे आंगनकी दूसरी ओर गिरते रहे।

वे लोग ऐसा करना जानते हैं, उनकी पुस्तकोंमें यह लिखा है। इन शब्दों और कर्मकांडोंमें कुछ शक्ति होती है। जो लोग ऐसा करते हैं उनमें स्वभावतया ही प्राणिक शक्ति होती है। प्राणिक शक्ति कहां आवश्यक है — थोड़ी मानसिक शक्ति भी, पर अधिक नहीं, बहुत थोड़ी-सी — किंतु उनमें प्राणिक शक्ति बड़ी शक्तिशाली होती है और वह इन छोटी सत्ताओंपर नियंत्रण और शासन करना जानती है। और यह शासन केवल भयसे ही होता है, क्योंकि वह इन्हें विघटित करनेकी शक्ति रखती है, इसलिये ये सत्ताएं उससे अत्यधिक भय खाती हैं। किंतु इन रचनाओंपर, इन सब क्षुद्र सत्ताओंपर, सच्चे, विशुद्ध श्वेत प्रकाशकी एक बूंद डालना ही काफी होता है — उस सच्चे विशुद्ध प्रकाशकी जो रचनाका सर्वोच्च प्रकाश है — तुम उसपर एक बूंद डालो: वे ऐसे विघटित हो जाती हैं मानों पहले कहीं थीं ही नहीं। तो भी यह विनाशकी शक्ति नहीं है, यह रचनाकी है, किंतु यह उनकी प्रकृतिसे इतनी विजातीय है कि वे वहांसे लोप हो जाती हैं। इसीसे वे डर गयी थीं, क्योंकि मैंने यह श्वेत प्रकाश दिखाकर उन्हें बुलाया था और कहा था: "देखो, यह रहा! आओ।" किंतु उनका यह निवेदन था: "ओह! जो आप हमसे चाहें हम करेंगी।" मैंने तब कहा: "अच्छा, तुम क्या कर सकती हो?" — "पत्थर फेंक सकती हैं!" (हंसी)

१७ मार्च, १९५४

(यह वार्ता माताजीके लेख "चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति"के पहले भागपर आधारित है।)

> यहां आपने कहा है: "ऐसे (तपस्वीके-से) अभ्यासका स्पष्ट अभिप्राय सब संवेदनोंको मिटाना होता है ताकि शरीर व्यक्तिकी आत्माकी ओर उड़ानमें बाधा न बन सके।"

पुरानी आध्यात्मिक शिक्षाओंमें शरीरको सदा रूपांतरके अयोग्य माना जाता था, एक ऐसा जड़ और निरर्थक पदार्थ जो सदा रास्तेमें रोड़ा अटकाता रहता है — उनके अनुसार आत्माका शरीरसे निकलना जरूरी था ताकि वह स्वतंत्र होकर सभी संभव अनुभूतियां प्राप्त कर सके। इसीलिये वे शरीरके साथ अधिक-से-अधिक बुरा व्यवहार करके उसकी जीवन-शक्ति और बल निकाल देते थे, ताकि वह चुपचाप, एक निरर्थक वस्तुकी भांति पड़ा रहे। उनके लिये भौतिक चेतना एक ऐसी वस्तु थी जिसे दूर कर देना ही चाहिये।

यही बात थी। मैं वही कह रही हूं जैसा वे कहते थे। मैं अपने आपको उनकी जगह रख रही हूं।

> पिछली बार पुस्तकमेंसे यह पढ़ा गया था: "वे लोग (जिन्हें भगवान्‌में, अपने भगवान्‌में विश्वास है) पूर्णतः उन्हींके हैं। उनके जीवनकी समस्त घटनाएं भागवत इच्छाकी अभिव्यक्ति हैं और वे उन्हें शांतिपूर्ण, आत्म-समर्पणके भावमें ही नहीं बल्कि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास है कि जो कुछ उनके साथ घटेगा वह उनके भलेके लिये होगा।"
>
> शांत और कृतज्ञतापूर्ण समर्पणमें क्या अंतर है?

निष्क्रिय और कृतज्ञतापूर्ण समर्पणमें?... जब तुम्हें कोई आदेश दिया जाता है, तुम उसे वश्यता या स्वीकृतिकी भावनासे पूरा कर सकते हो क्योंकि तुमने समर्पण करनेका निश्चय कर लिया है; अतएव तुम वह काम प्रसन्नता या सुखके बिना शुष्क और ऊपरी मनसे कर देते हो, और उसमें

हो: "मुझसे यह काम करनेके लिये कहा गया था और मैं कर रहा हूं।" इसका मतलब यह हुआ कि तुम समझनेकी कोशिश नहीं करते और न ही उस वस्तुके साथ, जो तुम्हें करनेके लिये दी गयी थी, स्वेच्छासे कोई संबंध जोड़नेका प्रयत्न ही करते हो। यह वश्यताका समर्पण है। तुम अपने मालिकको स्वीकार कर लेते हो और यदि तुम कोई शिकायत नहीं करते तो केवल इसलिये कि तुमने शिकायत न करनेका निश्चय कर लिया था, इस निश्चयके कारण ही, वरना तुम शिकायत करते।

दूसरा उदाहरण है ऐसे व्यक्तिका जो यह समझना चाहता है कि आदेश क्यों दिया गया, उसके आंतरिक मूल्यको समझकर उससे जो मांग की गयी है, उसे पूरी शक्तिके साथ अभिव्यक्त करना चाहता है। वह जानता है और इसमें आनंद पाता है कि यह ऐसी चीज है जो भगवान्‌को नजदीक लायेगी और पूरा संतोष देगी। तब आदमी प्रसन्न और संतुष्ट होता है और सहयोग देता है। इसमें बहुत अंतर पड़ जाता है।

क्या शांत समर्पणमें व्यक्ति प्रसन्नता नहीं अनुभव करता?

अब सामान्यतया व्यक्तिको अपने ऊपर गर्व होता है! वह घमंडमें आकर अपनेसे कहता है कि वह कुछ अनोखे काम कर रहा है। वह प्रश्न नहीं करता, न समझनेकी कोशिश करता है: वह केवल आदेशका पालन करता है, वह आन पड़ी बातको स्वीकार करता है। वह अपनेसे यह भी नहीं पूछता कि यह ठीक है या नहीं: वह अपने-आपको अधिक बड़ा समझता है! घमंडसे फूल उठता है। यहां ऐसे बहुतेरे हैं।

तब यह सच्चा समर्पण तो न हुआ न?

मेरे विचारमें तो दूसरा समर्पण अधिक अच्छा है। कम-से-कम उसमें यह समझनेका संतोष तो है कि अमुक काम क्यों हो रहा है; व्यक्ति प्रसन्नतासे काम करता है और काम करनेके तथ्यसे ही उसे शक्ति बढ़नेकी अनुभूति होती है, जब कि पहले समर्पणमें उसका सिर इतना नीचे, नीचे झुकाया जाता है मानों बेचारा एक ऐसी निरंकुश सत्ताका शिकार बन गया हो जिसने उसे अपनी सर्वशक्तिमत्तासे कुचलकर रख दिया है।

मन्दिरोंमें लोग भगवान्‌के आगे पशुओंकी बलि देते हैं। क्या इसे क्रूरता कहा जा सकता है?

यह क्रूरतासे अधिक अज्ञान और अचेतनाके नजदीक है। वे हत्या इसलिये नहीं करते कि वे निर्दयी हैं — कुछ अपवाद होते हैं — तो भी, यदि सामान्यतया कहा जाय, तो वे इसलिये नहीं करते कि उन्हें मारनेमें विशेष सुख मिलता है बल्कि इसलिये कि वे किसी विशेष देवतासे डरते हैं और सोचते हैं कि बलि चढ़ानेसे वे उसकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेंगे।

यहांसे निकट ही, समुद्रके किनारे, मछुओंका एक मंदिर है, उसका नाम शायद वीरमपट्टनम् है; जब तुम आर्यनकुप्पमतक जाते हो और वहांसे बायें मुड़कर समुद्रकी तरफ चलते हो, तो सड़कके अंतमें ही वह मंदिर है। यह एक अनोखे देवताका मंदिर है... यह एक काली मानी जाती है। हां तो, इस कालीके बारेमें अनोखी कहानियां प्रचलित हैं, बहरहाल, वहांकी रीति है कि प्रत्येक वर्ष उसे बहुत-से चूजोंकी बलि चढ़ायी जाती है। मैं एक बार वहां जा निकली — शायद उत्सवके एक दिन बाद : वहां सब ओर रेतपर मुर्गियोंके पंख बिखरे पड़े थे — और, सबसे बढ़कर, वहां रेंगते हुए भय और पूर्ण अज्ञानका वायुमण्डल व्याप्त था, साथ ही लालचका वातावरण छाया हुआ था, न सिर्फ लालचका बल्कि लोलुपताका भी, उन लोगोंकी लोलुपताका जो सदा खानेके बारेमें ही सोचते रहते हैं (मुझे पता नहीं वहां क्या होता था — उन मुर्गियोंको कौन खाता था? जो उन्हें मारता था वह या पुजारी लोग — पर वहां तो सचमुच बहुत मुर्गियोंकी बलि दी जाती थी! यदि पुजारी लोग ही सब खाते तो अवश्य बीमार पड़ जाते! इसलिये शायद बलि चढ़ानेवाले लोग भी उन्हें खाते होंगे)। और वहांकी काली उन सब बेचारे चूजोंकी प्राणिक शक्तियोंसे विशेष रूपमें प्रसन्न थी; वे सैकड़ोंकी संख्यामें मारे जाते थे और प्रत्येककी थोड़ी-सी प्राण-शक्ति थी जो गला कटते ही बाहर निकल जाती थी, और वह काली उस शक्तिको अपना आहार बनाती थी : वह बहुत प्रसन्न थी और स्पष्ट ही — मैं नहीं कह सकती कि उसे क्रूरता कहा जा सकता है या नहीं, प्राणिक शक्तियोंका लालच तो वहां अवश्य ही था — यह लालच प्राणिक शक्तिकी, अत्यधिक अचेतन प्राणिक शक्तिकी थी, क्योंकि बेचारी मुर्गियोंमें चेतन वस्तु तो कोई थी ही नहीं। और इस सबने वहां एक बड़े निम्न प्रकारका, अत्यंत बीभत्स, अत्यंत अचेतन और कष्टप्रद वातावरण पैदा कर दिया था, फिर भी, इसमें क्रूरताकी तीव्रता नहीं थी। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रथाका कारण क्रूरता है, मेरे ख्यालसे नहीं। शायद इनमेंसे कुछ लोग यदि किसी बकरी या मेमनेकी बलि चढ़ाते जिसे वे प्यार करते थे, तो थोड़ी उदासी महसूस करते। वहां तो भारी अचेतना और महान् भय

पा। ओह, भय! धर्ममें कितना भय होता है! यह भय: "यदि मैं यह या वह न करूं, यदि मैं एक दर्जन चूजोंका गला न काटूं तो मेरे सारे जीवनमें या कम-से-कम इस सारे वर्षमें मुझपर संकट आयेंगे। मेरे बच्चे बीमार हो जायेंगे, मेरी नौकरी चली जायगी, मैं कुछ कमाई न कर सकूंगा, मेरे साथ बड़ी, बड़ी असुखकर घटनाएं घटेंगी।"... तो वे सोचते, चलो, एक दर्जन चूजोंकी ही बलि चढ़ा दें। किन्तु उसका कारण उनकी मारनेकी इच्छा नहीं है। वे यह क्रूरतावश नहीं, अचेतनावश करते हैं।

जब आप उस कालीको देखने गयीं तो उसने क्या किया?

तुम्हें कहानी मालूम है, नहीं जानते?... मुझे उस स्थानका पता नहीं था, लेकिन आर्यनकुप्पम् और इस मंदिरके बीच एक सड़क थी। मैं अपनी कारमें बिना कुछ जाने, चुपचाप बैठी थी — मुझे कुछ पता नहीं था, न उस कालीका, न मुर्गियोंका और न किसी अन्य वस्तुका — मैं कारमें बैठी थी, अचानक आधे रास्ते मैंने एक काली सत्ताको अपनी ओर आते देखा, उसके बाल फैले थे, वह मेरे साथ एक समझौता करना चाहती थी। और बड़ी नर्मीके साथ उसने मुझसे कहा: "आह! यदि आप मुझे अपनाना चाहें और मेरी सहायता करें तो यहां कितने ही लोग आयेंगे और यह स्थान कितना महिमामय हो उठेगा।" वह एक हास्यास्पद छोटी-सी आकृति थी, काले रंगकी, बाल फैले, दुबली-पतली, मानों वह बहुत फलती-फूलती न हो! पीछे मुझे किसी-ने बताया कि उसपर कोई विपत्ति आ पड़ी है: उसका सिर काट दिया गया है — कुछ-कुछ ऐसी ही बात थी, मुझे ठीक पता नहीं। (एक साधककी ओर मुड़कर) अमृत, क्या तुम वीरभद्रनम्की कालीकी कहानी जानते हो?... नहीं जानते? किसीने मुझे यह कहानी सुनायी तो थी, जो भी हो, वह अधिक मनोरंजक नहीं थी, वह एक अभागी काली थी। मैंने उसे शांत रहनेके लिये कहा और यह भी कि मैं समझी नहीं कि वह मुझसे क्या चाहती है, पर यदि उसमें सच्ची अभीप्सा होगी, तो उसे प्रत्युत्तर मिलेगा। अगले क्षण ही हम मंदिरतक पहुंच गये; तब मुझे यह समझमें आने लगा कि इसीके लिये यह मंदिर बनाया गया था। इसके बाद हम समुद्रके किनारे झाऊके वृक्षके नीचे सैर करनेके लिये गये, और वहां हमने बहुत-से पंख और खूनकी बूंदें देखीं, साथ ही वहां आग जलनेके निशान भी मौजूद थे — ये उस आगके चिह्न थे जिसपर उन्होंने, स्पष्ट ही, चूजे पकाये होंगे। हमने सारी कहानी जाननी चाही। और तब

मैंने कालीकी कहानी सुनी कि किस प्रकार इस दिन मुर्गियोंकी बड़ी संख्या में हत्या की गयी थी।

हां, तो बात ऐसी है। मुझे नहीं लगता कि वह सत्ता मुर्गियोंको कटता देखकर बहुत संतुष्ट होती होगी — मुझे इस विषयमें कुछ पता नहीं। जैसा कि मैंने कहा, वह केवल इतना ही काम पा सकती थी कि मुर्गियोंकी प्राणिक शक्तियोंको प्राप्त कर सके। किंतु यह स्पष्ट था कि उसे मनुष्योंकी भारी भीड़ देखकर बहुत संतोष मिलता था — जितने अधिक आदमी आयें, जितनी अधिक मुर्गियां कटें, सफलताका उतना ही बड़ा लक्षण होगा। यही बात उसके महत्त्वके बढ़नेका प्रमाण था! अतएव भोलेपनसे ही उसने मुझसे सहायता मांगी थी, उसने कहा कि यदि मैं उसकी सहायता करना चाहती, उसे अपनी कुछ प्राणिक शक्ति और प्राणिक उपस्थिति दे देती, तो और अधिक लोग वहां आते और फलस्वरूप अधिक मुर्गियां भी कटतीं! और तब और भी अधिक सफलता होती। मैंने उसे कहा था कि जितना है वही काफी है, उसे शांत रहना चाहिये।

मां, वह कौन-से स्तरकी सत्ता थी?

अत्यधिक स्थूल प्राणिक स्तरकी।

उसे काली क्यों कहते हैं?

मुझे पता नहीं। यह एक प्रकारकी काली है — मुझे धुंधला-सा स्मरण है कि उसका सिर कटा हुआ था या गलेतक धंसा हुआ, पता नहीं क्या था। कुछ-कुछ ऐसा ही। एक ऐसे सिरकी कहानी प्रचलित है जो रेतमेंसे बाहर निकलता है और धड़ गलेतक दबा हुआ होता है। किंतु इस देशमें तुम्हें कहीं भी यह कहानी सुननेको मिल जायेगी, मुझे याद नहीं। यह कालीका ही एक रूप है — कालीके असंख्य रूप हैं। प्रत्येक श्रद्धालुकी अपनी कल्पित मूर्ति होती है, किसी एक कालीके साथ उसका संबन्ध होता है। कभी-कभी यह उनकी अपनी ही काली होती है। परिवारोंकी भी अपनी काली होती है — ऐसी बहुत-सी पारिवारिक कालियां हैं। मैं कई ऐसे परिवारोंको जानती थी जिनकी कालियां बड़ी भयानक थीं। यदि उनका कहा न किया जाता, तो परिवारपर कोई विपत्ति आ पड़ती थी। यह रचना बड़ी शक्तिशाली होती थी। मेरे विचारमें तो इसके लिये परिवारके सदस्य अपनी कालीसे अधिक उत्तरदायी

हैं। मैं ऐसे लोगोंको भी जानती थी जिन्होंने परिवारमें विपत्ति आनेपर, स्वयंकी विपत्ति —, किसीकी मृत्यु — गुस्सेमें आकर कालीकी मूर्तिको उठाकर गंगामें फेंक दिया।

क्या इस कालीका महाकालीसे कोई संबन्ध नहीं है?

न। इसका मानव मनसे बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है। मेरे विचारमें ये प्रायः पूरी तरहसे मानव मनकी ही रचनाएं हैं... किंतु मैंने देखा है कि गणपतिका वास्तवमें अस्तित्व है — मैं इसपर विश्वास नहीं करती थी, मैं सोचा करती थी कि यह एक विशुद्ध मानव रचना है, हाथीके सिरकी कहानी — किंतु ऐसी सत्ता वास्तवमें है। मैंने उसे देखा है, वह जीवन्त रूपमें विद्यमान है, रचना नहीं। इसी प्रकार काले रंगकी, मुंडमाला-धारिणी, लम्बी लटकती जीभवाली काली भी है। मैंने उसे देखा है। मैंने उसे बड़ी-बड़ी आंखें खोले अपने कमरेमें प्रवेश करते देखा है। अतएव मुझे उसके अस्तित्वका भी निश्चय है। और यह भी मानव रचना नहीं थी: एक सत्ता थी — वास्तविक सत्ता। यह संभव अवश्य है कि मानव विचारोंने कुछ छोटी-छोटी बातें उसके साथ जोड़ दी हों। किंतु तो भी वह एक वास्तविक सत्ता थी, निरी रचना नहीं।

वह काले रंगकी काली क्या करती है?

मेरे विचारमें वह काफी बुरे काम करती है! यह तो स्पष्ट ही है कि विनाशमें वह बहुत सुख पाती है।

यह पहले महायुद्धकी बात है, युद्धके प्रारंभिक दिनोंकी। मैं तब यहीं थी। मैं 'डूप्लेक्स' स्ट्रीटपर एक घर 'डूप्लेक्स हाऊस'में रहती थी। उस घरकी छतसे मैं श्रीअरविंदका कमरा देख सकती थी, वह जो कमरा 'गेस्ट हाऊस'में था। श्रीअरविंद उसी घरमें रहते थे। उनके पास दो कमरे थे और एक छोटी-सी छत। और 'डूप्लेक्स हाऊस' की छतसे 'गेस्ट हाऊस' की छत दीखती थी। मुझे पता नहीं अब भी दीखती है या नहीं; यह बीचके घरोंपर निर्भर है, पर तब उसे देखा जा सकता था। मैं रोज प्रातः छतपर बैठकर श्रीअरविंदके कमरेकी ओर मुंह करके ध्यान किया करती थी। उस दिन मैं अपने कमरेमें थी, किंतु छोटी-सी खिड़कीमेंसे श्रीअरविंदके कमरेकी ओर देख रही थी। मैं ध्यानमें थी पर मेरी आंखें खुली थीं। मैंने इस कालीको दरवाजेमेंसे अंदर आते देखा; मैंने उससे पूछा: "तुम्हें क्या चाहिये?"

और वह नाच रही थी, सचमुचमें बड़े जंगली प्रकारका नृत्य था वह। उसने मुझसे कहा : "पैरिस ले लिया गया है, पैरिस नष्ट हो जायगा।" हमें तब खबरें नहीं मिला करती थीं, वह युद्धके आरंभिक दिन ही थे। मैं व्याकुल थी, मैंने उसकी ओर मुड़कर देखा और बोली : "नहीं, पैरिस नहीं लिया जायगा, वह बचा लिया जायगा," मैंने यह बात बड़ी शांतिसे, पर थोड़े बलके साथ कही। उसने मुंह बनाया और चली गयी। और अगले दिन खबर आयी। उन दिनों रेडियो नहीं था, तारद्वारा खबरें आती थीं जिन्हें राजनिवासके दरवाजेपर लगा दिया जाता था, खबर यह थी कि जर्मन पैरिसपर चढ़े आ रहे थे, और पैरिस अरक्षित था; रास्ता खुला था, उन्हें केवल कुछ किलोमीटर ही आगे बढ़ना था और वे शहरमें प्रवेश कर जायेंगे। किंतु जब उन्होंने देखा कि सड़क खुली पड़ी है और वहां उनका सामना करनेके लिये कोई नहीं है, तो उन्होंने सोचा कि निश्चय ही यह कोई जाल है, कोई उनकी घातमें बैठा है। बस, वे मुड़कर वापिस लौट पड़े! (हंसती हैं) और जब फरासीसी सेनाने यह देखा तो स्वभावतया ही उसने उनका पीछा किया और उन्हें पकड़ लिया, वह एक निर्णायक युद्ध था : उन्हें रोक दिया गया। हां, स्पष्ट रूपसे यही बात हुई। इसकी व्याख्या यों की जाती है : जब मैंने कालीसे कहा, "नहीं," तो वे घबरा गये। वे वापिस मुड़ गये। अन्यथा, यदि वे आगे बढ़ते जाते तो सब कुछ समाप्त हो जाता।

महाकाली कैसी है?

वह मेरे बच्चो, जब तुम उसे देखोगे, तो मुझे बताओगे! वह इस प्रकारकी काली नहीं है। एक बात जो मैं बता सकती हूं वह यही है कि वह काले रंगकी नहीं है, उसकी जीभ भी बाहर नहीं निकली है, न वह मानवमुण्डोंकी माला पहनती है!

> यहां आपने कहा है : "साधुओंका कांटोंका बिस्तर और हठी संन्यासीका कोड़ा और टाट एक ऐसे परपीड़नरतिके परिणाम हैं जो थोड़ा-बहुत बचा-खुचा और अस्पष्ट-सा रहता है; जिसे स्वीकारा नहीं जा सकता; वह उन संवेदनोंके लिये एक प्रकारकी अस्वस्थ चाहना अथवा अवचेतन आवश्यकता है।"

ओह! तुम जानते ही हो ऐसे साधु होते हैं जो कांटोंके बिस्तरपर सोते हैं। क्या तुमने उन्हें कभी नहीं देखा है? सच मैंने उनके कुछ चित्र देखे हैं।

ऐसा किया जाता है; वे कांटोंके बिस्तरपर सोते हैं। अभी हालमें ही मैंने एक ऐसा चित्र देखा था। हां, वे शायद अपना संतपन साबित करनेके लिये ऐसा करते हैं। जब वे ऐसा खुलेआम करते हैं तो शंका होती है कि यह कुछ-कुछ नाटकीय है। किंतु तो भी ऐसे साधु हैं जो यह सच्चे रूपमें कर सकते हैं, इस अर्थमें कि वे इसे दिखावेकी खातिर नहीं करते। अतः, यदि उनसे पूछा जाय कि वे ऐसा क्यों करते हैं, तो वे कहेंगे : अपने-आपको यह प्रमाण देनेके लिये कि वे शरीरसे अलग हैं। कुछ लोग इससे भी आगे बढ़ जाते हैं: वे कहते हैं कि आत्माको मुक्त करनेके लिये शरीरको कष्ट देना जरूरी है। हां तो, यदि तुम मुझसे पूछो, तो मैं कहूंगी कि इस सबके पीछे कष्ट पानेका एक ऐसा प्राणिक रस होता है जो शरीरको इसलिये कष्ट देता है कि प्राण कष्टमें बहुत विकृत सुख मानता है। मैं ऐसे बच्चोंको जानती थी जो कहीं चोट लगनेपर उस-स्थानको अधिक-से-अधिक दबाते थे ताकि और भी पीड़ा हो! और वे उस-में सुख मानते थे। (ऐसे बड़ोंको भी जानती थी)। नैतिक दृष्टिसे, यह बहुत जाना-पहचाना तथ्य है। मैं लोगोंसे कहती रहती हूं: "यदि तुम अप्रसन्न हो, तो इसलिये कि तुम चाहते हो। अगर तुम कष्ट पाते हो, तो इसलिये कि तुम कष्ट चाहते हो, वरना तुम्हें कष्ट न होगा।" इस आदत-को मैं अस्वस्थ कहूंगी, क्योंकि यह सामंजस्य और सौन्दर्य-विरोधी है, यह उग्र संवेदनोंको प्राप्त करनेकी एक प्रकारकी अस्वस्थ आवश्यकता है।

मुझे पता नहीं कि तुम यह जानते हो या नहीं कि चीन एक ऐसा देश है जहां पीड़ा पहुंचानेकी अति भयंकर विधियोंका आविष्कार हुआ है, ऐसी भयंकर कि तुम इस विषयमें सोच भी नहीं सकते। जब मैं जापानमें थी तब मैं-ने एक जापानीसे पूछा जिसे चीनी बहुत अच्छे लगते थे (जो बहुत ही कम होता है) और चीनीकी सदा प्रशंसा किया करता था, कि ऐसा क्यों है। उसने मुझे बताया: "यह इसलिये है कि सुदूर पूर्वकी जातियोंकी, जिसमें जापानी भी शामिल हैं, संवेदनशीलता बड़ी कुंद होती है। इन्हें अनुभूति बहुत कम होती है; जबतक पीड़ा बहुत ही अधिक न हो, उन्हें कुछ महसूस ही नहीं होता। इसलिये इसी बातने उन्हें अत्यधिक तीव्र प्रकारकी पीड़ाएं आविष्कृत करनेमें अपनी बुद्धि लगानेको विवश किया है।" हां, तो ऐसे सब लोग, जो अचेतन होते हैं, जितने अधिक अचेतन होंगे उतने ही अधिक तामसिक होंगे; उनकी संवेदनशीलता जितनी अधिक कुंद होगी, किसी वस्तुको महसूस करनेके लिये उन्हें उतने अधिक उग्र प्रकारके संवेदनोंकी आवश्यकता पड़ेगी। और यही बात सामान्यतया लोगोंको क्रूर बना देती है, क्योंकि क्रूरता उग्र प्रकारके संवेदनोंको जन्म देती है। दूसरोंको पीड़ित करनेसे

जो स्नायविक तनाव पैदा होता है, वह स्वभावतया ही संवेदनको जन्म देता है, और इन्हें इसे महसूस करनेके लिये पीड़ाकी आवश्यकता पड़ती है; नहीं तो उन्हें कुछ पता ही नहीं लगता। और इसीलिये सारी जातियां ही विशेष रूपसे क्रूर हो उठती हैं। वे अत्यधिक अचेतन होती हैं — प्राणिक रूपमें अचेतन। मानसिक रूप या किसी और तरहसे वे चाहे अचेतन न भी हों, किंतु प्राणिक या शारीरिक रूपमें अचेतन ही होती हैं — विशेषकर, शारीरिक रूपसे।

क्या जिन व्यक्तियोंमें सौंदर्यकी भावना हो, वे भी क्रूर हो सकते हैं?

यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। यह इस बातपर निर्भर है कि उनकी सौन्दर्य-भावना किस स्तरकी है। आदमीमें शारीरिक सौन्दर्य-भावना, प्राणिक सौन्दर्य-भावना, मानसिक सौन्दर्य-भावना हो सकती है। यदि व्यक्तिमें नैतिक सौन्दर्य-भावना हो — नैतिक सुन्दरताकी भावना और आत्मिजात्य हो — तो वह कभी क्रूर नहीं हो सकता। तब वह सदा सभी परिस्थितियोंमें उदारचित्त एवं दयालु होगा। किंतु मनुष्य कई विभिन्न टुकड़ोंसे बने हैं...। उदाहरणार्थ, मैं उन सब कलाकारोंके विषयमें सोच रही थी जिन्हें मैं जानती थी — पिछली शताब्दी तथा इस शताब्दीके आरंभके सभी महान् कलाकारोंको मैं जानती थी, उनमें सचमुचमें सौन्दर्यकी भावना मौजूद थी, किंतु नैतिक रूपसे, उनमेंसे कुछ बहुत क्रूर थे। जब कलाकार अपने काममें निमग्न दिखायी देता था, तो वह एक वैभवमय सौन्दर्यमें निवास करता था, किंतु जब तुम उसे घरमें देखते, तो उसका अपने अंदरके कलाकारके साथ बहुत कम संपर्क होता था और तब वह सामान्यतया बड़ा गंवार, अति साधारण-सा व्यक्ति होता था। कई कलाकार ऐसे थे, मुझे विश्वास है। किंतु जिन लोगोंमें संतोंके सभी भाव एक होते थे, इस अर्थमें कि जिनका सारा जीवन ही सचमुच कलामय होता था, उनके साथ ऐसा न होता था; वे बड़े उदार एवं भले थे।

मुझे एक बड़ी रोचक कहानी याद आती है जो मुझे रोदैंने सुनायी थी। तुम रोदैंको जानते हो — उसे नहीं, उसके कार्यको? रोदैंने एक दिन मुझसे एक प्रश्न किया; उसने पूछा: "दो स्त्रियोंको परस्पर-ईर्ष्या करनेसे कैसे रोक सकते हैं?" (सब हंसते हैं) मैंने उससे कहा: "ओह, यह सचमुच एक भारी समस्या है! किंतु तुम यह क्यों पूछते हो?" तब उसने मुझे बताया: "बात यह है: मैं जो भी मूर्तियां बनाता हूं, माप उन्हें

पत्थरमें गढ़ने या कांसेमें ढालनेसे पहले मिट्टीसे पकड़ता हूं। और अक्सर ऐसा होता है : कई बार मैं एक-दो दिनके लिये बाहर चला जाता हूं। अपने मिट्टीके प्रतिरूपोंको गीले कपड़ेसे ढक जाता हूं ताकि मेरे पीछे वे सूख न जायं और उनमें दरारें न पड़ जायं, अन्यथा मेरी सारी मेहनत मिट्टीमें मिल जायगी और मुझे नये सिरेसे उनपर काम करना पड़ेगा।" यह बात सभी मूर्तिकार जानते हैं। और उस बेचारे मूर्तिकारके साथ यह हुआ : घरमें उसकी पत्नी थी, और एक स्त्री-मॉडल थी जिसे सामने बैठाकर वह मूर्तियां बनाता था, उसका उस घरमें काफी आना-जाना था, और वह बिना रोक-टोकके घरमें आती रहती थी। अब, पत्नी तो पत्नी ठहरी। और जब रोदें घरसे बाहर जाता, वह बड़े सवेरे उसकी मूर्तियोंके कमरेमें आकर सबपर पानी छिड़क देती, सब कपड़ोंपर, जिनके नीचे मूर्तियोंके सिर या और अंग पड़े हुए होते थे। सब कुछ वहां ढका रहता था, गीले कपड़ेमें लिपटा रहता था। उसपर पानी ऐसे छिड़का जाता था जैसे कि पौधोंपर। अतः वह आती और पानी छिड़क जाती थी। उधर, कुछ समयके बाद, दो-तीन घंटे पीछे, वह स्त्री-मॉडल भी आती, उसके पास उस कमरेकी चाबी रहती थी। कमरेको खोलकर वह भी पानी छिड़क जाती। वह भली-भांति देखती थी कि सब गीला है; किंतु उसे भी अपने मूर्तिकारकी मूर्तियोंकी देख-भाल करनेका अधिकार था — सो वह भी उसपर पानी छिड़क जाती। "और तब," रोदेंने मुझे बताया, "परिणाम यह होता कि जब मैं बाहरसे लौटता, तो मेरी सारी मूर्तियां बह रही होतीं और जो भी काम करके जाता उसका निशान भी बाकी न होता!"

वह वृद्ध हो गया था, तब भी वह बूढ़ा ही था। बड़ा अद्भुत था वह। उसका सिर वन-देवता, यूनानी वन-देवता जैसा था। वह नाटा, भारी-भरकम आदमी था; बड़ी पैनी आंखें थीं उसकी। वह बड़ा व्यंग्यप्रिय था और कुछ... वह इस बातपर हंसा करता था, किंतु तो भी वह वापिस आकर अपनी मूर्तियोंको साबुत ही देखना ज्यादा पसंद करता!

और आपका उत्तर क्या था? (सब हंसते हैं।)

मुझे अब याद नहीं। (सब हंसते हैं।) शायद मैंने भी हंसीमें कुछ उत्तर दे दिया था। हां, एक बात मुझे याद आती है, मैंने उससे पूछा : "तुम उन्हें यह बताकर क्यों नहीं जाते थे : अमुक स्त्री ही उसपर पानी छिड़केगी?" उसने तब अपने सिरके बचे-खुचे बालोंको पकड़कर खींचा

और बोला: "तब तो छुरे चल जायेंगे।" (सब हंसते हैं।)
अच्छा तो, शुभ-रात्रि।

२४ मार्च, १९५४

(यह वार्ता भी माताजीके निबन्ध "चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति" के पहले भागपर आधारित है।)

यदि व्यक्ति रातको भारी भोजन कर ले, तो उसकी नींदमें दुःस्वप्नोंसे बाधा क्यों पहुंचती है?

क्योंकि स्वप्नों और पेटकी अवस्थामें बड़ा निकटका संबंध है। इस विषयमें निरीक्षण किये गये हैं और यह देखा गया है कि जिस प्रकारका भोजन किया गया हो, उसीके अनुसार इस या उस तरहके स्वप्न भी आते हैं, और यदि खाना पचा न हो, तो वह स्वप्न सदा ही दुःस्वप्नोंमें बदल जाता है, — भले इन दुःस्वप्नोंमें कोई सत्यता न हो किंतु तो भी वे होते तो दुःस्वप्न ही हैं और वह भी बहुत असुखकर — उदाहरणार्थ, मौत, बीते, आदि, देखना...। या फिर तुम्हें ऐसा लगता है मानों तुम्हारे ऊपर कोई भारी संकट आ पड़ा है, तुम्हें जल्दीसे वस्त्र पहनकर बाहर जाना है, और तुम चाहते हुए भी शीघ्रतापूर्वक कपड़े पहनकर तैयार नहीं हो सकते, तुम्हें वस्त्र ही नहीं मिलते, जूता पहनना चाहते हो, वह पैरमें ठीक नहीं बैठता, तुम जल्दीसे कहीं जाना चाहते हो, तुम्हारी टांगें ही नहीं चलतीं, वे बेकाम हो गयी हैं और चलनेके लिये बहुत प्रयत्न करनेपर भी तुम एक पग नहीं उठा सकते, हिल ही नहीं पाते। इस प्रकारके स्वप्न पेटकी गड़बड़ीसे ही आते हैं।

तमाखू और शराब, स्मृति और संकल्प शक्तिको क्यों भ्रष्ट कर देते हैं?

क्यों? क्योंकि वे ऐसा करते हैं। इसका कोई नैतिक कारण नहीं है। यह एक तथ्य है। शराबमें एक प्रकारका विष है, तमाखूमें भी एक विष है, यह विष शरीरके कोषाणुओंमें जाकर उन्हें हानि पहुंचाता है। कहा जा सकता है

कि शराब कभी बाहर नहीं निकलती; वह मस्तिष्कके एक भागमें जमा होती जाती है, और, फिर, जब वहां जमाव अधिक हो जाता है, तो ये कोषाणु अपना काम करना बंद कर देते हैं — इसके अतिरिक्त, कुछ लोग पागल हो जाते हैं, उन्हें कम्पोन्माद हो जाता है, यह अत्यधिक शराब पीनेसे होता है जो अंदर आत्मसात् नहीं होती और इस प्रकार मस्तिष्कमें जमा हो जाती है। और यह इतनी उग्र होती है कि . . .। फ्रांसमें एक प्रांत है, वहां मदिरा बनती है — इसमें मद्यसार बहुत कम होता है : मेरा ख्याल है चार या पांच प्रतिशत जो बहुत कम है, समझे, और ये लोग, चूंकि स्वयं बनाते है, इसलिये पीते भी ऐसे हैं, जैसे पानी पिया जाता है। इसे शुद्ध रूपमें पीते हैं, और कुछ समय बाद बीमार पड़ जाते हैं। इन्हें मस्तिष्कसंबंधी कई व्याधियां हो जाती हैं। मैं ऐसे कई लोगोंको जानती थी जिनके मस्तिष्कमें गड़बड़ी हो गयी थी, वे ठीक प्रकारसे काम नहीं कर पाते थे। और तमाखू — निकोटिन तो बहुत गंभीर प्रकारका विष है। यह विष कोषाणुओंका सफाया ही कर देता है। मैं पहले भी कह चुकी हूं कि यह एक धीमा विष है क्योंकि तत्काल इसके बुरे परिणामोंका पता नहीं लगता, पर व्यक्ति जब पहली बार पीता है, तो वह काफी अस्वस्थ-सा अनुभव करता है। और इसीसे तुम्हें समझ लेना चाहिये कि ऐसा न करना चाहिये। लेकिन लोग इतने मूर्ख होते हैं कि वे इसे अपनी दुर्बलता मानते हैं। और इसलिये वे तबतक पीते रहते हैं जबतक इस विषके अभ्यासी नहीं हो जाते। और तब शरीर भी प्रतिक्रिया करना बन्द कर देता है, बिना प्रतिक्रियाके ही वह अपनेको नष्ट होने देता है : प्रतिक्रियासे तुम्हारा पिण्ड छूट जाता है।

शारीरिक रूपसे भी वही बात होती है जो नैतिक रूपसे। जब तुम कोई ऐसा काम करते हो जो नहीं करना चाहिये और तुम्हारी अंतरात्मा अपनी शांत, धीमी आवाजमें उसे करनेसे मना करती है, तो यदि तुम उसके मना करनेपर भी करते रहो, तो कुछ समय बाद वह तुम्हें कुछ कहना बन्द कर देगी, और तब अपने बुरे कामोंके प्रति तुममें कोई प्रतिक्रिया न होगी, क्योंकि जब वह आयी थी तो तुमने उस आवाजको सुननेसे इनकार कर दिया था। और तब, स्वभावतया ही, तुम्हारी अवस्था पहलेसे भी अधिक खराब हो जायगी और तुम गड्ढेमें जा गिरोगे। हां, तो, धूम्रपानके साथ भी यही बात है : पहली बार जब तुम धूम्रपान करते हो, तो तुम्हारा शरीर उसके प्रति उग्र प्रतिक्रिया करता है, उल्टी हो जाती है, वह कहता है : "मुझे यह बिल्कुल नहीं चाहिये।" तुम अपनी मानसिक और प्राणिक मूर्खताके साथ उसे तमाखू पीनेके लिये विवश करते हो, तो वह प्रतिक्रिया करना बन्द कर देता है और फिर क्रमशः विषसे

मरता रहता है जबतक कि वह विघटित ही नहीं हो जाता। उसकी कार्य-क्षमता नष्ट होने लगती है; स्नायुएं सबसे अधिक प्रभावित होती हैं; वे संकल्पका वहन नहीं करतीं क्योंकि वे विषाक्त हो जाती हैं। उनमें संकल्प वहन करनेकी शक्ति नहीं रहती। और अंतमें उनमें कंपकंपी शुरू हो जाती है, उनकी क्रियाओंमें अधीरता, व्याकुलता आ जाती है। ऐसे काफी सारे लोग हैं, उन्हें ढूंढनेके लिये अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा। और उनकी अवस्था ऐसी इसलिये है कि उन्होंने सब बातोंमें अति कर दी है: वे शराब पीते थे, धूम्रपान करते थे। और जब वे किसी वस्तुको उठाते हैं, उनके हाथ कांपने लगते हैं (कांपनेका संकेत)। ऐसा करनेसे यही प्राप्त होता है।

कई लोगोंका शरीर तो खूब सुगठित होता है किंतु तो भी उनमें नाड़ी-दौर्बल्य होता है। तब...?

साधारणतया ऐसा होता है... शायद उनका प्राणिक गठन बड़ा दुर्बल होता है: उनकी स्नायुएं भी दुर्बल होती हैं, उनका सारा नाड़ी-संस्थान भी दुर्बल हो सकता है; शायद ऐसा हो उनमें जन्मसे ही इस प्रकारकी अनियमितता हो। किंतु यह एक मानसिक दुर्बलता भी हो सकती है; क्योंकि यह सत्य है कि स्वस्थ शरीरमें ही शक्तिशाली स्नायुएं होती हैं, किंतु सबल नाड़ियोंके लिये स्वस्थ विचारोंका होना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि तुम्हारे विचार स्वस्थ नहीं हैं, यदि तुम्हारे भाव और विचार भी, कहा जा सकता है, शुद्ध नहीं हैं, तो तुम्हारी नाड़ियां भी वैसी ही हो जाती हैं, बल्कि उनसे भी अधिक खराब। उदाहरणार्थ, जो सभी प्रकारकी अस्वस्थ सनकोंका शिकार होते हैं, जो बुरी पुस्तकें पढ़ते हैं, अस्वस्थ प्रकारकी बातचीतमें हिस्सा लेते हैं — ऐसे लोगोंकी संख्या काफी है, बहुत अधिक — हां, तो ऐसे लोगोंका अपनी स्नायुओंपरसे नियंत्रण उठ जाता है, वे शीघ्र ही क्षुब्ध हो उठते हैं, जब कि उनका शरीर ठीक अवस्थामें तथा स्वस्थ होता है। मैं तुम्हें बता सकती हूं कि अस्वस्थ प्रकारका वार्तालाप और बुरी पुस्तकें पढ़ना — इससे बुरी और कोई वस्तु नहीं है, और जब तुम सच्चे दिलसे साधना करते हो, जब तुम सम्मुख विकास करनेका प्रयत्न करते हो, तो तुम्हें पता चलता है कि जब तुम किन्हीं निरर्थक शब्दोंका उच्चारण करते हो, चाहे वे कितने ही क्रम क्यों न हों, तत्काल ही तुम्हारे अंदर एक भ्रम तक बेचैनी-सी व्याप्त जाती है; तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है मानों सिरकी सभी नाड़ियां खिंच गयी हों, और तुम्हारे हृदयमें कुछ मथा जा रहा है जिससे तुम्हें पीड़ा होती है, और तुम चाहे

अंदर एक महान् खालीपन और ऐसी टीस-सी अनुभव करते हो मानों तुमने कोई बुरी वस्तु खा ली हो — यह सब केवल इसलिये कि तुमने कुछ निरर्थक शब्द कहे हैं। इसके अतिरिक्त, यह एक निश्चित संकेत है : ज्यों ही तुम्हें बेचैनी अनुभव होने लगे, तुम्हें बोलना बन्द कर देना चाहिये : "बस, अब समाप्त।" किंतु अधिकतर लोग इतने अचेतन होते हैं कि उन्हें इसका पता ही नहीं चलता, और उनकी संकल्प-शक्ति इतनी उलझी हुई होती है कि वे अपने शरीरको वह सब करनेके लिये विवश कर देते हैं जो उसे नहीं करना चाहिये। तो, उनका शरीर थोड़ा-बहुत आज्ञाकारी होता है, वह आदेश मानता और, इस तरह, धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और कोई प्रतिक्रिया भी नहीं दिखाता।

> मैं पुस्तकका यह संदर्भ नहीं समझ सका : "विकासके अभीप्सुओंके लिये संयम एक नियम है; किंतु जो लोग अपने-आपको अतिमानसिक अभिव्यक्तिके लिये तैयार करना चाहते हैं, उन्हें संयमके स्थानपर पूर्ण परिवर्तन लाना चाहिये, पर किसी ओर-जबर्दस्ती या दबावके कारण नहीं बल्कि एक प्रकारके आंतरिक रूपान्तरके द्वारा, जिससे प्रजननमें प्रयुक्त शक्तियां विकास और पूर्ण रूपांतरकी शक्तियोंमें बदल जायें।"

यह भारतके यौगिक अनुशासनोंकी काफी जानी मानी बात है, जब व्यक्ति अपनी शक्तियोंके प्रति सचेतन होना और उन्हें नियंत्रित करना आरंभ करता है। तुम क्या उन विभिन्न "चक्रों"के सिद्धांतको नहीं जानते जहां शक्तियां केंद्रित होती हैं? सामान्यतया, कहा जाता है कि ये पांच हैं। किंतु वास्तवमें ये सात, बल्कि बारह हैं। जो भी हो, ये चक्र शक्तियोंके संग्रह-केंद्र हैं, उन सब शक्तियोंके जो किन्हीं विशेष क्रियाओंको नियंत्रित करती हैं। इसी प्रकार, काम-केंद्रपर भी शक्तिका जमाव रहता है, बहुत अधिक जमाव, जिन लोगोंका इन शक्तियोंपर नियंत्रण रहता है वे इसपर विजय पाने तथा इन्हें ऊपर उठानेमें सफल हो जाते हैं, और वे इन्हें यहां (माताजी हृदय-केंद्रकी ओर इंगित करती हैं) स्थापित कर देते हैं। और यहीं विकासकी शक्तियोंका केंद्र भी स्थित है। इसीको अग्निका स्थान कहते हैं, किंतु विकासकी शक्तियों और विकासके संकल्पका स्थान यहीं होता है। अतएव काम-केंद्रमें एकत्रित शक्तियोंको ऊपरकी ओर उठाकर यहां स्थापित कर दिया जाता है। इनमें काफी वृद्धि हो जाती है, जिससे काम-केंद्र पूर्णतया शांत, स्थिर अचंचल हो जाता है।

इन शक्तियोंपर नियंत्रण रखनेकी सामान्य विधि है मेरुदण्डके मूलमें कुण्डलित कुण्डलिनीको "खोलना" और मेरुदण्डमेंसे होकर शक्तियोंको विभिन्न चक्रों-तक चढ़ाकर उन्हें खोलना, और जाग्रत् करना, उन्हें एकके बाद एक जगा-कर गतिशील बनाते हुए ठीक मूर्द्धा तक जा पहुंचना, और फिर, वहांसे बाहर निकल जाना। और जब व्यक्ति यह करनेमें सफल हो जाय (यह पहला कदम है), जब वह कुण्डलिनीको खोलनेमें सफल हो जाय, फिर उसपर प्रभुत्व पाय, उसका निर्देशन करे और उसे विकसित करे, उसे सभी चक्रोंतक ले जाय, सभी चक्रोंको जगाये। एक बार इतना हो जाय, तो वह उनकी क्रियाका स्वामी बन जाता है। एक बार उनकी निधिका स्वामी बन जाय, तो वह इन शक्तियोंको ऐसे स्थानोंपर रहने देनेकी जगह, जहां इनकी आवश्यकता नहीं है, इन्हें ऊपर उठाकर ऐसे स्थानोंपर रख देता है जहां ये उपयोगी हो सकते हैं, और इस प्रकार वह इन्हें विकासके लिये, रूपांतरके लिये काममें लाता है।

यह सब प्रकाशमय, अध्यवसायपूर्ण तथा अति धैर्ययुक्त अभ्यासोंके परिणाम-स्वरूप हो सकता है; यह ऐसे ही, अन्य वस्तुओंके बारेमें सोचते हुए या इधर-उधर खेल-कूदमें लगे रहकर नहीं किया जा सकता। ये एक प्रकार-के अनुशासन हैं। स्वभावतया ही, जब एक बार व्यक्ति इस क्रियापर नियंत्रण पा लेता है, तो यह रोचक भी हो जाती है। किंतु यह काम पलक झपकते ही, जो आवश्यक है उसे किये बिना नहीं हो जाता।

एक बार आपने कहा था कि मनुष्योंने मानवी प्रेमको विकृत एवं विरूप बना दिया है। अपने मूलमें प्रेम क्या था?

क्या?

मानवी प्रेम।

मानवी? क्या मैंने तुम्हें बताया नहीं? यह 'प्रेम' है। यह जब मानवी प्रेम बन जाता है, तो वह वैसा हो जाता है जैसा मैंने तुम्हें बताया था। प्रेम अपने मूल रूपमें दिव्य प्रेम है। मनुष्यमें प्रेम, अर्थात्, जो मानवी प्रेम बन गया है, वह विकृत और विरूप हो जाता है; केवल दिव्य प्रेम ही शुद्ध होता है।

आत्म-विकासमें इन्द्रियोंका प्रयोग कैसे किया जा सकता है?

संवेदनोंके द्वारा विकास साधित करना? यह आजकल बहुत चल गया है।

हां, फैशन हो गया है। आजकल स्कूलोंमें बच्चोंके विकासके लिये कई प्रकारके अनुशासनोंका आविष्कार किया गया है, बच्चोंकी निरीक्षण-शक्तिका विकास, शीघ्र निर्णय लेने या चुनाव करनेका अभ्यास, आंखोंके प्रयोग, मूल्योंको आंकनेकी क्षमता, आदि। बच्चोंके लिये अब कई प्रकारके खेल शुरू किये गये हैं जिनसे यह सब सिखाया जा सके। श्रवण-शक्ति, घ्राण-शक्ति, दृष्टि-शक्तियों को विकसित किया जा सकता है — इन सबका विधिवत् विकास किया जा सकता है। यदि व्यक्ति अपने संवेदनों-में ही निवास करनेके स्थानपर — यह "सुखकर" है या "असुखकर", यह "प्रसन्नता" देता है या "अप्रसन्नता" और अन्य सब प्रकारकी वस्तुएं जो पूर्णतया निरर्थक होती हैं — सब संवेदनोंकी गणना, नाप-जोख और तुलना करने, उनका बारीकीसे निरीक्षण एवं अध्ययन करनेमें सफल हो जाय ....। मनुष्य वस्तुतः अंधोंके समान अपना जीवन यापन करते हैं, सतत रूप-में, पूर्णतया अचेतन अवस्थामें रहते हैं, और संवेदनों और प्रतिक्रियाओंमें, सभी प्रकारके आवेगोंमें डुबकी लगाते रहते हैं, और तब कहते हैं, यह सुखकर है, यह असुखकर, यह बात प्रसन्नतादायक है, यह दुःखदायी, आदि-आदि। यह सब फिर क्या है? इस बातका क्या अर्थ है? — कुछ भी नहीं। बल्कि व्यक्ति-को संवेदनोंके पूरे महत्त्वका, वस्तुओंके परस्पर संबन्धोंका लेखा-जोखा, गणना, तुलना और निरीक्षण कर सकना चाहिये, पूर्ण और वैज्ञानिक रूपसे उनका अध्ययन करना चाहिये, सब कुछका, हां, सब कुछका — उदाहरणार्थ, सभी संवेदनोंका, उनसे जो-जो प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होती हैं उन सबका, संवेदनसे मस्तिष्ककी क्रियाका, और फिर संवेदनोंके प्रति मस्तिष्कके प्रत्युत्तरका — सबका अध्ययन करना चाहिये। और इस प्रकार व्यक्ति अपनी संकल्प-शक्ति, अपने संवेदनोंको पूरी तरह नियंत्रित करनेमें इस हदतक सफल हो जाता है कि यदि व्यक्ति किसी वस्तुकी अनुभूति नहीं चाहता, तो बस इतना ही काफी है कि वह अपनी संकल्प-शक्तिके द्वारा उसे काटकर अलग कर दे: तब वह उसे अनुभव ही नहीं करता। ऐसे कई अनुशासन हैं। कुछ तो तुम्हारे सारे जीवन-काल ही चलते रहते हैं, और यदि उनका भली-भांति अनुसरण किया जाय, तो एक क्षण भी किसीका नष्ट नहीं होता और कार्य भी बड़ा रोचक हो जाता है। फिर आवेगोंके लिये भी कोई अवकाश नहीं रहता, इससे सब आवेग दूर हो जाते हैं। जब व्यक्तिका अध्ययन-संबन्धी दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो जाता है, तो वह उस कॉर्कके समान नहीं रह जाता जो लहरोंके द्वारा इस ओर या उस ओर फेंक दिया जाता है। प्रकृति एक अस्थायी क्रिया होती है (प्रकृति, ओह! किस प्रकार वह

मनुष्यके साथ क्रीड़ा करती है! हे भगवान्, जब तुम देखते हो कि वह कैसी है, ओह! यह व्यक्तिको विद्रोह करनेको विवश करनेके लिये काफी है। मुझे यह समझमें नहीं आता कि वे कैसे विद्रोह नहीं करते...। वह कामनाकी एक लहर भेजती है, और लोग भेड़ोंके समान अपनी-अपनी इच्छाओंकी ओर दौड़ पड़ते हैं; वह एक उग्रताकी लहर भेजती है, और लोग फिरसे भेड़ोंके समान, भेड़घसान से उग्रतामें ही निवास करने लगते हैं, और इसी प्रकार हर चीजके साथ होता है। क्रोध—वह केवल एक छड़ी हिलाती है, और सब क्रोधके वश हो जाते हैं। उसे केवल एक संकेत करना होता है—अपनी सनकका संकेत—और जनसाधारण उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं। अथवा यह वस्तु एकसे दूसरेमें भी प्रवेश कर जाती है, यूं ही; ऐसा क्यों होता है वे जान ही नहीं पाते। उनसे यदि पूछा जाय: "ऐसा क्यों हुआ?"—"हां तो, अचानक ही मुझे गुस्सा आ गया। अकस्मात् ही मुझमें यह प्रबल इच्छा पैदा हो गयी।" ओह! यह लज्जाजनक है।

शुभ-रात्रि।

३१ मार्च, १९५४

(यह वार्ता भी माताजीके निबन्ध "चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति"के पहले भागपर आधारित है।)

> "...प्राणके निर्वाहके तीन स्रोत हैं। जो सबसे ज्यादा आसानीसे मिल जाता है, वह नीचेसे आता है, संवेदनोंके द्वारा आनेवाली भौतिक ऊर्जाओंसे।
>
> "जब वह काफी विशाल और महत्वशील हो, तो बेशक प्राणिक शक्तियोंके साथ संपर्कके द्वारा, दूसरा स्रोत उसके अपने भीतर होता है।
>
> "तीसरा स्रोत जिसकी ओर प्राण केवल प्रगतिके लिये महान् अभीप्साओं ही खुलता है, उसकी ओर ऊपरसे आध्यात्मिक शक्तियों और प्रेरणाके आवासमें मिलने और एक होनेसे आता है।"

मधुर मां, मैं यह नहीं समझ पाया। आपने कहा है:

"...प्रगतिके लिये महान् अभीप्सामें ही चुलता है, उसकी और ऊपरसे आध्यात्मिक शक्तियों और प्रेरणाके आपसमें मिलने और एक होनेसे आता है।"

तुम क्या नहीं समझे?

अर्थ, मधुर मां।

तुम वाक्यको गलत तरीकेसे तोड़ रहे हो। (माताजी मूल पाठ देखती हैं।) तीन स्रोत हैं, समझे। साधारणतः लोगोंके लिये तीसरा स्रोत बंद रहता है; यह उन्हें महान् अभीप्साके क्षणोंमें ही प्राप्त होता है। जब उनके अन्दर बहुत बड़ी अभीप्सा हो और वे उच्चतर शक्तियोंकी ओर उठें, तो उस समय प्राण इन उच्चतर शक्तियोंको अपने अन्दर ग्रहण कर सकता है; और तब उसके लिये यह शक्तिका काफी बड़ा स्रोत बन जाता है। परन्तु साधारण, अभ्यासगत जीवनमें उसका इन शक्तियोंके साथ कोई संपर्क नहीं होता — हां, जबतक कि वह रूपांतरित नहीं हो जाता; लेकिन, मैं साधारण जीवनके साधारण प्राणकी बात कर रही हूं। वह उच्चतर शक्तियोंके इस स्रोतकी ओर खुला नहीं रहता, और उसके लिये इनका बिल्कुल अस्तित्व ही नहीं होता। लोगोंकी एक बहुत बड़ी संख्यामें उनकी प्राणिक शक्ति नीचेसे आती है, धरतीसे, भोजनसे, सभी संवेदनोंसे आती है। वे भोजनसे... प्राणिक ऊर्जा पाते हैं, और... देखने, सुनने, छूनेसे वे जड़-द्रव्यमें स्थित ऊर्जाओंके संपर्कमें आते हैं। वे इस तरह उसे अन्दर ले लेते हैं। यह उनका साधारण भोजन है।

हां, तो कुछ लोगोंका प्राण बहुत विकसित होता है जिसे वे तपस्यारत रख चुके हैं — उनके अन्दर एक अभीप्साका भाव होता है और वे जगत् और भागवत शक्तियोंकी गतिविधिके संपर्कमें होते हैं। तो वे ग्रहण कर सकते हैं... भले आह्वानके क्षणमें ही सही... वे वैश्व प्राणिक शक्तियोंको ग्रहण कर सकते हैं जो उनमें प्रवेश करती और उनके लिये जरूरी ऊर्जाको फिर-से नया कर देती हैं।

कुछ और हैं, बहुत ही विरल — या शायद उनके व्यक्तिगत जीवनके बहुत ही विरल क्षणोंमें — जिनके अंदर उच्चतर चेतना, उच्चतर शक्ति, उच्चतर ज्ञानके लिये अभीप्सा होती है और जो, अपनी टेरके द्वारा, अपने अन्दर उच्चतर लोकोंकी शक्तियोंको खींच सकते हैं। तो इससे भी उनके अंदर नयी, बहुत विशेष मूल्यवाली, विशेष ऊर्जाएं भर जाती हैं।

लेकिन जबतक कि तुम योगाभ्यास, नियमित साधना न कर रहे हो, तबतक साधारणतः इस स्रोतके संपर्कमें नहीं आते; तुम अपने ही स्तरसे या फिर नीचेसे खींचते हो।

आपने कहा है : "संवेदन ज्ञान और शिक्षाके लिये अच्छे यंत्र हैं।" कैसे?

कैसे? तुम संवेदनोंके द्वारा — देखकर, निरीक्षण करके, सुनकर — ही तो सीखते हो। कक्षाएं तुम्हारे संवेदनोंको विकसित करती हैं, अभ्यास तुम्हारे संवेदनोंको विकसित करता है, मन संवेदनोंके द्वारा चीजें प्राप्त करता है। इन्द्रियोंकी शिक्षासे तुम्हारे सामान्य शिक्षणके विकासमें सहायता मिलती है; अगर तुम ठीक तरह, एकदम यथार्थ रूपसे देखना सीख लो; अगर तुम छूकर चीजोंकी प्रकृतिको पहचानना सीख लो; अगर तुम घ्राणके द्वारा विभिन्न प्रकारकी गंधोंमें फर्क करना सीख लो — यह सब शिक्षाके प्रबल साधन हैं। वास्तवमें, उनका इस कामके लिये, अवलोकन, निरीक्षण और ज्ञानके लिये उपयोग होना चाहिये। अगर तुम काफी विकसित हो, तो तुम देखकर ही चीजोंकी प्रकृति जान सकते हो; घ्राणके द्वारा भी गुण्य जान सकते हो, चीजोंके अलग-अलग स्वभाव जान सकते हो; स्पर्शसे तुम चीजोंको पहचान सकते हो। यह शिक्षाका सवाल है; पाना, इसके लिये तुम्हें मेहनत करनी होगी।

उदाहरणके लिये, साधारण आदमी और कलाकारकी दृष्टिमें बहुत भेद होता है। कलाकारके देखनेकी विधि साधारण आदमीकी अपेक्षा बहुत ज्यादा सचेतन और पूर्ण होती है। अगर तुमने अपनी दृष्टिको प्रशिक्षित न किया हो, तो तुम अस्पष्ट और अयथार्थ रूपमें देखते हो, उसे ठीक दृष्टि कहनेकी जगह छाप कह सकते हैं। कलाकार जब कुछ देखता है, जब उसने आंखोंका उपयोग करना सीख लिया हो तो — उदाहरणके लिये, वह केवल एक रूप या आकार देखने की जगह जिसमें वह अस्पष्ट रूपसे कह सकता है कि यह इससे या उससे मिलता-जुलता है या नहीं — उसके ठीक आकार को देखता है, विभिन्न भागोंके अनुपात देखता है, यह देखता है कि आकार सामंजस्यपूर्ण है या नहीं, और ऐसा क्यों है, और यह भी कि वह किस प्रकारका या रूपका या आकारका है; एक ही नजरमें वह इस तरहकी बहुत-सी चीजें देख लेता है, समझे, एक ही नजरमें वह सब देख लेता है और यह देखता है कि विभिन्न आकारमें क्या संबन्ध है।

जब तुम अपनी आंखोंको प्रभावशाली रूपसे देखनेकी शिक्षा दे लो

तुम ऐसा कर सकते हो, तुम आसानीसे इस तरह देख सकोगे। उदाहरणके लिये, तुम्हें कोई चीज, एक वस्तु या अनेक वस्तुएं, किसी बक्सेमें रखनी है। साधारण आदमीको नापका फीता लेना होगा और ठीक चीज जाननेके लिये बक्सेको नापना होगा। जिस आदमीकी आंखें सधी हुई हैं वह जो चीजें रखनी हैं उसपर नजर डालेगा, और झट देख लेगा कि कौन-से बक्सेकी जरूरत है; या अगर कोई द्रव रखना हो, तो उसे बोतलके ठीक आकारका पता होगा, क्योंकि उसकी आंखको देखकर चीजें ठीक-ठीक नापनेका अभ्यास है। एक और उदाहरण लो: तुम्हें किसीकी उंगलीपर अंगूठी पहनानी है। साधारण आदमी एकके बाद एक अंगूठियां पहनाकर देखनेके लिये बाधित होता है ताकि ठीक मापकी अंगूठी निकल आये। जिसने अपनी आंखोंको प्रशिक्षण दिया है वह उंगलीकी ओर देखेगा और फिर अंगूठियोंपर नजर डालेगा; उसे धोखा नहीं हो सकता और वह तुरंत, भूल किये बिना, ऐसी अंगूठी उठा लेगा जो बिलकुल ठीक आती हो। हां तो, आंखोंके इस प्रशिक्षणकी तरह कानोंको भी शिक्षा दी जा सकती है, ताकि वे ध्वनियों और उनके विभिन्न प्रकारोंमें भेद कर सकें। यह घ्राण-शक्तिके लिये भी किया जा सकता है, ताकि भिन्न प्रकारकी गंधोंका पता लगाया जा सके; इसी तरह स्वादके लिये भी यही बात है।

और अगर तुम चीजोंके पास इस विचारसे जाओ कि तुम उनका अध्ययन करोगे, दृष्टिकी यथार्थता विकसित करोगे और चीजोंके आपसी संबन्ध जानोगे, तो, संवेदनोंके लिये संवेदनोंमें जीनेकी जगह (यानी, "ओह, यह मोहक है" या "यह अप्रिय है", "मुझे यह पसंद है, मुझे यह पसंद नहीं" आदि, बेवकूफियोंमें रहनेकी जगह), तुम चीजोंके गुण, उनके उपयोग और आपसी संबंधका परिचय संवेदनोंके अध्ययनसे पा लोगे। इससे तुम जगत्के साथ पूर्णतया सचेतन रूपसे नाता जोड़ सकोगे। हर चीजके लिये, छोटे-से-छोटे ब्योरेके लिये... उदाहरणके लिये, तुम्हें पकाना पड़ता है और तुम कोई अच्छी-सी चीज बनाना चाहते हो। हां, तो, अगर तुम्हारी इंद्रियां सधी हुई नहीं हैं तो तुम्हें यह परीक्षण करना होगा, वह परीक्षण करना होगा, फिर चखना होगा, ठीक करना होगा, और फिर व्यवस्था करनी होगी। अगर तुमने अपने स्वादको प्रशिक्षित कर रखा है तो तुम भली-भांति जानते हो — स्वाद और गंध एक साथ, दोनों एक-दूसरेके बहुत नजदीक हैं और एक-दूसरेके पूरक हैं — तुम्हें पता होगा कि तुम किस प्रकारका भोजन पका रहे हो, तुम जो पका रहे हो उसकी गंध आयेगी और फिर, गंधके कारण और तुम जो बना रहे हो उसके स्वरूपके कारण तुम ठीक-ठीक जान जाओगे कि उसके स्वादको पूरा करनेके लिये और क्या मिलाना चाहिये, इस चीज या उस

चीज, सब प्रकारकी चीजोंमेंसे क्या डालना चाहिये, जो मिल जाय, उदाहरणके लिये, विभिन्न तरकारियां इस तरह कैसे मिलायी जायं कि सब मिलकर समान वस्तु तैयार हो। और तब तुम्हारे सामने एक ऐसा पकवान तैयार होगा जिसमें तुम्हें हर तीसरे मिनट यह देखनेकी जरूरत न होगी कि उसमें नमक मिर्च काफी है या नहीं, नमकन तो ठीक है या । तुम्हें पता होगा कि ठीक क्या करना चाहिये और बिना भूलके तुम वही करोगे।

गंधके लिये भी यही बात है। उदाहरणके लिये, अगर तुमने अपनी घ्राणेन्द्रियको प्रशिक्षित कर लिया है, तो तुम चीजोंको उनके ठीक अनुपातमें मिला सकते हो, उनकी प्रकृति जानकर . . . उदाहरणके लिये, किसी सुगंधकी प्रकृतिसे परिचित होकर उसे मेल खानेवाली दूसरी सुगंधसे मिला सकते हो . . . फूलोंको ले लो, उन्हें सूंघो। हां तो, ऐसी गंधें होती हैं जो आपसमें मेल नहीं खातीं। अगर तुम उन्हें एक साथ रख दो तो ऐसी चीज बन जाती है जो अखरती है, जिसमें कोई . . . सामंजस्य, कोई एकता नहीं। लेकिन अगर तुमने अपनी घ्राणेन्द्रियको प्रशिक्षित कर रखा हो, तो जब तुम्हें एक अमुक गंध मिले तो तुम जान सकते हो कि और कौन-सी गंध उसके साथ मेल खाती है। और तुम उन चीजोंको नजदीक ला सकोगे जो साथ आनेके लिये बनी हैं।

रंगोंके बारेमें भी वही बात है। रंगोंकी शिक्षा विस्तार और जटिलता, दोनोंमें बहुत विस्मयकारी है। अगर तुम सभी रंगोंमें भेद करना सीख लो, यह जानो कि कौन-सा रंग किस परिवारका है, वह किस प्रकारके सामंजस्य ला सकता है — तुम यह जान सकते हो, तो यह वही चीज होगी। तुम रंगकी स्मृति भी उसी तरह रख सकते हो जैसे आकारकी स्मृति। तुम चाहते हो कि तुम्हारी सब चीजोंमें मेल हो . . . उदाहरणके लिये, तुम दो चीजोंमें मेल चाहते हो। ऊपरी कपड़े और स्कर्ट या . . . का मेल देखना चाहते हो, या कोई भी चीज हो सकती है . . . या एक प्रकारके कपड़ेका दूसरे प्रकारके कपड़ेसे मेल करना चाहते हो। साधारणतः तुम्हें एक कपड़ा लेकर दूसरोंके पास रखना होता है, और अंतमें, बहुत से परीक्षणोंके बाद, अगर तुम बहुत ज्यादा ही फूहड़ नहीं हो, तो तुम ठीक मेल बिठा लेते हो। लेकिन अगर तुम्हें रंगोंका प्रशिक्षण प्राप्त हो, तो तुम रंगपर एक नजर डालते हो और, बिना संकोचके, ठीक उसी रंगके पास जा पहुंचते हो जो इसके साथ मेल खाता है, क्योंकि तुम्हें इस रंगकी प्रकृति अच्छी तरह याद रहती है और तुम उस रंगको ही अपनाते हो जो इसके साथ मेल खाता है।

लेकिन, देखो, तुम अपने-आपको प्रशिक्षित करनेके लिये बहुत, बहुत प्रकारके खेल बना सकते हो, है न? तुम्हारे पास चीजोंकी एक पूरी शृंखला है, कोई भी चीज ले लो : अलग रंगोंके कपड़ेके टुकड़े, कागजके छोटे-छोटे टुकड़े, फीतेके टुकड़े, कुछ भी। और फिर तुम उन्हें शृंखला बनानेके लिये एक क्रममें सजाओ, यह देखो कि उन्हें किस क्रममें रखना चाहिये। इसके साथ कौन-सा जाना चाहिये? और इस दूसरेके साथ, कौन-सा जाना चाहिये? और इसी तरहसे। और तुम इस तरह निरंतर शृंखला बनाओ कि रंगोंके एक छोरसे दूसरेतक जा सको और बीचमें कोई चीज चिल्लाये नहीं।

इस तरहकी चीजें करनेके लिये असंख्य अवसर हैं। तुम उनका उपयोग नहीं करते। लेकिन अगर तुम शिक्षाकी दृष्टिसे इस समस्याको देखो, तो तुम्हें हमेशा अपने-आपको शिक्षित करनेके निरंतर अवसर मिलते रहते हैं, निरंतर। ऐसा लगता है कि लोग रसकी दृष्टिसे मर्यकर भूलें करते हैं; अगर तुम कलात्मक सामंजस्यकी दृष्टिसे देखो, तो तुम बड़ी ही अव्यवस्थामें रहते हो! रंगोंके संबंधकी ही ले लो — और भी बहुत-सी चीजें हैं, आकारोंका संबंध है जो इससे बढ़कर जटिल है — लेकिन रंगोंका संबंध : तुम एक रंग लेकर दूसरेके साथ रखो; अब इन रंगोंके वर्ग आपसमें नहीं मिलते। तब, अगर तुम्हें प्रशिक्षण नहीं मिला है, तो कई बार तुम्हें पता भी नहीं चलता। कभी कभी तुम कहते हो : "ओह, यह बहुत सुन्दर नहीं है।" लेकिन तुम यह नहीं जानते कि क्यों, तुम कारणके बारेमें जरा भी सचेत नहीं हो। लेकिन अगर तुम प्रशिक्षित हो, अगर तुम्हारी आंख सधी हुई है, तो पहले तो तुम कभी इस प्रकारकी भूल करते ही नहीं, तुम कभी ऐसी दो चीजोंको एक साथ नहीं लाते जो एक साथ नहीं जातीं; और अगर संयोगवश, तुम किसी औरके शरीरपर ऐसे रंग देखो जो मेल नहीं खाते, तो तुम्हारे अंदर यह अस्पष्ट-सा भाव नहीं आता : "ओह, यह सुन्दर नहीं है, यह अच्छा नहीं है," एक अस्पष्ट-सी चीज... जिसमें तुम यह नहीं जानते कि यह क्यों सुन्दर नहीं है, क्यों सुखद नहीं है। और ठीक इसी कारण कि एक रंग एक वर्गका है, और दूसरा दूसरे वर्गका, और अगर तुम भिन्न वर्गोंवाले रंगोंको बिना सामंजस्य लानेवाले मध्यवर्ती रंगोंके साथ एक साथ ले आओ, तो वे चिल्लाते हैं। तुम तुरंत उपचार खोज सकते हो क्योंकि तुम जानते हो कि दोष कहां है।

हां तो, आकारोंके दृष्टिकोणसे भी यही बात है, समझे। तुम एक कमरा सजाते हो। तुम किसी भी चीजको किसी भी जगह रख देते हो और तब, जब कोई सामंजस्यकी भावना वाला उसमें घुसता है, तो उसे बेचैनी-सी होती है, उसे लगता है कि वह एक अव्यवस्थामें घुस रहा है। लेकिन अगर

तुम्हारे अंदर रंग और आकारका भाव है, तो तुम्हें उसमें व्यवस्था और प्रबंधका भाव भी जोड़ देना चाहिये; लेकिन तो भी, व्यवस्था और प्रबंधके उपयोगितावादीके मानके बिना भी, अगर तुम्हारे अंदर सच्चे रूपका मान है — रूप और आकारका मान है कि कौन-सा किसके साथ सामंजस्य रखता है, कौन-सा किसका पूरक है, और रंगोंमें कौन-से एक-दूसरेके पूरक और आपसमें सामंजस्य रखते हैं — तब अगर तुम्हें एक कमरा सजाना हो, तो भले तुम्हारे पास फर्नीचरकी तीन ही चीजें हों, तुम उन्हें ठीक जगह रखोगे। लेकिन अधिकतर लोग नहीं जानते, इससे उनके लिये कोई फर्क नहीं पड़ता। वे केवल एक ही चीजके बारेमें सोचते हैं: "ओह, इस चीजको यहां रखनेसे ज्यादा सुविधा रहेगी, उस चीजको वहां रखनेसे ज्यादा आराम रहेगा!" और फिर, कभी-कभी तो वे यह भी नहीं सोचते, चीजोंको जहां-तहां डाल देते हैं।

लेकिन जब वे अपने कमरेमें घुसते हैं, उस जगह जहां उन्हें दिनके कई घंटे बिताने होते हैं, तो वे एक अव्यवस्था और अव्यवस्थामें घुसते हैं; और अगर वे संवेदनशील नहीं हैं तो उन्हें इसका पता भी नहीं चलता, उन्हें बेचैनी नहीं होती। बहरहाल, यह उनके अन्दर सामंजस्य लानेमें सहायक नहीं होता; जब कि अगर तुम्हारे पास . . . । तुम्हारे पास ऐसा कमरा है, इस कमरेमें, जिसकी अमुक लम्बाई-चौड़ाई है, तुम्हें अमुक संख्यामें फर्नीचर या चीजें रखनी हैं, न अधिक, न कम; और उन्हें किसी विशेष ढंगसे सजाना है। उदाहरणके लिये, एक रेखाओंका सामंजस्य होता है, है न; अब अगर तुम चीजोंको रेखाओंका सामंजस्य देखे बिना ही रख दो, तो तुरंत ऐसा लगेगा मानों कोई चीज जोरसे चिल्ला रही है। लेकिन अगर तुम यह जानते हो कि कहां गोलाईकी जरूरत है और कहां कोणकी, कहां किसी छोटी चीजकी जरूरत है, और कहां बड़ीकी, और तुम चीजोंको व्यवस्थामें रखो . . . । फर्नीचरकी बस, चार चीजें लो: तुम उन्हें ठीक स्थानपर रख सकते हो या गलत स्थानपर; और होता यह है कि अगर तुम्हारे अंदर सचमुच सुरुचि है और तुम भली-भांति प्रशिक्षित हो, तो तुम्हारी व्यवस्था न केवल सामंजस्यपूर्ण बल्कि पूर्णतया व्यावहारिक भी होगी। कुछ लोग, है न, एक छोटे-से स्थानमें बहुत सारी चीजें इकट्ठी कर लेते हैं और उन्हें इतनी भद्दी तरह रखते हैं कि वे किसी चीजसे टकराये बिना हिल-डुल भी नहीं सकते।

मैं इस तरहके लोगोंको जानती हूं। वे अपने कमरेमें घुसते हैं और अपना समय इस या उस चीजके साथ टकरानेमें लगा देते हैं; तो उन्हें जिस चीजकी जरूरत हो उसका उपयोग कर सकनेके लिये गोल-गोल घूमकर लगाने होते हैं और नाना प्रकारकी असाधारण कलाबाजियां करनी होती

हैं। और वे इस बारेमें सोचते भी नहीं, वे उसके बारेमें सोचते भी नहीं, बस, ऐसा हो गया... अधिकतर लोग इतने निश्चेतन होते हैं कि जब उनसे पूछा जाय: "ऐसा क्यों है?" तो कह देते हैं: "ऐसा हो गया, ऐसा ही है।" तो वह हो गया, अचानक! और वे अपना सारा जीवन "अचानक" जीते हैं, चीजें इस तरह हो जाती हैं...। हां तो, यह वास्तवमें इन्द्रियोंकी शिक्षाके अभावके कारण है। अगर तुम उन्हें वास्तवमें सच्चे ढंगसे प्रशिक्षित कर सको, तो सबसे पहले तो तुम तुरंत इस असह्य चीजसे बच जाते हो: "यह सुखद है, वह दुःखद है, यह प्रिय है, वह अप्रिय है...। ओह, कैसा अप्रिय संवेदन!" तुम्हें पता नहीं होता कि क्यों, फिर भी, यह ठीक ऐसा ही है। और फिर, अचानक: "आहा, यह कैसा सुखद है!"

और फिर, कोई चीज तुम्हें अच्छी लगती है इसलिये तुम बहुत अधिक खा जाते हो, और अपने-आपको बीमार कर लेते हो। या फिर कोई उपचार इसलिये नहीं कर सकते क्योंकि वह अप्रिय है और तब... तुम्हारे पास कोई उपचार है भी नहीं — मेरा मतलब ऐसी चीजसे है जो सचमुच उपकार करे! बहुत बार मुझे लोगोंसे कहना पड़ता है: "लेकिन तुम यह क्यों नहीं लेते?" — "ओह, यह इतना बुरा है!" लेकिन अगर उससे फायदा होता है, तो वह तुम्हें बुरा न लगना चाहिये। अगर तुम सचेतन हो, तो तुम्हें उसके फायदेका अनुभव करना चाहिये और इससे वह तुम्हें बुरा न लगेगा।

इन्द्रियोंके ज्ञानका अभाव तुम्हें इस प्रकारके संवेदनोंमें फेंक देता है। हां, तुम बहुत छोटी अवस्थामें यह प्रशिक्षण शुरू कर सकते हो, बहुत ही छोटी, और तुम उसे सौ वर्षके ऊपर भी चला सकते हो। और फिर, सचमुच, अपने अंदर, सुखके लिये, तुम कभी बूढ़े नहीं होते क्योंकि यह हमेशा खिलकर रहता है और तुम हमेशा प्रगति करते रहते हो; और अंतमें, कुछ समय बाद, बहुत समय नहीं, लगभग बीस सालमें — यह अधिक नहीं है — तुम अपनी इन्द्रियोंको तर्कसंगत, बुद्धिमत्तापूर्ण, उपयोगी ढंगसे काममें लाना सीख जाते हो और इससे तुम्हें संसारके साथ सचेतन रूपसे संपर्कमें आनेमें सहायता मिलती है। अन्यथा हो सकता है कि तुम आंधे अंधे लोगोंकी तरह अंधकारमें, उस तरह (संकेत) टटोलते घूमते हो, तुम रास्ता ढूंढनेकी कोशिश करते हो और हर कदमपर किसी-न-किसी चीजसे टकराते हो। या फिर, तुम गलत रास्ता पकड़ लेते हो और फिर नये सिरेसे शुरू करना पड़ता है। तुम भूल करते हो, तो उसे ठीक कर लेना चाहिये। और मैं कहती हूं, यह एक छोटीसी कसरतकी तरह है जो तुम किसी समय कर सकते हो... "यह ऐसा क्यों है? तुमने ऐसा क्यों किया?" — "मुझे पता नहीं।" — "तुमने इसे

यूं क्यों रखा ?" — "पता नहीं।" अगर तुम अपने साथ ईमानदार हो, तो तुम्हें अपने-आपको दिनमें सौ बार यही उत्तर देना होगा : "पता नहीं।"

मुझे नहीं लगता कि सौमें एक भी व्यक्ति ऐसा है जो चीजें सचेतन रूपसे और जानबूझकर करता है, जो सुरुचि या सामंजस्यके आन्तरिक तत्त्वके साथ एक लय होता है। ऐसे लोग हैं, परंतु बहुत नहीं, बहुत ज्यादा नहीं। और ऐसे लोग भी जिनमें सहज सुरुचि है (ऐसे लोग होते हैं जिनमें सुरुचि सहज-स्वाभाविक होती है, जन्मसे ही उनकी इन्द्रियां सुसंस्कृत होती हैं — उन्हें हमेशा अपने माता-पिताके प्रति कुछ कृतज्ञता प्रकाशित करनी चाहिये, क्योंकि यह बहुत ही विरल चीज है और वे अवश्य किसी शुभ नक्षत्रमें पैदा हुए होंगे), ये लोग भी प्रशिक्षणके द्वारा असाधारण पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। अवलोकनकी क्षमताको विकसित करनेके लिये, आजकल कसरतें की जाती हैं — यह चैत्य है। मेरा ख्याल है... मुझे पता नहीं, शायद ये तुमसे भी करवायी जाती हों, सब प्रकारकी भांति-भांतिकी कसरतें; उदाहरणके लिये, एक मेजपर कुछ चीजोंकी एक संख्या रख दी जाती है, उस तरह। और फिर विद्यार्थियों-को बुलाया जाता है—अमुक चीजोंको अमुक स्थानोंपर रखा जाता है : विद्यार्थी आते हैं, कुछ सेकेंड रहते हैं और फिरसे चले जाते हैं। और तब उनसे पूछा जाता है कि मेजपर क्या था। अब यह देखनेमें मजा आता है कि किसने क्या देखा। हां, उन्हें पता होता है कि उन्हें कुछ देखना है; उन्हें पहलेसे सूचना दे दी जाती है, अचानक आश्चर्यचकित नहीं किया जाता। उन्हें सूचना होती है, उनसे कहा जाता है : "तुम्हें देखना है।"

हां, तो जो ठीक-ठीक बता सकते हैं कि कितनी चीजें कहां-कहां थीं, वे प्रथम श्रेणीके हैं। तुम अपने लिये इसे कसरतके रूपमें कर सकते हो, यह बहुत मजेदार है। तुम कहीं जाते हो... तुम किसी मित्रके घर जाते हो और फिर कुछ देर बाद बाहर आकर अपनेसे पूछते हो : "कमीज कहां था? उसे किस तरह सजाया गया था? मेजपर क्या-क्या चीजें थीं?" तुम देख सकोगे कि तुम्हें याद है या नहीं, तुमने चीजोंको ठीक तरह देखा है या नहीं। पर्दोंका रंग कैसा था? तकियोंका रंग क्या था? ऐसी सब तरहकी चीजें; यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसका कोई अन्त नहीं।

जब कोई इन्द्रिय असफल हो जाय?

तो तुम्हें उसे प्रशिक्षित करना चाहिये।

मेरा मस्तक जब वह बहुत ठीक न हो।

दो तुम उसे विकसित करते हो, उसे विकसित कर सकते हो। हर चीज को पद्धतिके अनुसार विकसित किया जा सकता है। यह फिर एक और ही चीज है, इस तरह भाग्यके आगे झुक जाना। "ओह, मेरी आंखें खराब हैं! आह, मेरी नाक काम नहीं करती! उफ, मेरे कान एकदम बेकार हैं!" और तुर्रा यह कि आदमी यह दोहराते हुए: "मेरी आंखें खराब हैं," अपना समय कष्ट करता है, तो वे और अधिक खराब होती जाती हैं। जबतक कि, है न — हां, निश्चय ही, यह बात भी है कि कुछ लोगोंके जन्मसे ही आंखें नहीं होतीं। यह मामला ऐसा है जिसमें तुम ठीक नहीं कर सकते, इसकी कोई आशा नहीं। लेकिन जिनमें केवल... अधिकतर लोगोंमें कोई इन्द्रिय इसलिये बिगड़ी हुई होती है क्योंकि वे उसका उपयोग करना नहीं जानते, क्योंकि ठीक बचपनसे ही उन्होंने उसका सदुपयोग नहीं किया है; और हर हालतमें उसे ज्यादा अच्छा बनाया जा सकता है — शिक्षाद्वारा — इतना अच्छा किया जा सकता है कि वह काफी हो जाय।

हां, तुम मुझसे कहोगे कि ऐसे लोग हैं जिनके पांव नहीं हैं और दूसरे ऐसे हैं जिनके उंगलियां नहीं हैं या जो...। यह हो सकता है; लेकिन उनसे मैं यह नहीं कहूंगी: "अपने पैरोंका उपयोग करो, या अपनी उंगलियोंका उपयोग करो!" मैं इतनी नासमझ नहीं हूं। लेकिन मेरा ख्याल है कि अगर बच्चोंको बहुत छोटी आयुमें ही लिया जाय, तो ऐसे बहुत कम होंगे जिन्हें ठीक नहीं किया जा सकता, यहांतक कि वे साधारण भी बन जाते हैं — एकदम विलक्षण न सही, कम-से-कम साधारण। स्वभावतः, दुर्घटनाएं हो सकती हैं, यह और बात है। लेकिन दुर्घटनाओंमें भी ठीक समयपर ठीक शिक्षाद्वारा तुम उनके महत्त्व और परिणामोंको हल्का कर सकते हो। देखो, यह ऐसा ही है जैसे अछूते जंगल या वनस्थली और भली-भांति रोपे गये बगीचे। स्पष्ट है कि अछूते जंगलमें या वनस्थलीमें अपना सौंदर्य हो सकता है लेकिन हर हालतमें वहां अव्यवस्था होती है: वह अव्यवस्थाका सौंदर्य होता है। दूसरी ओर, मान लो तुम्हारे पास एक सजा हुआ बगीचा है: उदाहरणके लिये, तुम इतने ख्यालसे सब प्रकारके फूल लगा सकते हो, और संख्यामें अधिक-से-अधिक चीजें उगा सकते हो। हां तो, मानव शरीर ऐसा ही है। अगर वह यूं ही मनमाने ढंगसे बढ़ता रहे, तो वह वनस्थली है या एक अछूता जंगल है। लेकिन अगर तुम उसे बहुत छोटी अवस्थामें ही ले लो और उसकी अच्छी देख-रेख करो, तो, वह बहुत सुन्दर बगीचा बन सकता है; और फिर भी तत्त्व वह-के-वही है। तुम्हें धरतीकी प्रकृति बदलनेके लिये नहीं कहा जाता, जमीनको यों ही अव्यवस्थामें अपने ढंगसे चलने देनेकी जगह, जोतनेके लिये कहा जाता है।

हां, कुछ लोग कहेंगे : "ओह, वनस्थली सुन्दर होती है, बगीचेसे बहुत ज्यादा सुन्दर!" यह इसपर निर्भर है कि तुम चीजोंको कैसे देखते हो; लेकिन तब हम शिक्षाकी कोई बात न करेंगे, वह करने लायक न होगी। हम आत्म-संयमकी बात न करेंगे, वह करने लायक न होगी। तब हम अनुशासनकी बात न करेंगे, हम योगकी बात न करेंगे, हम प्रकृतिको अपने रास्ते मनमाने ढंगसे जानेके लिये छोड़ देंगे। इसमें उसे मजा आता है पर कुछ लोगोंको इसमें मजा नहीं आता। इसलिये वे इससे उल्टा करना पसंद करते हैं। जिन्हें इसमें मजा आता है वे चाहें तो इसी तरह जारी रख सकते हैं, लेकिन जिन्हें मजा नहीं आता उनमें इससे उल्टा करनेकी शक्ति होनी चाहिये। कुछ लोगोंको लगता है कि सब कुछ ठीक है। उन्हें तबतक ऐसा लगता रहता है जबतक उनके साथ कोई काफी अप्रिय घटना नहीं घट जाती; तब, उस समय उनका छोटा-सा अहं कहता है : "ओ, हां! अब यह उतना अच्छा नहीं है जितना मैंने सोचा था।" फिर भी कुछ लोग कुछ समयतक कहते हैं : "लेकिन हमें दुनियासे कोई शिकायत नहीं। यह बड़ी मोहक है।" उन्हें अपनी दुनियाका मजा लेने दो। अन्यथा अगर हम इसमेंसे कुछ बनाना चाहें, तो, हमें अपने बगीचेको जोतना चाहिये। तो यह बात है!

मधुर मां, बहुत-से लोग हमसे कक्षामें प्रश्न करनेके लिये कहते हैं। मां, अगर प्रश्न हमारे न हों, तो हमें क्या करना चाहिये?

अच्छा, तुम एक प्रश्न पूछ सकते हो...। अगर मुझे मजेदार लगा तो मैं उत्तर दूंगी, नहीं तो छोड़ दूंगी। क्या प्रश्न है? देखें नमूना।

आज नहीं, मधुर मां।

(एक और बालक) यह बहुत बार होता है।

(और एक बालक) उत्तर भारतमें एक भेड़ियेने एक बच्चेको पाला है।

क्या, क्या?

भेड़ियेने पाला है।

ओह, हां। मैंने फोटो देखे थे।

यह कैसे हुआ ?

यह कैसे हुआ ? लेकिन मुझे उसके बारेमें पता नहीं है। मैं इस साहस-कार्यके बारेमें कुछ नहीं जानती। मैंने एक फोटो देखा है, बस; और मुझे वह जरा भी रोचक नहीं लगा। मैंने सोचा, एक बिलकुल नीरस चीजके बारेमें बहुत शोर मचाया जा रहा है। बच्चा बहुत बदसूरत था। कुछ-कुछ दानव जैसा। बस, इतना ही।

उसके अंदर जिस चैत्य पुरुषने जन्म लिया था, उसने जन्मसे पहले ही कुछ अनुभव चाहा था, है न ? लेकिन जन्मसे ही ऐसी दुर्घटना... क्या होगा ?

शायद वह यह दुर्घटना चाहता था, उसके बारेमें तुम्हें क्या पता ? उसके अंदर इस प्रकारके अनुभवकी ठीक यही इच्छा हो सकती थी। पता नहीं। मैंने फोटो देखा था... उसमें तो कोई विशेष चैत्य नहीं दिखायी दिया ! (हंसी) वह कोई बहुत ही प्रारंभिक चीज थी, कोई ऐसी संभावना जो शताब्दियों-पर-शताब्दियां बीतनेके बाद सिद्ध हो सकेगी। फिर भी, यदि वह सचेतन चैत्य भी था, तो हो सकता है उसने कोई अनुभव, यह विशेष अनुभव चाहा हो, शायद उसने अपने-आपसे पूछा होगा : "मांके द्वारा पाले जानेकी जगह भेड़ियेके द्वारा पाले जानेसे कैसा लगता होगा ?" यह बहुत उत्तेजक तो न रहा होगा; फिर भी हो सकता है कोई ऐसा हो जिसने रोमकी स्थापना-की कहानीसे प्रभावित होकर यह इच्छा की हो कि चलो, देखें, अगर यह सच हो तो कैसा लगता है; बहरहाल, वह सफल तो नहीं हुआ। इस सच्चे इतिहाससे किपलिंगकी कहानी ज्यादा अच्छी है। कहानीमें छोटे बच्चेका पालन-पोषण भेड़ियेने किया था... उसका नाम था... मोगली, था न ? कम-से-कम वह अच्छा था, सुन्दर था; जब कि यह बच्चा तो भयंकर है। यह कुछ-कुछ... यह रोचक नहीं है। क्या लोग तुमसे ऐसे प्रश्न पूछनेके लिये कहते हैं ? इस तरहके ?

हमेशा नहीं।

इससे कुछ अच्छे ?

हां।

लेकिन वह आजके लिये नहीं है? न? तो आज समाप्त करते हैं।
पुनरागमनाय!

७ अप्रैल, १९५४

(यह वार्ता माताजीके निबन्ध "चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति"के दूसरे भाग-पर आधारित है)

"जब विचार वाणीमें अभिव्यक्त किया जाता है, तो ध्वनिके स्पन्दनमें इतनी अधिक शक्ति होती है कि वह अत्यधिक स्थूल पदार्थका भी विचारके साथ संपर्क स्थापित कर देती है, इस प्रकार उसे एक ठोस और प्रभावकारी वास्तविक रूप प्रदान करती है। इसीलिये तुम्हें वस्तुओं या व्यक्तियोंके विषयमें कुछ बुरा नहीं कहना चाहिये अथवा न कोई ऐसी बात शब्दोंमें कहनी चाहिये जो संसारमें भागवत चरितार्थताके विकासका खंडन करती हो। यह एक पूर्णतया सामान्य नियम है। तो भी इस विषयमें एक अपवाद है। तुम्हें किसी भी वस्तुकी तबतक आलोचना नहीं करनी चाहिये जबतक कि तुममें उसके साथ-साथ एक ऐसी चेतन शक्ति और सक्रिय संकल्प-शक्ति भी विद्यमान न हो जो उन गतिविधियों या वस्तुओंको विलीन या परिवर्तित कर सके जिनकी तुम आलोचना करते हो। क्योंकि यह चेतन शक्ति और सक्रिय संकल्प-शक्ति बुरे स्पंदनका प्रतिरोध करने तथा उसे अस्वीकार करनेकी संभावनाको 'जड़-पदार्थ'में प्रवेश करानेकी सामर्थ्य रखती है और अंतमें उस स्पंदनको भी ठीक रूप दे देती है ताकि उसे भौतिक स्तरपर अभिव्यक्त होते रहनेसे रोके।

"यह कार्य बिना किसी संकट या नुकसानके केवल वही कर सकता है जो विज्ञानमय क्षेत्रोंमें विचरता है तथा जिसकी मानसिक

क्षमताओंमें आत्माका प्रकाश और सत्यकी शक्ति विद्यमान रहती है।"

"विज्ञानमय क्षेत्र" कौन-सा है?

यह 'अतिमानस'के बारेमें बोलनेका दूसरा ढंग है। विज्ञानमय — इसका अर्थ है 'ज्ञान', किंतु सच्चा ज्ञान। यह अतिमानसिक क्षेत्रका ज्ञान-पक्ष है।

"...तुम ऐसा अभ्यास डालो कि सदा अपने-आपको शब्दोंमें न उंडेलते रहो, और तुम देखोगे कि धीरे-धीरे तुममें और दूसरोंमें एक आंतरिक बोध स्थापित हो गया है; तब तुम कम-से-कम बोलकर या बिना बोले ही एक-दूसरेसे संपर्क रख सकोगे।"

क्या प्रत्येक अवस्थामें, स्थूल वस्तुओंमें भी, दो व्यक्तियोंके बीच एक आंतरिक समझ स्थापित की जा सकती है?

हूं! ...और तब? तुम क्या जानना चाहते हो?

यह आंतरिक समझ स्थापित की जा सकती है या नहीं?

हां, शब्द केवल दो मनोंके बीच संपर्कके साधन हैं। उनका एकमात्र औचित्य यही है। किंतु यदि मन इतना निर्मल एवं सशक्त हो कि वह शब्दोंका प्रयोग किये बिना संपर्क कर सके, तो वह यह कार्य कहीं अधिक अच्छा, अधिक स्पष्ट और यथार्थ और शुद्ध रूपमें कर सकता है। और तब शब्दोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

बिलकुल भौतिक विषयोंमें भी नहीं?

हां, तुम एक परीक्षण कर सकते हो। उदाहरणार्थ, जब दो व्यक्ति अपने मन एकलय कर लें और उनमेंसे एक सोचे: "इस वस्तुको वहां नहीं, यहां होना चाहिये," तो दूसरा स्वभावतया ही उठकर उस वस्तुको खोजता है और यथास्थान रख देता है। वह काफी स्पष्टतासे उस बातको समझ जाता है, उसे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। अथवा पहला सोचता है: "अब बाहर जानेका समय है" या: "मुझे अमुक वस्तुकी आवश्यकता है," तो दूसरा यह सब पूर्णतया ठीक ढंगसे समझ जायगा, उसे कहनेकी आवश्यकता नहीं

होती। इस अवस्थातक पहुंचनेसे पहले एक बात प्रायः होती है — मैं उन लोगोंकी बात कर रही हूं जो अपने ऊपर नियंत्रण रखते हैं और चेतन होते हैं, इकट्ठे रहते हैं — एक उस प्रश्नका उत्तर देता है जो दूसरेने मुंहसे नहीं निकाला है। वह उसके मनमें था, और दूसरा उत्तर देता है: "हां, यह बात ऐसी है; न, वह काम अभी नहीं हुआ।" दूसरे व्यक्तिने कुछ पूछा नहीं था पर उसने सुन लिया था, समझ लिया था, उसे संदेश मिल गया था। ऐसा प्रायः होता है, होता है न? और फिर, जिन वस्तुओंके संबंधमें शब्दोंके कहनेकी आवश्यकता भी पड़े, वहां भी दस शब्दोंके स्थानपर एक ही शब्द बोलना काफी होता है, और बाकी बात स्वयं समझमें आ जाती है, जान ली जाती है। और यह सीधा आदान-प्रदान एक ऐसी अनुभूति है जो बड़ी सरलतासे प्राप्त की जा सकती है। यदि तुम किसी नये व्यक्तिसे बात करते हो और उसके साथ तुम्हारा मानसिक संपर्क अधिक नहीं है, तो वह चाहे उन्हीं शब्दोंका प्रयोग करे जिन्हें तुम भी एक विशेष अर्थमें प्रयुक्त करते हो, तो भी तुम उसे बिलकुल समझ नहीं पाते, मानों उसकी भाषा बूझते ही नहीं। पर कुछ देर बाद, जब तुम उससे कई बार मिल लेते हो, उसके साथ मानसिक रूपमें एकलय हो जाते हो, तो तुम एक-दूसरेको समझना शुरू कर देते हो।

वास्तवमें, शब्द किसी ऐसी वस्तुके वाहकमात्र हैं जो शब्दोंसे परे है तथा जो उन लोगोंके लिये बिना शब्दोंके प्रकट की जा सकती है जिनके पास काफी विकसित एवं यथार्थ यंत्र है। जब व्यक्ति सचमुचमें विचारके क्षेत्रमें होता है, तो शब्द अर्थका महत्त्व कम कर देते हैं। वे उसका महत्त्व तो कम करते ही हैं, उसे संकुचित और ससीम भी बना देते हैं, साथ ही उसकी शक्ति भी क्षीण कर देते हैं। जो विचार सीधा प्रक्षिप्त किया जाता है वह उस विचारसे, जो शब्दोंद्वारा व्यक्त किया जाता है, कहीं अधिक शक्ति रखता है। शब्द उसे छोटा, सीमाबद्ध, कठोर कर देता है, उसकी नमनीयता और सच्ची शक्ति हर लेता है, वस्तुतः उसका जीवन ही सोख लेता है। चूंकि मनुष्यके यंत्र ठीक ढंगसे व्यवस्थित नहीं होते, हम बिना शब्दोंके तार-संचार नहीं कर सकते। यदि यंत्रका सुर ठीक मिला होता, तो सारे दिनमें हमें दस शब्द बोलनेकी भी आवश्यकता न पड़ती, और फिर भी सब समय हमारी बात समझ ली जाती।

मैं यह नहीं समझा: आपने कहा है: "यहां भी, विचारों और ज्ञानके इस क्षेत्रमें, मनुष्य अपनी धारणाओंकी उग्रता, सांप्रदायिक असहनशीलता और आवेगपूर्ण अभिरुचि ले आया है।"

हां, इसमें क्या बात है जो तुम्हारी समझमें नहीं आयी? यह तो एक शाश्वत तथ्य है!

कोई और प्रश्न नहीं है? क्या तुममें साहस नहीं है?

हां, मुझमें साहस तो है, पर प्रश्न नहीं है!

(एक और बच्चा) **मां, क्या ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति अधिक आगे न बढ़े, पर पीछे भी न हटे?**[1]

मैंने अभी कहा है कि व्यक्ति निश्चल नहीं रह सकता। तुम कहते हो: "अधिक आगे न बढ़े" — व्यक्ति बिल्कुल थोड़ा-सा आगे बढ़ सकता है! और पीछे न जानेके लिये इतना ही काफी है। किन्तु यदि व्यक्ति सब समय भली प्रकार सावधान न रहे, क्योंकि वह कई टुकड़ोंसे बना है, यदि व्यक्तिमें पीछे छूट जानेवाले टुकड़ोंको अपने साथ घसीटनेकी आदत न हो, तो वह यदि एक ओर आगे बढ़ता है तो एक ओर पीछे भी हट सकता है। ऐसा होता है। और तब पूरा परिणाम बहुत अधिक संतोषजनक नहीं होता।

सामान्य जीवनमें, सामान्य व्यक्तियोंके साथ, सदा यही होता है। उदाहरणार्थ, एक ऐसे व्यक्तिको लो जो अध्ययन कर रहा है या कोई काम कर रहा है — वैज्ञानिक कोई खोज कर रहा है। वह अपने अध्ययनमें आगे बढ़ रहा है, वह अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर रहा है। किंतु चूंकि वह अपने अंतरीय या निजी जीवन अथवा बाह्य जीवनके विषयमें लापरवाह रहता है, तो हो सकता है कि वह अधिकाधिक पिछड़ जाय या अचेतन ही रहे या उसमें बहुत बुरे दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं; चाहे वह विज्ञानके क्षेत्रमें कितनी ही प्रगति क्यों न कर ले, एक मनुष्यके रूपमें वह एक बड़ा ही खेदजनक प्राणी हो सकता है। ऐसा प्रायः देखनेमें आता है। और अपने बारेमें, तुम यदि सावधानी नहीं बरतोगे, तो हो सकता है कि तुम्हारा एक भाग प्रगति करे और दूसरा पीछे जाय। यदि व्यक्ति बहुत अधिक सावधान न रहे, यदि वह अपनी बाह्य क्रियाओंपर नियंत्रण न रखे, यदि वह अपने प्राणको अपनी ही रौमें बहते जानेकी अनुमति न देनेकी विशेष सावधानी न बरते, तो, अचानक ही एक दिन वह देखेगा कि उसमें बहुत बुरी आदतें पैदा हो गयी हैं और वह एक बहुत निकृष्ट रास्तेका अनुसरण कर रहा है, चाहे उसकी

---

[1] "प्रकृतिमें सब कुछ गतिशील है; अतः जो कुछ आगे नहीं बढ़ता वह अनिवार्य रूपसे पिछड़ जाता है।"

सत्ताके मानसिक भागमें तीव्र अभीप्सा हो और वह ज्ञानके क्षेत्रमें और यहां तक कि आध्यात्मिक जीवनमें भी प्रगति कर रहा हो। यदि व्यक्ति इस ओर ध्यान न दे, तो बड़ी आसानीसे गढ़ेमें जा गिरता है। व्यक्ति एक गलत पग उठाता है और फिसलकर गढ़ेके तलेके साथ जा टकराता है और तब अपने-आपसे कहता है: "किंतु यह सब हुआ कैसे? यह क्या हुआ?" केवल एक गलत कदम: तुमने सावधानी नहीं बरती; तुमने अपनी सत्ताके उस भागको अपने क्षेत्रमें खींच ले जानेकी अनुमति दे दी; क्योंकि तुमने उसे उसके अपने रास्तेपर चलनेसे नहीं रोका, उसे तुम्हारा अपना अनुसरण करनेको विवश नहीं किया, अब वह तुम्हें पीछेकी ओर घसीट रहा है।

यदि व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहता है, तो उसे अपने तीन-चौथाई भागमें सोते नहीं रहना चाहिये। पूरी तरह जागते रहना, अत्यधिक सावधान रहना बहुत जरूरी है, नहीं तो तुम नदीपर या भयानक लहरोंवाले सागरपर एक छोटी-सी नौकाके समान होगे, और यदि तुम जागरूक नहीं रहे, यदि तुमने इन लहरोंकी ओर ध्यान नहीं दिया, यदि तुम ढीले पड़ गये, असावधान हो गये, तो अचानक ही तुम देखोगे कि तुम जहां जाना चाहते थे उसके ठीक दूसरे छोरपर पहुंच गये हो! तुम बस, यूं ही, वहां ले जाये गये हो, बड़े सहज-स्वाभाविक रूपमें। "अरे, मैं जाना तो चाहता था वहां और अपने-आपको पा रहा हूं यहां!"

ऐसा ही होता है।

सामान्य जीवनमें यह सब समय होता रहता है। बात केवल इतनी है कि तब तुम कहते हो: "परिस्थितियां ही ऐसी हैं, यही मेरे भाग्यमें लिखा है, दुर्भाग्य है यह मेरा, यह उनका दोष है," या फिर "मेरे भाग्य ही अच्छे नहीं हैं।" यह सब कहना है भी बहुत, बहुत, बहुत सहज। व्यक्ति सब कुछपर पर्दा डाल देता है और फिर आशा करता है... हां, व्यक्तिके अच्छे क्षण भी होते हैं और बुरे भी, और अंतमें — हां, अंतमें गढ़ेमें जा गिरता है, प्रत्येक व्यक्ति, देर या सवेर, गढ़ेमें गिरता है और गिरनेकी आशा भी करता है। तो, व्यक्ति या तो चिंता नहीं करता, या सारे समय चिंता करता रहता है — बात एक ही है। दूसरे शब्दोंमें, व्यक्ति अचेतन रहता है, अचेतन रूपमें जीता है और जो कुछ होता है उसका सारा दोष दूसरोंके माथे तथा परिस्थितियोंपर मढ़ देता है पर कभी अपने-आपसे यह नहीं कहता: "अरे! यह तो मेरा ही दोष है।"... यह शुरू करनेसे पहले व्यक्तिमें एक काफी विशाल चेतनाकी आवश्यकता होती है। उन लोगोंमें भी, जो अपने-आपको चेतन मानते हैं, ऐसे बहुत नहीं हैं जो स्पष्ट रूपमें देख सकते हों कि जो कुछ उनके साथ होता है वह उसीसे आता

है जो वे हैं, और कहींसे नहीं। वे सदा यही कहते हैं: "अमुक दोषी है; परिस्थितियां ही प्रतिकूल हैं; ओह! ऐसा क्यों हुआ?"— यदि तुम जो हो वह न होते, तो बात ऐसी न होती। तब वह कुछ और ही ढंगसे होती।

हम प्रायः ही अपने वेदनों, भावनाओं, भावावेगों और सद्भावनाको शब्दोंमें व्यक्त करते हैं। किंतु क्या अपने-आपको शब्दोंमें व्यक्त करना सचमुचमें आवश्यक है, तब, जब कि हमसे उसकी मांग भी नहीं की जाती?

नहीं, यह आवश्यक नहीं है, बिल्कुल नहीं। यह केवल बुरी आदतोंमेंसे एक है। हां, इसी पहली जनवरीको मैंने कुछ ऐसा ही लिखा है: "शेखी मत बघारो, किसी बातकी शेखी मत करो। अपने कामोंको ही अपने लिये बोलने दो।"[1] यह ठीक ऐसा ही है। यह कहना व्यर्थ है: "ओह! तुम्हारे लिये मेरे अंदर कितनी अधिक सद्भावना है और मैं इतना कुछ करना चाहता हूं और मैं...।" बस, जो कुछ करना है कर दो। इतना काफी है।

मां, जब हम सोचते हैं, जब किसी विचारका अनुसरण करते हैं, तो हम अपने अंदर ही बोलते हैं, चाहे जोरसे नहीं; किंतु क्या इसका यह अर्थ है कि सोचनेके लिये आंतरिक शब्दका होना आवश्यक है? क्या विचार बिना शब्दोंके भी अपना अस्तित्व रख सकता है?

इसका मतलब यह हुआ कि व्यक्तिने अभीतक विचारके सच्चे क्षेत्रका स्पर्श नहीं किया है। विचारके क्षेत्रमें शब्द नहीं होते, चेतनाकी अवस्थाएं होती हैं।

'शब्द' का क्या अर्थ है?

यह और बात है। 'शब्द'— इसका अर्थ उच्चारित शब्द और वाणी नहीं है। कुछ पुरानी परंपराएं कहती हैं: "प्रकाश हो जाय और प्रकाश

---

[1] जनवरी १९५४ पहली का संदेश : "प्रभो, इस वर्ष, सबको आपकी यही सलाह है: 'किसी बातके लिये शेखी मत बघारो, अपने कार्यको अपने लिये बोलने दो।'"

हो गया।" यहां 'शब्द' एक मंत्र है। किंतु यह बिल्कुल असाधारण वस्तु है, यह ध्वनिका प्रयोग तभी करता है जब आत्मामें सुगठित संकल्प-शक्ति नीचे, जड़-पदार्थमें उतरना और उसपर सीधा कार्य करना चाहती है — वह शब्दका ही नहीं, ध्वनिका, ध्वनिके स्पंदनका भी प्रयोग करती है — यह स्वयं जड़-पदार्थपर और जड़-पदार्थमें कार्य करनेके लिये करती है। यह एक विपरीत क्रिया है। तुम शब्दोंमें सूत्रबद्ध विचारके क्षेत्रमें हो, फिर वहांसे तुम अधिक ऊंचा उठ सकते हो और नीरव विचारकी अभिव्यक्ति पा सकते हो; इसके बाद उससे भी ऊपर, और अधिक ऊपर ऊंचा उठकर तुम 'शक्ति'को प्राप्त कर सकते हो : 'शक्ति' ही वह 'चेतना' है जो विचारका मूल स्रोत है। तो यह किसी सूत्रबद्ध अभिव्यक्त एवं सूत्रबद्ध वस्तुके स्थानपर समग्र चेतना बन जाती है। दूसरे शब्दोंमें, तुम ऊपर उठकर ठीक मूल स्रोतपर पहुंच जाते हो। वहांसे, एक बार जब तुम स्वयं इस प्रकाशको, स्वयं उस चेतनाको पा लो और किसी परिणामतक पहुंचनेके लिये जड़-पदार्थपर कार्य करना चाहो, तो यह संकल्प एक स्तरसे दूसरे स्तरतक उतरता है, और जैसे-जैसे यह अधिकाधिक ठोस रूप धारण करता है, वैसे-वैसे अपने-आपको शब्दोंमें, यहांतक कि एक शब्दमें ही स्पष्टतया निरूपित करता है, और जब यह जड़-पदार्थका स्पर्श करता है, तो एक नीरव शब्द रहनेके स्थानपर, ध्वनियोंद्वारा उच्चारित शब्द बन जाता है : एक ऐसा स्पंदन जो जड़-पदार्थपर सीधा कार्य करेगा। किंतु इससे पहले व्यक्तिको सीधा ऊपर उठना होगा ताकि वह दुबारा नीचे आ सके। इससे पहले कि वह नीचे आकर यह कार्य कर सके, उसे नीरव चेतनातक पहुंचना होगा। इसे ऊपरसे ही आना होगा, इस शब्दका स्रोत ऊपर ही होगा, किसी मध्यवर्ती क्षेत्रमें नहीं। हां, तो यही वह 'शब्द' है। पर तुम्हें वैसा ही करना होगा जैसा कि मैंने कहा है — यह कोई सरल बात नहीं है।

जो कुछ मैंने यहां कहा है (माताजी "चतुर्विध तपस्या" पुस्तक दिखाती हैं) वह यह है कि व्यक्तिको ठीक वृत्ति रखनी चाहिये और उसे मानसिक रूप-से नीरव रहना चाहिये : उसकी वृत्ति न शब्दोंके द्वारा, न ही सूत्रबद्ध विचारोंके द्वारा, बल्कि चेतनाकी एक जीवंत अवस्थाके द्वारा अभिव्यक्त होनी चाहिये। अभीप्साकी वृत्ति होनी चाहिये, समझे। मुझे इस सब-को शब्दोंमें रखना पड़ रहा है क्योंकि इसे कागजपर छापना है (इसीलिये इसकी तीन-चौथाई शक्ति नष्ट हो जाती है), किंतु तो भी यदि मैं ऐसा न करूं तो यह बिल्कुल स्वीकार न होगा ; यदि मैं तुम्हें कोरा कागज दूं, तो तुम्हें पता न लगेगा कि मैंने वहां क्या लिखा है ! मुझे इसे शब्दोंमें रखना ही पड़ता है।

उस सबके लिये अभीप्साको मूल रूपमें सच्चा, वास्तविक और पूर्ण होना चाहिये। और यह अभीप्सा सब शब्दोंसे मुक्त होनी चाहिये, केवल एक नीरव वृत्ति, किंतु अत्यधिक तीव्र और अविचलित। एक शब्दको भी उसमें प्रवेश करने और उसे क्षुब्ध करनेका अधिकार नहीं मिलना चाहिये। इसे अभीप्साके स्पंदनोंके एक स्तंभके समान होना चाहिये जिसे कोई स्पर्श न कर सके — और संपूर्ण नीरवतामें — और तब, यदि कुछ नीचे आयेगी, तो जो वस्तु अवतरित होगी (और यह तुम्हारे मनमें शब्दोंमें अनूदित होगी और तुम्हारे मुंहमें ध्वनियोंमें) वह 'शब्द' होगी। किंतु इससे कममें काम नहीं चलेगा।

अच्छा, तो यह रहा। फिर मिलेंगे, मेरे बच्चो, शुभ-रात्रि।

१४ अप्रैल, १९५४

(यह वार्ता माताजीके निबन्ध "चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति"के तीसरे भागपर आधारित है।)

स्नेहमयी मां, यह मेरी समझमें नहीं आया : "इस सृष्टिके आरंभसे ही, प्रेम, अपने विशुद्ध मूल स्रोतमें, दो क्रियाओंसे बना है जो पूर्ण एकलयताकी प्रवृत्तिके दो परस्पर-पूरक छोर हैं। एक ओर तो है आकर्षणकी सर्वोच्च शक्ति और दूसरी ओर पूर्ण आत्म-दानकी अदम्य आवश्यकता।"

इसमें समझनेको कुछ है ही नहीं; यह एक तथ्य है। क्या तुम "आकर्षणकी शक्ति"का अर्थ नहीं जानते? तुम "आत्म-दानकी आवश्यकता"का अर्थ नहीं जानते? . . . हां, तो तुम इन दोनोंको आमने-सामने रखो, इनका मिलन ही प्रेम उत्पन्न करता है। बस, बात इतनी सरल है। यदि तुम चाहो, तो इसे एक ही पदकका सीधा और उल्टा पासा कह सकते हो, किंतु यह सीधा और उल्टा पासा है नहीं। ये ऐसी दो वस्तुएं हैं जो स्वभावतया एक-दूसरेके साथ जुड़नेके लिये बनी हैं और इस मिलनसे ही प्रेम अपनी बाह्य अभिव्यक्तिमें जन्म लेता है।

इसके बाद आपने कहा है : "कोई और क्रिया उस खाईपर सेतु

बांधनेके कार्यको इससे अच्छी तरह नहीं कर सकती, उस खाई-के ऊपर जो तब बनी थी जब वैयक्तिक सत्ताकी चेतना अपने मूल स्रोतसे अलग होकर निश्चेतना बन गयी।"

हां, क्योंकि जिस क्षण वैयक्तिक चेतना भागवत 'चेतना'से, अपने दिव्य मूल स्रोतसे अलग हुई, उसने पृथक्ताकी भावनाको जन्म दिया। जिस क्षण वैयक्तिक चेतनाने भागवत 'चेतना'की क्रियाका अनुसरण करना बन्द कर दिया, वह उससे दूर हो गयी, तभी अलगाव पैदा हो गया। दिव्य 'चेतना' अपनी ही क्रियाका अनुसरण करती है, और यदि वैयक्तिक चेतना उसके साथ संयुक्त होकर न रहे और उसका अनुसरण न करे अथवा अपना रास्ता बदल ले या उसकी चाल धीमी पड़ जाय, तो पृथक्ता आ जाती है। और यह पृथक्ता ही सभी दुःखोंका कारण है। विश्वके सारे दुःख-कष्टों-का कारण यही है कि वैयक्तिक चेतना किसी-न-किसी कारणसे मूल 'चेतना' के साथ, जो कि उसका स्रोत था, नहीं रह सकी, और उससे अलग हो गयी। हां, उससे अलग हो गयी... वह जान-बूझकर अलग नहीं हुई, किंतु उसके साथ एक होकर नहीं रह सकी। अतएव, क्योंकि वह उसके साथ अपना तादात्म्य नहीं रख सकी, और जब भागवत 'चेतना'ने एक विशेष क्रियाका अनुसरण किया, तो यह किसी औरके पीछे चल पड़ी, तब स्वभावतया दोनों एक-दूसरेसे अधिकाधिक दूर होती गयीं। हम एक दृष्टांत लेते हैं: एक व्यक्ति एक विशेष चालसे विशेष गतिसे आगे बढ़ता है, और दूसरा, क्योंकि उसके साथ नहीं रह सकता, वह उसका अनुसरण करनेमें असमर्थ रहता है और परिणामस्वरूप, धीरे-धीरे, वह पीछे छूटता जाता है, बहुत पीछे, अधि-काधिक पीछे रह जाता है; पहला आगे निकल जाता है और दूसरा पीछे छूट जाता है। यह लंगड़ाते हुए धीमी चालसे चलता है जब कि वह उड़ता-सा आगे बढ़ता जाता है; जब दूसरा एक पग आगे बढ़ाता है पहला एक छलांग लगा लेता है। इसके फलस्वरूप, दोनों अधिकाधिक अलग पड़ते जाते हैं। इसी अलगावने सभी अलगावोंको जन्म दिया और इन्हींने विश्वके दुःख-कष्ट भी पैदा किये — कम-से-कम पृथ्वीके दुःख-कष्ट जिन्हें हम जानते हैं। यह आरंभ हुआ चेतनाकी पृथक्तासे और इसका अंत हुआ जगतोंकी तथा जड़-प्रकृतिके तत्त्वोंकी पृथक्तासे। इसका आरंभ हुआ चेतनाके विभाजनसे तथा अंत हुआ उस विभाजनसे जिसे हम आज देखते हैं (माताजी अपने चारों ओर बैठे व्यक्तियोंकी ओर संकेत करती हैं)। सहस्रों वस्तुएं अलग-अलग बिखरी पड़ी हैं और इसी कारण ये सारे दुःख-दर्द हैं। यदि ये वस्तुएं चेतनामें संयुक्त रहतीं तो ये दुःख-कष्ट

न होते। किंतु चूंकि चेतना अलग हो गयी, चेतनाके इस अलगावने रूपोंके अलगावको जन्म दिया और रूपोंके अलगावने सब दुःखोंको उत्पन्न किया।

यदि एकत्वकी भावना पुनः स्थापित हो जाय, तो सब दुःख-दर्द भी दूर हो जायेंगे।

हमारी प्रकृतिके रूपांतरसे पहले क्या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे सच्चा प्रेम कर सकता है?

दूसरेसे प्रेम? मैं यह कह चुकी हूं कि यह असंभव है। मैंने कहा है कि यदि व्यक्ति यह जानना चाहता है कि प्रेम क्या है तो उसे भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये। तभी यह जाननेका अवसर मिल सकता है कि प्रेम क्या है। मैंने कहा है कि व्यक्ति जिससे प्रेम करता है उसी जैसा बन जाता है। अतएव, यदि वह भगवान्‌से प्रेम करता है तो धीरे-धीरे, प्रेमके लिये प्रयत्न करते हुए अधिकाधिक भगवान् जैसा बनने लगता है, और तब वह भागवत प्रेमके साथ अपना तादात्म्य भी स्थापित कर सकता है और उसे जान भी सकता है, अन्यथा नहीं।

यह अनिवार्य है कि दो मनुष्योंके बीचका प्रेम, वह चाहे जैसा भी हो, सदा अज्ञान, समझके अभाव, दुर्बलता और पृथक्ताकी उसी दुःखद भावनासे बना होता है। यह तो मानों ऐसा हुआ कि व्यक्ति एक अभूतपूर्व 'वैभव'के साक्षात् सान्निध्यमें आना चाहे और आरंभमें ही अपने और उस 'वैभव'के बीच एक पर्दा, दो पर्दे, तीन पर्दे डाल ले और इस बातपर आश्चर्य करे कि उसे असली वस्तु तो दिखायी नहीं पड़ी, उसका एक धुंधला-सा आभास ही मिला। इसके लिये पहला कार्य है पर्दोंको हटा देना, इन सबको निकाल देना और आगे बढ़कर अपने-आपको उस 'वैभव' की उपस्थितिमें पाना। और तभी तुम जानोगे कि वह 'वैभव' क्या है। किंतु यदि तुम अपने और उसके बीचमें परदे-पर-परदे डाल लो तो उसे कभी न देख पाओगे। तुम्हें एक धुंधली-सी प्रतीति हो सकती है जैसे: "ओह! कोई चीज है," बस, इतना ही।

स्वभावतया, ऐसे सब लोग हैं जो इस 'वैभव'की परवाह ही नहीं करते, जो इसकी ओरसे पीठ फेर लेते हैं और अपनी सहज-प्रवृत्तियोंमें ही निवास करते हैं, जो पशुवत् होते हैं, उनसे कुछ अधिक पूर्ण। हम इनकी बात नहीं कर रहे। इन्हें अपने हालपर ही छोड़ देना होगा, ये जो चाहे करते रहें, इसका बिलकुल कोई महत्त्व नहीं। इनका हमपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। मैंने ये बातें इनके लिये लिखी नहीं हैं।

सच्चा प्रेम कैसे किया जाय, यह जाननेके लिये क्या प्रकृतिका रूपांतर होना चाहिये ?

प्रेमका गुण तुम्हारी चेतनाके रूपांतरके अनुपातमें ही होता है।

मैं नहीं समझा।

यह तो बच्चोंकी-सी सरल बात है। यदि तुम्हारी चेतना पशुकी चेतना है, तो तुम प्रेम भी पशुके समान ही करोगे। यदि तुम्हारी चेतना एक सामान्य व्यक्तिकी चेतना है तो तुम प्रेम भी एक सामान्य व्यक्तिकी भांति ही करोगे। यदि वह एक प्रबुद्ध सत्ताकी चेतना है तो तुम्हारा प्रेम एक प्रबुद्ध सत्ताका प्रेम होगा, और यदि तुम्हारे पास भगवान्‌की चेतना है तो तुम भगवान्‌के समान प्रेम करोगे। बड़ी सरल-सी बात है! मैंने यही कहा है। अतएव, यदि तुम उन्नति, आंतरिक रूपांतर, अभीप्सा और विकासके लिये प्रयत्न करके एक चेतनासे दूसरी चेतनामें प्रवेश कर लेते हो एवं अधिकाधिक विशाल बन जाते हो तो तुम अधिकाधिक विशाल प्रेमका अनुभव करोगे। बड़ी स्पष्ट बात है यह!

तुम अत्यधिक स्वच्छ जल लो, स्फटिककी चट्टानोंसे झरता हुआ जल, उसे एक बड़े-से पात्रमें भर लो, और फिर, इस पात्रमें जरा-सी (या अधिक, या बहुत अधिक) मिट्टी है। अब तुम यह नहीं कह सकते कि यह वही जल है जो झरनेसे आया था, यूं तो यह वही है, किंतु तुमने उसमें इतनी चीजें मिला दी हैं कि वह उस पहले जलसे बिल्कुल नहीं मिलता! हां तो, प्रेम अपने सार-तत्त्वमें विशुद्ध, पारदर्शी और पूर्ण वस्तु है। मानवी चेतनामें वह थोड़ी या बहुत-सी मिट्टीसे मिलकर गंदला हो जाता है। तो जितनी अधिक मिट्टी होगी उतना ही अधिक वह गंदला होगा।

कहा गया है कि चीतेकी दूसरोंको खानेकी आवश्यकता इस संसारमें प्रेमकी पहली अभिव्यक्तियोंमेंसे है। मेरा ख्याल है कि चीतेसे भी बहुत पहले, सागरकी गहराइयोंमें कुछ ऐसे पहले प्राणी रहे होंगे जिनका एक ही धंधा रहा होगा: पेट। वे पेटके रूपमें ही अस्तित्व रखते थे। अतः वे निगलते ही जाते थे — यही उनका एकमात्र कार्य था। स्पष्ट ही यह 'जड़-पदार्थ'में 'प्रेम'की 'शक्ति'के प्रवेशका पहला परिणाम था, क्योंकि इससे पहले कुछ नहीं था: तब पूर्ण निश्चेतना थी, गतिका नाम-निशान न था, कुछ भी गतिशील नहीं था। 'प्रेम'के साथ गति आरंभ हुई: यह गति थी चेतनाकी जाग्रति और रूपांतरकी क्रिया। हां, तो यह कहा

जा सकता है कि जीवोंके प्रथम रूप 'जड़-प्रकृति'में 'प्रेम'की पहली अभिव्यक्ति थे। अतएव हम निगलनेकी आवश्यकतासे — जो एकमात्र चेतना है — हां, निगलनेकी, संयुक्त होनेकी आवश्यकतासे — ठीक वहां तक... जा सकते हैं। क्षमा करना, हम कहते हैं कि 'प्रेम' संसारकी शक्ति है — वस्तुओंके साथ संयुक्त होनेका यह एक बर्बर तरीका है, किन्तु है बड़ा सीधा : वस्तुको निगला और अपने अंदर आत्मसात् कर लिया; हां तो, चीतेको सचमुच इसमें बड़ा आनन्द आता है। तो इसमें आनन्द तो होता ही है, यह अपने-आपमें प्रेमका एक काफी ऊंचा स्वरूप है। तुम इससे ऊंचे जा सकते हो; इसकी परिणति होती है मनुष्योंके उस प्रेममें जो प्रेमकी एक उच्चतम अभिव्यक्ति है : प्रेम-पात्रके प्रति पूर्ण समर्पण, दूसरे शब्दोंमें, मातृभूमिके लिये प्राण न्योछावर कर देना या किसीकी रक्षा करनेके लिये अपनी जान दे देना, इसी तरहकी चीजें। यह प्रेम अपने-आपमें... काफी ऊंचे दर्जेका है। इसमें अब भी कुछ गंदलापन है। यह प्रेमका उच्चतम स्वरूप तो नहीं है पर फिर भी कुछ है तो सही। और तुम इसकी सब अवस्थाएं देखते हो, न? हां, तो व्यक्तिको इससे भी काफी आगे बढ़ना है, तभी वह उस वस्तुकी सच्ची अभिव्यक्तितक पहुंचेगा जिसकी मैं चर्चा कर रही हूं, जो चढ़ाईकी उच्चतम चोटीपर स्थित है, — मैं अपने शब्दोंको झुठलाना नहीं चाहूंगी (माताजी अपनी पुस्तक "चतुर्विध तपस्या" से पढ़ती हैं) :

> **"प्रेम, अपने सार-तत्त्वमें, एक ऐसा आनन्द है जो तादात्म्यसे प्राप्त होता है; वह मिलनके आनन्दमें ही अपनी सर्वोच्च अभिव्यक्ति पाता है।"**

आरंभमें, प्रेमके प्रकट होनेसे पहले, एक ऐसी वस्तु होती है जिसे हम "तादात्म्यका आनन्द" कह सकते हैं, पर कहनेका यह तरीका है बेढंगा। इसके बारेमें सोचना बहुत अधिक कठिन अवश्य है, क्योंकि मानव विचार वस्तुओंके बारेमें, उनसे उल्टी बातोंके बिना, सोच ही नहीं सकता, जब कि सर्वोच्च अवस्था तब आती है जब प्रेम अपने मूल स्रोततक वापिस पहुंचनेके लिये पूरे विश्वका चक्कर लगा लेता है; तब उसके पास उन सब अनुभवोंका फल होता है जिन्हें उसने प्राप्त किया है और वह अपने प्रारंभिक बिन्दुकी ओर वापिस लौट आता है। वह प्रारंभ-बिन्दुकी ओर कुछ अधिक ही लेकर लौटता है जो उसके पास चलनेसे पहले नहीं था : अर्थात्, विश्वकी अनुभूति लेकर। और मूल रूपमें, वही सृष्टिका मुख्य हेतु भी है। इसका कारण यह है कि यदि चेतनाने अपने-आपको सृष्टिके रूपमें अभि-

व्यक्त न किया होता तो उसका स्वरूप वह न होता जो अब है। हां तो, एक बातको ध्यानमें रखो कि सृष्टिकी वापसी कालमें नहीं होती, उसके बारेमें सोचना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हम काल और देशके विषयमें ही सोच सकते हैं और हमारे लिये वस्तुएं क्रमिक होती हैं, एकके बाद एक होती हैं, किंतु यदि एक ऐसी समग्र क्रियाके विषयमें सोचना संभव होता जो प्रत्येक वस्तुको अपनेमें लपेट लेती तथा जो एक साथ ही आरंभ और अंत होती और सब वस्तुओंको अपने अंदर धारण कर लेती, तब यह वापसी कालमें नहीं, चेतनामें वापसी होती — यह सब तुम्हें कैसे समझाऊं? — तब प्रेमकी अपने मूल स्रोतकी ओर वापसी केवल तादात्म्यका आनन्द होनेके स्थानपर मिलनका उल्लास हो जाती है — और स्पष्ट ही, यदि व्यक्ति केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे ही देखे, तो चेतना विश्वमें प्राप्त अनुभूतिके कारण समृद्ध हो रही है; दूसरे शब्दोंमें, उसके अंदरके तत्त्व उन्नत हो रहे हैं और चेतना पूर्णताको प्राप्त हो रही है। यदि विश्वका यह अभिव्यक्त रूप प्रकट न होता तो यह सब भी यहां न दिखायी देता। और यह स्पष्ट ही सृष्टिकी अधिक-से-अधिक युक्तिपूर्ण व्याख्या है, उसका अत्यधिक युक्तिपूर्ण हेतु है।

> मधुर मां, इसका क्या अर्थ है : "जब-जब कोई सत्ता उन संकीर्ण सीमाओंको तोड़ती है जिनमें वह अपने अहंभावद्वारा बन्दी बना दी जाती है और जब-जब वह आत्म-दानके लिये मुक्त वायुमें ऊपरकी ओर उठती है, चाहे वह त्याग किसी अन्य मनुष्यके लिये हो या अपने परिवारके लिये, अपने देशके लिये हो या अपने धर्मके लिये, उसे इस आत्म-विस्मरणमें प्रेमके अद्भुत आनन्दका स्वाद प्राप्त होता है, और इससे उसे ऐसा आभास होता है कि भगवान्‌के साथ उसका संपर्क स्थापित हो गया है, किंतु अधिकतर यह संपर्क क्षणिक ही होता है, कारण मनुष्यमें प्रेम शीघ्र ही अहंभावयुक्त निम्न क्रियाओंके साथ घुल-मिल जाता है जो उसे गंदला कर देती हैं और उसकी पवित्रताकी शक्तिको सोख लेती हैं। किन्तु यदि यह पवित्र रहे भी, तो भी भागवत सत्ताके साथ इसका संपर्क हमेशा टिक नहीं सकता, कारण, प्रेम भगवान्‌का केवल एक पक्ष है, एक ऐसा पक्ष जिसे पृथ्वीपर उन्हीं विकृतियोंमेंसे गुजरना पड़ा है जिनमेंसे दूसरे पक्ष गुजरते हैं।"

क्या, तुम क्या नहीं समझ पाये? यह कि विश्व और यह जगत्, जैसा

कि वह है, भगवान्‌का एक विकृत रूप है? जगत्, जैसा कि वह है, इस समय चेतनाकी जिस अवस्थामें है, वह भगवान्‌का एक विकृत रूप है, और यहां प्रेम भी भगवान्‌का एक विकृत रूप है। अतएव, यदि तुम्हारा प्रेम उतना पवित्र रहे जितना पवित्र इस अभिव्यक्त जगत्‌म संभव है, तो भी वह तुम्हें भगवान्‌के सतत संपर्कमें नहीं रख सकता, तबतक नहीं जबतक कि बाकीकी सब वस्तुएं भी रूपांतरित न हो जायं। कारण, वह भी उतना ही विकृत है जितनी बाकी वस्तुएं। क्योंकि, अवश्य ही, ऐसा कहा जाना चाहिये कि पृथ्वीपर जिसे पवित्रता कहा जाता है उसका भागवत पवित्रताके साथ कोई संबन्ध नहीं है। अधिक-से-अधिक वह उसका सादृश्य है।

नहीं समझमें आया? एक दिन आयगा।

मधुर मां, बच्चोंके प्रति माता-पिताका प्रेम किस प्रकारका होता है?

किस प्रकारका? यह भी है तो मानव प्रेम ही, है न? जैसे कि और सब मानव प्रेम होते हैं: यह भी सब प्रकारकी वस्तुओंके साथ भयानक रूपसे मिला रहता है। अधिकृत करनेकी आवश्यकता, भयानक अहंभाव। पहले तुम्हें बता दूं, इसकी बड़ी सुन्दर तस्वीर खींची गयी हैं... इसपर बहुत पुस्तकें लिखी गयी हैं, बच्चोंके प्रति मांके प्रेमके विषयमें बड़ी अद्‌भुत बातें कही गयी हैं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि खूब बढ़ा-चढ़ाकर इस विषयपर बोलनेके सिवा, यह प्रेम भी वैसा ही है जैसा उच्चतर पशुओंका, उदाहरणार्थ... चौपायोंका अपने बच्चोंके साथ होता है, यह बिल्कुल वैसा ही है: वही प्रेमभाव, वही आत्म-विस्मृति, वही आत्म-त्याग, उन्हें शिक्षित करनेकी वही चिंता, वही धैर्य, सब कुछ वही...। मैंने कई बहुत आश्चर्यजनक बातें देखी हैं, और यदि ये सब लिखी जातीं और बिल्लीपर प्रयुक्त न करके स्त्रीपर प्रयुक्त की जातीं तो कितने ही सुन्दर उपन्यास बन जाते, लोग कहते: "क्या व्यक्तित्व है यह! मातृप्रेममें ये स्त्रियां कितने अद्‌भुत रूपसे समर्पित होती हैं!" ठीक ऐसा ही है। हां, बिल्लियां लम्बी-चौड़ी बातें नहीं कर सकतीं। बस, इतनी-सी बात है। न वे पुस्तकें लिख सकती हैं, न भाषण दे सकती हैं, भेद केवल इतना ही है। किन्तु मैंने बड़ी आश्चर्यजनक बातें देखी हैं। वही त्याग, वही आत्म-विस्मृति — ज्यों ही प्रेमका आरंभ होता है, ये बातें आ जाती हैं। किन्तु मनुष्य...जो कुछ मैंने अध्ययन किया है उसके आधारपर मेरा निश्चित विश्वास है कि शायद पशुओंका प्रेम कुछ

अधिक पवित्र होता है क्योंकि उनमें सोचनेकी क्षमता नहीं होती, जब कि मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति, सोचने, तर्क करने, विश्लेषण, अध्ययन करनेकी क्षमताके साथ, यह सब, ओह! वे अत्यधिक सुन्दर गतिको भी नष्ट कर देते हैं। वे हिसाब करना, तर्क करना, शंका करना, व्यवस्था लाना आरंभ कर देते हैं।

उदाहरणार्थ, माता-पिताको लो। तुम्हारी चेतनाको भ्रांतियोंसे मुक्त करनेका भय होते हुए भी मैं तुम्हें बच्चेके प्रति मांके प्रेमके स्रोतके विषयमें बताती हूं। इसका कारण है बच्चेका मांके तत्त्वसे बना होना, और सापेक्ष रूपसे, काफी लंबे समयतक तत्त्वका यह स्थूल तंतु मां और बच्चेके बीच बड़े निकट रूपसे बना रहता है — मानों उसका थोड़ा-सा हाड़-मांस ही अंदरसे निकालकर बाहर, कुछ दूरीपर रख दिया गया हो — और दोनोंके बीचका यह बंधन बहुत दिनोंके बाद ही टूटता है। यह एक प्रकार का सूक्ष्म भौतिक बंधन है, इतना कि मां बच्चेकी भावनाको बिलकुल ऐसे ही ठीक-ठीक समझ लेती है जैसे अपने भाव समझती है। तो मांकी बच्चेके प्रति आसक्तिका यही भौतिक आधार है। यह भौतिक तादात्म्यका आधार है, उसके सिवा कुछ नहीं। अनुभूति बहुत पीछे आती है (पहले भी आ सकती है, यह व्यक्तियोंपर निर्भर है) किन्तु मैं यहां अधिकतर व्यक्तियोंकी बात कह रही हूं : उनमें अनुभूति बहुत पीछे ही आती है, और उसकी भी कुछ शर्तें होती हैं। उसमें सभी प्रकारकी वस्तुएं होती हैं . . . इस विषयपर मैं घंटों बात कर सकती हूं : किंतु तो भी इस सबको प्रेमके साथ न मिला देना चाहिये। यह एक प्रकारका भौतिक तादात्म्य है जिसका मां अपने बच्चेकी भावनाको निकट, बड़े ठोस और प्रत्यक्ष रूपमें अनुभव करती है। यदि बच्चेको कोई आघात लगे, तो, मां उसे अनुभव कर लेती है। ऐसा कम-से-कम दो महीनेतक तो रहता ही है।

यह आधार है। बाकी सब तो लोगोंकी प्रकृतिसे, उनके विकासकी अवस्थासे, उनकी चेतना, शिक्षा एवं अनुभव करनेकी क्षमतासे आता है। यह बात पहली बातसे जोड़ दी जाती है। और फिर बहुत-से ऐसे सामूहिक सुझाव भी होते हैं जो कहानियां गढ़ लेते हैं — क्योंकि मनुष्य कहानियां गढ़नेमें बहुत चतुर होते हैं। वे सभी वस्तुओंके विषयमें कहानियां बना लेते हैं। उन्होंने अपने मनका कल्पनाओंका निर्माण करनेके लिये उपयोग किया है, फिर ये कल्पनाएं वातावरणमें घूमती रहती हैं, और बस इसी तरह पकड़में आती हैं। तो कुछ लोग एक प्रकारकी वस्तुएं पकड़ लेते हैं और कुछ अन्य प्रकारकी, और फिर, क्योंकि कल्पना धकेलनेकी एक शक्ति है, उसके साथ व्यक्ति अभिनय करने लगता है और अंतमें, यदि उसमें कल्पना हो तो उपन्यासका

जीवन जीता है . . . । इस सबका सच्ची चेतनाके साथ, चैत्य सत्ताके साथ जरा भी संबंध नहीं है, बिलकुल नहीं, किंतु वे तुमसे अलंकारमयी भाषामें बातें करते हैं और कहानियां सुनाते हैं — यह सब उड़ान लेनेवाली कल्पनाओंसे होता है। यदि व्यक्ति देख सके, दूसरे शब्दोंमें, यदि तुम इस मानसिक वायुमंडलको, भौतिक मनके वायुमंडलको चारों ओर व्याप्त देख सको, जो तुम्हें क्रिया करने, अनुभूति प्राप्त करने, सोचने, कार्य करनेके लिये प्रेरित करता है, तो ओह, भगवान्! तुम्हारी अपने व्यक्तित्वके विषयमें कई भ्रांतियां दूर हो जायंगी। किंतु होता ऐसा ही है। चाहे व्यक्ति इस विषयमें जाने या न जाने, बात यही है।

पृथ्वीपर बहुत-सी आत्माएं हैं, मानवी सत्ताएं हैं . . . । स्पष्ट ही, जिनकी एक विशेष संस्कृति है, जिनमें एक विशेष प्रकारका विकास हुआ है, जो विशेष प्रकारका व्यक्तित्व रखती हैं, सामान्यतया वे इकट्ठी हो जाती हैं: सहज प्रेरणावश ही वे इकट्ठी होती हैं, अपने दल बना लेती हैं। अतएव व्यक्ति काल और देशमें कुछ सुसंस्कृत व्यक्तियोंको इकट्ठा देख सकता है जो संख्यामें बहुत अधिक न भी हों, फिर भी काफी हैं, किंतु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह बात हमें मनुष्योंकी संस्कृति और विकासके ठीक अनुपातका दिग्दर्शन कराती है। यह केवल झागकी भांति है जिसे ऊपर लाया गया है। किंतु इन लोगोंमें भी, इस चुनी हुई सत्ताओंमें भी, हजारमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो सचमुच एक विशुद्ध वैयक्तिक सत्ता हो, जो अपने प्रति सचेतन हो, अपनी आंतरात्मिक सत्ताके साथ जुड़ा हुआ हो, जो अपने आंतरिक कर्मसे संचालित होता हो तथा फलस्वरूप, यदि समग्र रूपसे न सही, लगभग बाह्य प्रभावोंसे मुक्त हो; क्योंकि, चेतन होनेके कारण ऐसा व्यक्ति इन प्रभावोंको आता हुआ देख लेता है: जो प्रभाव उसे अपने आंतरिक और सामान्य विकासके संगत प्रतीत होते हैं उन्हें स्वीकारता है; और जो विरोधी होते हैं उन्हें अस्वीकार कर देता है। और तब, एक अस्तव्यस्त — या हर हालतमें भयानक रूपसे मिला-जुला — गड़बड़झाला होनेके स्थानपर ये सत्ताएं व्यवस्थित होती हैं, इनका अपना व्यक्तित्व होता है, ये अपने प्रति सचेतन होती हैं, जीवन-पथपर चलती हुई जानती हैं कि ये कहां जाना चाहती हैं और कैसे जाना चाहती हैं।

यदि तुम चाहो, तो इन्हें हम मनुष्य कह सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें, मनुष्य-रूपमें ये ही वे अच्छी-से-अच्छी सत्ताएं हैं जिन्हें प्रकृति उत्पन्न कर सकती है — किंतु हैं तो अभी ये मनुष्य ही। किंतु ये मनुष्यके उच्चतम शिखर-रूप हैं। ये अब कुछ और बननेके लिये तैयार हैं। किंतु जबतक मनुष्य वह नहीं बन जाता, तबतक वह बड़ी हदतक पशु ही रहेगा और मनुष्यका

बहुत ही अधिक प्रारंभिक रूप। केवल उसीको मनुष्य कहा जा सकता है। हां, तो बात ऐसी ही है, तुम्हें केवल अपने अंदर झांकना है और जानना है... कि तुम मनुष्य हो या नहीं।

अच्छा, तो फिर मिलेंगे।

मैं यह इसी आशासे कह रही हूं कि तुम वह बनोगे।

२१ अप्रैल, १९५४

(माताजी श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व' पढ़ना आरंभ करती हैं। इस पुस्तकमें योगके बारेमें प्रारंभिक प्रश्न और श्रीअरविंदके उत्तर हैं। ये प्रश्न १९३३ से १९३६ के बीच पूछे गये थे।

यह वार्ता पहले अध्याय "पुकार और योग्यता" और दूसरे अध्याय "आधार" पर आधारित है।)

तुमने कुछ प्रश्न पूछे हैं। अब तुम उन प्रश्नोंपर और प्रश्न करोगे! हां, तो फिर?

> **मां, यहां लिखा है: "हमारे योगका उद्देश्य है भौतिक चेतनामें और अतिमानसिक स्तरपर [भगवान्‌के साथ] जुड़ना;" तो, जब भौतिक चेतना भगवान्‌के साथ जुड़ जाती है तो क्या उसके बाद रूपांतर होता है?**

हां। उसके बाद, पर एकदम नहीं। उसमें समय लगता है। रूपांतर तभी होता है जब भगवान् भौतिक चेतनामें अवतरित हो जाय — बल्कि यों कहना चाहिये, जब भौतिक चेतना भगवान्‌के प्रति पूर्णतया ग्रहणशील हो जाय — तब स्वभावतया रूपांतर आरंभ हो जाता है। लेकिन रूपांतर जादूकी छड़ी हिलानेसे नहीं हो जाता। इसमें समय लगता है और यह क्रमिक रूपसे होता है।

किंतु जब एक बार भौतिक चेतना भगवान्‌के साथ संबद्ध हो जाती है तब तो यह निश्चित रूपसे हो जाता है न?

यह मैं तुम्हें थोड़ी देर बाद बताऊंगी!

कारण, यदि रूपांतर पीछे न आये तो यह अंतिम लक्ष्य[1] नहीं होगा!

नहीं। यह वह नहीं है जिसे हम अंतिम लक्ष्य कहते हैं। किंतु इसके बाद रूपांतरको आना ही चाहिये, स्वभावतया आना चाहिये। किंतु मेरा अभिप्राय यहां, कह सकते हैं, पूर्णताकी मात्रासे है, अर्थात्, उस समग्रतासे जो सुनिश्चित नहीं है, इस अर्थमें कि इस रूपांतरमें संभवतः कई अवस्थाएं आती हैं। हम बहुत ही अस्पष्ट रूपमें रूपांतरके विषयमें इस ढंगसे बात करते हैं; यह हमें एक ऐसी वस्तुका आभास देता है जो जब आयगी तो सब कुछ ठीक कर देगी — मेरे विचारमें लोग लगभग ऐसा ही सोचते हैं। अगर हमारे सामने कठिनाइयां हैं तो कठिनाइयां दूर हो जायेंगी; रोगियोंके रोग दूर हो जायेंगे; और यदि शारीरिक दोष हैं तो वे भी दूर हो जायेंगे, इत्यादि-इत्यादि। किंतु यह एक धुंधला-सा विचार है, एक आभासमात्र।

एक बात बड़ी विलक्षण है: भौतिक चेतना, अर्थात्, शारीरिक चेतना किसी भी वस्तुको यथार्थ रूपमें उसकी समस्त बारीकियों-सहित तबतक नहीं जान सकती जबतक कि वह बस, चरितार्थ होनेकी तैयारीमें न हो। और यह इस बातका एक निश्चित संकेत होगा जब व्यक्ति, उदाहरणार्थ, इस प्रक्रियाको समझ सकेगा: क्रियाओं और रूपांतरोंके किस अनुक्रमसे पूर्ण रूपांतर साधित होगा? अर्थात्, किस क्रमसे, किस विधिसे? पहले क्या होगा? — यह सब छोटी-छोटी बातें। ऐसे प्रत्येक समय, जब तुम एक छोटी-सी बारीकीको यथार्थ रूपमें देख लोगे तो इसका अर्थ यह होगा कि वह चरितार्थ होनेवाली है।

व्यक्ति समग्रकी झलक पा सकता है। उदाहरणार्थ, यह बिल्कुल निश्चित है कि शारीरिक चेतनाका रूपांतर सबसे पहले होगा, इसके बाद आयगा शरीरका सभी क्रियाओंपर स्वामित्व एवं नियंत्रण, और पीछे यह स्वामित्व धीरे-धीरे बदलेगा (यहां यह अधिक अस्पष्ट हो जाता है), हां, धीरे-धीरे यह स्वयं क्रियाके रूपांतरका रूप धारण कर लेगा: परिवर्तन और

---

[1] "भगवान्‌के साथ पूर्ण मिलन ही अंतिम लक्ष्य है।"

रूपांतर — यह सब निश्चित है। किंतु अंतमें क्या होगा, इसके विषयमें श्रीअरविंदने अपने अंतिम लेखोंमेंसे एकमें लिखा है, इसमें वे कहते हैं कि अवयवोंका भी रूपांतर हो जायगा, इस अर्थमें कि उनका स्थान शक्तियोंकी एकाग्रताके केंद्र ले लेंगे (शक्तियोंकी एकाग्रताके और उनकी क्रियाके केन्द्र) ये शक्तियां विभिन्न प्रकारकी और विभिन्न गुणोंवाली होंगी और शरीरकी समस्त अवयवों और इन्द्रियोंका स्थान ले लेंगी — पर, मेरे बच्चो, यह सब बहुत दूरकी बात है, दूसरे शब्दोंमें, यह ऐसी चीज है जो... यह कार्य कैसे साधित होगा, इसका अभीतक किसीको पता नहीं लग सका है। अभीतक यह करनेके उपाय हमारी पकड़में नहीं आये। उदाहरणके लिये, हृदयको लो, हृदयकी यह क्रिया जो सारे शरीरमें रक्त संचार करती है, किस तरह शक्तियोंके केन्द्रीकरणसे बदली जायगी? रक्तका स्थान शक्ति-विशेष किस तरह, किस उपायसे लेगी, और बाकी सब भी यूं ही, और किन उपायोंसे फेफड़ोंका स्थान शक्तियोंका कोई और केंद्रीकरण लेगा, और कौन-सी शक्तियोंसे, किन स्पन्दनोंद्वारा और किस तरह? यह सब बहुत बादमें आयगा। अभी यह कार्य चरितार्थ नहीं हो सकता। इसकी एक झलक मिल सकती है, कुछ पूर्वाभास मिल सकता है, किंतु...।

शरीरके लिये कुछ जाननेका अर्थ है उसे करनेकी शक्ति प्राप्त करना। मैं तुम्हें एक जाना-पहचाना उदाहरण देती हूं। तुम व्यायामको तबतक नहीं जान सकते जबतक उसे कर न लो। तुम देखोगे कि जब तुम उसे भली-भांति कर लेते हो तभी उसे जान और समझ सकते हो, इससे पहले नहीं। किसी वस्तुको भौतिक रूपसे जान लेनेका अर्थ है कि तुममें उसे करनेकी शक्ति है। हां, तो यह बात सभी वस्तुओंपर लागू होती है, रूपांतरपर भी।

यह कार्य कैसे होगा इस विषयपर हम ज्ञानपूर्वक कुछ वर्षोंके बीतनेपर ही कह सकेंगे, किंतु अभी मैं तुम्हें इतना ही बता सकती हूं कि यह आरंभ हो गया है। यदि तुम 'बुलेटिन'का अगला अंक (२४ अप्रैल) ध्यानपूर्वक पढ़ो तो तुम्हें पता चल जायगा कि यह कार्य आरंभ हो गया है। हम वस्तुतः बादमें देखेंगे, शायद मैं तुम्हें इसका कुछ अर्थ समझा सकूं।

कोई और प्रश्न?

मां, "वाद"का मतलब क्या? आप हमें कब बतायेंगी?

कब बतलाऊंगी? पता नहीं, मेरे बच्चो!

---

१ 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति': "दिव्य शरीर"।

मैं "साधनामें सक्रियता और निष्क्रियताके वास्तविक अर्थ" को भली-भांति नहीं समझ सका।

क्या तुम्हें मालूम नहीं कि सक्रियता और निष्क्रियताका क्या अर्थ है? क्या तुम इन दो शब्दोंका अर्थ जानते हो?

हां।

हां तो! जब तुम सक्रिय होते हो तो इसका क्या अर्थ हुआ?

जब कि मैं काम कर रहा होता हूं।

काम? ठीक! और तुम निष्क्रिय कब होते हो? जब तुम सोते हो? (सब हंसते हैं।)

जब मुझे आलस्य आ घेरता है मैं कुछ नहीं कर सकता।...

नहीं, मेरे बच्चे, यह आवश्यक नहीं है। निष्क्रियता आलस्य नहीं है। सक्रिय कर्म वह है जिसमें तुम अपनी शक्तिको बाहरकी ओर प्रक्षिप्त करते हो, अर्थात्, जब कोई वस्तु तुम्हारे अंदरसे बाहरकी ओर जाती है — एक क्रिया, एक विचार, एक भावनाके रूपमें — एक ऐसी वस्तु जो तुम्हारे अंदरसे दूसरोंकी ओर या संसारमें जाती है। निष्क्रियताकी अवस्था वह होती है जब तुम अपने-आपमें यूं रहते हो, अर्थात्, जो कुछ बाहरसे आता है उसके प्रति खुले होते हो, उसे ग्रहण करते हो। इससे तनिक भी अंतर नहीं पड़ता कि उस समय तुम हिल-डुल रहे हो या निश्चल बैठे हो। वह ऐसी बात बिल्कुल नहीं है। सक्रिय होनेका अर्थ है अपने अंदरसे बाहरकी ओर चेतना या शक्ति या किसी क्रियाको प्रक्षिप्त करना। निष्क्रिय रहनेका अर्थ है निश्चल रहकर बाहरसे आयी वस्तुको ग्रहण करना। यही बात यहां कही गयी है... मुझे पता नहीं वहां क्या लिखा है... (माताजी पुस्तकके पन्ने उलटती हैं।). यह बहुत स्पष्ट है! "अभीप्सामें सक्रियता", उसका अर्थ यह है कि तुम्हारी अभीप्सा तुम्हारे भीतरसे निकलकर भगवान्‌की ओर ऊपर उठती है — तपस्यामें, जिस अभ्यासको तुमने अपनाया है उसमें, और जब शक्तियां तुम्हारी साधनाकी विरोधी हों तब तुम उन्हें अस्वीकार कर देते हो। यही सक्रियताकी क्रिया है।

अब, और यदि तुम सच्ची प्रेरणा, आंतरिक पथप्रदर्शन, पथप्रदर्शक चाहते हो, और यदि तुम ऐसी शक्ति प्राप्त करना चाहते हो जो तुम्हें मार्ग दिखा सके तथा तुम्हें ठीक ढंगसे कार्य करनेमें सहायता पहुंचा सके तो तुम हिलते-डुलते नहीं, यानी — मेरा मतलब शरीरके हिलने-डुलनेसे नहीं है, उस समय तुममेंसे कोई भी वस्तु बाहरकी ओर प्रक्षिप्त नहीं होनी चाहिये, बल्कि तुम्हें नितान्त निश्चल परन्तु खुले हुए भावमें बैठे रहना चाहिये, और 'शक्ति' की प्रतीक्षा करनी चाहिये, तुम्हें अपने-आपको इतना उन्मुक्त रखना चाहिये कि जो कुछ आये उस सबको तुम पूर्ण रूपसे ग्रहण कर सको। और यह क्रिया ऐसी होती है: बाहर की ओर प्रक्षिप्त होनेवाले स्पन्दनोंके स्थानपर वहां एक ऐसी ग्रहण-क्षमता विराज जाती है जो पूर्णतया खुली होती है, मानों तुम इस प्रकार अपने सारे रन्ध्रोंको उस शक्तिके प्रति खोल रहे हो जिसे तुम्हारे अंदर अवतरित होकर तुम्हारे कर्म और तुम्हारी चेतनाको रूपांतरित करना है।

ग्रहणशीलता सुन्दर निष्क्रियताका फल होती है।

किंतु, मां, निष्क्रिय होनेके लिये प्रयत्न करना होता है न?

यह आवश्यक नहीं, यह लोगोंपर निर्भर है। प्रयत्न? हां, व्यक्तको उसके लिये संकल्प करना ही होगा। किंतु क्या संकल्प प्रयत्न है? उसे मालूम ही उसे उसके संबन्धमें सोचना होगा, उसे पानेकी इच्छा करनी होगी। किंतु दोनों बातें साथ-साथ चल सकती हैं, चल सकती हैं न? एक ऐसा क्षण भी होता है जब दोनों — अभीप्सा और निष्क्रियता — बारी-बारी ही नहीं, साथ-साथ भी चल सकती हैं। तुम एक ही साथ अभीप्सा और इच्छा करनेकी स्थितिमें हो सकते हो जिसके फलस्वरूप कोई वस्तु नीचे उतरती है — एक ओर, अपने-आपको खोलने और ग्रहण करनेका ठीक यह संकल्प, और दूसरी ओर, वह अभीप्सा जो उस शक्तिको नीचे बुलाती है जिसे तुम ग्रहण करना चाहते हो — और साथ ही उस समय तुम पूर्ण आंतरिक निश्चलताकी उस अवस्थामें होते हो जो तुम्हारे भीतर प्रविष्ट होनेकी अनुमति देती है, कारण, ऐसी निश्चलतामें ही यह कार्य संपन्न हो सकता है, तथा व्यक्ति 'शक्ति' के प्रति ग्रहणशील हो सकता है। हां तो, यह दोनों एक-दूसरेके कार्यमें विघ्न डाले बिना साथ-साथ चल सकती हैं, अथवा बारी-बारीसे आनेपर भी यह एक-दूसरेसे इतनी जुड़ी होती हैं कि इनमें भेद ही न किया जा सके। किंतु व्यक्ति इस अवस्थामें हो सकता है कि उसकी अभीप्सा अभीप्साकी एक बृहत् शिखाके रूपमें ऊपर उठे, और साथ ही मानों एक बात उस

विशाल पात्रका रूप धारण कर ले जो अपने-आपको खोलकर ऊपरसे आनेवाली वस्तुको ग्रहण करे।

हां, दोनों साथ-साथ चल सकती हैं। और जब व्यक्तिको इस कार्यमें सफलता मिल जाती है, तो वह जो भी करता हो, दोनोंको सतत रूपमें साथ रख सकता है। केवल वहां चेतनाका जरा-सा, बहुत ही जरा-सा स्थानान्तरण हो जाता है, लगभग अदृश्य-सा, उसकी दृष्टिमें लौ (शिखा) पहले आती है, फिर ग्रहण करनेवाला पात्र — वह जो अपने-आपको भरना चाहता है और वह लौ जो ऊपर उठकर उस वस्तुका आवाहन करती है जिसे पात्रको भरना है — यह हल्की-सी कोलक क्रियाकी तरह इतनी पास-पास होती है कि ऐसा आभास होता है कि दोनों एक ही समय हो रही हैं।

(मौन)

शरीर जितना रूपांतरके लिये तैयार हो जाता है उतना ही व्यक्ति इसे अपने अंदर देख लेता है। शरीर एक आश्चर्यजनक यंत्र है, इस अर्थमें कि यह दो विरोधी वस्तुओंको एक साथ अनुभव कर सकता है। शारीरिक चेतनाकी एक ऐसी अवस्था होती है जो उन वस्तुओंको पास लाती है, उन चीज़ोंको समग्र रूप देती है जो चेतनाकी अन्य अवस्थाओंमें बारी-बारीसे घटती हैं, अपितु किन्हींमें एक-दूसरेका विरोध भी करती हैं। किंतु जब व्यक्ति वहां, मन तथा प्राणके उच्च स्तरतक पहुंच जाता है और विरोधी वस्तुओंमें सामंजस्य स्थापित करने-योग्य विकास साधित कर लेता है (निश्चय ही, ऐसा करना एकदम अनिवार्य है), जब व्यक्ति इस कार्यमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तब ऐसे क्षण आते हैं जब कि वस्तुएं बारी-बारी घटती हैं, समझे, एकके बाद दूसरी आती है, जब कि शरीरकी चेतनामें एक विलक्षण बात यह है कि यह सभी वस्तुओंको एक साथ महसूस कर सकती है ("महसूस करना", क्या इसे "महसूस करना" कह सकते हैं? — "अनुभव होना" — "सचेतन" शब्द इसे भली प्रकार अभिव्यक्त करता है), मानों तुम एक साथ ही गर्मी और सर्दी अनुभव कर रहे हो, मानों तुम एक साथ सक्रिय और निष्क्रिय हो, सभी कुछ. तब ऐसा ही अनुभव होने लगता है। तभी तुम अपने कोषाणुओंमें विरोधोंकी समग्रताको पहचानने लगते हो। यह वस्तु सत्ताके और भागोंकी अपेक्षा शरीरमें अधिक ठोस — जो कि स्वाभाविक भी है — और पूर्ण है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि ऐसा ही होता रहा, तो यह प्रमाणित हो जायगा कि यह भौतिक, स्थूल यंत्र सबसे अधिक पूर्ण है। इसीलिये इसका रूपांतर करना, इसमें पूर्णता लाना सबसे अधिक कठिन है। किंतु यह

पूर्णता प्राप्त करनेमें औरोंकी अपेक्षा सक्षम भी सबसे अधिक है।

आजके लिये इतना ही पर्याप्त है, है न?

अतएव, मेरे बच्चो, यदि हम इस प्रकार चलते रहें तो तीन या चार पाठोंमें हम इस पुस्तकको समाप्त कर सकेंगे। इसके बाद हम क्या लेंगे यह हमें पहलेसे सोच लेना चाहिये...।

'मां' पुस्तक, स्नेहमयी मां।

आह! तुम 'मां' पुस्तक लेना चाहते हो? ठीक, हम यही पढ़ेंगे। तो यह निश्चित हो गया।

शम-रात्रि!

२८ अप्रैल, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविन्दकी पुस्तक 'योगके तत्त्व'के तीसरे अध्याय "अभीप्सा" पर आधारित है।)

मां, "तीव्र प्रतिरोध" का क्या अर्थ है?

तीव्र? तीव्र शब्द अलंकारके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। तीव्र, अर्थात्, तीक्ष्ण, नोकीला, क्या इसका अर्थ तुम नहीं जानते? — और शायद इसका अर्थ एक ऐसा आक्रामक, तीक्ष्ण प्रतिरोध है जो तीखे नखकी भांति अंदरतक धंस जाता है।

मैं इस प्रश्नका उत्तर भली-भांति नहीं समझा: "क्या अभीप्साकी शक्ति साधकोंमें उनकी प्रकृतिके अनुसार बदलती रहती है?"[1]

---

[1] श्रीअरविंदका उत्तर: — नहीं। अभीप्साकी शक्ति सभीमें समान होती है। फर्क होता है केवल पवित्रता, तीव्रता और लक्ष्यमें।

ओह ! हां।

मेरे विचारमें, है न, प्रश्न ठीक तरह नहीं किया गया है। जिसने वह प्रश्न पूछा था वह शायद "अभीप्साका प्रभाव" कहना चाहता था पर उसने कह दिया "शक्ति"। दूसरे शब्दोंमें, प्रत्येकमें, वह चाहे जो भी हो, अभीप्सा-की शक्ति एक ही जैसी होती है। किंतु इसका प्रभाव भिन्न होता है। कारण, अभीप्सा अभीप्सा ही है : यदि तुममें अभीप्सा है, तो उसमें शक्ति भी होगी। केवल, यह अभीप्सा एक प्रत्युत्तर मांगती है, और यह प्रत्युत्तर, अर्थात्, प्रभाव, जो कि अभीप्साका परिणाम होता है, प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है। व्यक्तिमें तीव्र अभीप्सा हो सकती है पर हो सकता है कि उसकी ग्रहणशक्ति अत्यंत दुर्बल हो। मैं ऐसे कई लोगोंको जानती हूं : वे कहते हैं : "ओह ! पर मैं तो सब समय अभीप्सा करता रहता हूं और फिर भी मुझे प्राप्त कुछ भी नहीं होता।" यह असंभव है कि उन्हें कुछ प्राप्त न हो, प्रत्युत्तर तो आता है, किंतु वह स्वयं उसे ग्रहण नहीं करते। प्रत्युत्तर आता है पर वे ग्रहणशील नहीं होते, इसलिये उन्हें कुछ प्राप्ति नहीं होती।

जानते हो, कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनके अंदर बहुत अभीप्सा होती है। वे शक्तिका आवाहन करते हैं। शक्ति उनके पास आती है — बल्कि उनके अंदर प्रविष्ट हो जाती है — और वे इतने अचेतन होते हैं कि उसके विषयमें कुछ भी नहीं जान पाते ! निश्चय ही ऐसा प्रायः ही होता है। उनकी अचेतन अवस्था उन्हें इस शक्तिका अनुभव ही नहीं करने देती जो उनके भीतर प्रविष्ट हो चुकी है। पर वह अंदर जाकर अपना कार्य करती है। मैं ऐसे लोगोंको जानती थी जो धीरे-धीरे रूपांतरित भी हो गये पर वे इतने अचेतन थे कि उन्हें पता ही नहीं चला। उनमें चेतना बादमें आती है — बहुत बादमें। दूसरी ओर, ऐसे लोग हैं जो अधिक निश्चल, दूसरे शब्दोंमें, अधिक खुले, अधिक सतर्क होते हैं, उनके अंदर जरा-सी भी शक्तिका प्रवेश हो तो वे उसे तत्काल जान जाते हैं और उसका पूरा उपयोग करते हैं।

जब तुम्हारे अंदर कोई अभीप्सा हो, एक बहुत सक्रिय अभीप्सा, तो वह अपना कार्य करेगी ही। जिस प्रत्युत्तरके लिये तुम अभीप्सा कर रहे हो उसे वह लायेगी ही। किन्तु यदि बादमें तुम किसी अन्य वस्तुके विषयमें सोचने लगो या सतर्क या ग्रहणशील न रहो, तो तुम्हें यह पता भी नहीं चलेगा कि तुम्हें अपनी अभीप्साका प्रत्युत्तर मिल चुका है। ऐसा प्रायः ही होता है। तो लोग तुमसे कहते हैं : "मैं अभीप्सा करता हूं पर मुझे कुछ भी नहीं प्राप्त होता, कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता !" वस्तुतः, तुम्हें प्रत्युत्तर तो मिलता है पर उसका भान नहीं होता, क्योंकि तुम यूं ही, चक्कीकी तरह प्रत्येक समय व्यस्त या क्रियाशील रहते हो।

मां, क्या पुरुष प्रकृतिके समान भूलें नहीं करता?

यह दृष्टिकोणपर निर्भर करता है... । मैं नहीं जानती!

मां, यदि किसीकी प्रकृतिका कोई एक भाग नहीं खुलता तो उसे खोलनेके लिये अभीप्सा करनेकी क्या विधि है?

तुम यह अभीप्सा कर सकते हो कि यह भाग खुले — जो भाग खुला है वह दूसरेके खुलनेके लिये अभीप्सा करे। कुछ समय बाद वह खुल जायगा; व्यक्तिको अभीप्सा करते रहना चाहिये। केवल ऐसा ही, आग्रहके साथ, करते रहना होगा। कोई ऐसी वस्तु है जो खुलना नहीं चाहती, कोई तीव्र प्रतिरोध है जो ऐसा नहीं चाहता, वह एक हठीले बच्चेकी भांति कहती है: "मैं नहीं चाहती, मैं वही बनी रहना चाहती हूं जो मैं हूं, मैं यहांसे नहीं हिलूंगी।" ... वह यह नहीं कहती: "मैं अपने-आपसे तुष्ट हूं," क्योंकि वह ऐसा कहनेकी हिम्मत नहीं करती। किन्तु सत्य यह है कि वह अपने-आपमें बिलकुल संतुष्ट है, इसलिये अपने स्थानसे नहीं हिलती।

किन्तु जब व्यक्ति अभीप्सा करना चाहे तो क्या उसे यह न जानना चाहिये कि उसका कौन-सा भाग अभीप्सा नहीं कर रहा है?

ओह! हां, किन्तु यदि व्यक्ति सच्चा है तो वह उस भागको जान लेगा। अथवा वह अपनी ओर सचाईसे देखे, तो वह निश्चय ही जान लेगा। पर यदि वह शुतुरमुर्गकी भांति आंखें मींच लेगा तो कुछ नहीं जान पायगा: वह अपनी आंखें बन्द कर लेगा, सिर दूसरी ओर मोड़ लेगा, उस ओर देखेगा ही नहीं और कहेगा: "यहां ऐसा कोई भाग नहीं है।" किंतु यदि व्यक्ति सच्चाईसे अपनी ओर देखे तो उसे यह भली-भांति पता चल जायगा कि वह भाग कहां है — वह कहीं एक कोनेमें दुबका पड़ा है, अपने-आपमें गुड़ी-मुड़ी, बन्द, जकड़ा हुआ। और तब, जब तुम जाकर इस तरह उसपर सीधा प्रकाश फेंको, सीधा उसीपर, तो उसे कष्ट होता है; होता है न?

मां, ग्रहणशीलता किस बातपर निर्भर करती है?

इसका पहला आधार है सच्चाई — क्या व्यक्ति सचमुच ग्रहण करना चाहता है — और तब... हां, मेरे विचारमें इसके लिये मुख्य वस्तुएं हैं

सचाई और नम्रता। अभिमान जितना तुम्हारे हृदयके द्वार बन्द कर देता है उतना कोई और वस्तु नहीं करती। जब तुम अपनेमें संतुष्ट रहते हो, तो यह तुम्हारे भीतरका अहं ही होता है जो तुम्हें यह मानने ही नहीं देता कि तुम्हारे अंदर भी कोई कमी है, कि तुम भी गलतियां करते हो, कि तुम भी अपूर्ण हो, कि कहीं कुछ छूट गया है, कि तुम...। जानते हो, तुम्हारी प्रकृतिमें कोई ऐसी चीज मौजूद है जो इस प्रकार कठोर पड़ जाती है, जो अपना दोष स्वीकार करना नहीं चाहती — यही चीज तुम्हें उच्चतर वस्तुको ग्रहण करनेसे रोकती है। बहरहाल, इस अनुभवको प्राप्त करनेके लिये तुम कोशिश कर सकते हो। यदि तुम संकल्प-शक्तिके बलपर अपनी सत्ताके एक छोटे-से भागसे भी यह कहलवा सको कि "ओह, हां, हां, यह मेरी भूल थी, मुझे ऐसा नहीं होना चाहिये था, मुझे ऐसा करना और सोचना भी नहीं चाहिये था, हां, यह मेरा दोष है," यदि तुम उससे यह स्वीकार करा सको तो शुरू-शुरूमें तो, जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा, तुम्हें इससे कष्ट होगा, पर यदि तुम इस-पर अड़े रहे, जबतक कि वह पूरी तरह स्वीकृत न हो जाय, तो वह भाग तत्काल ही खुल जायगा — वह खुल जायगा और प्रकाशका पुंज उसके अंदर प्रवेश कर जायगा, और तब तुम बादमें इतने प्रसन्न और आनंदित हो उठोगे कि तुम अपनेसे पूछोगे : "आखिर क्यों, मैं इतने समय आखिर क्यों अड़ा हुआ था? कैसा मूर्ख था मैं!"

किंतु जब कोई इतना आत्म-संतुष्ट हो, तब भी क्या वह अभीप्सा कर सकता है?

व्यक्ति एक ही टुकड़ेका बना हुआ नहीं होता, तुम नहीं जानते यह? सत्तामें कोई ऐसी वस्तु है जो अभीप्सा कर सकती है। सत्ताके अंदर सदा कोई चीज होती है जो ठीक-ठीक जानती है कि कौन-सी चीज गलत है, यह जानकारी कभी-कभी अस्पष्ट और अनिश्चित भले हो, पर फिर भी व्यक्ति इतना सचेतन अवश्य होता है कि वह अभीतक पूर्ण नहीं है, कि चीजें जैसी हैं उससे ज्यादा अच्छी हो सकती हैं। इतना काफी है! वह भाग अभीप्सा कर सकता है।

पुरुष और प्रकृतिका क्या कार्य है?

आह! मुझे फिर कहना पड़ रहा है कि मैं नहीं जानती। (माताजी नलिनी-की ओर मुड़कर कहती हैं) नलिनी, इसे समझाओ तो। (हंसी) मैं तो इस

विषयमें कुछ नहीं समझती, पर आंतरिक अनुभवमें यह बात कभी नहीं आयी, मुझे यह अनुभव कभी नहीं हुआ; इसलिये, मैं कुछ नहीं कह सकती।

> यदि आप ही कहें कि मैं नहीं जानती, तो मुझे कहना होगा कि मैं एकदम कोरा हूं! (हंसी)

इस संबन्धमें जो भारतीय विचार है उसे मैं सिद्धांत रूपमें जानती हूं, और उसके लिये पुस्तकें पढ़ी जा सकती हैं — किंतु इसे मैं "जानना" नहीं कहती। मैं तुम्हें केवल उन्हीं वस्तुओंके सम्बन्धमें बता सकती हूं जिन्हें मैंने स्वयं अनुभव किया है। हां तो, इसका मेरे भीतरकी किसी वस्तुसे सम्बन्ध नहीं है। मुझे यह अनुभूति हुई ही नहीं। मुझे एक साक्षी पुरुषका अनुभव अवश्य हुआ है जो वस्तुओंको नितांत निरासक्त-भावसे देखता है, जो सब कुछ जानता है पर स्वयं नहीं हिलता, जो समस्त वस्तुओंको परिवर्तित होनेकी अनुमति देता है और जो... मुझे एक ऐसी संकल्प-शक्तिका भी अनुभव हुआ है जो निर्णय करती है। स्वभावतया ही, प्रत्येकको एक प्रेरक-शक्तिका अनुभव हुआ होता है — वह शक्ति जो प्रकृतिमें, उसकी अज्ञानतामें, और उन सबमें पायी जाती है — प्रत्येकको यह अनुभव प्राप्त है। किंतु इस ढंगसे एक स्पष्ट विभाजन करना, एकको पुरुष, पुल्लिंग कहना, दूसरेको प्रकृति, स्त्रीलिंग कहना, नहीं, मैं ऐसा करना अस्वीकार करती हूं — मैंने सदा ही इसका विरोध किया है और सदा करूंगी। और इसीलिये इस विषयपर न बोलना ही पसंद करूंगी।

कहनेकी यह विधि मुझे एशियाई प्रतीत होती है; या यह विशेष रूपसे भारतीय है, मुझे पता नहीं, या यह एक अकेले, पुरुष-रूप भगवान्‌को बचकाना कैल्डियन विचार भी हो सकता है: तुम ईसाई धर्मके भगवान्‌को तो जानते हो न! मेरे लिये यह वस्तु (माफ करना) बिगड़े पुरुष-मनकी उपज है। इस संबंधमें मेरी भावना तो यही है। अब, यदि तुमने मुझसे न पूछा होता, तो मैं यह सब कभी न कहती।

> मां, आपने अभी कहा था कि आपको साक्षी का अनुभव हो चुका है, उस साक्षी का जो अपने स्थानसे नहीं हिलता, वही तो पुरुष है!

ओह! यह मैं नहीं जानती। (हंसी) कहना चाहो तो इसे पुरुष कह लो।

किंतु मैंने उसे विशेष पुरुष-रूपमें नहीं पाया! समझे, जिस... जिस बातको मैं पसंद नहीं करती वह है पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व। और मैंने यह देखा है कि यह सत्य नहीं है, और मैं सदा कहूंगी : यह सत्य नहीं है। एक तत्त्व ऐसा है और दूसरा वैसा (मां अपना हाथ एक ओरसे दूसरी तरफ ले जाती है)। एक क्रिया ऐसी है, और दूसरी वैसी। लेकिन आखिर तुम एकको पुरुष और दूसरीको स्त्री क्यों कहते हो? बात ऐसी नहीं है। यह, वह पुरुष और स्त्रीका विवाद खाली प्रकृतिकी चाल है। यहां इसने वस्तुओंकी ऐसी ही व्यवस्था की है। हां, तो मैं तुम्हें बताती हूं : जब व्यक्ति ऊपरसे नीचे आता है तो वहां ऊपर पुल्लिंग और स्त्रीलिंगका विचार नहीं होता, यह सब अर्थहीन बातें वहां नहीं होतीं; जैसे-जैसे तुम नीचे आते हो, और यहां पहुंचते हो, वस्तुएं वास्तविक रूप धारण करना आरंभ करती हैं। तो तुम अपनेसे कहते हो: "हां, हां! प्रकृतिने ऐसी व्यवस्था की है।" ठीक! किंतु मैं कहती हूं कि ये विचार — ये ही भावना जो एक तत्त्वको पुल्लिंग बना देती है और दूसरेको स्त्रीलिंग — नीचेसे आयी है, दूसरे शब्दोंमें, यह पुरुषके मस्तिष्ककी उपज है जो स्त्री या पुरुषका हवाला दिये बिना सोच ही नहीं सकता — क्योंकि वह अभीतक पशु है। तो समझे! मैं तो ऐसा ही सोचती हूं — मैंने सदा ऐसा ही अनुभव किया है, मैं आरंभसे ऐसा कहती आयी हूं और अंततक कहती रहूंगी और यदि तुम मुझे यह कहते न सुनना चाहो, तो इस विषयमें बात न करो! (सब हंसते हैं) हां, तो बस। शुभ-रात्रि!

१ मई, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविन्दकी पुस्तक 'योगके तत्त्व' के चौथे अध्याय "सच्चाई" और पांचवें अध्याय "श्रद्धा" पर आधारित है।)

"प्र०—जबतक 'अतिमानसिक सत्य'की प्राप्ति न हो जाय तबतक इस पथपर चलते रहनेके लिये कौन-सी वृत्ति ठीक है?

"उ०—आंतरात्मिक स्थिति, सचाई और निष्कपटता और मांजीके प्रति भक्ति।"

"आंतरात्मिक स्थिति" किसे कहते हैं?

आंतरात्मिक स्थिति? मेरे विचारमें, इसका अर्थ है अपनी अंतरात्माके संपर्कमें निवास करना, उसीके द्वारा शासित होना।

स्नेहमयी मां, श्रद्धा, विश्वास और भरोसा — इनमें क्या अंतर है? मैं ठीक तरह नहीं समझ पाया।

किंतु श्रीअरविंदने वहां इसकी पूरी व्याख्या की है। यदि तुम्हारी समझमें नहीं आया, तो...

उन्होंने लिखा है: "श्रद्धा संपूर्ण सत्ताकी अनुभूति है।"

संपूर्ण सत्ताकी, हां। श्रद्धा, यह एकदम ही संपूर्ण सत्ता है। वे कहते हैं कि विश्वासकी क्रिया मस्तिष्कमें चलती है, यह विशुद्ध रूपमें मानसिक है; और भरोसा एक अन्य वस्तु है। भरोसा — व्यक्तिका भरोसा जीवनमें, भगवान्‌में, अन्य व्यक्तियोंमें, अपने प्रारब्धमें, किसीमें भी हो सकता है; दूसरे शब्दोंमें, व्यक्ति सोचता है कि सब कुछ मेरी सहायता करने, मेरी इच्छाके अनुसार कार्य करनेके लिये है।

श्रद्धा एक आश्वासन है जिसके लिये किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं।

मां, श्रद्धाका आधार क्या है?

शायद, 'भागवत कृपा'। कुछ व्यक्तियोंमें यह सहज-भावसे मौजूद होती है। कइयोंको इसे पानेके लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।

श्रद्धाको कैसे बढ़ाया जा सकता है?

मेरा ख्याल है, अभीप्सासे। कुछ लोगोंमें सहज-स्वभावसे ही श्रद्धा होती है...। देखो, श्रद्धा न हो तो प्रार्थना करना कठिन है, परंतु यदि व्यक्ति अपने अंदर श्रद्धा बढ़ानेके लिये, या अभीप्सा करनेके लिये, अथवा अपने अंदर श्रद्धा उत्पन्न करनेकी अभीप्सा करनेके लिये प्रार्थनाको साधन बना सके...। इनमेंसे अधिकांशके लिये उसे प्रयत्न करना पड़ेगा। यदि व्यक्तिके पास कोई वस्तु नहीं है और वह उसे प्राप्त करना चाहता है, तो उसे लम्बे

समयतक बहुत, बहुत ही अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा; एक सतत अभीप्सा, एक स्थिर संकल्प, हर क्षण पूर्ण सच्चाई अपने अंदर लानी ही होगी; और तब यह निश्चित है कि यह सब एक दिन आयेगा — यह एक सेकिण्डमें भी आ सकता है। कुछ लोगोंके पास यह होता है, और फिर उनके अंदरकी विरोधी क्रियाएं आकर उनपर आक्रमण कर देती हैं। यदि ऐसे लोगोंका संकल्प सच्चा हो, तो वे अपनी श्रद्धाकी रक्षा कर सकते हैं, आक्रमणोंको पीछे हटा देते हैं। ऐसे लोग भी होते हैं जो संदेहको पोषण देते हैं क्योंकि यह एक प्रकारका कलानुराग है — वह, उससे अधिक खतरनाक और कुछ नहीं होता। यह ऐसा है मानों फलमें कीड़ा घुसा किया जाय: वह सारे फलको खाकर ही दम लेगा। दूसरे शब्दोंमें, जब कोई ऐसी क्रिया तुम्हारे अंदर प्रवेश करे — सामान्यतया यह पहले मनमें आती है — तो पहला काम जो करना चाहिये वह यह कि साहसपूर्वक इसे अस्वीकार कर दो। निश्चय ही यह न होना चाहिये कि व्यक्ति खड़ा देखता रहे कि क्या हो रहा है; इस तरहका कुतूहल बड़ा भयावह होता है।

बुद्धिजीवियोंमें श्रद्धाका होना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है, जो लोग सरल, सच्चे और सीधे-सादे होते हैं, जिनमें बौद्धिक जटिलताएं नहीं होतीं, उन्हें अधिक आसानीसे यह प्राप्त हो जाती है। किंतु मेरे विचारमें, यदि किसी बुद्धिजीवीमें श्रद्धा हो, तो वह बड़ी शक्तिशाली बन जाती है, इतनी शक्तिशाली कि वह सचमुच चमत्कार कर सकती है।

स्नेहमयी मां, यह संकल्प कहांसे आता है?

साधारणतया यह उनमें होता है जिनमें इच्छा-शक्ति होती है और जो अपनी इच्छा-शक्तिको अपने कार्योंपर प्रयुक्त करते हैं।

यदि व्यक्ति भगवान्‌में श्रद्धा रखता है और उनपर भरोसा भी करता है, तो श्रद्धा और भरोसेमें क्या अंतर हुआ?

जैसा कि श्रीअरविंदने लिखा है, श्रद्धा भरोसेसे अधिक, कहीं अधिक पूर्ण है। देखो, तुम्हें भगवान्‌पर भरोसा है, इस अर्थमें कि तुम्हें विश्वास है कि जो कुछ उनकी ओरसे आयेगा वह सदा तुम्हारी अधिकतम भलाईके लिये होगा: उनका जो भी निर्णय हो, उनकी ओरसे जो भी अनुभूति आये, वे तुम्हें जिस किसी परिस्थितिमें रखें, सब सदा तुम्हारे अधिक-से-अधिक भलेके लिये ही होगा। यह भरोसा है। किंतु श्रद्धा — भगवानके अस्तित्वमें

एक प्रकारकी अडिग निश्चयता — श्रद्धा एक ऐसी वस्तु है जो संपूर्ण सत्तापर अधिकार कर लेती है। यह केवल मानसिक, आंतरात्मिक अथवा प्राणिक ही नहीं होती: वस्तुतः, श्रद्धा समूची सत्तामें होती है। श्रद्धा सीधी अनुभूतिकी ओर ले जाती है।

क्या भरोसा समग्र एवं संपूर्ण नहीं हो सकता ?

यह आवश्यक नहीं। किंतु जरा-सा सूक्ष्म अंतर अवश्य है — बहरहाल, मुझे पता नहीं, पर यह वह वस्तु नहीं है।

व्यक्तिने अपने-आपको पूर्णतया भागवत कार्यके प्रति अर्पित कर दिया है, उसकी निष्ठा उसमें है, उसकी संभावनामें ही नहीं, बल्कि उसे इस बातका दृढ़ निश्चय है कि **वही** कार्य सत्य है और उसे होना ही चाहिये, और वह अपनेको पूर्ण रूपसे उसके प्रति अर्पित कर देता है, यह पूछे बिना कि इसका परिणाम क्या होगा। और तब वहां, उसके अंदर एक दृढ़ निश्चय, एक दृढ़ विश्वास जम जाता है कि वह इस कार्यको कर सकता है, दूसरे शब्दोंमें, वह इसमें हिस्सा ले सकता है और इसे संपन्न कर सकता है क्योंकि उसने अपने-आपको इसके प्रति अर्पित कर दिया है — उसे यह दृढ़ विश्वास होता है कि जो कुछ वह करनेवाला है, जो कुछ वह करना चाहता है, उसे कर सकेगा; जिस उपलब्धिको वह पाना चाहता है, उसे जरूर पायेगा। पहला कोई प्रश्न नहीं करता, न ही परिणामके विषयमें सोचता है: वह अपने-आपको पूर्णतया अर्पित कर देता है — वह अपने-आपको दे देता है और बस, फिर सब समाप्त। वह ऐसी चीज है जिसमें आदमी पूरी तरह डूब जाता है। दूसरा उसपर परिश्रम करता है। भरोसा कहता है: "हां, मैं इस कार्यमें योगदान दूंगा, जो कुछ मैं पाना चाहता हूं वह पाऊंगा, मैं इस कार्यमें वास्तविक रूपमें भाग लूंगा।" दूसरी अवस्थामें, व्यक्तिको भगवान्‌में श्रद्धायुक्त विश्वास होता है, उसके अनुसार भगवान् ही सब कुछ हैं, वे ही सब कुछ कर सकते हैं, और करते भी हैं... वास्तविक अस्तित्व उन्हींका है — और व्यक्ति पूरी तरह इस श्रद्धायुक्त निश्चयताके प्रति, अर्थात्, भगवान्‌के प्रति अर्पित हो जाता है, बस। व्यक्तिको भगवान्‌के अस्तित्वमें निष्ठायुक्त विश्वास है और वह उनके प्रति अर्पित हो जाता है; और इसके साथ-साथ उसे भरोसा भी हो सकता है कि भगवान्‌के साथ उसका जो संबन्ध है, भगवान्‌में उसकी जो निष्ठा है, उसके फलस्वरूप उसके साथ जो कुछ होगा — चाहे जो कुछ हो, उसके साथ जो कुछ होगा — वह सब केवल भागवत इच्छाकी अभिव्यक्ति ही नहीं (यह

तो मानी हुई बात है), बल्कि उसके सर्वोच्च भलेके लिये भी होगा, इससे बढ़कर अच्छा और कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यह सब स्वयं भगवान् ही उसके लिये कर रहे हैं। यह वृत्ति आवश्यक रूपमें श्रद्धाका अंग नहीं है, क्योंकि श्रद्धा कोई प्रश्न नहीं पूछती, वह यह नहीं पूछती कि उसके समर्पणका क्या परिणाम निकलेगा — वह केवल अपने-आपको दे देती है, और — बस; जब कि भरोसा आकर कह सकता है: "इसका यह परिणाम होगा।" और यह एक पूर्ण तथ्य है, यानी, जिस क्षण तुम अपने-आपको भगवान्‌के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देते हो, बिना कुछ हिसाब लगाये, पूर्ण निश्चयताके साथ, बिना किसी प्रकारका सौदा किये — अपने-आपको अर्पित कर देते हो, और फिर, कहते हो: "जो होगा होने दो! मुझे इससे कुछ लेना-देना नहीं, मैंने तो अपने-आपको दे दिया है" — तो स्वभावतया ही जो होगा वह तुम्हारे लिये सदा ही, सभी परिस्थितियोंमें, प्रत्येक क्षण, अच्छे-से-अच्छा होगा... वह नहीं जिसे तुम अच्छा समझते हो (स्वभावतया ही, सोचनेवाला मन कुछ नहीं जानता), बल्कि वह जो सचमुच अच्छा है। हां, तो सत्ताका एक भाग इसे जान सकता है और उसमें यह विश्वास भी हो सकता है। यह वस्तु फिर श्रद्धाके साथ जुड़कर उसे अधिक शक्ति प्रदान करती है, इस शक्ति — इसे कैसे कहा जाय? — की सहायतासे व्यक्ति उस सबको, जो कुछ उसके साथ घटेगा, पूर्णतया स्वीकार कर लेगा और उससे अधिक-से-अधिक फायदा उठायेगा।

एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति यह जान लेता है कि उसकी चेतनापर वस्तुओंका, परिस्थितियोंका, जीवनकी सभी गतिविधियोंका तथा कार्योंका प्रभाव प्रायः ऐकान्तिक रूपसे उसकी इन वस्तुओंके बारेमें वृत्तिपर निर्भर है। एक ऐसा क्षण आता है जब तुम इतने चेतन होते हो कि यह देख सकते हो कि सचमुच वस्तुएं अपने-आपमें न भली हैं, न बुरी: जैसे हम होते हैं वैसी ही वे दिखायी देती हैं; हमारे ऊपर उनका प्रभाव पूरी तरहसे उनके बारेमें हमारी वृत्तिपर निर्भर होता है। एक ही वस्तुको, बिलकुल एक-सी ही वस्तुको, यदि हम भगवान्‌की देन, भागवत कृपाके रूपमें पूर्ण, 'समस्वरता'के परिणामके रूपमें लें, तो वह हमें अधिक चेतन, अधिक शक्तिशाली, अधिक सच्चा बननेमें सहायता पहुंचाती है, जब कि यदि हम उसे — ठीक उसी परिस्थितिको — नियति के द्वारा दी गयी ठोकरके रूपमें, हानि पहुंचानेवाली एक बुरी शक्तिके रूपमें लें तो वह हमारी शक्ति कम कर देती है, हमें जड़ बना देती है तथा हमारी सारी चेतना और शक्ति और समस्वरताको हर लेती है। परिस्थिति **बिल्कुल** वही होती है — मैं चाहती हूं कि यह अनुभूति तुम सबको प्राप्त हो, क्योंकि जब तुम इसे प्राप्त कर

लोगे, तुम अपने स्वामी बन जाओगे। केवल अपने ही स्वामी नहीं, जहांतक तुम्हारा सम्बन्ध है, अपने जीवनकी सभी परिस्थितियोंके भी स्वामी। और यह ऐकान्तिक रूपसे उस वृत्तिपर निर्भर करता है जो तुम उसके प्रति लेते हो; यह अनुभूति मस्तिष्कमें नहीं होती, यद्यपि शुरू वहां अवश्य होती है, बल्कि यह एक ऐसी अनुभूति है जो सारे शरीरमें हो सकती है। यहां तक कि — हां, यह एक ऐसी अनुभूति है जो बहुत परिश्रम, एकाग्रताकी मांग करती है, अपने ऊपर स्वामित्व, 'जड़-पदार्थ'में चेतनाकी मांग करती है, किन्तु इसके परिणामस्वरूप, जिस ढंगसे शरीर बाहरी आघातको लेता, उसीके अनुसार फल विभिन्न प्रकारका हो सकता है। और यदि तुम्हें इस क्षेत्रमें पूरी सफलता प्राप्त हो जाय, तो तुम दुर्घटनाओंपर स्वामित्व प्राप्त कर लोगे। मुझे आशा है कि ऐसा होगा। यह संभव है, यह संभव ही नहीं, **निश्चित** है। यह केवल एक पग आगे है। दूसरे शब्दोंमें, जो शक्ति तुम्हारे पास है — जिसे मन पूर्ण और शक्तिशाली रूपमें प्राप्त कर चुका है — जो परिस्थितियोंपर इस हदतक कार्य करती है कि तुमपर किये गये उनके कार्यको पूर्णतया बदल देती है, वह शक्ति 'जड़-पदार्थ'में, ठोस भौतिक पदार्थमें, शरीरके कोषाणुओंमें भी प्रवेश कर सकती है और शरीरको भी अपने चारों ओरकी वस्तुओंके सम्बन्धमें वही शक्ति प्रदान कर सकती है।

यह श्रद्धा नहीं, एक निश्चयता है जो अनुभूतिसे उत्पन्न होती है।

यह अनुभूति पूर्ण तो नहीं है, पर है अवश्य।

यह तुम्हारे आगे नये क्षितिजोंको खोल देती है; यह मार्ग है, उस मार्गपर बढ़ाया गया एक पग है जो रूपांतरकी ओर ले जाता है।

और तर्कसंगत निष्कर्ष यह है कि कुछ भी असंभव नहीं। यह तो **हम** ही सीमाएं उत्पन्न कर देते हैं। हम सब समय कहते रहते हैं: "यह संभव है, वह असंभव है; यह कार्य, हां, यह हो सकता है, वह नहीं हो सकता; ओह! हां, यह ठीक है, यह हो तो सकता है, यह तो हो भी गया है, किंतु वह, उसे करना असंभव है।" वस्तुतः, **हम** ही अपने-आपको, दासोंकी भांति, हर समय अपनी सीमाओंमें, अपने मूर्खतापूर्ण, संकुचित और अज्ञानपूर्ण विचारोंकी जेलमें बंद रखते हैं जो जीवनके नियमोंको नहीं जानते। जीवनके नियम वे **बिल्कुल** नहीं हैं जो तुम समझते हो, न वे हैं जो बुद्धिमान लोग सोचते हैं। वे बिल्कुल अलग हैं। इस मार्गपर पग रखकर, विशेषकर पहला ही पग रखकर व्यक्ति यह जानना आरंभ कर देता है।

स्नेहमयी मां, यहां लिखा है:

"प्र०—क्या अपनी दुर्बलताओं और दोषोंको भगवान्‌के आगे

तथा दूसरोंके आगे स्वीकार कर लेना सचाईका चिह्न है?

"उ०—दूसरोंके आगे क्यों? भगवान्‌के आगे ही स्वीकार करना चाहिये।

"प्र०—किन्तु यदि किसीने दूसरेके साथ बुरा बर्ताव किया है, तो क्या उसके आगे दोष स्वीकार करना आवश्यक नहीं है? क्या भगवान्‌के आगे स्वीकार करना ही काफी है?

"उ०—यदि दूसरोंके साथ इस बातका संबंध हो, तो ऐसा किया जा सकता है।"

इसमें कोई हानि नहीं। इससे तुम्हें प्रसन्नता होती हो तो तुम ऐसा कर सकते हो! मूलतः, यदि इससे तुम्हें सांत्वना मिलती हो और यह तुम्हारे विकासमें सहायक हो, यदि तुम्हें ऐसा लगे कि तुम्हारी प्रगतिके लिये आवश्यक है, तो यह बहुत अच्छा है।

स्नेहमयी मां, क्या यह हो सकता है कि किसी व्यक्तिमें सचाई न हो किंतु उसे इसका ज्ञान न हो?

मेरा ख्याल है कि ऐसी अवस्थामें, वह कपटी नहीं, दुष्ट है; कारण, यदि वह यह जानता है कि वह कपटी है और फिर भी अपनी असत्यतामें ही निवास करता रहे, तो यह दुष्टता है, क्यों है न? इसका मतलब यह है कि उसका आशय बुरा है, नहीं तो वह असत्यताके साथ ही क्यों चिपटा रहेगा?

मैंने कहा था: यदि वह इसके प्रति अचेतन हो?

एक ही समय वह चेतन और अचेतन कैसे हो सकता है? यही तो असंभव है। यदि व्यक्ति अपनी असत्यताके प्रति सचेतन है, तो उसके प्रति अचेतन नहीं हो सकता। यह असंभव है। दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

किंतु यदि व्यक्तिमें मिथ्यात्व हो और वह यह जानता भी न हो कि मिथ्यात्व उसकी सत्तामें कहां है, तो?

ओह! वह नहीं जानता?.. इसका कारण भी यही है कि वह काफी सच्चा नहीं है और अपनी ओर नहीं देखता। कारण, मैं विश्वास दिलाती हूं कि यदि तुम यह जानते हो कि तुममें असत्यता है, तो तुम यह भी जानते हो

कि वह कहां है। नहीं तो तुम अपनी असत्यताके प्रति सचेतन हो ही नहीं सकते। उदाहरणार्थ, अमुक परिस्थितिमें व्यक्ति जानता है, वह जानता है कि उसे यह कार्य करना चाहिये : "मुझे यह करना चाहिये;" और साथ ही वह करना भी नहीं चाहता, फिर ! और तब, वह अपने-आपको धोखा देता है, काम न करनेके लिये उपाय खोज निकालता है, क्योंकि वह उसे करना नहीं चाहता — हां, ऐसा **प्रायः** होता है ! (हंसी) और फिर, उस समय, जिस समय तुम अपने अंदर उस छोटे-से कार्यको करते हो, अर्थात्, जो नहीं करना चाहते उसे न करनेके लिये बहाना ढूंढते हो, उसी समय यदि तुम जान लो कि तुम सच्चे नहीं हो और फिर भी उस कार्यको करते रहते हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम प्रपंची हो। तुम मुझसे पूछो, तो मैं इसीको दुष्टता कहती हूं, बुरा कहती हूं। किंतु यदि तुम यह जान लो कि तुम सच्चे नहीं हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम अपने मिथ्यात्वके प्रति सचेतन हो, तब यह कैसे कह सकते हो कि "मैं अपनी असत्यताके प्रति सचेतन नहीं हूं"? व्यक्ति सौमेंसे नब्बे बार बिना जाने ऐसा ही करते हैं। दुःखकी बात यही है। इतनी सरलतासे व्यक्ति अपने-आपको धोखा देता है, जिस कामको वह नहीं करना चाहता उसे न करनेके लिये बहाने खोज लेता है, इससे उल्टा भी होता है : वह जिस कार्यको करना चाहता है उसे करनेके लिये भी बहाने खोज लेता है, यह जानते हुए भी कि वह नहीं करना चाहिये — बात एक ही है। तो वह इसके लिये अच्छे-से-अच्छे तर्क उपस्थित करता है, और, दुर्भाग्यसे, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, अधिकांश व्यक्ति इतने अचेतन होते हैं कि वे बिना समझे ही ऐसा करते रहते हैं। वे सोचते हैं वे **बहुत** सच्चे हैं : "नहीं, मैंने, सचमुचमें, यह सोचा था कि मुझे यह करना चाहिये," — बड़े भोलेपनसे कहते हैं। किन्तु यह सब इसलिये होता है कि उनमें सचाई नहीं है, इसलिये बिलकुल नहीं कि वे पूर्णतया अचेतन हैं। किंतु यदि व्यक्ति अपने अंदर घटनेवाली वस्तुओंके प्रति जरा भी सचेतन होगा तो वह उस छोटी-सी चालाकीको, जो उसने की थी और जिस प्रकार उसे ढूंढा था, वह सब जान लेगा और यह भी कि कहींसे बड़े सुन्दर ढंगसे एक बहुत बढ़िया बहाना प्रकट हो रहा है ताकि वह जो करना चाहता था कर सके। तब भी जब वह यह भली-भांति जानता है कि उसे यह नहीं करना चाहिये। देखो, ये दो वस्तुएं हैं : इस प्रकार, यह एक खेल है अचेतना और असत्यताके बीच, असत्यता और अचेतनाके बीच। किंतु यदि तुम मुझसे कहो : "मैं अपनी असत्यताके प्रति सचेतन हूं," तब स्वभावतः, उस क्षण यह तथ्य तुम्हारे सामने आता है : क्या तुमने अंधकारमें ही रहनेका निश्चय कर लिया है अथवा तुम विकास करना चाहते हो ? समस्या यही है। यदि तुम अपनी असत्यता-

तुम विकास करना चाहते हो? समस्या यही है। यदि तुम अपनी असत्यता-के प्रति सचेतन हो, तो तुम्हें केवल एक बात करनी होगी: गर्म लाल लोहे-से इसे दाग दो और अपने-आपको सच्चा बनाओ। ठीक ऐसा ही लगता है। तुम्हें गर्म लोहा लेना होगा: वह अच्छी तरहसे जलायगा, और तब... उफ!... यही करना होगा।

क्षण-भरके लिये इससे कष्ट तो होगा, पर फिर चैन पड़ जायगा।

मां, आपने लिखा है: "सचाई भगवान्‌का द्वार खोलनेकी कुंजी है।" इसका क्या अर्थ है?

यह एक साहित्यिक अलङ्कार है, मेरे बच्चे, यह अलंकारयुक्त प्रतीकात्मक, साहित्यिक भाषामें इस तथ्यको दर्शाता है कि सचाईसे व्यक्ति सब कुछ पा सकता है, भगवान्‌को भी। यदि किसी द्वारको खोलना हो तो उसकी कुंजी होनी चाहिये, है न? अतएव, जो द्वार तुम्हें भगवान्‌से अलग करता है, सचाई उसीकी कुंजीका काम करेगी, वह उस द्वारको खोल देगी और तुम उसके अंदर प्रवेश कर सकोगे, बस इतना ही।

शुभ रात्रि।

१२ मई, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व' के छठे अध्याय "समर्पण"पर आधारित है।)

"प्र०—यदि पुरुष मातृकृपाकी क्रियाको अनुमति न दे तो क्या वह दूसरी सत्ताओं — मानसिक, प्राणिक, भौतिक और आंतरिक सत्ताओं — को रूपांतर करनेवाली मांकी कृपाको ग्रहण या अनुभव करनेसे रोक देता है?

"उ०—नहीं। पुरुष प्रायः पीछेकी ओर रहता है, और अपने स्थानपर दूसरी सत्ताओंको अनुमति देने या अनुभव करने-की छूट दे देता है।"

"पुरुष"से तुम्हारा ठीक अभिप्राय क्या है?... अहंभाव?

(नलिनी): **नहीं, यह चेतन सत्ता है। एक सत्ता (स्थिर सत्ता) होती है और एक संभवन (क्रियाशील सत्ता)। चेतन सत्ता पुरुष है और संभवन प्रकृति।**

तो क्या प्रत्येक आंतरिक सत्ताका अपना-अपना पुरुष होता है? अथवा सभी सत्ताओंमें एक पुरुष है?

(नलिनी) : **सत्ताके प्रत्येक भागमें: दूसरे शब्दोंमें, एक प्राणिक पुरुष होता है, एक मानसिक पुरुष, एक भौतिक सत्ताका पुरुष...**

क्या इसीको हम चेतना कहते हैं?

हां, चेतना सत्ता।

निरंतर बनी रहनेवाली चेतन सत्ता?

हां।

किंतु यदि अंदरकी चेतन सत्ता सहमत न हो तो फिर व्यक्ति साधना कैसे कर सकता है? कारण, मुझे लगता है कि साधना आरंभ करनेका निश्चय इसी सत्ताको लेना होगा।

हां।

(बच्चोंसे) मैं ही प्रश्न पूछ रही हूं!

(एक बच्चा) **मधुर मां, यहां यह प्रश्न पूछा गया है: "कौन-सा संकेत हमें यह बताता है कि साधकका भगवान्‌के प्रति समर्पणका निश्चय उसके जीवनको क्रियात्मक रूपमें प्रभावित कर रहा है?" और श्रीअरविंद उत्तर देते हैं: "संकेत यह होगा कि वह बिना कोई प्रश्न किये उनकी आज्ञाका पालन करता है, इसमें न वह विद्रोह करता है, न मांग और न ही कोई शर्त रखता है; वह केवल भगवान्‌के ही प्रभावोंको प्रत्युत्तर देता है**

तथा अन्य सभी प्रभावोंको अस्वीकार कर देता है जो भगवान्‌से नहीं आते।"

क्या इस समर्पणमें विवशताका भाव नहीं है?

विवशता? इस "विवशता"का क्या अर्थ है?

निष्क्रिय समर्पण!

मैं नहीं जानती तुम क्या कहना चाहते हो। वह एक ऐसा संकेत चाहता है जो यह बता सके कि उसका समर्पण पूर्ण है। यहां सक्रिय या निष्क्रिय समर्पणका प्रश्न ही नहीं उठता। वह कहता है कि समर्पणका निश्चय कुछ परिणाम लाता है। पहला परिणाम है बिना प्रश्न किये आज्ञाका पालन करना; दूसरा, भगवान्‌के प्रभावोंको छोड़कर अन्य सभी प्रभावोंको अस्वीकार करनेकी शक्ति प्राप्त करना। ये बहुत बड़े परिणाम हैं। जब व्यक्ति इन्हें प्राप्त कर ले तो वह मार्गपर काफी आगे बढ़ लेता है।

क्या तुम भगवान्‌की ओरसे आनेवाले और कहीं औरसे आनेवाले प्रभावमें भेद कर सकते हो?... जब तुममें कोई प्रवृत्ति उठती है तो क्या तुम कह सकते हो कि यह भगवान्‌की ओरसे आयी है, या कहीं औरसे?

थोड़ा-सा।

थोड़ा-सा! ओह! यह अच्छी बात है, और यह भी बताओ कि क्यों, और कैसे?... बड़ी मनोरंजक बात है यह।

कभी-कभी, जब मैं सवेरे या तीसरे पहर सोकर उठता हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि कोई कह रहा है: "समय निकल रहा है, शीघ्रता करो।"

और फिर?... कोई?... अर्थात्, तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति तुमसे कह रहा है: "उठो और जल्दीसे अपने काम पर जाओ?"

व्यक्ति नहीं।

कोई प्रभाव?

जी हां।

किंतु क्या तुम्हें पता है कि वह कहांसे आता है? . . . क्या तुम यह जानते हो कि उसका स्रोत क्या है?

यह प्रभाव बुरा नहीं है, मेरे विचारमें तो यह बुरा नहीं है। तब उसे भगवान्‌से ही आना चाहिये।

आह! यह एक व्याख्या है। उदाहरणार्थ, तुम्हारे मनमें एक रचना, एक विचार है कि तुम्हें आलसी नहीं होना चाहिये, तुम्हें कार्य करना चाहिये — समय-पालन करना चाहिये, सोनेमें समय नहीं गंवाना चाहिये — तो इतना काफी है, यह विचार अथवा रचना तुम्हारे जागनेके समय एक प्रभावके रूपमें (क्योंकि यह तुम्हारे मनका ही एक भाग है जो जगता रहा है) प्रकट होती है और तुमसे कहती है: "जल्दी करो, उठो, जाओ और काम करो, आलसी मत बनो!" किंतु यह संभवतः तुम्हारी सत्ताका एक भाग है जो दूसरे भागपर कार्य करनेका प्रयत्न करता है। अथवा यदि तुम्हें कक्षामें जाना है या किसीके साथ कार्य करना है तो वह उस व्यक्तिका सक्रिय विचार भी हो सकता है जो कहता है: "अभीतक वह आयी नहीं, कहीं सो न रही हो और देर कर दे!" — इतना ही काफी है। इस वस्तुका एक अच्छा पक्ष है जो तुम्हारी गतिविधिपर नियंत्रणके रूपमें उपयोगी सिद्ध हो सकता है। किंतु यह वस्तु आवश्यक रूपमें भगवान्‌से नहीं आयी है, यह समझना कि कोई वस्तु अच्छी है इसलिये वह भगवान्‌से आयी है, तुम्हें भयानक भूलोंकी ओर ले जा सकता है।

वस्तुओंको अनुभव करनेका यह तरीका नहीं है। इस प्रकारकी चेतनाके बोधसे यह अनुभव नहीं होता, उसका यह तरीका नहीं है। किसी स्पंदनके महत्त्वको स्पष्ट रूपसे जाननेके लिये व्यक्तिमें काफी स्वच्छ और सूक्ष्म संवेदनशीलता होनी चाहिये; जो भी स्पंदन बाह्य गतिविधियोंसे आते हैं, चाहे वे मानसिक हों, चाहे प्राणिक अथवा शारीरिक, चाहे चैत्य भी हों, उन सबमें एक विशिष्ट गुण होता है, किंतु जो वस्तु भागवत प्रभावके फलस्वरूप आती है उसका स्वभाव ही भिन्न होता है और उसका गुण भी एकदम अलग होता है। इनमें भेद कर सकनेके लिये यह जरूरी है कि व्यक्ति पहले दोनोंको अपने अंदर अनुभव करे; अनुभव करनेके बाद भी उसे अत्यंत शांत, सावधान तथा आंतरिक रूपसे स्थिर रहना चाहिये ताकि वह दोनोंके अंतरको जान सके और गलती न करे। यदि तुम्हारा क्रिया-

शील विचार बीचमें आ जाय तो बस, किस्सा खतम, तब तुम यह विभेद नहीं कर सकते, और प्रश्न करना आरंभ कर देते हो। और फिर तुम यह जाननेके लिये कि यह वस्तु भगवान्‌से आयी है या भगवान्‌से नहीं आयी, अपने शुभ और अशुभसंबंधी विचारोंका प्रयोग करने लगते हो। यह मूर्खता है। यह असंभव है।

व्यक्तिको यह दुहरी अनुभूति हो भी जाय, वह इनमें भेद भी कर सके, तो भी उसे कुछ और सावधानियां बरतनी पड़ेंगी, इसपर नजर रखनी होगी कि निश्चित रूपसे, गलती न होने पाय। जब व्यक्ति अंतरात्माका द्वार पूरी तरहसे खोल लेता है तथा चेतन रूपमें उसमें प्रवेश कर जाता है, भगवान्‌के साथ पूर्ण, समग्र, सर्वांगीण संबंध स्थापित कर लेता है, जब उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उसने एक नया जीवन प्राप्त कर लिया है, वह एक दूसरी ही सत्ता बन गया है, अब वह किसी चीजको उसी पुराने ढंगसे नहीं देखता, किसी चीजका उसी पुराने ढंगसे अनुभव नहीं करता — केवल तभी वह निकटसे, गहराईमें और पूर्ण रूपसे यह जान पाता है कि दिव्य जीवन क्या है। इसके बाद यदि द्वार पुनः बन्द हो भी जाय तो भी व्यक्तिके पास उसकी ठीक-ठीक स्मृति बची रहती है। इसी ढंगसे यह दिखायी देती है। तब भूल करना असंभव हो जाता है। यह बिलकुल भिन्न चीज है, इसकी कोई बराबरी नहीं, बिलकुल नहीं : इसकी किसी चीजसे तुलना नहीं की जा सकती। यह एक अद्वितीय और अपने-आपमें पूर्ण वस्तु है। इसीलिये मैंने तुमसे पूछा था : "क्या तुम इसमें भेद कर सकते हो? कारण, यदि तुममेंसे किसी एकको यह अनुभूति प्राप्त हो चुकी हो तो वह इस प्रकार जान लेता है कि कौन-सी वस्तु भगवान्‌से आयी है, और यदि वह निश्चित और पूर्ण रूपसे उस वस्तुको जान लेता है जो भगवान्‌से आती है तो वह उन सबको भी अवश्य जान लेगा जो उनसे नहीं आती।" इसीलिये मैंने तुमसे पूछा था। यदि तुममेंसे एक भी सत्यतापूर्वक मुझसे कह सकता : "मुझे यह अनुभूति हो चुकी है और मैं जानता हूं," तो मुझे बहुत प्रसन्नता होती। किंतु यह बात उपर्युक्त अनुभूतिके बाद ही जानी जा सकती है, उससे पहले नहीं। इसलिये, यदि व्यक्ति सचमुच प्रगति करना चाहता है तो उसे प्रत्येक पगपर अपनेसे यह पूछना होगा और इस बातका निश्चय करना होगा कि यह प्रभाव कहांसे आया है : "यह सुझाव किसने दिया है? क्या यह मेरी सत्ताका ही एक भाग है अथवा बाहरकी कोई वस्तु? क्या यह भगवान्‌की ओरसे आयी है?"

किंतु इस अनुभूतिको प्राप्त करनेसे पहले व्यक्ति अपने-आप ही निर्णय नहीं कर सकता। स्वभावतया, यदि व्यक्तिका समर्पण वास्तविक रूपमें सच्चा है और सत्तामें निरंतर यह वृत्ति रहती है, भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्म-दानकी

वृत्ति है : "तेरी इच्छा पूर्ण हो," तो इस तरह वह बिना जाने, बिना समझे-बूझे, सहज प्रेरणावश उसी वस्तुको चुन सकता है जिसे चुनना चाहिये और जिसे नहीं चुनना चाहिये उसे अस्वीकार कर सकता है। किंतु यह एक सहज प्रवृत्ति, स्वचालित-सी क्रिया बन जाती है, पर केवल तभी जब तुम्हारा समर्पण पूर्ण हो। समर्पणका यही लाभ है, क्योंकि तब तुम ठीक कार्य, ठीक ढंगसे, सहज भावमें कर सकते हो, ज्ञान प्राप्त करनेसे **पहले ही**।

किंतु जैसा श्रीअरविंदने कहा है, समझे, अर्थात्, व्यक्तिको पूर्ण आज्ञाकारिताकी ऐसी अवस्थामें होना चाहिये जहां वह प्रश्न न पूछे, वाद-विवाद न करे और सहज भावमें आज्ञा पालन करे, उन्हींके पथप्रदर्शनमें कार्य करे, उसके विचार और प्राणमें कोई भी वस्तु विद्रोह न करे, न विरोध और शंका ही करे, न अपनेको सच्चा प्रमाणित करनेके लिये तर्क ही करे और न ही वह अपने आगे (कभी-कभी भगवान्‌के भी आगे) यह प्रमाणित करे कि वह सच्चा है, कि उसका कार्य ठीक है। यह सब समाप्त होना चाहिये।

मूलतः, व्यक्ति किसी भी मार्गका अनुसरण करे — चाहे वह मार्ग समर्पणका हो या आत्मदान अथवा ज्ञानका — व्यक्ति यदि इसे पूर्ण बनाना चाहता है तो यह सदा एक-सा कठिन होता है और इसकी विधि एक ही है, केवल एक, मैं तो एक ही जानती हूं : वह है पूर्ण सच्चाई, लेकिन सच्चाई **पूर्ण** हो!

क्या तुम्हें पता है कि पूर्ण सच्चाई किसे कहते हैं? ...

अपने-आपको कभी धोखा देनेकी कोशिश न करो, सत्ताका कोई भी भाग दूसरोंको विश्वास दिलानेका उपाय ढूंढनेकी कोशिश न करे। जो कुछ तुम करना चाहते हो उसे करनेके लिये बहाने ढूंढनेकी ख़ातिर चिकनी-चुपड़ी बातें मत करो, कोई वस्तु यदि तुम्हें अच्छी न लगती हो, तो उसकी तरफसे आंखें मत मूंद लो, किसी वस्तुको अपने सामनेसे यह कहते हुए मत गुजरने दो : "इसका कुछ महत्त्व नहीं, अगली बार ज्यादा अच्छा होगा।"

ओह! यह सब अत्यधिक कठिन है। घंटे-भरके लिये ऐसा करनेकी कोशिश करो तो तुम देखोगे कि यह कितना कठिन है! केवल एक घंटा, **पूर्णतः, निरपेक्ष भावसे** निष्कपट बने रहो, कुछ भी छुटे नहीं। अर्थात्, जो भी करो, जो कुछ भी अनुभव करो, जो कुछ भी सोचो, जो कुछ भी चाहो, सब **अनन्य भावसे** भगवान् ही हों।

"मैं भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं चाहता, मैं भगवान्‌के सिवाय अन्य किसी वस्तुके संबन्धमें नहीं सोचता, मैं केवल वही करता हूं जो मुझे भगवान्‌की ओर ले जाता है, मैं भगवान्‌के सिवाय और किसी वस्तुसे प्रेम नहीं करता।"

कोशिश करो — कोशिश करो और देखो, केवल आधे घण्टेके लिये ही, और तुम देखोगे कि यह कितना कठिन है! और उस समय इस बातका ध्यान रखो कि वहां मन, प्राण या भौतिक सत्ताका कोई भी भाग आरामसे छुपा तो नहीं पड़ा है, पीठ-पीछे, ताकि तुम उसे देख न सको (मां अपने हाथ पीठ-पीछे छिपा लेती हैं), और यह न जान सको कि वह कार्यमें सहयोग नहीं दे रहा — वह वहां चुपचाप बैठा है ताकि तुम उसे बाहर न ला सको... वह कुछ कहता नहीं, पर बदलता भी नहीं, छुपा पड़ा रहता है। ऐसे कितने भाग! कितने ही भाग अपने-आपको छिपाये रहते हैं! तुम उन्हें अपनी जेबमें डाल लेते हो, क्योंकि तुम उन्हें देखना नहीं चाहते, अथवा वे तुम्हारी पीठके पीछे ठीक बीचों-बीच पड़े रहते हैं, ताकि दिखायी न दें। जब तुम वहां अपनी टार्चके साथ — सचाईकी टार्चके साथ — जाते हो और सब कोनों, छोटे-छोटे कोनोंमें भी ढूंढते हो तो जो कोने इस बातसे सहमत नहीं होते, जो वस्तुएं "न" कहती हैं अथवा अपनी जगहसे हिलना-डुलना नहीं चाहतीं, वे कहती हैं: "मैं नहीं हिलूंगी; मैं अपनी जगहसे चिपकी रहूंगी, कुछ भी मुझे टस-से-मस नहीं कर सकता...।" तुम्हारे पास एक टार्च होती है, और तुम उस चीजपर, उन सबपर प्रकाश फेंकते हो। तुम देखोगे कि वहां ऐसी अनेक वस्तुएं हैं, पीठके पीछे अच्छी तरह चिपकी हुईं।

कोशिश करो, केवल एक घण्टेके लिये, कोशिश करो!

और कोई प्रश्न नहीं है?

किसीको कुछ नहीं कहना है?

अच्छा, तो फिर मिलेंगे, मेरे बच्चो!

१९ मई, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व'के सातवें अध्याय "प्रेम" पर आधारित है।)

भगवान्‌के लिये एक तो विशुद्ध स्नेह होता है और एक विशुद्ध प्रेम। इन दोनोंमें क्या अंतर है?

यह बात उस अर्थपर निर्भर है जो तुम अपने शब्दोंको देते हो। यह इसपर निर्भर है कि तुम स्नेह किसे कहते हो। पता नहीं। सामान्यतः, स्नेह एक व्यक्तिगत भाव है, बाह्य और थोड़ा सतही भी। यह पूर्णतया उस अर्थपर निर्भर है जो तुम अपने शब्दोंको देते हो। साधारणतया, जब कोई कहता है: "ओह! मुझे उससे बहुत स्नेह है," तो इसका अर्थ होता है कि उसके अन्दर अच्छी भावनाएं हैं, एक प्रकारकी मैत्री जिसमें बहुत गहराई नहीं; पर इस शब्दका प्रयोग गहनतर अर्थमें भी किया जा सकता है। जबतक व्यक्ति बिल्कुल सही रूपमें अपनी शब्दावलीकी परिभाषा न कर दे, उसके शब्दोंमें भेद करना बहुत कठिन होता है। जब व्यक्ति कुछ कहना चाहता है तो बोलते समय यदि वह अपने शब्दोंमें विचार, बोध और ज्ञानसंबन्धी एक तरहकी तीव्रता ले आता है तो वह अवस्था — आत्माकी वह अवस्था — उन शब्दोंमें भी आ जाती है। किंतु यदि शब्दोंका प्रयोग बिल्कुल ही बौद्धिक रूपसे, अर्थात्, मनमाने ढंगसे किया जाय तो बोलनेसे पहले व्यक्तिको कह देना चाहिये: "जब मैं यह कहूं..." और उसे अपने शब्दोंकी पूर्ण व्याख्या और परिभाषा देनी चाहिये।

"चैत्य दृष्टि" का क्या अर्थ है?

दृष्टि? तुम भौतिक दृष्टिका अर्थ जानते हो न? — **भौतिक**को जानते हो न? हां, तो यही बात चैत्यके साथ होती है। दूसरे शब्दोंमें, भौतिक इन्द्रियोंसे देखनेके स्थानपर तुम चैत्य इन्द्रियोंसे देखते हो। तुम्हारी यह भौतिक आंखें हैं न? इसी प्रकार चैत्यकी भी आंखें हैं जो चैत्य ढंगसे देखती हैं। यह बात दृष्टिके गुण-धर्मपर नहीं, वरन् सत्ताकी उस अवस्थापर निर्भर है जो देखती है। उन इन्द्रियोंपर निर्भर है जो देखती हैं। चैत्य दृष्टि उस सबको देखती है जो चैत्यके भीतर, अर्थात्, चैत्य अवस्थामें या चैत्य क्षेत्रमें, अथवा चैत्य सत्तामें होता है। जब कि मानसिक दृष्टि उसे देखती है जो मनमें घटता है: वह बस, देखती है। यह भौतिक दृष्टिकी ही भांति देखती है, सचमुचमें भौतिक दृष्टिकी भांति।

भौतिक आंखोंसे तुम चैत्य दर्शन नहीं पा सकते; तुम्हारी चैत्य सत्ताके पास ही चैत्यदृष्टि हो सकती है। अपनी चैत्य सत्ताके साथ तुम्हारा इतना निकट संबन्ध हो सकता है कि जो कुछ उसने देखा है उसे तुम याद रख सको, जो कुछ उसने देखा है उसके प्रति सचेतन रह सको, किन्तु देखनेका यह कार्य तुम्हारी चैत्य सत्ताने किया है, भौतिक सत्ताने नहीं।

यह तुम्हारी भौतिक सत्ता नहीं जो भिन्न ढंगसे देख रही है, यह चैत्य सत्ता है।

मां, यहां लिखा है: "भागवत 'प्रेम' की तीव्रता सत्तामें कहीं भी विक्षोभ पैदा नहीं करती।"

हां।

किंतु यदि किसीका शरीर दुर्बल हो तो क्या भागवत 'प्रेम'की तीव्रता उसमें क्षोभ पैदा नहीं कर देगी?

शरीरमें? भागवत 'प्रेम' भला शरीरको क्यों विक्षुब्ध करेगा?

किंतु यदि वह उसकी तीव्रताको सह न सके तो?

तब, संभवतः, वह भागवत 'प्रेम' होगा ही नहीं; मुझे तुम्हारी बात समझमें नहीं आयी। जहांतक भागवत प्रेमका संबन्ध है व्यक्ति स्वभावतः उतना ही पाता है जितना वह सह सकता है।

भागवत 'प्रेम' तो अपनी पूर्ण तीव्रताके साथ एक विराट् शक्तिके रूपमें सदैव उपस्थित रहता है। किंतु अधिकतर मनुष्य — निन्यानवे प्रतिशत — कुछ भी अनुभव नहीं करते। वे जो अनुभव करते हैं वह ठीक उसी अनुपातमें होता है कि वे क्या हैं, और उनमें कितनी ग्रहणशीलता है। उदाहरणके लिये, कल्पना करो कि तुम एक ऐसे वायुमण्डलमें स्नान कर रहे हो जो भागवत 'प्रेम' से पूर्णतया स्पन्दित है — और तुम उस सबसे एकदम अनभिज्ञ हो। कभी बहुत ही कम, कुछ सेकिंडके लिये अचानक ही तुम्हें "किसी वस्तु"की अनुभूति होती है और तुम कहते हो: "ओह, भागवत 'प्रेम' मेरी ओर आया था!" बात हंसीकी है! जब कि वास्तवमें हुआ यह था कि किसी-न-किसी कारण तुम कहीं जरा-से खुले थे, अतएव तुम्हें उसकी अनुभूति हुई। वह तो भागवत 'चेतना' की तरह, सदा ही उपस्थित रहता है। वह भी हर समय अपनी पूर्ण तीव्रताके साथ उपस्थित रहती है। पर व्यक्ति उसके संबन्धमें कुछ भी नहीं जानता; अथवा इसी प्रकार बीच-बीचमें अनुभव करता है: अचानक ही जब व्यक्ति कुछ अच्छी अवस्थामें होता है तो उसे किसी वस्तुका अनुभव होता है और वह कहता है: "ओह, भागवत 'चेतना', भागवत 'प्रेम' मेरी ओर मुड़े हैं, मेरी ओर आये हैं!"

पर बात ऐसी बिल्कुल नहीं है। व्यक्ति कहीं जरा-सा खुला होता है, बहुत जरा-सा, कभी-कभी सुईकी नोक जितना और स्वभावतया, शक्ति उसमें बड़े वेगपूर्वक प्रवेश करती है। कारण, यह सक्रिय वायुमंडल जैसा है, जब कभी ग्रहण करनेकी संभावना हो तो इसे ग्रहण कर लिया जाता है। यह बात तो सभी भागवत वस्तुओंके साथ है। वे उपस्थित हैं, केवल व्यक्ति उन्हें ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं बन्द होता है, उसके अंदर कोई रुकावट होती है, वह अधिकतर अन्य वस्तुओंमें व्यस्त रहता है। बल्कि अधिकतर तो व्यक्ति अपनेमें ही व्यस्त रहता है; चूंकि व्यक्ति अपने-आपसे भरा रहता है, इसलिये किसी अन्य वस्तुके लिये स्थान नहीं रहता। व्यक्ति बड़े सक्रिय रूपमें (माताजी हंसती हैं) अन्य वस्तुओंमें व्यस्त रहता है। वह वस्तुओंसे इतना भरा रहता है कि उसमें भगवान्‌के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

किंतु वे उपस्थित हैं।

यह भी उन सब चमत्कारोंकी न्याई है जो तुम्हारे चारों ओर फैले हैं, तुम उन्हें देखते नहीं। देखते हो क्या? ... नहीं। कभी-कभी, केवल उसी समय, जब तुम जरा, बहुत ही जरा-से ग्रहणशील होते हो, अथवा निद्रामें, जब तुम अपनी छोटी-मोटी बातोंमें थोड़ा कम ऐकांतिक रूपसे व्यस्त होते हो, तुम्हें उस वस्तुकी एक झलक मिल जाती है, तुम उसे देख लेते हो, अनुभव कर लेते हो। किंतु साधारणतया तो ऐसा होता है कि ज्यों ही तुम जागते हो, यह सब धुल-पुंछ जाता है — जैसा कि तुम्हें पता है, इसका पहला कारण होता है वह भयावह अहं जो केवल अपनेसे ही भरपूर रहता है और फिर समूचा विश्व इस अहंके चारों ओर घूमता है: तुम केंद्रमें होते हो और विश्व तुम्हारे चारों ओर घूमता है। यदि तुम ध्यानपूर्वक अपनी ओर देखो तो तुम देखोगे कि यह ऐसा ही है। विश्वकी तुम्हारी अनुभूति ऐसी ही होती है — तुम केंद्रमें और विश्व तुम्हारे चारों ओर। अतएव वहां किसी और वस्तुके लिये स्थान ही नहीं रहता। तुम विश्वको नहीं, विश्वमें अपने-आपको देखते हो।

इसलिये, सबसे पहले, शुरूके लिये व्यक्तिको अपने अहंसे बाहर निकल सकना होगा। इसके बाद इसे, समझ रहे हो, एक असत्की-सी अवस्थामें होना चाहिये। तब तुम कुछ ऊपर उठकर वस्तुओंको उनके वास्तविक रूपमें देखना आरंभ करोगे। किंतु यदि तुम वस्तुओंको उनके वास्तविक रूपमें देखना चाहते हो, तो तुम्हें **पूर्णतया** एक दर्पणके समान होना होगा: नीरव, शांत, अचल और निष्पक्ष, तुम्हें अपनी कोई भी अभिरुचि न रखते हुए पूर्णतया ग्रहणशील अवस्थामें रहना होगा। यदि तुम ऐसे हो जाओ,

तो यह देखने लगोगे कि ऐसी बहुत-सी वस्तुएं हैं जिनके बारेमें तुम कुछ भी नहीं जानते, किंतु जो मौजूद हैं, और जो तुम्हारे अन्दर क्रियाशील होना आरंभ कर देंगी।

तब तुम विश्वमें जो छोटे-से बिंदु हो **उसीमें** पूरी तरह बन्द रहनेके स्थानपर इन वस्तुओंमें निवास कर सकोगे।

अपनेसे बाहर निकलनेके तरह-तरहके तरीके हैं। किंतु यदि तुम वस्तुओं-को उनके असली रूपमें जानना चाहो, अपने साथ उनके सम्बन्धकी दृष्टिसे नहीं, तो यह अनिवार्य है।

अहंसे बाहर निकलनेके लिये व्यक्तिको कौन-सी वृत्ति अपनानी चाहिये ?

वृत्ति ? बल्कि संकल्प, है न ? तुम्हें इसके लिये संकल्प करना पड़ेगा . . .। क्या तुम यही पूछ रहे हो कि इसके लिये क्या करना चाहिये ?

अपने-आपको भगवान्‌को सौंप देना ही सबसे अधिक सुनिश्चित तरीका है; भगवान्‌को अपनी तरफ खींचनेकी कोशिश न करो, वरन् अपने-आप-को भगवान्‌को समर्पित करनेका प्रयत्न करो। तब तुम कम-से-कम अपने-से थोड़ा बाहर निकलनेके लिये बाधित तो हो ही जाते हो। जानते हो, साधारणतया, ऐसा होता है कि जब लोग भगवान्‌के विषयमें सोचते हैं, तो पहला काम यह करते हैं कि भगवान्‌को अपनी ओर अधिकाधिक "खींचें"। और तब, सामान्यतया, वे कुछ भी नहीं पाते। वे कहते हैं: "आह! मैं-ने उन्हें पुकारा, उनसे प्रार्थना की, पर मुझे उत्तर नहीं मिला, कोई उत्तर नहीं मिला, कुछ भी तो नहीं मिला।" किंतु यदि तुम उनसे पूछो: "क्या तुमने अपने-आपको उन्हें दिया था ?" — "नहीं, मैंने उन्हें खींचा था।" — "ओह, तभी वे नहीं आये!" यह नहीं कि वे नहीं आये, वास्तविक बात यह है कि जब तुम खींचते हो, तो तुम अपने अहंमें इतने बन्द हो जाते हो (जैसा कि मैंने अभी तुम्हें बताया था) कि तुम्हारे और जो वस्तु तुम्हें ग्रहण करनी है उसके बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। तुम अपने-आपको एक कारागृहमें बन्द कर लेते और तब तुम्हें इस बातपर आश्चर्य होता है कि अपने कारागृहमें तुम कुछ अनुभव नहीं करते। और वह कारागृह भी कैसा, जिसकी कोई भी खिड़की सड़कपर नहीं खुलती।

अपने-आपको बाहरकी ओर उंडेल दो (माताजी बाहरकी ओर अपनी हथेलियां खोलती हैं), बिना कुछ छिपाये, अपने-आपको समर्पित कर दो,

केवल समर्पणके आनन्दके लिये। केवल तभी यह संभावना रहती है कि तुम्हें कुछ अनुभव हो सके।

किंतु यदि व्यक्ति कुछ अनुभव करनेकी कोशिश करे...।

अनुभव करनेकी कोशिश करे? क्या यह भी अहंभाव नहीं है, अनुभव करनेकी कोशिश करना?... व्यक्ति अहंवादी रहते हुए अहंमेंसे निकलना चाहे तो यह बहुत कठिन हो जाता है, है न? ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं।

"अनुभव करनेकी कोशिश करना" — किसलिये? अपनी संतुष्टिके लिये?

व्यक्तिका अपना अस्तित्व नहीं है, केवल भगवान्‌का ही अस्तित्व है, यदि इस अनुभूतिको पानेके लिये व्यक्ति प्रयत्न करे, तो क्या इस तरह वह अपने अहंसे बाहर निकल सकता है?

व्यक्तिका अपना अस्तित्व नहीं है? मुझे पता नहीं कि मानसिक रूपमें कोशिश करके व्यक्ति किसी भी वस्तुको पा सकता है, क्योंकि यह एक प्रकारका मानसिक प्रयत्न है। इस तरह व्यक्ति मानसिक रचनाएं करता रहता है और उसे कोई खास प्राप्ति नहीं होती। नहीं, आवश्यकता ऐसी चीजकी है जो सहज, तीव्र हो, सत्तामें जलती हुई ज्वाला, अभीप्साकी ज्वाला, एक ऐसी वस्तु... पता नहीं इसे कैसे व्यक्त किया जाय।

यदि चीज मस्तिष्कमें ही चलती रहे, तो कुछ भी नहीं हो सकता, कुछ भी नहीं।

हम जो प्रयत्न कर सकते हैं वह मानसिक ही तो होगा। उसे सहज बनानेके लिये क्या किया जाय?

क्या?

प्रयत्नको...

हां, हां, मैंने तुम्हारी बात सुन ली है। किंतु तुम इस बातपर आग्रह क्यों करते हो कि व्यक्ति जो भी प्रयत्न करता है वह केवल मानसिक ही हो सकता है?

लेकिन उसे सहज-स्वाभाविक बनानेके लिये क्या किया जाय ?

मेरे विचारमें, रूपांतरके लिये किये गये प्रयत्नमें, जो सत्ताके चैत्य केंद्रसे आता है, और कुछ प्राप्त करनेके लिये मानसिक रचनामें बहुत अधिक भेद है।

पता नहीं, अपनी बात किसीको समझा पाना बहुत कठिन है, किंतु अबतक वस्तु इस प्रकार (माताजी एक अंगुली अपने माथेतक लाती हैं) दिमागमें घूमती रहती है, उसमें कोई शक्ति नहीं होती। यदि होती भी है तो बहुत ही कम और बहुत अधिक सीमित। सारे समय वह अपनेको छुड़ाती रहती है। व्यक्तिको ऐसा लगता है कि वह बड़ी कठिनाईसे संकल्प-शक्तिको पकड़ पाता है जो काफी हदतक कृत्रिम होती है, और फिर वह किसी वस्तुको पकड़नेकी कोशिश करता है, और अगले ही क्षण सब कुछ लुप्त हो जाता है। और उसे कुछ पता नहीं चलता। वह अपनेसे कहता है : "वह सब ऐसा कैसे हो गया ?"

पता नहीं, मुझे तो मस्तिष्कसे योग करना बहुत कठिन प्रतीत होता है — जबतक कि वह उसकी पूरी पकड़में न हो।

संकल्प मस्तिष्कमें नहीं है।

संकल्प — जिसे मैं संकल्प कहती हूं — एक ऐसी वस्तु है जो यहां है (माताजी छातीके बीचकी ओर संकेत करती हैं), जिसमें कार्य करनेकी शक्ति, उसे चरितार्थ करनेकी शक्ति है।

जो कार्य व्यक्ति केवल मस्तिष्कमें करता है, उसमें असंख्य उलट-फेर होते रहते हैं; उदाहरणार्थ, ऐसा कोई भी सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता जिसमें तत्काल ही विरोधी तर्क उपस्थित करनेवाली वस्तुएं आकर हस्तक्षेप न करें। यही तो मनका बड़ा कौशल है : वह किसी भी वस्तुको प्रमाणित कर सकता है, किसी भी वस्तुके विषयमें तर्क उपस्थित कर सकता है। फलस्वरूप, व्यक्ति एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाता। थोड़ी देरके लिये वह किसी शक्तिशाली विचारको पकड़ भी ले, तो भी, यदि वह उसमें तीव्रताकी अवस्थाको बनाये न रख सके तो थोड़ी-सी शिथिलता आते ही विरोधी वस्तुएं आ धमकेंगी और, जैसा कि तुम जानते हो, अपने-आपको सुन्दर ढंगसे व्यक्त करने लगेंगी। अतः, यह कभी न समाप्त होनेवाली लड़ाई है।

इसका कोई समाधान नहीं।

तुम पूछते हो कि यह सहज कैसे हो सकता है। उदाहरणार्थ, शरीरमें भी जब उसपर कोई रोग, दुर्घटना आदि आक्रमण करनेकी कोशिश करते हैं — कोई भी आक्रमण — तो जो शरीर अपनी सहज प्राकृतिक अवस्थामें रहने

दिया गया है, उसमें सहायता पानेके लिये एक प्रवृत्ति, एक अभीप्सा, एक सहज संकल्प होता है। किंतु ज्यों ही यह सारी बात मस्तिष्कतक पहुंचती है, वह उन्हीं चीजोंका रूप ले लेती है जिनका व्यक्ति अभ्यस्त होता है: और तब सब कुछ बिगड़ जाता है। किंतु शरीरके वास्तविक स्वरूपको देखा जाय तो पता लगेगा कि उसमें एक ऐसी वस्तु है जो अचानक ही जागकर सहायताकी पुकार करने लगती है, इतनी श्रद्धाके साथ, इतनी तीव्रताके साथ जैसे कोई छोटा बच्चा अपनी मांको, या जो कोई भी वहां हो उसे पुकारता है (यदि वह बोलना नहीं जानता तो कुछ कहता नहीं)। किंतु शरीर यदि अपनेपर छोड़ दिया जाय और मन भी उसपर सतत रूपमें कार्य न करे तो... हां, तो शरीरमें यह बात होती है: ज्यों ही उसमें कोई विक्षोभ पैदा होता है, तत्काल ही उसमें एक अभीप्सा, एक पुकार, सहायता पानेके लिये एक प्रयत्न जाग उठता है, और उसमें बहुत शक्ति होती है। यदि इसमें कोई हस्तक्षेप न करे, तो उसमें बहुत शक्ति होती है, मानों स्वयं शरीरके कोषाणु ही अभीप्सा और पुकारके लिये उछल पड़े हों।

शरीरमें बहुत ही अमूल्य और अज्ञात निधियां भरी हैं। उसके सभी कोषाणुओंमें जीवनकी, अभीप्साकी, विकासके लिये संकल्पकी तीव्रता होती है जिसे मनुष्य साधारणतया अनुभव तक नहीं करता। शरीर-चेतना मन और प्राणकी क्रियाके कारण पूरी तरह विकृत हो गयी हो तभी वह संतुलनको वापिस लानेके लिये तुरंत संकल्प नहीं करती। जब वह संकल्प-शक्ति न हो, तो इसका अर्थ है कि पूर्ण शरीर-चेतना ही मन और प्राणके हस्तक्षेपके कारण दूषित हो गयी है। जो लोग कम या अधिक अवचेतन रूपमें अपने रोगकी इस कारण पोसते हैं — और यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है — कि लोग उनमें रुचि लेने लगें तो इसमें उनके शरीरका दोष नहीं होता — बेचारा शरीर! — यह ऐसी चीज़ होती है जिसे उन्होंने मानसिक और प्राणिक विकृतिके रूपमें शरीरपर लादा है। शरीरको अपने-आपपर छोड़ दिया जाय तो वह विलक्षण है, क्योंकि, वह समता एवं स्वास्थ्यकी प्राप्तिके लिये अभीप्सा ही नहीं करता, बल्कि अपने अंदर संतुलन भी स्थापित कर सकता है। यदि व्यक्ति अपने शरीरको अकेला छोड़ दे और समस्त विचारों, प्राणिक प्रतिक्रियाओं, अवसादों, तथाकथित ज्ञान, मानसिक रचनाओं और भयोंको उसमें हस्तक्षेप न करने दे — शरीरको स्वयं उसीपर छोड़ दे, तो वह स्वाभाविक रूपमें ही अपने-आपको स्वस्थ करनेके लिये वह सब कुछ कर लेगा जो उसके लिये आवश्यक है।

अपनी स्वाभाविक अवस्थामें, शरीर संतुलनको, सामंजस्यको ही पसंद करता है; यह तो सत्ताके दूसरे भाग हैं जो सब कुछ बिगाड़ देते हैं।

माताजी, मनको हस्तक्षेप करनेसे कैसे रोका जाय ?

आह! सबसे पहले तो तुम्हें इसके लिये इच्छा करनी चाहिये और फिर कहना चाहिये, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उन लोगोंसे कहा जाता है जो बहुत शोर मचाते हैं: "चुप रहो, चुप रहो, शांत हो जाओ!"

जब-जब मन अपने सुझावों, अपनी क्रियाओंके साथ आगे बढ़े, तुम्हें यही करना चाहिये। तुम्हें उसे शांत, स्थिर एवं नीरव बनाना चाहिये। पहली बात यह है कि तुम्हें उसकी बात नहीं सुननी चाहिये। अधिकतर तो ऐसा होता है कि ज्यों ही ये समस्त वस्तुएं, अर्थात्, विचार आदि आते हैं, व्यक्ति उन्हें देखता है, समझनेकी कोशिश करता है, सुनता है; तब स्वभावतया ही वह मूर्ख समझता कि तुम उसमें रुचि ले रहे हो, और वह और भी अधिक क्रियाशील हो उठता है। तुम्हें उसकी बात न सुननी चाहिये, न ही उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। यदि वह अधिक शोर मचाये, तो उससे कहो: "शान्त रहो! बस, अब चुप हो जाओ!" पर ऐसा कहते समय तुम स्वयं शोर मत करो, समझे? तुम्हें उन लोगोंकी नकल नहीं करनी चाहिये जो चीखना शुरू करते हैं: "चुप रहो", और अपने-आप इतना हल्ला-गुल्ला मचाते हैं कि उनका शोर दूसरोंके शोरसे भी बढ़कर होता है।

(यहां टेप-रिकार्डरका फीता समाप्त हो जाता है। शिष्यसे:) दूसरा फीता मत लगाओ, मेरी बात भी समाप्त हो गयी है।

भाग्य!

अच्छा, तो फिर मिलेंगे, शुभ-रात्रि!

२६ मई, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व'के आठवें अध्याय "चैत्य उद्घाटन"पर आधारित है।)

स्नेहमयी मां, जब हम आपको स्वप्नमें देखते हैं तो क्या वह स्वप्न सदा सांकेतिक होता है?

नहीं, यह आवश्यक नहीं। वह एक तथ्य भी हो सकता है। इसका अर्थ है कि तुम भौतिक आंखोंसे देखनेके स्थानपर सूक्ष्म भौतिक, प्राण अथवा मनमें देखते हो। किन्तु व्यक्ति देखता मेरे किसी अंशको ही है। उदाहरणार्थ, यदि मैं किसीको एक शक्ति, एक विचार, क्रिया या कार्य-विधि भेजती हूं तो वह उसके वायुमंडलमें मेरा रूप धारण कर लेती है; अतएव वह उसे देखता है। यह एक तथ्य है। मैं कोई वस्तु भेजती हूं और वह उसे देख लेता है। यह मेरी पूर्ण सत्ता नहीं होती (इसका जो अर्थ निकाला जाता है वह अधिकतर गलत होता है), किन्तु यह मेरा ही एक अंश होता है।

किंतु, माताजी, इसका सदा कुछ-न-कुछ अर्थ तो होता ही है न?

निश्चय ही, इसका अर्थ होता है। वरन् अधिकतर इसका एक निश्चित उद्देश्य भी होता है: मैं या तो उस समय कुछ करना चाहती हूं अथवा किसीसे कुछ कहना चाहती हूं, या फिर उस व्यक्तिके अन्दरकी किसी वस्तुको बदलना चाहती हूं या उसे कोई आवश्यक ज्ञान प्रदान करना चाहती हूं, अथवा किसी वस्तुके विरुद्ध उसे सावधान करना चाहती हूं — उसे सावधान करके सतर्क रहनेके लिये कहती हूं — या कभी-कभी मैं उसके किसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भी आती हूं।

सांकेतिक स्वप्न... साधारणतया सांकेतिक स्वप्नोंमें काफी सुसंगति होती है, व्यक्ति उसकी छोटी-से-छोटी बातको याद रख सकता है; वह भौतिक जीवनसे अधिक सजीव और वास्तविक होता है, उसमें अधिक शक्ति होती है, पर ऐसे स्वप्न काफी विरल होते हैं। जब व्यक्ति सांकेतिक स्वप्नमेंसे लौटता है, तो उसे सब कुछ याद रहता है, उसकी छोटी-से-छोटी बात भी; व्यक्ति यह अनुभव करता है कि इन क्षणोंमें उसने भौतिक जीवनसे कहीं अधिक सच्चा और शक्तिशाली जीवन जिया है। और वह उसपर बहुत गहरा प्रभाव भी छोड़ता है। पर ऐसा बहुधा नहीं होता। साधारणतः ऐसा स्वप्न बहुत आवश्यकता पड़नेपर ही आता है।

क्या किसीको अपना स्वप्न बताना है?

बहुत ही मनोरंजक होगा यह। मैं तुम्हें एक उदाहरण दे सकती हूं। यदि तुममेंसे कोई स्वप्न बताये तो मैं उसकी व्याख्या कर सकती हूं।

मधुर मां, मैं एक स्वप्न बता सकता हूं।

आह! तुम! चलो, सुनें तुम्हारा स्वप्न।

एक दिन जब आप आशीर्वाद दे रही थीं तो मैं भी आपके पास गया, आपने मुझे अपनी बाँहोंमें ले लिया और कुछ देरतक लिये रहीं।

और तब? बस, इतना ही?

आपने मुझसे कुछ कहा भी, पर...

और वह क्या था यह तुम्हें याद नहीं रहा!

जी, नहीं।

(एक अन्य बालक) माताजी, कभी-कभी मैं आपको स्वप्नमें रोते देखता हूं।

क्या? मैं रोती हूं?

जी, हां; आपको देखता हूं

मैं, मैं रोती हूं? (हंसती हैं)

जी, हां।

जरा ठहरो!...ऐसा स्वप्न तब आता है जब तुम कुछ उदास होते हो, है न?

जी, शायद।

यह, वस्तुतः, बहुत सांकेतिक है। इसका ठीक-ठीक अर्थ है...न, यह मैं पीछे बताऊंगी। किन्तु सामान्यतया, इसका अर्थ यह होता है कि ऐसे प्रत्येक समय जब व्यक्ति स्वयं दुःखी होता है तो मानों भगवान्‌के सामूहिक दुःखके साथ एक और दुःख जुड़ जाता है।

भगवान् 'जड़-पदार्थ'में गहरी करुणाकी स्थितिसे कार्य करते हैं। और वह गंभीर भागवत करुणा 'जड़-पदार्थ'में ठीक इस आंतरात्मिक दुःखमें अनूदित होती है जिसके विषयमें यहां चर्चाकी गयी है।[1] हमने आज सायंकाल यही तो पढ़ा था। यह तो मानों ऐसे हुआ कि कोई वस्तु उलट दी गयी हो, वस्तु वही है पर इस प्रकार उलटी रख दी गयी है (माताजी अपने हाथोंको इकट्ठा करके समर्पणकी मुद्रामें खोलती हैं।)

हां, तो भागवत करुणाकी यह अवस्था चैत्य चेतनामें एक ऐसे दुःखमें अनूदित होती है जो अहंभावयुक्त नहीं होता। यह एक ऐसा दुःख है जो वैश्व दुःखके साथ सहानुभूतिके द्वारा तादात्म्य अभिव्यक्त करता है। 'प्रार्थना और ध्यान' पुस्तकमें मैंने यह कहा है (अंतकी किसी प्रार्थनामें), मैंने अपनी एक अनुभूतिका वर्णन किया है : "मैंने उस दिन अपने जीवनके मधुरतम आंसू बहाए।"[2] कारण, मेरा यह रोना अपने लिये नहीं था, समझे। हां, तो यही बात है। तुम यह जानते तो हो ही न कि मनुष्य सदा अहंभावयुक्त कारणोंसे मानवीय रूपसे दुःख पाते हैं। दृष्टान्तार्थ (मैं यह तुम्हें कई बार बता भी चुकी हूं), जब वे अपने किसी प्रेमपात्रको खो देते हैं तो वह दुःखी होते हैं और रोते हैं, वे उस व्यक्तिकी अवस्थाके लिये नहीं रोते, क्योंकि अधिकतर तो ऐसा होता है — निन्यानवे प्रतिशत — कि वे उस व्यक्तिकी अवस्था जानते ही नहीं, वे यह भी नहीं जान सकते कि वह व्यक्ति सुखी है या दुःखी, वह कष्ट पा रहा है या शान्तिमें है, वे रोते हैं बिछोहकी भावनाके कारण, जिसे वे स्वयं अनुभव करते हैं; क्योंकि वे उस व्यक्तिको अपने निकट चाहते थे और वह चला गया है। अतएव, मानवीय दुःखकी जड़में व्यक्ति सदा अपनी ओर ही मुड़ता है, यह थोड़े-बहुत चेतन रूपमें होता है, इसे थोड़ा-बहुत (कैसे कहा जाय?) माना भी जाता है, किन्तु होता सदा ऐसा ही है। जब व्यक्ति दूसरेके दुःखके लिये रोता है, तब भी, सदा मिश्रण होता है। मिश्रण होता है, किन्तु ज्यों ही इस दुःखमें चैत्य तत्त्व आ जाता है, त्यों ही सत्तामें "विपरीत दबावाम" उदय होता है

---

[1] "प्र० — आजकल मैं बहुत तीव्र पीड़ाका अनुभव करता हूं जिससे मेरी आंखोंमें आंसू आ जाते हैं। उसमें कोई कमजोरी या बाधा नहीं होती, बल्कि उसमें शान्ति, पवित्रता और गंभीरताका अनुभव भरा होता है। क्या यही वह चीज है जिसे चैत्य-दुःख कहते हैं?

"उ० — हां, इस तरहका चैत्य दुःख होता है — लेकिन यह जरूरी नहीं है कि चैत्य आंसू दुःखके हों। भावावेग और आनन्दके भी आंसू होते हैं।"

[2] 'प्रार्थना और ध्यान', १२ जुलाई, १९१४।

(यही बात मैं अभी-अभी कहनेकी कोशिश कर रही थी), और यदि व्यक्ति उन दोनोंको अलग-अलग कर सके, उसपर अपने-आपको केन्द्रित कर सके तथा अपने अहंभावसे निकलकर इस विपरीत करुणाके साथ संयुक्त हो सके, तो इसके द्वारा वह उस महान् वैभव 'करुणा'के संपर्कमें आ सकता है जो एक असीम, विशाल, स्थिर, शक्तिशाली, गहन और पूर्ण शान्ति एवं असीम मधुरतासे परिपूर्ण वस्तु है। मेरा अभिप्राय यही होता है जब मैं कहती हूं कि यदि व्यक्ति अपने दुःखको गहन बना सके, उसके ठीक केन्द्रमें पहुंच सके, अपने अहंभावयुक्त और वैयक्तिक भावसे ऊपर उठकर गहराईमें जा सके, तो वह एक महान् अनुभूतिका द्वार खोल सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें दुःखके लिये दुःखकी चाह करनी चाहिये, किन्तु जब वह हो, जब वह तुमपर आक्रमण करे, तब यदि तुम दुःखके अहंसे ऊपर उठ सको — पर पहले यह देख लेना चाहिये कि अहंभावपूर्ण भाग कौन-सा है, कौन-सी वस्तु तुम्हें दुःख दे रही है, तुम्हारे दुःखका अहंभावयुक्त कारण कौन-सा है और इस सबसे ऊपर उठकर गहराईमें जाकर तुम एक सर्वव्यापी वस्तुकी ओर, एक गंभीर और सारभूत सत्यकी ओर मुड़ते हो, तभी तुम उस असीम 'करुणा'में प्रवेश करते हो, और तब, वहां सचमुच चैत्यका द्वार खुल जाता है। अतएव, यदि कोई मुझे आंसू बहाता देखे तो उस समय यदि वह उन आंसुओंके साथ पूर्ण तथा एक होनेकी कोशिश करे, दूसरे शब्दोंमें, उनके अन्दर प्रवेश करके उनमें घुल-मिल जाय तो वह द्वार खुल सकता है। व्यक्ति द्वार खोल सकता है और संपूर्ण अनुभूति, एक अनोखी और विशेष अनुभूति प्राप्त कर सकता है जो अपने पीछे तुम्हारी चेतनापर गहरा प्रभाव छोड़ जाती है। साधारणतया यह प्रभाव कभी नहीं मिटता। किन्तु यदि द्वार पुनः बन्द हो जाय और तुम फिरसे वही बन जाओ जो तुम अपनी सामान्य गतिविधियोंमें हो तो भी वह अनुभूति कहीं, पृष्ठभूमिमें बनी रहती है और तुम तीव्र एकाग्रताके क्षणोंमें दुबारा उसे पा सकते हो; तुम एक असीम माधुर्य एवं विपुल शान्तिको दुबारा अनुभव कर सकते हो, एक ऐसी शान्तिको जो... सब कुछ समझती है किन्तु बौद्धिक रूपमें नहीं, जो समस्त दुःखको अनुभव कर सकती है, सभी वस्तुओंको अपने अन्दर समेट सकती है, अतः उनका दुःख दूर कर सकती है।

स्वभावतया, बात सदा वही होती है: व्यक्तिको... सच्चे दिलसे दुःखसे मुक्त होनेकी इच्छा करनी चाहिये, नहीं तो उसे सफलता नहीं मिलेगी। यदि कोई अनुभूतिकी ही खातिर यह अनुभूति प्राप्त करना चाहे और अगले क्षण अपनी पहलेकी सामान्य स्थितिमें लौट आये तो यह कार्य संभव नहीं होता।

किंतु यदि वह सचमुच अपना दुःख दूर करना चाहता है, यदि वास्तविक विजय प्राप्त करनेकी उसकी अभीप्सा सच्ची है तो उसे अपने-आपसे ऊपर उठना होगा, उस सबका त्याग कर देना होगा जो उसे पीछेकी ओर खींचता है, सीमाओंको तोड़ देना होगा, जो वस्तु उसके मार्गको अवरुद्ध करती है उसे अलग करके अपने-आपको स्वच्छ एवं निर्मल बनाना होगा। यदि उसमें सचमुच दृढ़ संकल्प है कि वह अब पुरानी भ्रांतियोंमें न पड़े, अंधकार और अज्ञानसे ऊपर उठकर तथा सभी अत्यधिक मानवी, तुच्छ एवं अज्ञानपूर्ण वस्तुओंको पूर्णतः त्यागकर प्रकाशमें प्रवेश करे, तो बात बन सकती है। तब यह कार्य बहुत शक्तिशाली रूपमें होता है। कभी-कभी तो यह निश्चित एवं सर्वांगीण रूपमें भी हो जाता है। किंतु व्यक्तिमें एक भी ऐसी वस्तु नहीं होनी चाहिये जो पुरानी क्रियाओंसे चिपटी रहे, जो उस समय तो चुप रहकर अपने-आपको छुपा ले और बादमें आगे आकर कहे: "हां, हां, यह सब बहुत अच्छा है, यह तुम्हारी अनुभूति आदि ठीक है, किंतु अब मेरी बारी है!" और जब ऐसा हो जाय, तो फिर मैं किसी बातका उत्तर नहीं देती, क्योंकि कभी-कभी तो प्रतिक्रिया-स्वरूप कार्य और भी बिगड़ जाता है। इसलिये, मैं सदा इसी बातपर लौट आती हूं, सदा यही बात कहती हूं: व्यक्तिको वास्तविक रूपमें सच्चा और निष्कपट होना चाहिये, हां, वास्तविक रूपमें।

यदि उसमें कोई ऐसी वस्तु है जो उसके साथ चिपटी हुई, जोरसे चिपटी हुई है तो उसे पूर्णतया काटकर फेंक देनेके लिये तैयार रहना चाहिये, और इस प्रकार कि उसका जरा भी निशान बाकी न रहे। इसलिये व्यक्ति बार-बार वही गलतियां दोहराता है और तबतक दोहराता रहता है जबतक कि दुःख इतना बड़ा न हो जाय कि उसे अपनेमें पूर्ण सच्चाई लानेके लिये विवश करे। पर तुम्हें यह तरीका न अपनाना चाहिये, यह बुरा तरीका है। बुरा इसलिये है कि यह कई वस्तुओंको नष्ट कर देता है। यह अत्यधिक शक्तिका अपव्यय करता है, और बुरे स्पन्दन फैलाता है। किंतु यदि व्यक्ति अन्यथा न कर सके, तो फिर दुःखकी तीव्र अवस्थामें अपने अंदर पूर्ण सच्चाईको प्राप्त करनेका संकल्प हो सकता है।

एक ऐसा क्षण होता है — प्रत्येकके जीवनमें एक ऐसा क्षण होता है — जब पूर्ण सच्चाईकी यह आवश्यकता निर्णायक चुनावके रूपमें आती है, वैयक्तिक जीवन और सामूहिक जीवनमें भी, जब व्यक्ति एक दलका सदस्य होता है। एक ऐसा क्षण आता है जब उसे यह चुनाव करना ही पड़ता है, जब शोधनकी यह क्रिया करनी ही पड़ती है। कभी-कभी यह सब बहुत

गंभीर रूप धारण कर लेता है, समूहके लिये वह लगभग जीवन और मृत्युका प्रश्न बन जाता है : यदि उसे जीवित बचना है तो उसे एक निश्चित प्रगति करनी ही होगी।

(मौन)

कोई और स्वप्न?

(पहला बालक) माताजी, आपने मेरे स्वप्नका अर्थ नहीं बताया।

कोई व्याख्या नहीं है, मेरे बच्चे। तुमने वह वस्तु देखी जिसके प्रति तुम भौतिक सत्तामें सचेतन नहीं हो, बस, इतना ही। 'शक्तियां' तो सदा उपस्थित रहती हैं, स्नेह, प्रेम, सहायता, आदिसे भरपूर... पर व्यक्ति इन सबके प्रति सचेतन नहीं होता, क्योंकि वह अत्यधिक संकीर्ण और क्षुद्र चेतनामें निवास करता है। इसमें कुछ भी बतानेकी आवश्यकता नहीं है, ये चीजें समझायी नहीं जातीं। ये तो तथ्य हैं। यदि तुम चाहो तो इसे एक अनुभूति, एक तथ्यके रूपमें देख सकते हो। वहां कुछ होता है, और वह तुम्हारे मस्तिष्कमें अनूदित हो जाता है। जागनेपर तुम्हें जो बात याद रहती है वह तुम्हारे स्वप्नका एक प्रकारका उल्था ही होता है। ऐसा बहुत कम होता है कि व्यक्ति अनुभूतिके होते समय उसके प्रति अथवा उसके वास्तविक रूपके प्रति सचेतन रह सके। इसके लिये व्यक्तिको रात्रिमें बहुत सचेतन रहना चाहिये, निद्रामें भी बहुत जाग्रत रहना चाहिये, जब कि साधारणतया ऐसा नहीं होता। सत्ताके, वस्तुतः, एक भागको अनुभूति होती है; जब वह भाग जो शरीरके बाहर गया होता है उसके अंदर दोबारा प्रवेश करता है और अनुभूतिको अपने साथ ले आता है, तो मस्तिष्कके साथ इस अनुभूतिका संपर्क जुड़ जाता है और फिर, वह इसे प्रतिरूपों, शब्दों, विचारों, संस्कारों और भावनाओंमें अनूदित कर देता है, और तब जागनेपर व्यक्ति उसके जिस अंशको पकड़ पाता है उसे वह "स्वप्न" कहता है। किंतु वह जो हुआ है उसकी एक प्रतिलिपि मात्र होती है — जो वास्तविक अनुभूतिसे सादृश्य या समानता तो रखती है, किंतु यथार्थतः वह चीज नहीं होती जिसे व्यक्ति स्वप्नके रूपमें ग्रहण करता है।

अपनी रात्रिकी अनुभूतिमें, जिसने इस स्वप्नको जन्म दिया, तुम उन शक्तियोंके संपर्कमें आये जो सदा व्यक्तिको घेरे रहती हैं, उसे सहायता देती तथा उसका पोषण करती हैं, और... समझ रहे हो न? — जो प्रेम और

कोमल भावसे भरपूर हैं, जो उन सबकी, जो वहां जाते हैं, सहायता करती हैं, उनका स्वागत करती हैं — जो वस्तुतः सदा और सर्वत्र उपस्थित और कार्यरत रहती हैं। इसीलिये तुम उन्हें जान भी सके। जब तुम जागे तो यह सब तुम्हारे संमुख परिचित प्रतिरूपोंमें अनूदित हो गया, अर्थात्, तुम मेरे पास आशीर्वाद लेने आये और तब वहां क्योंकि एक नयी अनुभूति भी थी — वेष्टित करनेवाली और सहायता पहुंचानेवाली शक्ति के साथ संपर्ककी अनुभूति — तुम्हें यह भान हुआ कि मैंने तुम्हें अपनी बांहोंमें ले लिया है। हां, तो यह सब इस प्रकार अनूदित हुआ। तथ्य मौजूद है; इसका उत्था तुम्हारे मस्तिष्कका किया हुआ है।

कुछ लोग रात्रिमें मुझसे बहुत अजीब-अजीब चीजें करवाते हैं! मैंने ऐसी कई अनोखी कहानियां सुनी हैं। किंतु बात सदा वही होती है: उनके पीछे एक तथ्य होता है। वे एक विभूति, शक्ति या किसी क्रियाके संपर्कमें आते हैं, जैसा कि मैं अभी कह रही थी, लेकिन तब, उसके मस्तिष्कमें वह वस्तु ऐसे प्रतिरूपोंमें अनूदित हो जाती है जो कभी-कभी बहुत विचित्र होते हैं! किंतु यह वास्तवमें होता है उनका अपना अनुवाद ही। जहांतक मेरा संबन्ध है, जब वे यह सब मुझे बताते हैं, मेरे सामने उनकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतनाकी अवस्थाका यथार्थ चित्र खिंच जाता है। अनुवादकी विकृति ही मुझे यह बता देनेके लिये पर्याप्त है कि उनके मनकी क्या अवस्था है। और मैं उन्हें यह भी नहीं कह सकती: "मैं वह नहीं थी," क्योंकि मैं वह थी! केवल उन्होंने इसे अपने ढंगसे बदल दिया है जो कभी-कभी आश्चर्यजनक होता है! तो भी, तुम्हारे उदाहरणमें प्रतिरूप बहुत सुन्दर है।

हां तो, मेरे बच्चो, कुछ और?

मधुर मां, पिछले सप्ताह मुझे भी एक स्वप्न आया था।

बहुत अच्छा, बताओ।

तूफानके बादकी एक शाम थी और मैं समुद्रके किनारे खड़ा था। समुद्र बहुत पीछेकी ओर हट गया था और वहां एक गांव था जहां मैंने पत्थरके घोड़े देखे। घोड़े गिनतीमें, संभवतः, चार थे, वे काले पत्थरके थे, और उनसे ऊपर, अलग एक सफेद घोड़ा था जो शायद संगमरमरका था, और उसपर कई रंग चमक रहे थे।

यह तब हुआ जब समुद्र हट गया था?

जी, हां।

यह यहींकी बात है या कहींकी भी? मेरा अभिप्राय यह है कि वह समुद्र कहीं औरका था या यहींका? क्या तुम यहांके समुद्रके किनारे खड़े थे?

वह 'टेनिस ग्राऊंड'की बात है।

ओह! तुम 'टेनिस ग्राऊंड'से देख रहे थे?

जी, हां। मैं वहांसे प्रकाश-स्तंभ भी देख सकता था।

प्रकाशस्तंभ। चार काले घोड़े और एक सफेद घोड़ा।

संख्या निश्चित नहीं है।

ओह!

सफेद घोड़ा एक ही था!

अवश्य ही।

संभवतः यह बात पांडिचेरीके भविष्यसे संबन्ध रखती है। खेद है कि तुम्हें संख्या याद नहीं, इससे कुछ संकेत मिल सकता। तूफान भी आया था न?

जी, हां, तूफान।

और समुद्र इसके बाद पीछे हटा।

जी, हां।

आह! यह प्रतीकात्मक है।

तब आकाश बहुत निर्मल था।

हां, हां। तूफानके बाद आकाश निर्मल ही होता है।

...मैं इस विषयमें निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कह सकती, क्योंकि इसमेंसे कुछ बातें छूट गयी हैं, किंतु तो भी, संभवतः इसका संबन्ध पांडिचेरीके भविष्यसे हो। देखेंगे।

किंतु आप बिना स्वप्नके भी तो पांडिचेरीका भाग्य बता सकती हैं!

स्वप्नके बिना? (हंसी) आह!

ठीक है, अभी तो हम तूफानसे घिरे हैं। जब समुद्र पीछे हटेगा तब देखेंगे। (हंसी)

(एक और बालक) मुझे भी एक स्वप्न आया था कि मैं आपके पास आया और आपने आशीर्वाद-स्वरूप मुझे तीन फूल दिये: "मानसिक निष्कपटता", "समर्पण" और तीसरा शायद था "स्थिर मन"।

यह बहुत अच्छा है, यह बहुत आवश्यक है (हंसी)।

यह सत्य है। अब तुम्हें मनको स्थिर करनेके लिये, उसमें समर्पण लाने और पूर्णतया निष्कपट बननेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह तो बहुत अच्छा है, यह एक कार्यक्रम है — बादमें तुम्हें इसीपर एकाग्र होना चाहिये।

अच्छा तो, मेरे बच्चो, बस?

मेरा ख्याल है अब हम समाप्त करते हैं।

२ जून, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व' के नवें अध्याय "अनुभूतियां और अंतर्दृष्टियां" और दसवें अध्याय "काम" पर आधारित है।)

आज कोई प्रश्न नहीं है? मैं सोच रही थी कि आज ध्यान किया जाय।

ध्यान न कर सकनेके क्या कारण हैं?

क्योंकि तुमने ध्यान करना नहीं सीखा।

तुम्हारे अंदर अचानक यह विचार आता है: "चलो, आज हम ध्यान करेंगे।" तुमने पहले कभी नहीं किया। तुम बैठ जाते हो और कल्पना करने लगते हो कि तुम ध्यान करना शुरू कर रहे हो। किंतु ध्यान भी उसी प्रकार सीखनेकी चीज है जिस प्रकार गणित अथवा पियानो बजाना सीखा जाता है। यह ऐसे ही नहीं सीख लिया जाता! ध्यान करनेके लिये पालथी मारकर और दोनों हाथोंको गोदमें रखकर बैठना ही पर्याप्त नहीं है। तुम्हें ध्यान करना सीखना होगा। ध्यान कैसे किया जाय इसके लिये सर्वत्र कई प्रकारके नियम दिये गये हैं।

जब तुम बहुत छोटे थे तब जैसे तुम्हें, उदाहरणके लिये, बैठना सिखाया गया था, वैसे ही कुछ न सोचना अर्थात् चुपचाप बैठना या किसी वस्तुपर एकाग्र होना अथवा अपने विचारोंको इकट्ठा करना सिखाया जाता, अथवा ... ध्यान करनेके समान ही अन्य कई बातें सिखायी जातीं जिन्हें व्यक्तिको सीखना चाहिये; जब तुम्हें, उदाहरणके लिये, सीधा खड़ा होने, चलने, बैठने, खाने आदि की शिक्षा दी गयी थी — तुम्हें कई बातें सिखायी जाती हैं, किंतु तुम उसके प्रति सचेतन नहीं होते, क्योंकि वे बहुत ही छोटी अवस्थामें सिखायी जाती हैं — तभी यदि तुम्हें ध्यान करना भी सिखाया गया होता, तो बादमें तुम जिस दिन भी ध्यान करनेका निश्चय करते, उसी दिन सहज भावसे ध्यान कर पाते। किंतु तुम्हें यह शिक्षा मिली नहीं। तुम्हें इस प्रकारकी कोई भी शिक्षा मिली नहीं। वस्तुतः, तुम्हें बहुत कम बातें सिखायी जाती हैं — तुम्हें सोना भी तो नहीं सिखाया जाता। लोग सोचते हैं कि बस, बिस्तरपर पड़ रहो और तुम सो जाओगे। किंतु यह सत्य नहीं है! व्यक्तिको सोना उसी प्रकार सीखना चाहिये जिस प्रकार वह खाना, या कोई और कार्य करना सीखता है। यदि वह नहीं सीखता तो स्वभावतया वह इसे बुरी तरह करेगा! या उसे सीखनेमें वर्षों लगेंगे, और उन सब वर्षोंमें, जब वह उसे ठीक ढंगसे नहीं करता, उसके साथ बहुत-सी अप्रिय घटनाएं घट सकती हैं। तब बहुत कष्ट सहनेके बाद, बहुत गलतियां करनेके बाद, बहुत-सी मूर्खताएँ करनेके बाद और जब व्यक्ति बूढ़ा भी हो जाता है और बाल सफेद हो जाते हैं, तभी वह धीरे-धीरे जानना शुरू करता है कि कोई चीज कैसे की जाये। किंतु जब तुम काफी छोटे थे, तब यदि तुम्हारे माता-पिता या संरक्षक तुम्हें यह सिखानेका कष्ट करते कि तुम जो करो उसे कैसे करना चाहिये, उसे

करनेका ठीक और उचित ढंग क्या है तो तुम इन सब कठिनाइयोंसे बच जाते जो तुमने इन सब वर्षोंमें की हैं। यही नहीं कि तुम गलतियां करते हो, कोई तुमसे यह भी नहीं कहता कि ये गलतियां हैं! अतः तुम्हें आश्चर्य होता है कि तुम बीमार पड़ गये या थक गये। तुम यह जानते ही नहीं कि जो तुम करना चाहते हो, उसे कैसे किया जाय, तुम्हें कभी शिक्षा ही नहीं मिली। कई बच्चोंको कुछ भी नहीं सिखाया जाता, और इसलिये उन्हें अति साधारण बातों, प्रारंभिक बातको भी सीखनेमें, उदाहरणके लिये, साफ रहना सीखनेमें कई वर्ष लग जाते हैं।

यह सत्य है कि अधिकतर तो माता-पिता यह सब नहीं सिखाते क्योंकि वह स्वयं इसे नहीं जानते! कारण, उन्हें भी यह सब सिखानेवाला कोई न था। अतएव वे भी कुछ नहीं जानते। यह जाननेके लिये कि जीवनको कैसे जीना चाहिये, वे स्वयं ही उम्र-भर अंधेरेमें टटोलते रहते हैं। इसलिये स्वभावतया वे तुम्हें जीना सिखानेमें असमर्थ हैं, क्योंकि वे स्वयं ही नहीं जानते। पर यदि तुम्हें यह स्वयं सीखना पड़े तो वर्षों के अनुभवसे ही तुम अति साधारण सीख सकोगे, और तभी तुम्हें उस विषयपर सोचना होगा। यदि न सोचो तो कभी न सीख सकोगे।

ठीक ढंगसे जीना एक कठिन कला है, और यदि व्यक्ति बहुत छोटी उम्रसे ही सीखना और प्रयत्न करना शुरू नहीं करता तो वह उसे भली प्रकार कभी नहीं सीख सकता। अपने शरीरको स्वस्थ और मनको शांत रखने और हृदयमें सद्भावना संजोनेकी कला संतोषजनक ढंगसे जीनेके लिये अति आवश्यक है (मैं आरामसे या किसी विशेष ढंगसे जीनेकी बात नहीं कर रही, मैं केवल संतोषजनक ढंगसे जीनेकी बात कर रही हूं) हां, तो, मेरे विचारमें, ऐसे व्यक्ति बहुत नहीं हैं जो बच्चोंको यह बात सिखानेकी परवाह करते हैं।

बस?

मधुर मां, क्या हमें पढ़ाईके अतिरिक्त कुछ और काम भी करना चाहिये?

कोई और काम? यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है। यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है और इसपर कि वह क्या चाहता है। यदि तुम साधना करना चाहते हो, तो स्पष्ट ही तुम्हें कम-से-कम, आंशिक रूपमें ही सही, कोई ऐसा काम करना चाहिये जिसमें तुम्हारा स्वार्थ न हो, दूसरे शब्दोंमें, जो केवल अपने लिये ही न किया गया हो। अन्यथा

करना तो बहुत ठीक है, यह अत्यन्त आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है, किंतु यह उस शिक्षाका केवल एक अंग है जिसके विषयमें मैं अभी कुछ देर पहले तुम्हें बता रही थी तथा जिसे तुम्हें अपनी छोटी अवस्थासे ही पाना चाहिये। कारण, जब तुम बड़े हो जाते हो तो यह सब सीखना कहीं अधिक कठिन हो जाता है — किंतु एक ऐसी आयु होती है जब कि वह आवश्यक अध्ययन कर सकता है जो उसके अंदर नींवका काम करता है, साथ ही, यदि व्यक्ति साधना करना चाहता है तो उसे कोई ऐसा काम भी करना चाहिये, जिसमें उसका केवल निजी हेतु ही न हो। कुछ निःस्वार्थ काम भी करना चाहिये, क्योंकि यदि वह पूर्णतया अपनेमें ही व्यस्त रहेगा तो वह कछुएके समान एक प्रकारसे अपने ही खोलमें बंद रहेगा और वैश्व शक्तियोंके प्रति नहीं खुलेगा। एक छोटी-सी निःस्वार्थ क्रिया, एक छोटा-सा कार्य जिसमें व्यक्तिका अपना कोई अहंभावयुक्त हेतु नहीं होता, एक ऐसी वस्तुके लिये द्वार खोल देता है जो उसके अपने क्षुद्र और छोटे-से व्यक्तित्वसे एकदम अलग है।

व्यक्ति साधारणतया अपने घोंघेमें ही बन्द रहता है, और वह दूसरे घोंघोंके बारेमें तभी जानता है जब उसे कोई आघात लगे या संघर्ष हो। किंतु इस 'शक्ति'की, जो हर समय घूमती रहती है, और सत्ताओंकी इस पारस्परिक निर्भरताकी चेतना बहुत विरल है। यह साधनाकी अनिवार्य अवस्थाओंमेंसे एक है।

माताजी, क्या व्यक्ति भगवान्‌के लिये अध्ययन नहीं कर सकता?

इसका अर्थ?

क्या व्यक्ति अपने लिये अध्ययन न करके भगवान्‌के लिये अध्ययन कर सकता है, भागवत कार्यके लिये अपने-आपको तैयार कर सकता है?

हां, यदि तुम इस भावनाके साथ अध्ययन करो कि तुम्हें उनका यंत्र बननेके लिये अपना विकास करना है। सचमुच, यह एक बिल्कुल ही अलग भावनासे किया जाता है, है न? — बिल्कुल अलग भावनासे। तब सबसे पहले तो ऐसे विषय ही न रहेंगे जिन्हें तुम पसंद करते हो, न ही वे जिन्हें तुम पसंद नहीं करते, ऐसी कक्षाएं भी नहीं होंगी जो तुम्हें उबा देती हैं या नहीं उबातीं, न ही ऐसी वस्तुएं जो तुम्हें कठिन लगती हैं या कठिन

नहीं लगतीं, ऐसे अध्यापक भी नहीं, जो तुम्हें प्रीतिकर लगते हैं या नहीं लगते — यह सब तत्काल समाप्त हो जाता है। तब व्यक्ति एक ऐसी अवस्थामें प्रवेश करता है जिसमें जो भी हो उसे वह भगवान्‌के कार्यके लिये अपने-आपको तैयार करनेके अवसरके रूपमें लेता है, और तब सब कुछ रोचक हो जाता है। स्वभावतया यदि, कोई ऐसा कर रहा है तो यह बिल्कुल ठीक है।

आपने जो 'बुलेटिन'में "मनको शिक्षा" देनेकी बात कही है, उसका अर्थ यह है कि व्यक्ति इसीलिये अपने-आपको शिक्षित करता है, भगवान्‌के लिये ही वह जीवन धारण करता है, और अध्ययन भी करता है। तो क्या यह भगवान्‌के लिये किया गया कार्य नहीं है?

हां, हां, हां। यदि इस उद्देश्यसे किया जाय तो यह बहुत अच्छा है। किंतु उसका उद्देश्य यही होना चाहिये। उदाहरणार्थ, जब व्यक्ति जीवनके गहन नियमोंको समझना चाहता है, भगवान्‌द्वारा भेजे गये किसी भी संदेशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता है, यदि वह 'अभिव्यक्ति'के गुप्त रहस्योंमें प्रवेश पाना चाहता है तो इस सबके लिये एक विकसित मनकी आवश्यकता होती है; अतएव, व्यक्ति इसी संकल्पके साथ अध्ययन करता है। किंतु तब उसे अध्ययनके लिये चुनाव करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि तब कोई भी वस्तु, जीवनकी एक छोटी-सी परिस्थिति भी शिक्षक बन जाती है, वह तुम्हें कुछ-न-कुछ सिखा सकती है, वह सोचना और कार्य करना भी सिखाती है। बल्कि (मैंने शायद ठीक यही कहा भी था), एक अज्ञानी बालकके विचार भी तुम्हें एक ऐसी वस्तुको समझनेमें सहायता दे सकते हैं जिसे तुम पहले नहीं समझे थे। तुम्हारी वृत्ति तब इतनी भिन्न होती है कि वह सदा किसी खोजकी, प्रगतिके अवसरकी, किसी गलत चेष्टाके शोधनकी, एक पग आगे बढ़नेकी प्रतीक्षामें रहती है। वह एक तरहसे ऐसे चुंबकका कार्य करती है जो चारों ओरसे प्रगतिके अवसरको अपनी ओर खींच लेती है। छोटी-से-छोटी वस्तु भी तुम्हें प्रगतिके मार्गपर चला सकती है। चूंकि तुम्हारे अंदर प्रगति करनेकी चेतना और संकल्प होते हैं, प्रत्येक वस्तु तुम्हारे लिये विकास करनेका साधन बन जाती है, और फिर तुम विकास करनेकी इस चेतना और संकल्पको सब वस्तुओंपर प्रक्षिप्त कर सकते हो।

और यह तुम्हारे लिये ही नहीं, उन सब लोगोंके लिये भी लाभकारी है जो तुम्हारे इर्द-गिर्द हैं और तुमसे संपर्क रखते हैं।

अब हम सिर्फ तुम्हारी कक्षाके बारेमें, स्कूलकी कक्षाका प्रश्न लेते हैं। जैसे केवल एक अनुशासनहीन, आज्ञा न माननेवाला और दुर्भावना रखनेवाला बच्चा सारी कक्षाको अस्त-व्यस्त कर सकता है (और इसलिये कभी-कभी उसे कक्षासे बाहर निकालना पड़ता है, क्योंकि कक्षामें उसकी उपस्थिति ही कक्षाको पूरी तरह अव्यवस्थित करनेके लिये काफी होती है), इसी प्रकार यदि किसी विद्यार्थीकी वृत्ति बिल्कुल ठीक हो, उसमें सब कुछ सीखनेकी संकल्प-शक्ति हो, जिसके लिये बोला हुआ एक-एक शब्द, किया गया हर संकेत कुछ सीखनेका अवसर बन जाता है — कक्षामें ऐसे बालककी उपस्थिति उससे उल्टा प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, और पूरी कक्षाको शिक्षाके क्षेत्रमें ऊंचा उठा सकती है। यदि वह चेतन रूपसे सीखने और ठीक रास्तेपर चलनेकी तीव्र अभीप्सा रखता है तो उसका प्रभाव दूसरोंपर भी पड़ सकता है...। यह सच है कि आजकल जो वस्तुस्थिति है उसमें बुरा उदाहरण अच्छे उदाहरणसे अधिक संक्रामक होता है! बुरे उदाहरणका अनुसरण व्यक्ति सरलतासे कर लेता है, अच्छेका उतना नहीं, किंतु अच्छा उदाहरण भी उपयोगी तो होता ही है, जब कक्षामें एक सच्चा विद्यार्थी केवल इसीलिये हो कि वह कुछ सीखना चाहता है, और इसके लिये वह प्रयत्न भी करता है, सीखनेके प्रत्येक अवसरमें गहन रुचि लेता है — तो यह बात एक ठोस वायुमण्डल पैदा कर देती है।

तुम सहायता कर सकते हो।

माताजी, यहां कार्य करनेमें कई लोग अपनी सनकोंकी संतुष्टिके लिये बहुत-सा पैसा नष्ट कर देते हैं, ऐसा क्यों होता है?

केवल पैसा ही नष्ट नहीं होता!

'ऊर्जा', 'चेतना' हजारगुनी अधिक, बल्कि **असीम** रूपमें नष्ट होती है। यदि यह अपव्यय न होता... तो मेरे विचारमें यहां आश्रम ही न होता! एक सेकिंड भी ऐसा नहीं जाता जब कोई अपव्यय नहीं होता — कभी-कभी तो अवस्था इससे भी बुरी होती है। लोगोंको यह आदत है (मैं आशा करती हूं कि वह सचेतन नहीं है) कि व्यक्ति अधिक-से-अधिक 'ऊर्जा', 'चेतना', ग्रहण कर लेता है और फिर उसे व्यक्तिगत संतोषके लिये काममें लाता है; वस्तुतः, यह ऐसी चीज है जो प्रति मिनट हो रही है। यदि यह समस्त 'ऊर्जा', समस्त 'चेतना' जो लगातार तुमपर उंडेली जाती है, सच्चे उद्देश्यके लिये, यानी, भागवत कार्य और उसकी तैयारीके लिये प्रयुक्त की जाती तो हम मार्गपर बहुत आगे बढ़ गये होते, उससे कहीं आगे जहां

अब हैं। किंतु प्रत्येक व्यक्ति थोड़े-बहुत सचेतन रूपमें, सहज प्रवृत्तिवश तो अवश्य ही, इतनी 'चेतना' और 'शक्ति' आत्मसात् कर लेता है जितनी कर सकता है और ज्यों ही वह इस 'ऊर्जा'को अपने अन्दर अनुभव करने लगता है, वह उसे अपने व्यक्तिगत कार्योंमें अपनी संतुष्टिके लिये खर्च कर डालता है।

यह कौन सोचता है कि यह सारी 'शक्ति' जो यहां है, जो धन-शक्तिसे अनन्तगुनी अधिक बड़ी एवं अनन्तगुनी मूल्यवान् है, जो 'शक्ति' सचेतन और सतत रूपमें निरंतर इतने धैर्य और अध्यवसायके साथ केवल **एक मात्र उद्देश्य**के लिये — अर्थात्, भागवत कार्यकी पूर्तिके लिये — दी जा रही है, उसे व्यर्थमें न खर्च किया जाय, — ऐसा कौन सोचता है? यह कौन समझता है कि विकास करना, वस्तुओंको और अधिक अच्छी तरह समझने और जीवनको अच्छी तरह जीनेके लिये अपने-आपको तैयार करना व्यक्तिका पवित्र कर्तव्य है? कारण, व्यक्ति भागवत 'शक्ति'के **सहारे**, भागवत 'चेतना'के **सहारे** जीता है और फिर, अपने व्यक्तिगत स्वार्थमय उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये उसे खर्च कर देता है।

जब कुछ हजार रुपये खर्च हो जाते हैं तो तुम्हें धक्का लगता है, पर तब नहीं जब... 'चेतना' और 'शक्ति'की अजस्र धाराएं अपने सच्चे उद्देश्य-से विमुख कर दी जाती हैं!

यदि व्यक्ति पृथ्वीपर कोई भागवत कार्य करना चाहता है तो उसके पास मनों धैर्य और सहनशक्ति होनी चाहिये। व्यक्तिको शाश्वततामें रहना सीखना चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिमें चेतनाके उदय होनेकी, **सच्ची** पूर्णताकी चेतनाके उदय होनेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये।

९ जून, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व'के ग्यारहवें *अध्याय* "रूपांतर"पर आधारित है।)

"प्र० — जब कोई साधक आध्यात्मिक सत्यके प्रतीकवाला स्वप्न देखता है तो क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी प्रकृति-का रूपांतर हो रहा है?

"उ० — आवश्यक नहीं है। इससे यह पता चलता है कि वह साधारण लोगोंकी अपेक्षा ज्यादा सचेतन है, लेकिन स्वप्न प्रकृतिका रूपांतर नहीं करते।"

अगर तुम कोई पुस्तक पढ़ो तो वह तुम्हें अपना रूपांतर करनेमें सहायता देगी। लेकिन पुस्तक तुम्हारा रूपांतर नहीं करेगी। स्वप्न एक संकेत है, वह तुम्हें, तुम्हारे अंदर जो कुछ हो रहा है उसका ठीक-ठीक चित्र देता है, तुम्हारी आंतरिक अवस्था और तुम्हारे चारों ओरकी अवस्थाका चित्र, और इन संकेतोंसे तुम वह कर सकते हो जो तुम्हारे रूपांतरके लिये जरूरी है। लेकिन स्वयं स्वप्न तुम्हारा रूपांतर न करेगा।

अब... व्यक्ति हमेशा एक ही बात कहता है...। उसकी कथनी और करनीमें अंतर होता है। मैं यह वाक्य तुम्हारे आगे सौ बार पढ़ सकती हूं; इसमें कुछ वाक्य हैं, तुम जानते हो... मैं तुमसे यह बात बहुत बार कह चुकी हूं, बहुत बार, बहुत बार, और वे (श्रीअरविंद) इसे इतने स्पष्ट रूपसे कहते हैं, कहते हैं न? ये चीजें क्या हैं? (माताजी इन वाक्योंको खोजनेके लिये पन्ने पलटती हैं।) मैं उन्हें तुम्हारे आगे दोहराऊंगी, मैं उन्हें तुम्हारे आगे सैंकड़ों बार दोहराऊंगी, लेकिन जबतक तुम यह निश्चय न कर लो... (अचानक ध्वन्यांकन यंत्रसे चटकनेकी आवाज आती है; माताजी हंसती हैं और कहती हैं:) अब हम ही बिजलियां पैदा कर रहे हैं! (हंसी) ओह! यह कहां है? (एक बालकसे) तुम्हें मालूम है? (माताजी पृष्ठ पलटती जाती हैं और वाक्य[1]को पाकर उसे फिरसे पढ़ती हैं।) यह रहा!

"अपने ही विचारोंसे चिपटा हुआ मन"! देखो, मैंने यह बात कितनी बार कही है!.. "अपनी ही कामनाओंको पसन्द करता हुआ प्राण"! और तब मन प्राणका साथी बन जाता है और कामनाओंको बनाये रखनेके लिये प्रशंसनीय तर्क, व्याख्या और औचित्य प्रतिपादित करता है। ये चीजें उसके लिये बहुत उपयोगी हैं। मैंने लोगोंको यह कहते सुना है कि कामनाओंकी पूर्ति ही उनसे पिण्ड छुड़ानेका सबसे अच्छा तरीका है। वह इसे एक सिद्धांत बना लेते हैं। तुम अपनी कामनाओंको तुष्ट करते

---

[1] श्रीअरविंदने कहा कि रूपांतरके मार्गमें "तीन मौलिक बाधाएं" आ सकती हैं, उनमेंसे एक है "अहंकार — अपने ही विचारोंसे चिपटा हुआ मन, सच्चे समर्पणकी जगह अपनी ही कामनाओंको पसन्द करता हुआ प्राण, अपनी ही आदतोंसे बंधा हुआ भौतिक शरीर।"

लो और तब, स्वभावतः, दूसरी आ जाती हैं — हां तो, कामनाएं एक-दूसरेका स्थान बड़ी आसानीसे लेती रहती हैं, और तुम कामनाओंकी तुष्टिमें लग जाते हो और यह सोचते हो कि तुम उनसे पिण्ड छुड़ा रहे हो। इसमें तुम्हें कम-से-कम सौ जीवन तो लग ही जायेंगे!

और फिर, अंतमें, आदतें! ... यहां एक बड़ा सुन्दर-सा वाक्य है — जो मुझे पसन्द आया — जिसमें श्रीअरविंदसे पूछा गया है: "शरीर अपनी आदतोंसे चिपटा रहे" का क्या अर्थ है? शरीरकी वे कौन-सी आदतें हैं जिन्हें उसे निकाल फेंकना चाहिये? यह है उस भोजनके लिये घिनौनी, भयंकर अभिरुचि जिसे तुम बहुत छोटी अवस्थामें खाया करते थे, जिसे तुम उस देशमें खाया करते थे जहां तुमने जन्म लिया था और जिसके बारेमें तुम्हें ऐसा लगता है कि वह न मिले तो खाने लायक कुछ है ही नहीं, तुम दुःखी और अभागे हो।

पता नहीं, मेरा ख्याल है कि यहां एक दर्जन आदमी भी ऐसे न होंगे जिन्होंने आश्रममें आकर यह कहे बिना आश्रमका भोजन खाया हो: "ओह! मुझे इस भोजनकी आदत नहीं, यह बहुत कठिन है। और कितने लोग, कितने सैंकड़ों लोग अपना-अपना खाना पकाते हैं क्योंकि वे आश्रमका खाना नहीं खा सकते! (माताजी पुस्तक स्टूलपर पटक देती हैं।) और फिर, वे इसे न्यायोचित ठहराते हैं! तो यहींपर वे विचार आने लगते हैं: "मेरा स्वास्थ्य! मैं भली-भांति हजम नहीं कर पाता!" यह सब केवल उनके सिरमें ही होता है। इसमें सत्यका एक शब्द भी नहीं होता। **सत्यका एक शब्द भी नहीं**। यह एक निरंतर असत्य है जिसमें हर एक निवास करता है, और वस्तुतः, मैं तुम्हें बता सकती हूं कि मैं इसके बारेमें क्या सोचती हूं। तुम जन-साधारणकी भीड़से जरा भी आगे नहीं बढ़े हो!

मैं उन लोगोंको अपवाद रूप रखती हूं जो ऐसे नहीं हैं — वे बहुत, बहुत, बहुत ही विरल हैं। उन्हें उंगलियोंपर गिना जा सकता है। और सब-के-सब, सब, सभी इसे न्यायसंगत ठहराते हैं "ओह, मेरे बेचारे बच्चे! उन्हें ऐसा भोजन खानेकी आदत न थी। हम कैसे काम चलाएंगे? वे भोजनके इस परिवर्तनके कारण मर जायेंगे!" हां तो, मैं, वास्तवमें, उन्हें इसका एक इलाज बता सकती हूं। जहाजमें बैठो या रेल पकड़ो और दुनियाके चारों ओर कई चक्कर लगाओ। तुम हर देशमें उस देशका भोजन खाने-के लिये बाधित होते हो और ऐसा कई बार कर लेनेके बाद तुम अपनी मूर्खता समझ जाओगे! ... यह मूर्खता है! भयानक तमस्! तुम पेटकी आदतोंसे इस तरह बंधे होते हो। (माताजी हाथोंकी कुछ गति करती हैं।)

अब मेरे मनमें जो बात थी वह कह ली! तुम प्रश्न पूछ सकते हो।

(मौन)

कोई प्रश्न नहीं है?

माताजी, आपने 'प्रार्थना और ध्यान'में कहा है: "जो होना होगा वह होगा।" तो फिर हम निजी प्रयास क्यों करें?

"जो होना होगा वह होगा"? तुम जानते हो मेरा मतलब क्या था?—यह कि संसारके आरंभसे ऐसी भविष्यवाणियां होती आयी हैं कि एक नयी धरती और नयी मानवजाति आयेगी और भगवान् धरतीपर अभिव्यक्त होंगे; तो मैं कहती हूं, जो होना है वह अवश्य होगा; जिस चीजकी भविष्यवाणी की गयी है वह उपलब्ध होगी। तो बात यूं है, यही बात है। यह कोई छोटी-मोटी बिलकुल व्यावहारिक व्याख्या नहीं है, बिलकुल नहीं!

(कुछ देर मौनके बाद) किसीको कुछ नहीं पूछना? मैंने एक ही बारमें सब प्रश्नोंको समाप्त कर दिया! (हंसी)

मधुर मां, जिन लोगोंने यह भविष्यवाणी की थी, क्या वे...

वे वही लोग हैं जो उसे चरितार्थ करेंगे, मेरे बच्चे! जिन्होंने यह भविष्यवाणी की थी वे ही उसे चरितार्थ करेंगे, वे शताब्दियोंसे उसके लिये काम करते आ रहे हैं। हां तो?

लेकिन, मैं कहना चाहता था क्या उन्हें भी वही दृष्टि प्राप्त थी जो श्रीअरविन्दको प्राप्त है? 'अतिमानस'?

मैंने जो कहा है उसे तुम समझ गये होते तो यह प्रश्न न पूछते!

बस इतना ही? हम यहां सुरक्षित हैं, वर्षा नहीं हो रही, आरामकी जगह है। क्या यह तुम्हारे अंदर कुछ और जाननेकी इच्छा नहीं जगाती? क्यों? या तुम फिरसे दो टूक जवाब पानेसे डरते हो? (हंसी)

चैत्य पुरुषका क्या काम है?

चैत्य पुरुषका क्या काम है? तुम चाहते हो कि उसके पास कुछ काम हो? तुम ठीक-ठीक क्या कहना चाहते हो? उसकी क्या भूमिका है? ओह! बहुत अच्छा। हम इस तरह कह सकते हैं कि वह बिजलीके तारकी तरह है जो जेनरेटरको बत्तीके साथ जोड़ता है। अगर कोई कुछ समझा हो तो यह बताये कि मैंने क्या कहा!

जेनरेटर कौन-सा है और बत्ती कौन-सी? (हंसी)

लो, यह रहे! तो, जेनरेटर कौन-सा है और बत्ती कौन-सी? ठीक यही तो बात है। जेनरेटर क्या है, और बत्ती क्या है? या यूं कहें, कौन जेनरेटर है और कौन बत्ती?

भगवान् जेनरेटर हैं और शरीर बत्ती।

यह शरीर है, यह दृश्य सत्ता है।

तो यही उसका व्यापार है। इसका अर्थ यह है कि अगर 'जड़-तत्त्व'में चैत्य न होता तो वह भगवान्‌के साथ सीधा संपर्क न जोड़ पाता। सौमा-म्यवश 'जड़'में इस चैत्य उपस्थितिके कारण ही 'जड़' और भगवान्‌में सीधा संपर्क हो सकता है और सभी मनुष्योंसे कहा जा सकता है: "तुम भगवान्‌को अपने अंदर लिये हुए हो, तुम्हें बस अपने अंदर पैठना है और तुम उन्हें पा जाओगे।" यह मनुष्योंके लिये, बल्कि धरतीके वासियोंके लिये बहुत ही विशेष बात है। मनुष्यके अंदर चैत्य ज्यादा सचेत हो उठता है, ज्यादा सुगठित और ज्यादा सचेतन और स्वतंत्र भी होता है। वह मनुष्यों-में ही व्यक्तित्व लाभ करता है। लेकिन यह धरतीकी विशेषता है। यह अधिकतर निश्चेतन और अंधकारमय 'जड़-तत्त्व'के साथ सीधा, विशेष और मुक्तिदायक मेल है, ताकि वह फिरसे क्रमशः भागवत 'चेतना', भागवत 'सत्ता' और अंतमें स्वयं भगवान्‌की ओर खुल सके। चैत्य पुरुषकी उपस्थिति ही मनुष्यको एक असाधारण सत्ता बना देती है — मैं मनुष्यसे यह बात बहुत ज्यादा नहीं कहना चाहती, क्योंकि वैसे ही वह अपने बारेमें बहुत कुछ सोचता है; उसकी अपने बारेमें इतनी ऊंची राय है कि उसे प्रोत्साहन देनेकी जरूरत नहीं! परंतु फिर भी, यह एक तथ्य है — यहांतक कि विश्वके अन्य लोकोंकी ऐसी सत्ताएं भी जिन्हें लोग अर्ध देव या देवता कहते हैं, उदाहरणके लिये, वहांकी सत्ताएं भी जिसे श्रीअरविन्द 'अधिमानस' [illegible] हैं, वे भी धरतीपर भौतिक शरीर धारण करनेके लिये बहुत उत्सुक हैं, ताकि

चैत्यका अनुभव कर सकें। उनके अंदर चैत्य नहीं होता। निश्चय ही इन सत्ताओंमें ऐसे बहुत-से गुण होते हैं जो मनुष्यमें नहीं होते, लेकिन उनके अंदर इस दिव्य सत्ताका अभाव होता है जो बहुत अपवाद रूप और विशेष है और यह एक ऐसा तथ्य है जो धरतीके सिवाय और कहीं नहीं। इन सब उच्चतर लोकोंके वासियोंमें — 'उच्चतर मन', 'अधिमन' तथा अन्य लोकोंके वासियोंमें चैत्य सत्ता नहीं होती। हां, प्राण जगत्की सत्ताओंमें भी चैत्य नहीं होता, लेकिन उन्हें इसका दुःख नहीं है, उन्हें उसकी चाह भी नहीं होती। उनमें केवल बहुत ही विरल सत्ताएं, जो अपवादरूप होती हैं, जो परिवर्तित होना चाहती हैं, वे झटपट भौतिक शरीर धारण कर लेती हैं, वरना दूसरोंको इसकी चाह नहीं होती। कुछ चीज उन्हें बांधती है और एक ऐसे शासनके अधीन कर देती है जिसे वे नहीं चाहतीं।

लेकिन यह एक तथ्य है, अतः मुझे यह कहना पड़ता है कि यह ऐसा है। मनुष्यका यह एक अपवादिक गुण है कि उसके अंदर चैत्य सत्ता होती है, लेकिन सच पूछा जाय तो वह उससे बहुत लाभ नहीं उठाता। वह इसके साथ जैसा व्यवहार करता है, उससे ऐसा नहीं लगता कि वह इस गुणको बहुत, बहुत वांछनीय मानता हो। ठीक ऐसा ही! वह इसकी अपेक्षा मनके विचारों, प्राणकी कामनाओं और शरीरकी आदतोंको ज्यादा पसंद करता है।

पता नहीं तुममेंसे कितनोंने बाइबल पढ़ा है; वह पढ़नेमें बहुत रोचक नहीं है, और इसके अतिरिक्त, वह बहुत लंबा है। पर फिर भी बाइबलमें एक कहानी है जिसे मैंने हमेशा बहुत पसंद किया है। दो भाई थे। अगर मैं भूल नहीं कर रही तो — इसाओ और जैकब। हां, तो इसाओ बहुत भूखा था। कहानी इसी तरह चलती है, है न? मेरा ख्याल है कि वह शिकारी या ऐसा ही कुछ था; हां, तो कहानी इस प्रकार आगे चलती है। वह बहुत भूखा घर लौटा, और उसने जैकबसे कहा: "मैं बहुत भूखा हूं।" वह इतना भूखा था कि उसने कहा: "सुनो, यदि तुम अपना यह शोरबा दे दो" (जैकब कोई स्टू बना रहा था), "यदि तुम अपना शोरबेका बरतन दे दो तो मैं तुम्हें अपना जन्माधिकार दे दूंगा।" तुम जानते हो, व्यक्ति इस कहानीको बिलकुल ऊपरी अर्थोंमें ले सकता है, लेकिन इसका एक बहुत गंभीर अर्थ है। जन्माधिकार है भगवान्का बेटा होनेका अधिकार। तो वह खानेके बदले यह दिव्य अधिकार दे देनेके लिये बिलकुल तैयार था, क्योंकि वह किसी ठोस, भौतिक चीजके लिये भूखा था। यह एक बहुत पुरानी कहानी है पर है चिरंतन सत्य।

कुछ और पूछो।

मां, आश्रम लंबे समयसे चला आ रहा है; और आप कहती हैं कि जिन लोगोंने कुछ किया हो वे उंगलियोंपर गिने जा सकते हैं...।

नहीं, नहीं, मैंने यह नहीं कहा (हंसी)। मैं सिर्फ भोजनकी बात कर रही थी। मैं उनकी बात कह रही थी जो यहां आये और जिन्होंने शुरू नहीं किया, समझे, जिन्होंने...। कहानी बहुत मनोरंजक है। ऐसे लोग हैं जो सद्भावनासे भरे हुए आते हैं — इसके अतिरिक्त, मेरा ख्याल है, मैंने 'बुलेटिन'में कहीं लिखा है — उनकी सद्भावना इतनी उमड़ती हुई होती है कि उन्हें हर चीज, भोजन भी, पूर्ण मालूम होती है। जबतक वे अपनी चैत्य चेतनामें रहते हैं उन्हें हर चीज बहुत अच्छी लगती है। जब वह उतरने लगती है तो पुरानी आदतें उभरना शुरू करती हैं, समझ रहे हो, जब चैत्य चेतना नीचे उतरती है तो पुरानी आदतें अपने स्थानपर वापिस चढ़ आती हैं और तब वे कहना शुरू करती हैं: "अजीब बात है! मुझे यह चीज पसंद थी पर अब पसंद नहीं है। यह खाना बिगड़ गया है!" यह बीचका काल है, और फिर, कुछ समय बाद, अपने स्वभावके अनुसार थोड़ा-बहुत लजाते हुए वे कहते हैं (माताजी फुसफुसाकर कहती हैं): "क्या मैं अपना निजी भोजन नहीं पा सकता? क्योंकि... पता नहीं, मेरा पेट हजम नहीं कर रहा!" (हंसी) हां, तो मैं कहती हूं कि आश्रमके लोगोंमें, मुझे पक्का विश्वास नहीं है... लेकिन ऐसे लोग बहुत, बहुत कम हैं जिन्होंने यह नहीं किया, और ऐसे जिन्होंने अपने-आपसे कहा हो: "ओह! मेरे लिये सब समान है। मुझे जो मिलता है वही खा लेता हूं। मैं इसकी परवाह नहीं करता।" ऐसे लोग सचमुच उंगलियोंपर गिने जा सकते हैं।

तुम्हें चीजको बहुत स्पष्टताके साथ देखना चाहिये, समझे, क्योंकि कुछ ऐसे हैं जो कहनेकी हिम्मत नहीं करते, बहुत-से ऐसे हैं जिनमें कुछ कहनेकी हिम्मत नहीं होती, जबतक कि वह कुछ अस्वस्थ न हो जायं या सचमुच उनके पेटमें दर्द न हो या वे यह न सोचें कि उनके पेटमें दर्द है और डाक्टरके पास न जायं। और डाक्टर उनसे कहता है: "यह या वह लेकर देखो" — ठीक वैसी चीजें जिन्हें खानेके वे अभ्यस्त थे। डाक्टर उनसे पूछना शुरू करता है: "तुम पहले क्या खाया करते थे?" (हंसी) "तुम यह खाने-के अभ्यस्त थे न?" (हंसी) इस तरह। तब स्वभावतः वे तुरंत कहते हैं: "हां, हां, हां, मैं समझता हूं इससे मुझे लाभ होगा!" (हंसी)

तो अब! (माताजी प्रश्न करनेवाले बच्चेकी ओर देखती हैं।)

मेरा मतलब है, तब क्या सब प्रयास बेकार है?

मेरे बच्चे, मैं आशा करती हूं ऐसा नहीं है! भोजनका प्रश्न केवल एक प्रश्न है। मैं यह नहीं कह सकती कि यह गौण है, क्योंकि यह बहुत लाक्षणिक है — यह बिलकुल... इसका संबंध अत्यंत भौतिक चेतनासे है और उस दृष्टिसे यह भौतिक स्थितिको बहुत भली-भांति प्रकट करता है। लेकिन सचमुच यह बेचारा शरीर! तुम्हें उसके साथ थोड़ा धीरज रखना चाहिये। शरीर मुझे निरुत्साहित नहीं करता — यदि मुझे निरुत्साहित किया जा सकता हो — यह तो प्राण है। ओह, वास्तवमें, अपने साथी, मनके साथ, ये दोनों पाजी मिलकर, एक-दूसरेका सहारा लेते हुए, बहाने बनाते हुए और तुम्हारे सामने तुम्हारी कठिनाइयोंका ऐसा बढ़िया चित्र बनाते हुए कि उनकी बात न्यायोचित ठहरे — वह सचमुच भयंकर है! इसी दृष्टिसे श्रीअरविन्दने एक छोटा-सा नियम लिखा था जो कुछ समयतक हमारे यहां सब जगह लगा रहा करता था। परंतु, मेरा ख्याल है कि अब वह गायब हो गया है या लोग उसके इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि अब उसकी ओर देखते तक नहीं। वह था: "ऐसे व्यवहार करो मानों माताजी हमेशा तुम्हें देख रही हों", और श्रीअरविन्दने यह जोड़ दिया: "क्योंकि वे, वास्तवमें, हमेशा उपस्थित हैं।" फिर भी यह भौतिक आंखें.. "नहीं, नहीं, नहीं, वे नहीं हैं," इसलिये पहली सहजवृत्ति होती है चीजोंको छिपानेकी। न केवल व्यक्ति वह सब करता है जो वह मेरे आगे न करेगा, साथ ही चूंकि वह श्रीअरविन्दके वाक्यके दूसरे अंशपर बिलकुल विश्वास नहीं करता, यानी, मैं भले भौतिक रूपसे उपस्थित न रहूं, फिर भी शायद मैं वस्तु-स्थितिको जानती हूं। इस लिये पहली सहजवृत्ति है छिपानेकी और जैसे ही कोई उस मार्गपर बढ़ता है कि वह चोर-बालूमें धंसनेके जैसा हो जाता है। वह नीचे, नीचे, नीचे धंसता जाता है। वह तुम्हें पकड़कर निगल जाती है। वह तुम्हें इस तरह नीचे घसीटती है कि उसमेंसे बाहर निकलना कठिन हो जाता है। चीजोंमें सबसे बुरी चीज है: "बशर्ते कि माताजी न जान पाएं!" तो चीज इस तरह शुरू होती है और यही अंत है...। हां, तो मैं आशा करती हूं कि तुममेंसे बहुत अधिक लोग ऐसे नहीं हैं जो झूठ बोलते हों, पर फिर भी, सामान्यतः मोड़का अंत यहीं होता है! तो, तुम समझ रहे हो न, यह ऐसी मूखताओं-मेंसे है जिनका जवाब नहीं — मैं तुमसे कुछ कहनेवाली हूं — क्योंकि मैं तुमसे दंड-मुक्तिके भावके साथ कह सकती हूं, अगर तुम न भी चाहो कि हो तो भी यह जरूर होगा!

लोग सवेरे आशीर्वादके लिये आते हैं, तुम जानते हो, या रातको मैं निरीक्षणके लिये जाती हूं, मैं सब जगह चक्कर लगाती हूं। हर एक व्यक्तिके पास जाती हूं। दोनों हालतोंमें, सवेरे भी जब वे फूल लेने आते

हैं, मैं बस उनपर एक नजर डालती हूं। उनके सिरोंके चारों ओर कुछ होता है, कभी-कभी तो वह इतना स्पष्ट होता है मानों वे कह रहे हों: "यह बात तो, वास्तवमें, मैं आपको कभी न बताऊंगा।" वे मुझसे कहते हैं: "मैं आपसे यह, और यह, और वह कभी न कहूंगा;" समझे, वे मुझे यह कहते हुए सब कुछ बता देते हैं कि वे नहीं बताएंगे। यह कहते हुए: "मैं यह नहीं कहूंगा," वे कह देते हैं।

मां, जब हम कुछ ऐसी चीज करते हैं जिसे हम आपसे छिपाना चाहते हैं, तो जब हम आपके पास आते हैं और आप हमें देखती हैं तो ऐसा लगता है कि आप कुछ नहीं जानतीं। क्यों? (हंसी)

(माताजी हंसते हुए) ऐसा लगता है कि मैं... मैं सुनती हूं, हां? मैं ऐसे सुनती हूं मानों मैं कुछ नहीं जानती, है न? यह ऐसा ही अच्छा है। और कभी-कभी मैं "आह! ओह!" भी करती हूं मानों मुझे कुछ भी पता न था, है न? हां तो, मेरे बच्चे, इस सबका कुछ और ही कारण है। मैं इसे पहले ही कई बार समझा चुकी हूं।

जब मैं लोगोंसे मिलती हूं और उनकी ओर ध्यान देती हूं, तो मैं चाहती हूं — मैं नहीं कहती कि यह सदा संभव होता है, फिर भी — मैं उनके अंदर उनकी चैत्य सत्ताको, उनके आदर्शको, वे जो करना चाहते हैं, वे जो बनना चाहते हैं उसे देखना चाहती हूं, उसे रखनेके लिये बाहरी तलपर लाती हूं; मेरा सारा काम यही है: मैं जो देखती हूं उसे हमेशा बाहर लाती हूं। अतः, यह काम करते समय, उन उदाहरणोंको छोड़कर जिनमें मैं जानती हूं कि लोग अपने बारेमें थोड़े-बहुत सचेतन हैं, मुझे हमेशा लोगोंके बारेमें पूरे विश्वासके साथ यह पता नहीं होता कि वे कितने सचेतन हैं; और जब मैं प्रश्न पूछती हूं तो मैं जो जानती हूं उसमें तथा जिसके बारेमें वे सचेतन हैं उसमें फर्क देखनेके लिये पूछती हूं; और यह तो मैं हमेशा करती रहती हूं। इससे ऐसा लगता है मानों मैं नहीं जानती, है न? मैं यह जाननेके लिये पूछती हूं: "तुम्हें कैसा लग रहा है? तुम क्या सोचते हो? तुमने क्या अनुभव किया है? क्या...?" तुम जानते हो, यह तुम्हारी चेतनाकी अवस्थाका स्पष्ट चित्र पानेके लिये होता है।

अपने बारेमें तुम जो जानते हो और तुम्हारे बारेमें जो मैं जानती हूं, इन दोनोंमें बहुत बड़ा फर्क होता है। मैं तुम्हारे बारेमें जो जानती हूं, वह स्पष्ट रूपमें वह है जो तुम्हें होना चाहिये। अतः, बाहरी तौरपर व्यक्ति देखता है कि लोग कैसे हैं, लेकिन यह केवल एक बाहरी घटना होती

है, समझे। इन दोनोंके बीच मानसिक और प्राणिक क्षेत्र हैं और मानव दृष्टिसे ये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और तुम्हें जो होना चाहिये उसकी चेतना वहांपर प्रतिबिम्बित होनी चाहिये, ताकि तुम उसे चरितार्थ कर सको। परंतु हर व्यक्ति अपने बारेमें जो जानता है, वह जिसके बारेमें सक्रिय रूपसे सचेतन है, और जो उसकी सत्ताका सत्य है, इन दोनोंके बीच बहुत अधिक दूरी होती है। यह मेरे लिये बहुत कठिन होता है; यह बीचका क्षेत्र बहुत ज्यादा मेघाच्छन्न होता है। मेरे लिये यह मिथ्यात्व का क्षेत्र है, जिसे मैं मिथ्यात्व कहती हूं। अंगरेजीमें दो शब्द हैं, "फाल्सहुड" (मिथ्यात्व) और "लाइ" (झूठ); तो, यह मिथ्यात्वके अर्थ-में है। जिस अर्थमें लोग झूठ बोलते हैं यह उस अर्थमें झूठ नहीं है। यह उसका क्षेत्र है जो सत्य नहीं है। यह सत्ताके सत्यका अनुभव बिल्कुल नहीं है, फिर भी यही वह क्षेत्र है जिसके बारेमें आदमी लगभग ऐकान्तिक रूपसे सचेतन होता है। ऐसे लोग बहुत ही कम हैं जिन्हें इस बातका आंतरिक बोध हो कि वे क्या होना चाहते हैं, वे क्या करना चाहते हैं, उनकी सत्ताका सत्य क्या है। ऐसे लोग बहुत नहीं हैं। या फिर यह बोध आता है, और फिर ढक जाता है; अचानक कौंधता दिखायी देता है और फिर बादल छा जाते हैं। तो मैं जो प्रश्न पूछती हूं वे हमेशा इस तलीय चेतना-की अवस्था जाननेके लिये होते हैं। मेरे लिये यह बिल्कुल वास्तविक नहीं होती, कुछ ऐसी चीज है जो सत्य नहीं है!

तुम्हारे दैनिक जीवनके पाशविक तथ्य और तुममेंसे हर एकको जो होना चाहिये उसके बारेमें मेरे आगे जो चित्र रहता है उनमें बहुत ज्यादा विरोध है। मैं अपनी चेतनाकी सारी शक्तिके साथ उस चित्रको बनाये रखती हूं ताकि तुम उसे चरितार्थ कर सको — और वही तुम्हारा अपना रूप है, यही तुम्हारा अपनापन है। वह अज्ञानभरी सत्ता, मूर्ख और कपट-भरी — और कभी-कभी बेईमान — सत्ता जो... जिसे तुम अपना-आपा कहते हो तुम नहीं हैं।

सुनो, साधारण मानव विचारोंके अनुसार मैं कोई जवान नहीं हूं। मैं काफी बड़ी हो गयी हूं। बिल्कुल बचपनसे ही मैंने चीजोंका अवलोकन करना बन्द नहीं किया; जब मैं बहुत छोटी थी तो मुझे कभी बातें न करनेके लिये झिड़कियां मिलती थीं। मैं इसलिये न बोलती थी क्योंकि मैं अपना सारा समय अवलोकनमें बिताती थी। मैं अपना समय अवलोकनमें लगाती थी, मैं हर चीजको अंकित कर लेती थी। जो भी सीख सकूं सीखती थी। मैंने कभी सीखना बन्द नहीं किया। लेकिन अब भी मुझे आश्चर्य होता है। अचानक मैं अपने-आपको ऐसी ऐंठी-मरोड़ी, कपटपूर्ण, अंधेरी गतियों-

को देखते हुए पाती हूं कि मैं अपने-आपसे कहती हूं: "यह संभव नहीं है! ऐसी चीज भी है?" वास्तवमें अब भी जो चीजें मेरे आगे आती हैं उनके बारेमें अब भी मैं अपने-आप कहती हूं: "यह संभव नहीं है! क्या संसारमें इस तरहकी चीजें होती हैं?" और फिर भी मैंने बहुत अधिक संख्यामें लोग देखे हैं। मैंने बहुत छोटी अवस्थासे ही लोगोंको ध्यानसे देखना शुरू किया था। मैंने बहुत-से देश देखे हैं। दूसरोंको जो सलाह देती हूं उसे अपने-आप किया है। हर एक देशमें, उसे भलीभांति समझ सकनेके लिये, उस देशका जीवन जिया है। बाहरी सत्तामें मुझे कोई और चीज सीखनेसे अधिक रुचिकर नहीं लगी।

तो, अब भी मुझे ऐसा लगता है कि मैं कुछ नहीं जानती। इस जगत्में और मानव चेतनामें ऐसी चीजें हो सकती हैं जो मेरी पहुंचके परे हैं! मैं नहीं समझ पाती कि यह कैसे संभव है।

जहांतक मेरा सवाल है, जब कोई इतना मुड़ा, ऐंठा हुआ हो कि उसे पहचाना भी न जा सके तो मुझे ऐसा लगता है — मुझे हमेशा ऐसा लगता है कि प्रकट होनेका प्रयास करनेवाली इस चेतनाको पकड़कर पूरी तरह विकृत कर दिया गया है। और कोई इस अवस्थातक कैसे पहुंच सकता है, कोई इस बिंदुतक जा ही कैसे सकता है — यह मैं अभीतक नहीं समझ पायी।

तो यह बात है! यह तुम्हें निरुत्साहित करनेके लिये नहीं है। केवल यह बतानेके लिये है कि मैं कभी-कभी प्रश्न क्यों करती हूं। मैं किसी छोटे-से बच्चेसे भी प्रश्न पूछ सकती हूं। मुझे हमेशा लगता है कि हम कुछ सीख सकते हैं, हमेशा। अब भी कुछ और है। मैं सभी चीजें देखती हूं और मैंने तुम्हें बताया है, बताया है न कि रातको जब और सब सोते हैं तो मैं निरीक्षणके लिये निकलती हूं। यह मेरे लिये बहुत सुविधाजनक है, क्योंकि सोते समय आदमी वही होता है जो वह है। हां, तो मैं चारों ओर जाती हूं। मैं निरीक्षण करती हूं और सब प्रकारकी चीजें देखती हूं! तुम कल्पना भी नहीं कर सकते कि क्या-क्या देखती हूं! लेकिन हर बार जब मेरे लिये संभव होता है, मैं पूछती हूं, बहुत-से प्रश्न पूछती हूं, ताकि जो कुछ देखा है उसपर नियंत्रण रख सकूं। मैंने यह काम बरसों, बरसों, बरसों किया है। मैंने इस तरह रातोंको सचेतन रूपमें शायद १९०४ में काम करना शुरू किया था, यानी, पचास वर्ष पहले और मैंने उसे बन्द नहीं किया। और, अब भी, जो देखती हूं उसके बारेमें निश्चय करनेके लिये मैं हमेशा व्यावहारिक प्रश्न करती रहती हूं ताकि नियंत्रण कर सकूं, और मैं कभी नहीं जानती। (टेप रेकार्डर जोरकी आवाज करने लगता है जो माताजी-

का ध्यान खींचता है। वे कहती हैं: "समाप्त? वह नहीं चलना चाहता!" और फिर अपनी बात आगे चलाती हैं), मुझे उस तरहका विश्वास नहीं हुआ, जैसा सामान्यतः लोगोंको होता है जब वे जानते हैं कि वे जानते हैं और यह कि उनकी भूल नहीं हो सकती और यह तो मानी हुई बात है।

संसार निरंतर रूपांतरमें है। अगर मैं हजार वर्षतक धरतीपर रहूं तो भी बिना रुके सीखती जाऊंगी, और मुझे विश्वास है कि मैं हमेशा कोई नयी बात सीखूंगी, क्योंकि जो बात कल सत्य थी वह आज सत्य नहीं है और जो आज सत्य है वह कल सत्य न रहेगी। संसार हमेशा बदलता रहता है, इसलिये व्यक्ति हमेशा सीखता रहता है। और आखिर, पता नहीं कि कहीं जगत्का यही हेतु तो नहीं है कि व्यक्ति बारबार अपने-आपको जाननेके लिये अपने-आपको वस्तुनिष्ठ रूपमें देखे। ब्योरेकी बहुत-सी बातें हैं, ये बहुत लम्बे समयतक चल सकती हैं, और फिर अप्रत्याशित भी होती हैं!

तो, यह लो, टेप पूरी हो गयी। अब हम बन्द कर सकते हैं। देर हो गयी है। शुभ-रात्रि।

१६ जून, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व'के बारहवें अध्याय: "विपत्तियां और प्रगति"पर आधारित है।)

> "प्र०—क्या दूसरोंके बारेमें हमारे विचारोंका चाहे वे अच्छे विचार हों या बुरे उनपर कोई असर पड़ता है?
>
> "उ०—हां, असर होता है।
>
> "प्र०—क्या एक व्यक्तिकी कामनाएं, उसके संवेग इत्यादि दूसरेमें जा सकते हैं?
>
> "उ०—कोई भी चीज एकसे दूसरेमें जा सकती है। यह सारे संसारमें सारे समय होता रहता है।"

किसीके पास कोई प्रश्न नहीं है?

मधुर मां, जिस तरह हम और चीजोंको ग्रहण करते हैं उसी तरह भगवान्‌को भी ग्रहण क्यों नहीं करते?

"और चीजों"से तुम्हारा क्या मतलब है?

प्रश्न ठीक तरह नहीं किया गया है। क्या तुम कहना चाहते हो कि ...यहां जो बात चल रही है वह है उन प्रभावोंकी जो एक व्यक्तिसे दूसरेतक जाते हैं? क्या तुम्हारा मतलब इससे है? हम जितनी आसानीसे, उदाहरणके लिये, पड़ोसीकी दुर्भावनाको ग्रहण करते हैं उसी तरह भगवान्‌को भी क्यों नहीं करते? क्या तुम यही कहना चाहते हो?

यह इसलिये क्योंकि दोनों एक ही स्तरकी नहीं हैं। पड़ोसीकी दुर्भावना या सद्भावना एक ही स्तरकी बातें हैं जब कि भगवान् एक अलग ही जगतके हैं। यही कारण है। अगर तुम रूपक चाहो तो यह लो: जो कुछ तुम्हारे साथ समतल स्तरमें है उसे बड़ी आसानीसे ग्रहण किया जाता है। लेकिन जो सब शीर्ष-कोण, यानी, ऊपरसे आता है वह बहुत ज्यादा कठिन होता है। सबसे पहले व्यक्तिको ऊपरकी ओर ताकना चाहिये, अपने भीतर, और फिर अपने-आपको खोल देना चाहिये ताकि वह उतर सके। जब कि दूसरे तरीकेमें... व्यक्ति यूं ही विचरता रहता है। नहीं समझे?

और दुर्भाग्यवश, नीचे फिसल जाना, गिर पड़ना ऊपर उठनेकी अपेक्षा कहीं अधिक आसान है। जो शक्ति तुमको ऊपर उठाती है, उसको प्रत्युत्तर देनेकी अपेक्षा उस प्रभावको प्रत्युत्तर देना आसान है जो तुम्हें नीचेकी ओर खींचता है। क्या चढ़नेकी अपेक्षा उतरना ज्यादा सरल नहीं होता? यदि तुम किसी विशेष स्थानपर खड़े हो और तुमको किसी चट्टानपर चढ़ना है तो यह उस स्थितिसे कहीं अधिक कठिन है जिसमें तुम अपने-आपको नीचे उतरनेके लिये फिसलने दो, है न?

मधुर मां, जब हम भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं तो क्या हमारे शत्रु नहीं रहते?

ओह, अवश्य! क्यों? मेरा विचार है कि बात ठीक उल्टी है।

क्या यह विरोधी शक्तियोंकी वजहसे होता है?

हां, निश्चय ही। पृथ्वी विरोधी शक्तियोंसे और उन व्यक्तियोंसे भरपूर

हैं जो इन विरोधी शक्तियोंको प्रत्युत्तर देते हैं। साधारणतः, व्यक्ति जितना अधिक भगवान्‌को प्राप्त करता है उसके अनुपातमें उसके आस-पास शत्रुओंकी संख्या भी बढ़ती जाती है।

क्या वे भगवान्‌के विरुद्ध क्रिया करते हैं?

ओह, हां! कम-से-कम वे कोशिश करते हैं। मुझे मालूम नहीं वे सफल हो पाते हैं या नहीं, लेकिन वे कोशिश तो जरूर करते हैं। वे प्रयत्न करते हैं, हमेशा करते हैं, हमेशा प्रयत्न करते आये हैं।

क्यों? भगवान्‌ने तो कभी किसीको हानि नहीं पहुंचाई!

(हंसते हुए) तुम सोचते हो कि व्यक्ति दूसरोंके विरुद्ध केवल तभी काम करता है जब उन्होंने हानि पहुंचायी हो? सामान्यतः, इसके ठीक विपरीत होता है। क्या तुम मुझे यह बता सकते हो कि बलवान् क्यों केवल दुर्बलोंके साथ ही अपनी शक्तिका उपयोग करते हैं? यह बात नहीं है कि दुर्बलोंने उन्हें हानि पहुंचायी हो। वे ऐसा केवल इसलिये करते हैं क्योंकि उनके पास शक्ति है और वे अपने मतलबके लिये उसका प्रयोग करना चाहते हैं और दुर्बलोंको इस शक्तिका हुकुम माननेके लिये विवश करना चाहते हैं। अतएव वे उनको मारते हैं। मौका पाते ही उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं। दुर्बलोंकी किसी भूलके कारण नहीं, बल्कि अपने ही मनोरथके लिये वे अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये, अपनी शक्तिका उपयोग करना चाहते हैं।

उदाहरणके लिये, मान लो, विश्वमें ऐसी शक्तियां हैं जो शासन करनेकी आदी हैं, जैसे धरापर शासन करनेवाली कुछ आसुरिक शक्तियां। वे अपना अधिकार खोना नहीं चाहतीं। इसलिये जो भी व्यक्ति उनपर ऐसी शक्ति प्रक्षिप्त करता है जो उनको पीछे हटनेके लिये विवश कर सकती है, वे उसपर अपनी पूरी-पूरी शक्तिके साथ आक्रमण करती हैं। अपनी शक्तिको बनाये रखनेके लिये वे ऐसा करती हैं... वास्तवमें, समझे, यह इसलिये नहीं कि ये लोग दुष्ट या दुरात्मा हैं। इसका कारण यह है कि जिस शक्ति और प्रकाशका ये प्रतिनिधित्व करते हैं वह उस शक्तिसे ठीक उल्टी है जिसका प्रतिनिधित्व अन्य शक्तियां करती हैं।

मधुर मां, कहा जाता है कि असुरोंमें भी भगवान्‌का अंश होता है।

स्वभावतः !

> अगर ऐसा है तो जब भगवान् असुरसे लड़ते हैं तो असुरमें विद्यमान भगवान् क्या करते हैं ?

वे फिरसे भगवान्‌में समा जाते हैं। लेकिन तुम्हें यह कहानी मालूम है ! जैसा रामायणमें है, भगवान् उसे फिर से अपनेमें समो लेते हैं। इस अर्थमें वह कहानी बिल्कुल सच्ची है।

> असुरमें विद्यमान भगवान् अगर अपने-आपको खींच ले तो असुर विलीन हो जायगा, है न ? — वह भगवान् जो असुरमें विद्यमान है ?

मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जिन्होंने अपनी चैत्य सत्ताको निकाल दिया है और फिर भी जी रहे हैं। तर्कसंगत दृष्टिसे ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्य पुरुषके बिना व्यक्ति मर जायगा, लेकिन फिर भी वे जीते रहते हैं। और शायद जगत्‌की इन आसुरिक शक्तियोंको विलीन करनेके लिये भगवान्‌को शायद अन्ततः अपनी पूरी सृष्टिको ही अपने अंदर खींच लेना पड़ेगा, क्योंकि ये आसुरिक शक्तियां सृष्टिके बिल्कुल मूलमें हैं।

> तो फिर रूपांतर तबतक नहीं हो सकता जबतक कि भगवान् अपने-आपको भगवान्‌के अंदर खींच न ले ?

वह, अरे, वही तो प्रलय है ! वह रूपांतर नहीं, पृथ्वीका विघटन है। कहा जाता है कि छः सृष्टियां थीं, यानी, विश्वके छः मूर्त रूप थे। जानते हो, शास्त्रोंमें बताया गया है कि विश्व छः बार भगवान्‌में वापिस समा चुका है। लेकिन कहते हैं कि यही अंत है। यह स्पष्ट है कि यह एक अंत तो है ही, लेकिन यह समाप्ति नहीं है। चूंकि सृष्टिमें किसी चीजका अभाव था इसलिये उसे वापिस खींच लेना और दोबारा बनाना जरूरी था। और कहा यह जाता है कि हमारी वर्तमान सृष्टि सातवीं है, और सातवीं होनेके नाते यही वास्तविक है, यानी, अंतिम है, और इसे फिरसे खींच नहीं लिया जायगा। यह अधिकाधिक पूर्ण होती जायगी, इसका रूपांतर होता रहेगा, ताकि इसे खींच लेनेकी आवश्यकता न पड़े।

यह किस हदतक सच्चा है?

हम देखेंगे!

लेकिन क्या सचमुच पिछली छः बार ऐसा हुआ था?

पहली छः बार? हां, यह सच है। क्रम भी दिया गया गया है। वह क्रम जिसमें...। क्योंकि प्रत्येक सृष्टि अमुक गुणोंपर खड़ी की गयी है। और इन गुणोंका क्रम भी दिया गया है। मैं उन्हें जानती हूं, मैंने उन्हें कहीं लिख रखा है। लेकिन अभी वे मेरे पास नहीं हैं। इसलिये मैं तुम्हें बता नहीं सकती, भूल हो जायगी। लेकिन किसी दिन वह कागज ला सकती हूं जिसपर यह लिखा हुआ है। मैं सिर्फ इतना ही जानती हूं कि इस बार सृष्टि संतुलनपर आधारित है। लेकिन एक विशेष संतुलनपर, क्योंकि यह प्रगतिशील संतुलन है। हमारी वर्तमान सृष्टिका गुण गतिहीन संतुलन नहीं है। यह संतुलन है; इसलिये कहा जाता है कि इस सृष्टिमें, अगर प्रत्येक वस्तु ठीक अपने स्थानपर हो, पूर्ण संतुलनमें हो तो बस, कहीं कोई अशुभ न रहेगा। अशुभ क्या है? वह है चीजोंका संतुलनमें न होना! ऐसी कोई चीज नहीं जो अपने-आपमें बुरी हो, केवल उसकी स्थिति गलत है, वह सच्ची स्थितिमें नहीं है।

तब असुरोंकी क्या स्थिति है?

फिरसे भगवान्‌में समा जाना। चार प्रधान असुर थे। उन चारोंमेंसे दो तो परिवर्तित हो चुके हैं। वे भागवत कार्यमें भाग ले रहे हैं। लेकिन बाकी दो अबतक अच्छी तरह डटे हुए हैं। लेकिन आखिर कबतक डटे रहेंगे? देखा जायगा। इसलिये उनके सामने चुनाव है: परिवर्तित होकर, यानी, अपनी जगह लेकर, पूर्ण समग्रतामें संतुलित रहना, अथवा विलीन हो जाना, यानी अपने मूलमें पुनः निमग्न हो जाना।

उनमेंसे एक ऐसा है जिसने प्रायः परिवर्तित होनेकी कोशिश तो की है लेकिन सफल नहीं हो पाया। जब उसे कोशिश करनी पड़ी तो यह उसे बहुत अप्रिय लगा। इसलिये उसने किसी और समयके लिये स्थगित कर दिया।

दूसरा तो कोशिश करनेसे भी इंकार करता है। जगत्‌में उसने अपने लिये एक बहुत, बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित कर लिया है, क्योंकि अनभिज्ञ लोग उसे "राष्ट्रोंका स्वामी" कहते हैं। वास्तवमें अभी कुछ

देर पहले मैं उन शक्तियोंकी बात कर रही थी जो पृथ्वीपर शासन करती हैं। और अपने शासनको बिल्कुल नहीं छोड़ना चाहतीं। वे उससे पूरी तरह संतुष्ट हैं — यह बात नहीं है कि वह यह न जानता हो कि एक दिन तो उसका अन्त आयगा जरूर, परंतु फिर भी वह यथासंभव उसे स्थगित करता जाता है।

लेकिन चूंकि उनके परिमाण मानवीय नहीं होते, इसलिये यह काफी लंबे अरसेतक इस तरह चला सकता है, है न? वे तबतक बने रहेंगे जबतक उन्हें धरापर कहीं कोई ऐसी मानव चेतना मिलती रहेगी जो उनके प्रभावका प्रत्युत्तर देनेके लिये तैयार हो। इससे तुम समस्याकी कल्पना कर सकते हो! और फिर, वे व्यष्टिके द्वारा नहीं, बल्कि राष्ट्रोंके द्वारा अपने प्रभावको बनाये रखते हैं।

वे दो शक्तियां कौन-सी हैं जो परिवर्तित हो चुकी हैं?

क्या तुम जानते हो कि चार असुर कौन-कौन-से हैं?

नहीं। मैं नहीं जानता।

क्या तुम यह जानते हो कि इन चार असुरोंका मूल क्या है? (दूसरे बालक से) कौन जानता है?

आपने कक्षामें एक बार बताया था।

हां, निश्चय ही! मैं ठीक इसीलिये तुमसे पूछ रही हूं, यह देखनेके लिये कि मैं जो कुछ बताती हूं वह तुम्हें याद रहता है या नहीं।

आपने कहा था कि चार दिव्य शक्तियां थीं: 'प्रेम', 'प्रकाश', 'सत्य' और 'मृत्यु'का उल्टा।

और क्या?

(दूसरा बालक, हंसते हुए) 'जीवन'!

ओह!

फिर ये चार शक्तियाँ भगवान्‌से अलग होकर मिथ्यात्वमें परिवर्तित हो गयीं...

हाँ, बात कुछ-कुछ ऐसी है! हाँ, कुछ ऐसी ही।

'प्रकाश' या 'चेतना', 'आनंद' या 'प्रेम', 'जीवन' और 'सत्य।'

फिर 'प्रकाश' या 'चेतना' 'अंधकार' और 'निश्चेतना' बन गये। 'प्रेम' और 'आनंद' 'घृणा' और 'दुःख' बन गये, 'सत्य' 'मिथ्यात्व' बन गया और 'जीवन' 'मृत्यु'। हाँ, तो पहली दो... लेकिन ठीक उन्हीं स्थितियोंमें नहीं। पहली शक्ति परिवर्तित हो चुकी है और काम कर रही है, लेकिन उसने मानव शरीर धारण करनेसे साफ इन्कार कर दिया है। उसका कहना है कि उसका कार्य सीमित हो जाता है। हो सकता है कि किसी दिन वह शरीर धारण कर ले, लेकिन अभी तो वह इन्कार कर रही है। दूसरी शक्ति परिवर्तित हो चुकी है और अपनी ही इच्छासे विलीन हो गयी है। अपने मूलमें समा गयी है। और बाकी दो अच्छी तरह डटी हैं।

'मृत्यु'की शक्तिने जन्म लेनेकी कोशिश की। लेकिन वह परिवर्तित न हो सकी। उसने जन्म लेनेका प्रयत्न किया। यह बहुत ही विरल है। लेकिन वह आंशिक देहधारण था, पूर्ण नहीं। पूर्ण देहधारण उनके लिये बहुत कठिन है। मानव देह बहुत छोटी होती है, और मानव चेतनाएं बहुत ही छोटी।

रही बात दूसरेकी, उसके तो अनेक निर्गत अंश हैं, जो किन्हीं मानव शरीरोंमें बहुत क्रियाशील हैं, और जिन्होंने धराके आधुनिक इतिहासमें बहुत बड़ी भूमिका निभायी है!

क्या असुर आपसमें झगड़ते नहीं?

हाँ, जरूर! हाँ, जरूर! ठीक उन मनुष्योंकी तरह जो आसुरिक प्रभावमें होते हैं। वे आपसमें सबसे भयानक शत्रु होते हैं। हमें कहना चाहिये कि यह एक वरदान है क्योंकि अगर उनमें समझौता होता तो चीजें कहीं अधिक कठिन हो जातीं। शायद यह इसलिये है क्योंकि जगत्‌में संतुलनके विधानका शासन है। यह उनके प्रभावकी शक्तिको घटानेके लिये होता है। फिर भी...

'मिथ्यात्वके स्वामी'का सचमुच बहुत ही ज्यादा प्रभाव है। यही है जो तुम्हें छूतकी बीमारीकी तरह वशमें कर लेता है। उससे भी बढ़कर!

मधुर माँ, क्या 'मिथ्यात्व'ने देहधारण करनेकी कोशिश नहीं की?

उसने निर्गत अंशोंको तो बराबर भेजा था लेकिन मैं नहीं समझती कि यह परिवर्तित होनेके उद्देश्यसे था। बहरहाल, वह सफल तो नहीं हुआ।

लेकिन विरोधी शक्तियोंके लिये मनुष्य आकर्षणका केंद्र क्यों है? वह तो इतना सीमित है!

हां। लेकिन साधारणतः वे एक ही व्यक्तिपर क्रिया नहीं करतीं, बल्कि भौतिक वातावरणको वशमें करनेकी कोशिश करती हैं, तुम समझे, और मनुष्योंको वशमें किये बिना भौतिक वातावरणपर काबू पाना संभव नहीं, क्योंकि मनुष्यमें ही उच्चतम भौतिक शक्ति अभिव्यक्त होती है। जहांतक परिवर्तनके लिये मानव शरीर धारण करनेकी बात है, वह अवश्य ही काफी... उसका उत्तर काफी सरल है। क्योंकि मनुष्यमें चैत्य सत्ता है, और ऐसा कोई असुर नहीं जो शाश्वत कालतक इस चैत्य सत्ताके प्रभावका प्रतिरोध कर सके, चाहे वह समर्पण करनेसे सरासर इंकार क्यों न करे और अपने-आपको और जोरसे क्यों न बांध ले। ठीक वही उनके अस्तित्वका विरोध है।

मधुर मां, श्रीअरविंदने कहा है कि मनुष्य मानव प्रेमसे भागवत 'प्रेम'में जा सकता है।

वे उस मानव प्रेमकी बात कर रहे थे जो भक्तिके रूपमें, भगवान्‌के लिये भक्तिकी एक शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त होता है। और वे यह भी कहते हैं कि शुरू-शुरूमें भगवान्‌के प्रति तुम्हारा प्रेम मानव प्रेमके सभी लक्षणोंके साथ पूरा मानव प्रेम ही होता है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने इसका बड़ा अच्छा वर्णन किया है। लेकिन अगर तुम डटे रहो और अपेक्षित प्रयास करो तो तुम जिस वस्तुसे प्रेम करते हो उसके साथ तादात्म्यद्वारा इस मानव प्रेमको दिव्य प्रेममें परिवर्तित करना असंभव नहीं है। उन्होंने यह नहीं कहा है कि दो व्यक्तियोंके बीचका प्रेम दिव्य प्रेममें बदल सकता है। ऐसी बात बिलकुल नहीं है। उन्होंने हमेशा ठीक इसके विपरीत कहा है। उन्होंने उस व्यक्तिकी बात की है जिसने उनसे भक्तिके बारेमें पूछा था, समझे, भगवान्‌के प्रति साधकके प्रेमके बारेमें। पहले-पहल तुम्हारा प्रेम पूर्ण रूपसे मानव होता है — यहांतक कि वे उसे सांपारिक अवस्था बदली कहते हैं। यदि तुम प्रगति करो तो तुम्हारा प्रेम क्रमशः प्रेममें, सच्ची भक्तिमें परिवर्तित हो जायगा।

ऐसा क्यों होता है कि कभी-कभी हमें अमुक अध्यायके लिये विशेष अभिरुचि होती है; उदाहरणके लिये, सचाई या अभीप्साके अध्यायके लिये ?

तुम्हारा मतलब है उसे पढ़नेकी इच्छा ? शायद इसलिये कि उसमें जो लिखा है उसकी तुम्हें जरूरत है ! अगर तुम्हें किसी चीजके लिये आकर्षण है तो साधारणतः उसका अर्थ यह होता है कि तुम्हें इसे पढ़नेकी आवश्यकता है। और जो चीज तुम्हें समझनी चाहिये ठीक वही तुम्हारे पास आती है। तुम इसका उपयोग विशुद्ध भौतिक रूपमें भी कर सकते हो, जिसके बारेमें मैंने तुम्हें बहुत बार बताया है। देखो, तुम एकाग्र होते हो — अगर तुम्हारे सामने कोई कठिनाई है या तुम सहायता पाना चाहते हो तो तुम एकाग्र होते हो और फिर पुस्तकमें एक पृष्ठ-चिह्न रखते हो। और तब तुम ठीक वही चीज पाते हो जो तुम्हारी मांगका उत्तर है। यह सबसे अधिक भौतिक साधन है। लेकिन यदि मन ठीक दशामें हो तो, स्वभावतः, शीर्षक पढ़ते ही मन कह उठता है : "ओह, मैं यही पढ़ना चाहता हूं," अंदर क्या है यह जाने बिना ही वह यह कह सकता है, क्योंकि उसे महसूस होता है कि उसके प्रश्न या आवश्यकताका उत्तर पानेके लिये यही पढ़ना चाहिये।

ऐसे लोग हैं जिन्होंने प्रगति करनेकी जरा भी कोशिश नहीं की, तो भी उनमें यह शक्ति है। कोई-न-कोई हमेशा उनको किताब देने आता है और कारण जाने बिना ही उनसे कहता है : "लो, यह किताब पढ़ो, तुमको इसमें रस आयगा"; अथवा किसी घरमें प्रवेश करते ही उन्हें मेजपर कोई किताब पड़ी दिखायी देगी — और वह ठीक वही चीज होगी जो वे पढ़ना चाहेंगे। यह काफी हदतक आंतरिक अभीप्साकी तीव्रतापर निर्भर है। अगर तुम सचेतन अभीप्साकी अवस्थामें हो, बहुत सच्चे हो तो बस, तुम्हारे इर्द-गिर्द सारी चीजें, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे, अभीप्सामें मदद करनेके लिये सुव्यवस्थित कर दी जायंगी, यानी, या तो तुमसे प्रगति करवानेके लिये, किसी नयी चीजके संपर्कमें लानेके लिये, या फिर तुम्हारे स्वभावमेंसे एक ऐसी चीजको उखाड़ फेंकनेके लिये मदद करेंगी जिसे विलुप्त हो जाना चाहिये। यह काफी अद्भुत है। अगर तुम सचमुच अभीप्साकी तीव्रताकी अवस्थामें होओ तो ऐसी कोई परिस्थिति नहीं जो इस अभीप्साको चरितार्थ करनेके लिये तुम्हारी सहायता करने न आये। हर एक चीज मदद करने आती है, हर एक चीज, मानों कोई ऐसी पूर्ण और निरपेक्ष चेतना विद्यमान है जो तुम्हारे चारों ओर चीजोंको संगठित कर रही है। लेकिन

हो सकता है कि अपने बाह्य अज्ञानमें होनेकी वजहसे तुम उसे पहचान न पाओ, हो सकता है कि शुरू-शुरूमें परिस्थितियां जैसी दिखायी देती हैं उनका विरोध करो, शिकायत करो और उन्हें बदलनेकी कोशिश करो; लेकिन कुछ देर बाद, जब तुम थोड़े समझदार बन जाओ, जब उस घटनामें और तुममें कुछ दूरी हो तो तुम अनुभव करोगे कि वह ठीक वही चीज थी जो आवश्यक प्रगतिके लिये जरूरी थी। और जानते हो, वह संकल्प है, परम सद्भावना है जो तुम्हारे चारों ओर चीजोंको सुव्यवस्थित करती है, और तब भी, जब तुम शिकायत करते हो और ग्रहण करनेके बदले विरोध करते हो, ठीक उसी वक्त वह सबसे प्रभावशाली रूपमें काम करती है।

मैंने एक छोटा वाक्य[1] लिखा है जो बुलेटिन, अगले बुलेटिनमें आयेगा। अब मुझे ठीक शब्द तो याद नहीं, फिर भी कुछ-कुछ ऐसा है: अगर विश्वासके साथ तुम भगवान्‌से कहो: "मैं केवल आपको चाहता हूं," तो भगवान् सारी परिस्थितियोंको इस तरह व्यवस्थित कर देंगे कि तुम सच्चे होनेके लिये विवश हो जाओगे। सत्तामें कोई चीज... "मैं केवल आपको चाहता हूं।..." अभीप्सा... और फिर व्यक्ति हर क्षण सैकड़ों फुटकर चीजें चाहता है, है न ऐसा? कभी-कभी कोई चीज आती है, यूं ही... साधारणतः सब कुछ अस्त-व्यस्त कर देनेके लिये — वह रास्तेमें बाधा बनकर खड़ी हो जाती है और तुम्हें अपनी अभीप्साको चरितार्थ करनेसे रोकती है। हां, तो ऐसे समय भगवान् अपने-आपको प्रकट किये बिना आयेंगे, तुम उन्हें देख न पाओगे, तुम्हें कोई आभासतक न मिलेगा। और वे सब परिस्थितियोंको इस तरह व्यवस्थित कर देंगे कि जो कुछ तुम्हें केवल भगवान् ही का होनेसे रोकता है वह अनिवार्य रूपसे तुम्हारे पथसे हटा दिया जायगा। फिर जब सब कुछ हटा दिया जाता है तो तुम शिकायत करने और रोने बैठ जाते हो। फिर बादमें, अगर तुम सच्चे हो और अपने ऊपर सीधी दृष्टि डाल सको... तुमने भगवान्‌से कहा है, तुमने कहा है: "मैं केवल आपको ही चाहता हूं," वे तुम्हारे पास रहेंगे, बाकी सब कुछ चला जायगा। यह सचमुच उच्चतर 'कृपा' है। केवल तुम्हें यह पूरे विश्वासके साथ कहना चाहिये। मैं यह नहीं कह रही कि तुम्हें सर्वांगीण रूपसे कहना चाहिये, क्योंकि अगर तुम सर्वांगीण रूपसे कहो तो कार्य पूरा हो जाता है। जो

---

[1] "अगर तुम पूरी सच्चाईके साथ भगवान्‌से कहो: 'मैं केवल तुझे चाहता हूं', तो भगवान् परिस्थितियोंको ऐसा बना देंगे कि तुम सच्चे होनेके लिये बाधित होगे।"

मात्र आवश्यक है वह यह है कि तुम्हारी सत्ताका एक अंश, वास्तवमें केंद्रीय संकल्प विश्वासके साथ कहे : "मैं केवल आपको ही चाहता हूं।" केवल एक बार यह कहना पर्याप्त है : उसमें कम या अधिक समय लगता है, कभी-कभी तो वर्षों लग जाते हैं, लेकिन तुम लक्ष्यतक जरूर जा पहुंचते हो।

लेकिन व्यक्तिमें तो कितनी प्रकारकी अपूर्णताएं होती हैं?

हां? अपूर्णताएं जितनी अधिक होंगी, उतना ही अधिक समय भी लगेगा। जितनी अधिक आसक्तियां होंगी उतना ही अधिक समय लगेगा।

लेकिन लक्ष्य सुनिश्चित है।

२३ जून, १९५१

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व' के तेरहवें अध्याय "सेक्स — भोजन — नींद" पर आधारित है।)

"प्र०—क्या बहुत कम आहार लेना इंद्रियोंको नियंत्रित करनेमें सहायता देता है?

"उ०—नहीं, वह उनको केवल भड़का देता है — मिताहार सबसे अच्छा है। जो लोग उपवास करते हैं वे आसानीसे बहुत उत्तेजित हो जाते हैं और संतुलन खो सकते हैं।

"प्र०—अगर व्यक्ति केवल निरामिष आहार ले तो क्या इससे इंद्रियोंके संयममें सहायता मिल सकती है?

"उ०—इससे तुम मांस खानेवालोंकी कुछ कठिनाइयोंसे बच सकते हो, लेकिन अपने-आपमें यह पर्याप्त नहीं है।"

कोई प्रश्न?

अगर व्यक्ति मांस खाये तो क्या होता है?

क्या तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें एक कहानी सुनाऊं? मैं एक महिलाको, स्वीडनकी एक युवतीको जानती थी जो साधना करती थी। वह आदत और पसंद, दोनोंके अनुसार निरामिष भोजी थी। एक दिन उसे कुछ मित्रोंने निमंत्रण दिया और भोजनमें भूना परोसा गया। वह बातका बतंगड़ न बनाना चाहती थी, उसने चुपचाप चूजा खा लिया। लेकिन बादमें, रातके समय अचानक उसने अपने-आपको एक टोकरीमें पाया, उसका सिर तीलियोंके बीच अटक गया था और उसे बहुत जोरसे झकझोरा, झकझोरा, झकझोरा जा रहा था। सचमुच उसकी अवस्था दयनीय और दुःखदायक थी। फिर उसने अपने-आपको सिर नीचे और पैर हवामें पाया, और उसे झकझोरा, झकझोरा, झकझोरा जा रहा था। (हंसी) वह बड़ी दयनीय दशामें थी। फिर अचानक किसीने उसके शरीरमेंसे कुछ चीजें खींचकर निकालनी शुरू कीं। इससे उसे बहुत अधिक दर्द हो रहा था; कुछ देर बाद हाथमें चक्कू लिये कोई आया और उसकी गर्दन काट दी; और फिर वह जाग पड़ी। खुद उसने मुझे यह सब सुनाया था। उसने कहा कि इतना भयावह दुःस्वप्न उसने कभी नहीं देखा था। सोनेसे पहले उसने कुछ नहीं सोचा था। उस बेचारे चूजेकी चेतना उसमें पैठ गयी थी और उसने स्वप्नमें जो कुछ अनुभव किया था वह वही पीड़ा थी जो चूजेने अनुभव की थी जब उसे बाजार ले जाया गया, बेचा गया, उसके पंख निकाले गये और उसकी गर्दन काटी गयी! (हंसी)

यही होता है! मानो, कम या अधिक मात्रामें तुम मांसके साथ उस पशुकी थोड़ी-बहुत चेतना भी निगल जाते हो जिसे तुम खाते हो। यह बहुत गंभीर बात नहीं है, लेकिन यह हमेशा बहुत सुखद नहीं होती। और यह स्पष्ट है कि पशुसे ज्यादा मनुष्यकी तरफ होनेमें यह तुम्हारी बहुत सहायता नहीं करती। यह सुस्पष्ट है कि आदिम मानव, जो आत्माकी अपेक्षा पशुके ज्यादा नजदीक थे, ऐसा लगता है कि वे कच्चा मांस खाते थे जो पके मांसकी अपेक्षा कहीं अधिक पौष्टिक होता है। वे जानवरको मार डालते थे, उसे फाड़कर टुकड़े-टुकड़े करके खा लेते थे, और वे बहुत शक्तिशाली होते थे। और इसके अलावा, इसी कारण उन दिनों उनकी आंतोंमें आंत्रपुच्छका वह टुकड़ा ज्यादा बड़ा होता था जो इस कच्चे मांसको हजम करनेमें सहायता देता था। उसके बाद आदमीने पकाना शुरू किया। उसने देखा कि इस तरह चीजें ज्यादा स्वादिष्ट लगती हैं, और उसने पका मांस खाना शुरू कर दिया और क्रमशः वह आंत्रपुच्छ छोटा होता गया और बेकार हो गया। इसलिये अब तो वह बोझमात्र रह गया है जो कभी-कभी बीमारी पैदा करता है।

कहनेका मतलब यह कि अब शायद भोजन बदलकर कुछ अन्य पाशविक चीजकी ओर जानेका समय आ गया है? यह नितांत रूपसे प्रत्येक व्यक्तिकी चेतनाकी अवस्थापर निर्भर है। लेकिन साधारण आदमीके लिये, जो साधारण जीवन बिताता हो, जिसके क्रिया-कलाप साधारण हों, जो अपनी रोटी कमानेके बारेमें, अपने-आपको स्वस्थ रखने और शायद अपने कुटुम्बकी देखभाल करनेके सिवाय और किसी चीजके बारेमें न सोचता हो, उसके लिये मांस खाना अच्छा है, उसके लिये कुछ भी खा लेना ठीक है, जो कुछ उसके अनुकूल हो, जिस चीजसे उसे लाभ होता हो।

लेकिन यदि कोई व्यक्ति इस साधारण जीवनसे उच्चतर जीवनमें जाना चाहता हो तो समस्या मजेदार बनने लगती है; और यदि, उच्चतर जीवनतक पहुंचनेके पश्चात् वह अपने-आपको रूपांतरके लिये तैयार करनेकी कोशिश करे तो वह बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाती है। क्योंकि ऐसे आहार अवश्य हैं जो शरीरको सूक्ष्म बननेमें मदद कर सकते हैं और ऐसे भी हैं जो उसे पशुताकी अवस्थामें ही रखते हैं। लेकिन यह चीज केवल उसी विशिष्ट समयपर बहुत महत्त्वपूर्ण बनती है, उससे पहले नहीं; और उस क्षणतक पहुंचनेसे पहले और बहुत चीजें करनी हैं। निश्चय ही अपने शरीरको शुद्ध बनानेकी सोचनेसे पहले अपने मनको शुद्ध करना और अपने प्राणको शुद्ध करना अधिक अच्छा है। क्योंकि तुम चाहे शारीरिक दृष्टिसे इस बातकी पूरी-पूरी सावधानी बरतो कि किसी ऐसी चीजको आत्मसात् न किया जाय जो शरीरको सूक्ष्म बनानेमें सहायता न देती हो, फिर भी अगर तुम्हारा मन और प्राण कामना, निश्चेतना, अंधकार और काम इत्यादिकी अवस्थामें ही रहे तो इससे कोई लाभ न होगा। केवल होगा यह कि तुम्हारा शरीर दुर्बल बन जायगा, आंतरिक जीवनसे बिल्कुल विच्छिन्न, और एक दिन बीमार पड़ जायगा।

तुम्हें शुरू करना चाहिये अंदरसे। मैं तुम्हें पहले भी एक बार बता चुकी हूं। तुम्हें ऊपरसे शुरू करना चाहिये। सबसे पहले उच्चतरको शुद्ध बनाओ, और फिर निम्नतरको शुद्ध करो। मैं यह नहीं कह रही कि तुम्हें शरीरकी सब तुच्छ चीजोंमें डूबे रहना चाहिये। नहीं, मैं तुमसे यह नहीं कह रही। यह मत समझ बैठो कि यह कामनाओंपर नियंत्रण न रखनेकी एक सलाह है! नहीं, बात ऐसी बिल्कुल नहीं है। मेरे कहनेका मतलब यह है कि अगर तुम अपने मन और प्राणमें पहलेसे ही छोटे-से देवदूत नहीं हो तो शरीरमें देवदूत बननेकी कोशिश मत करो; क्योंकि इससे शरीर साधारण ढंगसे अलग, और ही ढंगसे अस्तव्यस्त हो जायगा। लेकिन यह अधिक अच्छे ढंगका न होगा। हमने उस दिन कहा था न, कि

सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है संतुलनको बनाये रखना। अच्छा, तो संतुलनको बनाये रखनेके लिये यह जरूरी है कि हर चीज साथ-साथ प्रकट करे। तुम्हें अपनी सत्ताके एक अंशको अंधकारमें छोड़कर दूसरेको प्रकाशमें लानेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये। तुम्हें इस बातके लिये बहुत सावधानी बरतनी चाहिये कि कोई कोना अंधकारमें न रह जाय। तो, बस।

पहले आश्रममें अंडे क्यों वर्जित थे? अब तो दिये जाते हैं।

अंडे वर्जित थे?

मुझे मालूम नहीं। हमें तो यही बताया गया था।

ओह, लोग बहुत कुछ कहते हैं, लेकिन जो कुछ वे कहते हैं उसके लिये मैं जिम्मेदार नहीं हूं! (हंसी) मुझे याद नहीं कि किसीको स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अंडेकी जरूरत हुई हो और मैंने देनेसे इंकार किया हो। लेकिन अगर लोग केवल लालचसे और सुखके लिये मुझसे कोई चीज मांगें, तो मैं हमेशा साफ इंकार कर देती हूं, यह बात जैसी पहले थी वैसी अब भी है। अब जानते हो, कुछ चीजोंकी स्वीकृति केवल स्वास्थ्यकी दृष्टिसे, शारीरिक संतुलनकी दृष्टिसे दी जाती है, हर चीजकी अनुमति दी जाती है। जिसे मांसकी आवश्यकता हो उसे मैंने कभी मांस देनेसे इंकार नहीं किया। ऐसे लोग थे जो मांस इसलिये खाते थे क्योंकि उनके लिये जरूरी था। लेकिन अगर कोई केवल अपनी इच्छा पूरी करनेके लिये मुझसे कोई चीज मांगने आये तो मैं साफ 'ना' कह देती हूं, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, आईस-क्रीमतक! (हंसी)

अब व्यक्ति अंडा खाता है तो क्या वह अंदरके चूजेको भी नहीं खा जाता?

चूजेकी चेतना तबतक बनी नहीं होती। हां, निश्चय ही तुम्हें इस बातका ख्याल रखना चाहिये कि चूजा आकार लेने लगे उससे पहले ताजा खाया जाय।

मधुर मां, अगर हम चूजेकी भंगणके शिकार बन सकते हैं तो चुकंदर और गाजरके भी क्यों नहीं?

मेरा ख्याल है कि पूजा चुकंदरसे कहीं अधिक सचेतन है। (हंसी) लेकिन मुझे तुम्हें अपना अनुभव सुनाना चाहिये। हां, मैं यह सोच रही थी कि यह कोई साधारण बात नहीं।

टोकियोमें मेरा एक बगीचा था। और इस बगीचेमें मैं खुद सब्जियां उगाया करती थी। मेरा बगीचा काफी बड़ा था और बहुत-सी तरकारियां पैदा होती थीं। इसलिये रोज सुबह पौधोंको सींचने आदिके बाद टहलने निकलती थी। मैं चारों ओर घूमा करती थी ताकि खानेके लिये कोई सब्जी चुन सकूं। और कल्पना करो! कई तरकारियां ऐसी थीं जो मुझसे कहा करती थीं: "नहीं, नहीं, नहीं, नहीं, नहीं!"... और फिर कुछ ऐसी थीं जो पुकारती थीं, मैं उन्हें दूरसे देखती और उन्हें यह कहते हुए सुनती: "मुझे लो, मुझे लो, मुझे लो!" इसलिये काम बहुत आसान होता था। जो चाहती थीं कि उन्हें लिया जाय मैं उन्हींको लेती थी और जो न चाहती थीं उन्हें छूतीतक न थी। मैं सोचा करती थी कि यह कोई असाधारण चीज है। मुझे अपने पौधोंसे बहुत प्यार था, मैं उनकी देखभाल किया करती थी, उन्हें सींचते, साफ करते समय मैंने उनमें बहुत-सी चेतना डाली थी। इसलिये मुझे लगता था कि उनमें शायद कोई विशेष क्षमता थी।

लेकिन फ्रांसमें भी यही चीज थी। दक्षिण फ्रांसमें भी मेरा एक बगीचा था जहां मैं मटर, मूली, गाजर लगाया करती थी। हां तो उनमेंसे कुछ ऐसी थीं जो खुश थीं, जो चाहती थीं कि उन्हें तोड़कर खाया जाय; और कुछ ऐसी थीं जो कहा करती थीं: "नहीं, नहीं, नहीं, मुझे मत छुओ, मुझे मत छुओ!" (हंसी)

मधुर मां, वे इस तरह क्यों कहा करती थीं?

हां, इसका ठीक पता लगानेके लिये मैंने परीक्षण किया। और परिणाम हमेशा एक-सा नहीं आया। कभी-कभी तो इसलिये कि पौधा खानेलायक न था; वह अच्छा न था, सख्त था, या कड़वा था, खानेलायक न था। कभी-कभी वह तैयार न होता था, उसका समय न होता था। वह पका न था। एक-दो दिन प्रतीक्षा करके, दो-एक दिन बाद वह मुझसे कहता: "मुझे लो, मुझे लो, मुझे लो!" (हंसी)

पहले जमानेमें, भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधु अपने शरीरको जान-बूझकर कष्ट देते थे।

तो फिर वे साधु नहीं थे! (हंसी) इससे कोई लाभ नहीं होता। केवल घमण्ड आता है, आध्यात्मिक घमण्ड। बस, और कुछ नहीं। लेकिन इसमें भगवत्प्राप्ति तो हर्गिज नहीं होती।

लेकिन कहा जाता है कि वे उच्चतम स्तरकी साधना करते थे और जो कुछ चाहते थे उसे पा लेते थे।

यह केवल कहा जाता है, बहुत कुछ कहा जाता है।

क्या कुत्ते मनुष्यकी अपेक्षा ज्यादा वफादार नहीं होते?

निश्चय ही! क्योंकि वफादार होना उनका स्वभाव है। और उनमें मानसिक जटिलताएं नहीं होतीं। मनुष्यको जो चीज निष्ठापूर्ण होनेसे रोकती है, वह है उनकी मानसिक जटिलताएं। अधिकतर मनुष्य निष्ठापूर्ण इसलिये नहीं होते क्योंकि उन्हें धोखा खानेका भय रहता है। तुम्हें मालूम नहीं धोखा खानेका क्या मतलब है? उन्हें छले जानेका, शोषित होनेका भय होता है। उन्हें भय होता है...। उनकी वफादारीके पीछे भी एक बड़ा अहम् छिपा या ज्यादा छिपा बैठा रहता है और सौदेबाजी तो हमेशा रहती ही है, कम या अधिक सचेतन रूपसे, लेने-देनेका वह भाव रहता है। व्यक्ति अपने-आपको किसीके प्रति अर्पित कर देता है लेकिन हमेशा, चाहे वह अपने-आपसे कहे या न कहे, उसके बदलेमें किसी चीजकी आशा करता है। तुम निष्ठावान् हो लेकिन यह भी चाहते हो, कि दूसरे भी निष्ठावान् हों। यानी, तुम चाहते हो कि वे तुम्हारी देखभाल करें, कि वे तुम्हारे साथ मधुर रहें, और, सबसे बढ़कर, यह कि कोई तुम्हारी निष्ठाका लाभ उठानेकी कोशिश न करे। इस तरहकी जटिलताएं कुत्तेमें बिल्कुल नहीं होतीं, क्योंकि उसका मन अभी बहुत अल्पविकसित होता है। उसके पास तर्कणाकी वह अद्भुत क्षमता नहीं होती जो मनुष्यके पास है, एक ऐसी क्षमता जिसकी वजहसे वह इतनी सारी मूर्खताएं कर बैठता है।

केवल बात यह है कि व्यक्ति पीछे मुड़कर लौट नहीं सकता। वह फिरसे कुत्ता नहीं बन सकता। इसलिये तुम्हें उच्चतर मानव बनना होगा और उच्चतर स्तरपर कुत्तेके उस गुणको बनाये रखना होगा, यानी, अर्ध सचेतन निष्ठा या हर हालतमें, सहज-बोधकी वफादारीके स्थानपर, एक ऐसी आवश्यकताके स्थानपर जो उसे बांधे रखती है, एक

संकल्पित और सचेतन वफादारी होनी चाहिये, जो विशेष रूपसे हर प्रकारके अहंभावके परे हो। एक बिंदु है जहांपर सब सद्गुण मिलते हैं: वह एक ऐसा बिंदु है जो अहम्से परे रहता है। अगर हम इस निष्ठाको लें, अगर हम भक्तिको लें, अगर हम प्रेमको और सेवाके अर्थको लें, इस प्रकारकी सब चीजोंको लें, तो जब ये सब चीजें अहंके स्तरसे परे हों तो एक बिंदुपर आ मिलती हैं। इस अर्थमें कि वे अपने-आपको दे देती हैं और बदलेमें किसी चीजकी प्रत्याशा नहीं करतीं। और अगर तुम एक कदम और ऊपर उठो तो इन्हें कर्तव्य और त्यागकी भावनाके साथ करनेकी जगह, एक तीव्र आनंदके साथ करते हो, एक ऐसे आनंदके साथ जो अपना पुरस्कार अपने ही अंदर लिये रहता है, जिसे बदलेमें किसी चीजकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि, वह अपना आनंद अपने अंदर वहन करता है। लेकिन फिर, इसके लिये तुम्हें काफी ऊपर उठना चाहिये, और अपने ही ऊपर केंद्रित नहीं रहना चाहिये क्योंकि, सबसे बढ़कर, यही चीज है जो तुम्हें सबसे नीचे खींचती है। उस प्रकारकी... आत्म-दयासे भरपूर वह सहानुभूति, जिसमें व्यक्ति अपने-आपको फुसलाता हुआ, सहलाता हुआ कहता है: "बेचारा मैं!" वह, सचमुच, भयानक चीज है। और व्यक्ति जाने बिना ही निरंतर यह करता रहता है। इस तरह अपने ऊपर ही केंद्रित होना, एक प्रकारकी गिरानेवाली आत्म-करुणा है, जिसमें व्यक्ति अपने-आपसे दयाभरी आवाजमें कहता है: "कोई मुझे नहीं समझता! कोई मुझसे प्रेम नहीं करता! किसीको मेरी परवाह नहीं, जब कि होनी चाहिये!" इत्यादि, और इस तरह व्यक्ति कहता चला जाता है...। यह तो सचमुच भयावह है, यह तुम्हें तुरत एक गड्ढेमें खींच लेती है।

तुम्हें इस सबसे बहुत परे चले जाना चाहिये, इसे बहुत पीछे छोड़ देना चाहिये ताकि तुम सचमुच निष्ठाका आनंद, आत्म-समर्पणका आनंद ले सको जो इस बातकी जरा भी परवाह नहीं करता, नहीं, बिलकुल नहीं करता, किसी प्रकार नहीं करता कि उसे अच्छी तरह लिया जा रहा है या नहीं, या उसे उचित प्रत्युत्तर मिलता है या नहीं। तुम जो करते हो उसके बदलेमें किसी चीजकी आशा न रखो, किसी भी चीजकी नहीं, और यह तपस्या या त्यागकी भावनासे नहीं, बल्कि इसलिये कि तुम जिस चेतनामें हो उसका आनंद अनुभव कर रहे हो, और तुम्हारे लिये वह काफी है; वह उस सबसे कहीं अधिक अच्छा है जो तुम्हें बदलेमें मिल सकता है, चाहे वह किसी भी व्यक्तिसे क्यों न मिले। लेकिन वह तो बात ही दूसरी है। इन दोनोंके बीच अनेक सोपान हैं।

माताजी, आपने कहा था कि आधी रातसे पहले सोनेसे सबसे ज्यादा आराम मिलता है...

शारीरिक दृष्टिसे, हां।

क्यों?

आह! वह तो मैंने निजी अनुभवसे कहा था और फिर वह...। इसके बारेमें 'क्यों' नहीं हुआ करता, होता है क्या? यह बात हर एकको अपने लिये ढूंढनी या न ढूंढनी होगी। लेकिन मैंने ऐसे लोगोंसे सुना है जिन्हें सू-रसायनमें रस है, कि कुछ किरणें हैं — (पवित्र की ओर मुड़ते हुए) है न बात ठीक? तुम उनके बारेमें जानते हो? सूर्यकी ऐसी किरणें हैं जो वातावरणमें आधी राततक सक्रिय रहती हैं, और दूसरी किरणें वे हैं जो उसके बाद सक्रिय होती हैं; पहले प्रकारकी तुम्हें शक्ति प्रदान करती हैं और दूसरी खींच लेती हैं। लेकिन इस तरहकी बहुत-सी चीजें हैं; कम-से-कम यह, तुम समझ रहे हो, ऐसी बात है जिसके बारेमें हम सुनते हैं या पुस्तकोंमें पढ़ते हैं। उसीके आधारपर मैं तुम्हें यह सुझाव दे रही हूं, इसका जो भी मूल्य हो, मैं कुछ नहीं जानती। कोई ऐसा व्यक्ति जो इस विषयको अच्छी तरह जानता हो, ज्यादा अच्छी तरह समझा दे सकेगा। (हंसते हुए) लेकिन कुछ ऐसी चीजें हैं जो व्यवहारमें सच्ची हैं। इसका कारण मैं नहीं बता सकती। शायद वे केवल व्यक्तिगत चीजें ही हों! फिर भी, कुछ ऐसा ही अनुभव मैंने औरोंसे भी सुना है। उदाहरणके लिये, तुम समुद्रमें जाते हो, और कुछ देर उसमें रहते हो तो बड़े शक्तिशाली बनकर निकलते हो। तुम समुद्रमें जाते हो, घंटा-भर रहते हो तो बिलकुल थककर निकलते हो। गरम पानीके स्नानके साथ भी यही बात है। तुम गरम पानीसे स्नान करते हो; तुम बहुत थके हुए हो; तुम गरम पानीमें घुसते हो; ज्यादा-से-ज्यादा क्षण-भर रहते हो, उसमें रहकर बाहर निकल आते हो तो बड़ा ताजा लगता है। तुम उसमें पंद्रह मिनट रह लो और फिर बाहर आओ तो सारी शक्ति, सारी ऊर्जा खो बैठते हो, कुछ नहीं रहता, ऐसा लगता है मानों तुम चू गये हो।

मैं तुम्हें यह सुना रही हूं, लेकिन पूरे अधिकारके साथ कारण नहीं बता सकती, फिर भी यह तथ्य तो है ही। बात ऐसी है। अपने लिये मेरे पास एक व्याख्या है लेकिन वह केवल मेरे लिये ही ठीक है, दूसरोंके लिये ठीक नहीं है। इसलिये बेकार है।

निद्राके उन सोपानोंके विषयमें, जिनके बारेमें यहां कहा गया है, यदि व्यक्ति अपनी रातोंके बारेमें सचेतन है तो वह कुछ ही मिनटोंमें उन्हें पार कर सकता है। इसके लिये व्यक्तिको घंटोंकी निद्राकी जरूरत नहीं पड़ती, समझे; यदि वह सचेतन है तो कुछ मिनटोंमें ही सभी सोपानोंसे गुजर सकता है। सबसे पहले, अगर तुम अपनी रातोंके प्रति सचेतन बन जाओ, गहरी निद्रामें जानेसे पहले, जब तुम उस अवस्थामें हो जब तुम शिथिल होने लगते हो, अपनी सभी नसोंको शिथिल बना देते हो — मैं तुम्हें यह पहले समझा चुकी हूं, तुम अपनी सभी नसोंको शिथिल कर देते हो, और अपने-आपको जाने देते हो . . . यू . . . जानते हो — अच्छा, तो उस क्षण तुम्हें बड़ी सावधानीसे हर प्रकारके मानसिक क्रिया-कलापको शिथिल करना चाहिये, शांत, यंत्रवत् शांत कर देना चाहिये और जबतक मन काफी प्रशांत न हो जाय तबतक सोना नहीं चाहिये। इस तरह तुम व्यर्थ उत्तेजनाकी एक बड़ी मात्रासे बच निकलते हो जो बहुत थकानेवाली होती है। अगर तुम सोनेसे पहले मनको शिथिल और पूर्ण रूपसे शांत कर लो, तो तुम्हारी निद्रा तुरंत बहुत शांतिपूर्ण और बहुत स्फूर्तिदायक होगी। स्वभावतः, तुम्हारा प्राण कुछ नहीं होना चाहिये, क्योंकि तब, वह तुम्हें सब प्रकारके स्थानोंपर ले जायगा और तुमसे सब प्रकारकी मूर्खताएं करवायगा, और परिणाम यह होगा कि सोनेसे पहले तुम जितने थके थे उससे कहीं अधिक थककर उठोगे।

लेकिन अगर तुम सचेतन हो तो अपने प्राणको शांत करनेके बाद, जब तुम अपनी स्थूल चेतनासे निकलकर सूक्ष्मतर चेतनामें पैठने लगते हो तो तुम अपने प्राणको सुला देते हो, तुम उससे कहते हो: "अब विश्राम करो, एकदम चुप रहो"; और फिर अपने मानसिक क्रिया-कलापमें प्रवेश करो और मनसे कहो: "विश्राम करो, एकदम चुपचाप रहो।" फिर उसे भी सुला दो। फिर मनसे निकलकर एक उच्चतर क्षेत्रमें आते हो। वहां, यदि तुम्हें रस आये, उदाहरणके लिये, यदि तुम पहली बार वहां गये हो, तो देख सकते हो कि वहां क्या हो रहा है, तुम अनुभव कर सकते हो, चीजें सीख सकते हो — कभी-कभी बहुत मजेदार चीजें सीखी जा सकती हैं; और फिर, कभी-कभी तुम अमुक सामान्य अवस्थाके प्रति सचेतन हो सकते हो, दूसरे लोगों और वस्तुओंके बारेमें विचार पा सकते हो। यह मजेदार है! और बाद-में, अगर तुमको यह सब काफी लगे तो तुम कहते हो: "चुप रहो, सो जाओ, हिलो मत।" फिर उसे भी सुलाकर एक और उच्चतर चेतनामें उठते हो; इस तरह चलते चले जाते हो जबतक कि एक ऐसी स्थिति-तक नहीं पहुंच जाते जहां तुम रूपोंकी सीमापर हो; मैं मौलिक रूपोंकी

बात नहीं कर रही — सभी रूपोंकी सीमापर, स्वभावतः, विचारके रूपसे बहुत ऊपर। सभी स्पंदनों और रूपोंकी सीमापर, पूर्ण शांतिमें, जिसे "सच्चिदानंद" कहा जाता है। और जब तुम वहां होते हो तो सब कुछ रुक जाता है, सभी स्पंदन शांत हो जाते हैं, और यदि तुम वहां मात्र तीन मिनट भी रह लो, तो जब अपने शरीरमें लौटोगे तो अपने-आपको **बिलकुल** विश्रांत, ताजा और शक्तिशाली पाओगे मानों घंटोंकी नींद ले चुके हो! यह एक ऐसी चीज है जो सीखी जा सकती है। मैं यह नहीं कहती कि यह एक रातमें ही सिद्ध हो जायगी, थोड़ी मेहनत और थोड़ा अध्यवसाय जरूरी हैं। लेकिन फिर भी... तुमको यह सीखना ही चाहिये; और जब तुम बहुत चिंतित और बहुत क्लांत हो, बहुत... उदाहरणके लिये, जब किसी एक या दूसरे रूपमें विरोधी शक्तियोंने तुमपर आक्रमण किया हो, और तुम बहुत थके हुए हो, उस समय अगर तुम इस प्रक्रियाका सचेतन रूपसे अनुसरण करो, तो, कुछ ही मिनटोंमें सब कुछ गायब हो जायगा। यह सीखने लायक चीज है। केवल, तुमको बहुत, बहुत, बहुत अध्यवसायी होना चाहिये क्योंकि...। जरा ठहरो, मैं तुम्हें उसके बारेमें कुछ और बताऊंगी।

जब मैंने गुह्य ज्ञानका अध्ययन शुरू किया तो मुझे पता लगा — ठीक जब अपनी रातोंपर काम कर रही थी ताकि उन्हें सचेतन बना सकूं — मुझे इस बातका भान हुआ कि सूक्ष्म भौतिक और सबसे अधिक भौतिक प्राणके बीच एक छोटा-सा क्षेत्र है, बहुत छोटा, जो दोनों क्रिया-कलापोंके बीच सचेतन कड़ीके रूपमें काममें आनेके लिये पर्याप्त विकसित नहीं था। अतएव, स्थूलतम भौतिक प्राणकी चेतनामें जो कुछ होता था वह सूक्ष्मतम भौतिककी चेतनामें ठीक-ठीक अनूदित न हो पाता था। कुछ रास्तेमें गुम हो जाता था क्योंकि वह कुछ-कुछ वास्तविक रूपमें शून्य तो नहीं, किंतु अर्ध-चेतन अवश्य था, पर्याप्त विकसित न था। मैं जानती थी कि एक ही उपाय है, और वह यह कि उसे विकसित करनेके लिये मेहनत की जाय। मैंने काम करना शुरू किया। मेरा ख्याल है, यह फरवरीके आस-पासकी बात है। एक महीना बीत गया, दो महीने, तीन महीने, चार महीने बीत गये, लेकिन कोई परिणाम नहीं। मैं आगे बढ़ती गयी। पांच महीने, छः महीने बीत गये... जुलाईका अंत या अगस्तका आरंभ था...। पैरिस छोड़कर, यानी, वह घर छोड़कर जिसमें मैं रहती थी, मैं देहातमें रहने चली गयी। वह समुद्र-तटपर एक छोटा-सा स्थान था जहां मैं अपने मित्रोंके साथ रहने लगी। उनका एक छोटा बगीचा था। अब उस बगीचेमें एक लॉन था — लॉन क्या होता है यह तुम्हें मालूम ही होगा, है न?

घास — जहां कुछ फूल थे और उनके चारों ओर कुछ पेड़। वह अद्‌भुत जगह थी, बहुत शांत, बहुत नीरव। मैं घासपर लेटी थी, यूं, अपने पेटके बल, कुहनियां घासपर टिकाए, और अचानक उस प्रकृतिका सारा जीवन, सूक्ष्म भौतिक और स्थूल भौतिक प्राणके बीचके उस क्षेत्रका सारा जीवन, जो प्रकृति और पौधोंमें बहुत सजीव होता है, वह सारा क्षेत्र अचानक, एकाएक, बिना संक्रमणके एकदम सजीव, तीव्र, सचेतन और अद्‌भुत बन गया। और यह परिणाम था, था न? उन छः महीनोंके घोर परिश्रमका परिणाम था जिसका कोई फल न दिखायी दिया था। मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया था; लेकिन इस तरहकी एक परिस्थिति और लो, परिणाम आ गया! यह ऐसा ही है जैसे अंडेमें चूजा, है न! वह काफी समयसे मौजूद रहता है परंतु मनुष्य उसे देख नहीं पाता और सोचता है कि उसमें चूजा है भी या नहीं, और तब सहसा "टिक!", एक छोटा सुराख हो जाता है, जानते हो, सब कुछ फट जाता है और बड़ी शानसे चूजा निकलता है! वह अब बिलकुल तैयार है, लेकिन तैयार होनेमें उसे उतना समय लगा। बात ऐसी ही है। जब तुम अपने अंदर कोई चीज तैयार करना चाहते हो तो ऐसे ही होता है, जैसे अंडेमें चूजा। इसके लिये तुम्हें बहुत समयकी जरूरत है, लेशमात्र परिणामके बिना, बिना आशा खोये, मेहनत जारी रखते हुए, नियमित रूपसे, मानों शाश्वत काल तुम्हारे आगे है, और, सबसे बढ़कर, तुम्हें इस तरह रहना चाहिये मानों तुम परिणामके बारेमें बिलकुल उदासीन हो। तुम कार्य इसलिये कर रहे हो क्योंकि तुम उसे कर रहे हो। और फिर, एकाएक, एक दिन, वह फूट पड़ता है और तुम अपने कार्यका पूरा परिणाम अनुभव करते हो जो तुम्हारे सामने है।

लेकिन तुम समझते हो न, आदमी इसके बारेमें, रातोंके प्रति सचेतन होनेके बारेमें, नींदमें होनेवाली क्रियाओंपर नियंत्रण रखने और इस तरहकी सभी चीजोंके बारेमें बड़ी आसानीसे बातें करता है, लेकिन इस सबके लिये मैंने अभी तुम्हें जिस प्रकारके कामके बारेमें बतलाया है उस प्रकारके बहुत-से छोटे-छोटे काम करने होंगे। यह परिणाम पानेके लिये ऐसे बहुत-से कामोंकी जरूरत होती है। जब एक पूरा हो जाता है तो तुम अनुभव करते हो कि एक औरकी जरूरत है, और जब वह दूसरा हो जाता है तो तुम अनुभव करते हो कि एक तीसरा भी है, और इसी तरह चलता रहता है। जबतक कि एक भले-से दिन तुम ऐसा कर सकते हो जैसा मैंने कहा। तुम अपने अंदरकी सब चीजोंको शांत करके, एक अवस्थासे दूसरीमें जाते हो, इस तरह, यहांतक कि सब प्रकारकी क्रियाओंसे निकलकर परम विश्रामकी अवस्थामें सचेतन रूपसे प्रवेश करते हो। यह कष्ट उठाने योग्य है।

तो लो, बस अब!
और कोई प्रश्न? नहीं?
तो बस, समाप्त?

३० जून, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके तत्त्व'के चौदहवें अध्याय "कुछ व्याख्याएं" पर आधारित है।)

"प्र० — योगमें गुह्य शक्तिका क्या स्थान है?

"उ० — अतिभौतिक स्तरोंकी सूक्ष्म शक्तियोंको पहचानना और उनका उपयोग करना योगका एक अंग है।

"प्र० — 'गुह्य प्रयास' और 'गुह्य शक्ति' का अर्थ क्या है?

"उ० — यह प्रसंगपर निर्भर है। सामान्यतः, इसका अर्थ होगा प्रकृतिकी रहस्यमय शक्तियोंका उपयोग करनेकी शक्ति और इन शक्तियोंद्वारा किया गया प्रयास। लेकिन किसी और प्रसंगमें "गुह्य" का अर्थ कुछ और भी हो सकता है।

"प्र० — क्या प्रत्येक योगीको इस गुह्य प्रयासमेंसे गुजरना पड़ता है?

"उ० — नहीं, हर एकमें इसके लिये क्षमता नहीं होती। जिनमें क्षमता नहीं है, उनको तबतक प्रतीक्षा करनी चाहिये जब-तब कि उन्हें यह क्षमता प्रदान न की जाय।"

किताब समाप्त हो गयी।

मधुर मां, यहां श्रीअरविंद गुह्य प्रयासकी बात करते हुए कहते हैं कि जिनमें यह क्षमता नहीं है उन्हें तबतक प्रतीक्षा करनी चाहिये जबतक कि उन्हें वह क्षमता दी न जाया। क्या वे उसे अभ्यासके द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते?

नहीं। यानी, अगर वह किसीमें अंतर्निहित है तो अभ्यासके द्वारा उसे विकसित किया जा सकता है। लेकिन अगर तुम्हारे अंदर वह गुह्य शक्ति नहीं है तो तुम भले ही पचास वर्षोंतक प्रयास करते रहो, तुम कहीं नहीं पहुंच पाओगे। हर एक गुह्य शक्ति नहीं पा सकता। यह वैसी ही बात है जैसे तुम मुझसे पूछो कि सब लोग संगीतज्ञ हो सकते हैं? सब लोग कलाकार बन सकते हैं? सब लोग... कुछ ऐसे लोग हैं जो बन सकते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो नहीं बन सकते। यह तो स्वभावकी बात है।

गुह्यवाद और रहस्यवादमें क्या भेद है?

ये चीजें एक ही हरगिज नहीं हैं।

रहस्यवाद एक ऐसी शक्तिके साथ कम या अधिक भावात्मक संबंध है जो हमें दिव्य प्रतीत होती है — किसी अदृश्य चीजके साथ जो भगवान् है या जिसे हम भगवान् समझते हैं, उसके साथ एक प्रकारका बहुत ही भावात्मक, बहुत ही भावोत्तेजक और बहुत ही तीव्र संबंध है रहस्यवाद।

गुह्यवाद ठीक वही है जिसका श्रीअरविन्दने वर्णन किया है: वह है अदृश्य शक्तियोंका ज्ञान और उन्हें संचालित करनेकी शक्ति। वह एक विज्ञान है। पूर्ण रूपसे एक विज्ञान है। मैं हमेशा गुह्यवादकी तुलना रसायनसे किया करती हूं; क्योंकि यह उसी प्रकारका ज्ञान है जैसे रसायनका ज्ञान भौतिक चीजोंके लिये होता है, उसी प्रकार यह भी एक ज्ञान है। यह अदृश्य शक्तियोंका, उनके विविध स्पंदनोंका, उनके आपसी संबंधोंका, उन्हें मिला-जुलाकर जो संगठन बनाए जा सकते हैं उनका, और उस शक्तिका ज्ञान है जिसका हम उनपर प्रयोग कर सकते हैं। यह पूर्ण रूपसे वैज्ञानिक है; और इसे एक विज्ञानके रूपमें ही सीखना चाहिये; यानी, हम गुह्यवादका अभ्यास किसी भावप्रधान या धुंधली और अस्पष्ट चीजके रूपमें नहीं कर सकते हैं। तुम्हें इसके लिये उसी तरह काम करना चाहिये जैसे रसायनके लिये करते हो। सभी नियम सीखने चाहिये और कोई सिखानेवाला न हो तो उन्हें अपने-आप ढूंढ़ निकालना चाहिये। लेकिन उन्हें ढूंढनेके लिये कुछ खतरा मोल लेना पड़ता है। इसमें कुछ संयोग रासायनिक संयोगोंके बराबर ही विस्फोटक होते हैं।

क्या इस जीवनमें गुह्यवाद जरूरी है?

इस जीवनमें? यह इसपर निर्भर है कि तुम क्या करना चाहते हो। तुम्हारा

मतलब है योग-जीवनमें? बिलकुल जरूरी नहीं है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि वे कहते हैं, ऐसे बहुतसे लोग हैं जिन्हें यह देन नहीं मिलती, जिनमें यह क्षमता नहीं होती। ऐसे बहुत-से लोग हैं जो छोटी-से-छोटी अनुभूति होते ही, छोटी-से-छोटी, उदाहरणके लिये, अपने शरीरसे जरा-सा बाहर निकलते ही आतंकित हो उठते हैं। और सचमुच इसका इलाज करना बहुत मुश्किल है। अगर व्यक्तिमें प्रबल संकल्प-शक्ति और महान् आत्म-संयम हो तो यह ठीक हो सकता है। लेकिन बहुत-से लोग अपनी सत्ताकी अवस्थाओंको अलग नहीं कर सकते। अगर वे अलग करें तो कोई चीज बिगड़ जाती है, और इससे उनके शरीरको कष्ट होता है। जब कि दूसरे ऐसे हैं जो निकल पड़ते हैं, घूमते-फिरते हैं और फिर लौट आते हैं। उनके लिये यह बिलकुल स्वाभाविक है। साधारणतः, जिन्हें इसमें रस होता है उनमें प्रतिभा भी होती है, बशर्ते कि वह केवल एक प्रकारका मानसिक कुतूहल ही न हो। हो सकता है वे इसे न जानते हों, लेकिन उन्हें सिखाया जा सकता है। लेकिन ये ऐसी चीजें हैं जो सावधानीसे की जानी चाहिये। उदाहरणके लिये — मैं तुम्हें एक उदाहरण देती हूं: ज्यों ही तुम अपने शरीरसे बाहर निकलते हो, चाहे वह जरा-सा और वह भी केवल मानसिक रूपसे क्यों न हो, तो मनका वह अंश बाहर चला जाता है जो उसकी क्रियाका संचालन करता है; और स्वतःचालित मनका वह अंश जो अमुक गतिविधियां और अमुक ग्रंथियों-के स्राव उत्पन्न करता है, वह पूरा स्वतःचालित भाग उस सचेतन, सोचने-वाले भागकी रक्षाके बिना और नियंत्रणके बिना रह जाता है। हां तो, वातावरणमें हमेशा बहुत सारी छोटी-छोटी, बहुत छोटी सत्ताएं रहती हैं, जो साधारणतः मानव विघटनसे जन्म लेती हैं और शारीरिक जीवाणुओंके समान होती हैं, ये एक प्रकारके प्राणिक जीवाणु होते हैं। वे ज्यादा प्रत्यक्ष होते हैं और उनमें अपनी इच्छा-शक्ति होती है। हम यह नहीं कह सकते कि वे दुष्ट होते हैं, परंतु उनमें शरारत भरी होती है। ये सत्ताएं अपना मनोरंजन करना चाहती हैं और वह भी औरोंको तंग करके। तो, जैसे ही वे देखती हैं कि व्यक्ति पर्याप्त रूपसे सुरक्षित नहीं है वे उसके यांत्रिक मन-को अपने कब्जेमें कर लेती हैं और व्यक्तिपर हर प्रकारकी, बिलकुल अप्रिय चीजें ले आती हैं — उदाहरणके लिये, कुछ लोग समाधिमें अपनी जीभ निगल लेते हैं। और अगर वे सावधानी न बरतें तो इससे उनका दम घुट जाता है। दूसरे अपनी जीभ काट लेते हैं और कभी-कभी इससे बहुत कष्ट होता है। इस प्रकारकी बहुत-सी चीजें हो सकती हैं। इसलिये साधारणतः तुम्हें तबतक समाधिमें हर्गिज न जाना चाहिये जबतक तुम्हारे पास कोई ऐसा व्यक्ति न हो जो तुम्हारी रखवाली कर सके, शुद्ध भौतिक

रूपसे रखवाली नहीं बल्कि...एक ऐसी सचेतन शक्तिके साथ रखवाली जो इन छोटी-छोटी सत्ताओंको उन स्नायविक केंद्रोंपर कब्जा करनेसे रोक सके जिन्हें सचेतन 'सत्ता'का संरक्षण प्राप्त नहीं है। यह एक सामान्य नियम है। इससे भी बड़े खतरे हैं। जब तुम शरीरसे पूरे भौतिक रूपमें निकल जाते हो,—और बस, एक जरा-सी कड़ीका-सा संबंध रह जाता है उससे बढ़कर कुछ नहीं रहता, समझ रहे हो न, तो वह प्रकाशके एक धागे जैसा संपर्क होता है जो गयी हुई सत्ताको बची हुई सत्ताके साथ जोड़ता है —अगर यह कड़ी सुरक्षित रहे तो कुछ नहीं होता। लेकिन यदि वह सुरक्षित न रहे तो ऐसी विरोधी शक्तियां हो सकती हैं जो केवल शरारतसे भरी ही नहीं बल्कि दुर्भावनासे भी भरपूर हों वे आकर इस संबंधको काट सकती हैं। और तब, एक बार संबंध टूट जाय तो तुम भरसक प्रयास कर लो, फिर भी अपने शरीरमें लौट नहीं पाओगे।

व्यक्ति मर जाता है?

हां, कुछ समय बाद। मतलब यह कि यह सब मजाक बिलकुल नहीं है, समझे न? यह मनोरंजनके लिये या केवल मन-बहलावके लिये की जाने-वाली चीज नहीं है। इसे ठीक उसी ढंगसे, अपेक्षित परिस्थितियोंमें, बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। लेकिन एक चीज **बिलकुल**, बिलकुल अनिवार्य है, अगर तुम्हारे अंदर जरा भी डर है तो तुम्हें इस गुह्य विज्ञानको छूनातक न चाहिये। उदाहरणके लिये, अगर तुम सपनोंमें भयंकर चीजें देखते हो और तुम्हें डर लगता है तो तुम्हें गुह्यवादका अभ्यास नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत, तुम्हें अत्यधिक डरावने स्वप्न दिखायी दें और फिर भी तुम एकदम शांत रहो, यहांतक कि कभी-कभी तुम्हारा मनो-रंजन होता हो, तुम्हें बहुत मजा आता हो, अगर तुम इस सबको संभाल सको और हर परिस्थितिमेंसे, कठिनाईसे बाहर निकलना जानते हो तो इस-का मतलब होगा कि तुम्हारे अंदर क्षमता है, और तुम अभ्यास कर सकते हो। कुछ लोग अपने सपनोंमें बहुत बहादुर योद्धा होते हैं। जब वे दुश्मनोंके सामने आते हैं तो उनको लड़ाई करना आता है। उन्हें केवल अपनी रक्षा करना ही नहीं आता, बल्कि जीतना भी आता है; वे जोश, शक्ति और साहससे भरपूर होते हैं। ऐसे लोग ही गुह्यवादके असली उम्मीदवार हैं। लेकिन जो लोग, अपने बिलमें घुसते हुए चूहेकी तरह, तुरंत अपने शरीरमें लौट आते हैं उन्हें गुह्यवाद छूनातक न चाहिये और फिर तुम्हारे अंदर अपार धैर्य भी चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार रासायनिक चीजोंको

संभाल सकनेके लिये बरसों लग जाते हैं, जिस प्रकार छोटी-से-छोटी नयी चीजका आविष्कार करनेके लिये, किसी दृश्य-परिणामके बिना बहुत समय-तक काममें लगे रहना पड़ता है, उसी प्रकार गुह्यवादमें भी बिना कोई अनुभूति प्राप्त किये बरसों प्रयासमें लगे रहना पड़ सकता है। और यह बहुत ही उबाऊ और नीरस बन जाता है; और मनुष्यमें उस प्रकारका प्रत्यक्षवादी और व्यावहारिक भौतिक मन तो रहता ही है जो तुमसे कहता रहता है: "तुम प्रयास क्यों करते हो? तुम स्पष्ट देख रहे हो कि इसमें कुछ नहीं है, यह सब कहानियोंसे बढ़कर कुछ नहीं है; तुम व्यर्थमें क्यों काम करते हो? तुम अपना समय बरबाद कर रहे हो। इसमें कुछ भी नहीं है, ये सब कल्पनाएं हैं।" श्रद्धा-विश्वासको बनाये रखना बहुत कठिन होता है जब आधारमें ऐसी कोई चीज न हो जिसपर उन्हें टिकाया जा सके।

मधुर मां, क्या साधारण चेतनावालोंके लिये धार्मिक क्रियाएं जरूरी हैं?

धार्मिक क्रियाएं? मुझे नहीं मालूम! धार्मिक क्रियाओंसे तुम्हारा क्या मतलब है?

जप आदि।

ओह! ये चीजें! अगर तुम्हें इनसे सहायता मिलती हो तो ठीक है। अगर तुम्हें सहायता नहीं मिलती तो यह केवल....। यह उन पूर्णतः सापेक्ष चीजोंमेंसे एक है। यह पूर्ण रूपसे सापेक्ष है। इसका मूल्य तुम्हारे ऊपर होनेवाले असरपर निर्भर है और उसी हदतक होता है जिस हदतक तुम उसपर विश्वास करते हो। अगर वह तुम्हें एकाग्रचित्त होनेमें सहायता देता है तो अच्छा है। साधारण चेतना उसे केवल अंधविश्वासद्वारा करती है, वह इस विचारसे करती है कि: "अगर मैं ऐसा करूं, अगर मैं सप्ताहमें एक बार मंदिर या गिरजाघर जाऊं, अगर मैं प्रार्थना करूं तो मेरे लिये बहुत शुभ चीज होगी।" यह एक अंधविश्वास है, और जगत्में सब जगह फैला हुआ है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टिसे इसका कोई मूल्य नहीं है।

माताजी, उदाहरणके लिये, सालमें अमुक दिन लक्ष्मी-पूजा होती है, महाकाली पूजा होती है, यह सब...

यह इसलिये होता है क्योंकि तुम्हें मजा आता है, मेरे बच्चो!

लेकिन, उन दिनों तो आप आशीर्वाद भी देती हैं।

हां, क्योंकि इससे तुम्हारा मनोरंजन होता है! (हंसी) हैं?

आप हमें केवल हमारे मनोरंजनके लिये आशीर्वाद देती हैं?

अच्छा चलो, तुम्हें उससे प्रसन्नता होती है। मैंने "मनोरंजन" कहा था, वह... निरादरकी बात थी। लेकिन वह है इसलिये कि तुम्हें प्रसन्नता होती है।

उदाहरणके लिये, महाकालीकी पूजाके दिन...

हां, हां, काली कभी-कभी तीन दिन पहले ही आ जाती हैं, तो कभी चार दिन बाद, या फिर सालके किसी और समय। वह अनिवार्य रूपसे ठीक उसी दिन नहीं होतीं। कभी-कभी तुम्हें खुश करनेके लिये मैं जरा उन्हें बुला लेती हूं। (हंसी) जो भी हो, मैं इन सब चीजोंपर विश्वास करनेवाली नहीं हूं!

सभी धार्मिक कीर्तिस्तंभोंमें, ऐसे कीर्तिस्तंभोंमें जो लोगोंकी दृष्टिमें... जो सबसे महान् माने जानेवाले धर्मोंके कीर्तिस्तम्भ हैं, चाहे वे फ्रांसमें हों या किसी और देशमें हों या जापानमें — वे कभी एक ही प्रकारके मंदिर या गिरजाघर न थे, और न एक ही देवता थे, और फिर भी हर जगह मेरा अनुभव लगभग एक ही रहा, फर्क नाममात्रको था। मैंने देखा कि गिरजाघरमें जो भी केंद्रित शक्ति थी वह पूर्ण रूपसे भक्तोंपर, भक्तोंकी श्रद्धापर निर्भर थी। और उस शक्तिमें भी जैसी कि वह सचमुच थी और जैसी वे अनुभव करते थे, उसमें भी भेद था। उदाहरणके लिये, फ्रांसके सबसे सुंदर गिरजाघरोंमेंसे एकमें, एक ऐसा गिरजाघर जो कलाकी दृष्टिसे सचमुच इतना भव्य है कि शानदार कल्पनाकी सीमातक जा पहुंचता है, उसके सबसे पवित्र स्थानमें मैंने एक **दीर्घाकार**, काली प्राणिक मकड़ी देखी। उसने अपना जाल बनाकर सब जगह फैला रखा था। उसमें वह उन सब शक्तियों और भक्तिपूर्ण प्रार्थनाओंको पकड़कर आत्मसात् कर लेती थी जो लोगोंकी भक्तिसे पैदा होती थी। वह कोई सुखद दृश्य नहीं था; जो लोग वहां थे और प्रार्थना कर रहे थे वे एक दिव्य स्पर्शका अनुभव कर रहे थे, उन्हें

अपनी प्रार्थनाओंके फलस्वरूप नाना प्रकारके वरदान मिल रहे थे। और फिर भी वहां जो चीज थी वह यही थी। लेकिन लोगोंमें अपनी श्रद्धा थी, वह श्रद्धा जो इस बुरी चीजको अच्छीमें बदल सकती थी, उनमें अपनी श्रद्धा थी। इसलिये, सचमुच, अगर मैं वहां गयी होती और उनसे कहती : "तुम समझते हो कि तुम भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हो? एक बड़ी प्राणिक मकड़ी तुम्हारी शक्तियोंसे पोषित हो रही है!" तो यह बहुत हितकर बात न होती। और अधिकतर, प्रायः सभी जगह यही होता है। वहां एक प्राण-शक्ति रहती है, क्योंकि ये प्राणिक सत्ताएं मानव भावनाओंके स्पंदनोंसे पलती हैं। ऐसे बहुत कम लोग हैं, बहुत ही कम, उनकी संख्या न के बराबर है, जो सच्ची धार्मिक भावनाके साथ गिरजाघर या मंदिर जाते हैं, यानी, किसी चीजके लिये प्रार्थना करने या भगवान्‌से कुछ मांगनेके लिये नहीं, बल्कि अपने-आपको अर्पित करनेके लिये, कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये, अभीप्सा और आत्म-समर्पण करनेके लिये जाते हैं। मुश्किलसे लाखोंमें एक ऐसा होता है। इसीलिये उनमें इस वातावरणको बदलनेकी शक्ति नहीं होती। हो सकता है कि जिस क्षण ऐसे लोग वहां होते हैं उस समय वे इस चीजको पार करने, भेदने, कहीं पहुंचकर किसी दिव्य चीजका स्पर्श पानेमें सफल हो जाते हों। लेकिन बहुत बड़ी संख्यामें जो लोग केवल अंधविश्वासके कारण, अहंकारद्वारा और अपने मतलबके लिये जाते हैं, वे इस प्रकारका वातावरण बना देते हैं, और जब तुम किसी मंदिर या गिरजाघरमें जाते हो तो तुम इसी वातावरणमें सांस लेते हो। केवल इतना जरूर है कि चूंकि तुम बड़ी सद्भावनाके साथ जाते हो इसलिये तुम कहते हो : "ओह! ध्यानके लिये कितनी शांत जगह है!"

यह खेदकी बात है, लेकिन है ऐसी ही। मैं तुमसे कहती हूं, मैंने सब जगह जान-बूझकर थोड़ा-बहुत परीक्षण किया है। शायद मुझे कुछ ऐसे छोटे-छोटे स्थान मिले होंगे, जैसे कभी-कभी गांवका कोई छोटा-सा गिरजाघर जहां ध्यानके लिये एक छोटा-सा कोना था, बहुत शांत, बहुत नीरव, बहुत निःशब्द, जहां अभीप्सा थी; लेकिन यह बहुत विरल था! मैंने इटलीके सुंदर गिरजाघर देखे हैं जो बहुत भव्य हैं; वे इन प्राणिक सत्ताओंसे और आतंकसे भरपूर थे। मुझे याद है, वेनिसके एक महामंदिर (बेसिलिका) में मैंने एक चित्र बनाया था और जब मैं काम कर रही थी तब "पापस्वीकार-कक्ष"में एक पादरी किसी गरीब महिलाका "पाप-स्वीकार" सुन रहा था। हां तो, वह सचमुच भयावह दृश्य था! मुझे मालूम नहीं कि पादरी कैसा था, उसका चरित्र कैसा था। वह दिखायी नहीं देता था (तुम जानते हो न, कि ये पादरी दिखायी नहीं देते, वे एक

कोठरीमें बंद रहते हैं और एक जालीमेंसे "पाप-स्वीकार" सुनते हैं)। पादरीके ऊपर एक ऐसी शोषक और अंधकारपूर्ण शक्ति थी, और वह बेचारी महिला ऐसे भयानक आतंककी अवस्थामें थी कि उसे देखना सचमुच कष्टकर था। और ये सब लोग मानते हैं कि यह कोई पवित्र चीज है! लेकिन यह उन विरोधी प्राण-शक्तियोंका एक जाल है जो अपने-अपने पोषणके लिये इन सब चीजोंका उपयोग करती हैं। इसके अतिरिक्त, अदृश्य लोकमें प्राणिक सत्ताओंके सिवाय शायद ही किसीको पूजा करवाना प्रिय हो। जैसा कि मैंने कहा, इन्हें यह अच्छा लगता है। और फिर इससे इन्हें महत्त्व मिलता है। वे घमंडसे फूल उठती हैं और बहुत खुश होती हैं। और अगर उन्हें ऐसे लोगोंका एक दल मिल जाय जो उन्हें पूजता हो तब तो वे पूरी तरह संतुष्ट हो जाती हैं।

लेकिन अगर तुम सच्ची दिव्य सत्ताओंको लो तो यह ऐसी चीज-को बिलकुल कोई मूल्य नहीं देतीं। उन्हें अपनी पूजा करवाना अच्छा नहीं लगता। नहीं, उन्हें इससे कोई विशेष खुशी नहीं होती! यह मत सोचो कि वे संतुष्ट हैं, क्योंकि उनमें घमंड नहीं होता। घमंडके कारण ही मनुष्यको पूजा करवाना अच्छा लगता है; अगर आदमीके अंदर घमंड न हो तो उसे पूजा जाना अच्छा नहीं लगता; और उदाहरणके लिये, अगर वे एक अच्छा इरादा, एक अच्छी भावना, या एक निष्काम क्रिया, या उत्साह या आनंद, आध्यात्मिक आनंद देखें तो ये चीजें उनके लिये प्रार्थना, आरा-धना या पूजाओंसे अनंतगुना अधिक मूल्य रखती हैं...।

मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मैं तुमसे जो कह रही हूं वह बहुत ही गंभीर बात है: अगर तुम एक सच्चे देवताको कुर्सीपर बिठा दो और जबतक तुम्हारी पूजा चलती रहे तबतक वहीं बैठे रहनेके लिये बाधित करो तो शायद तुम्हें पूजा करते हुए देखकर उनका मनोरंजन तो हो, लेकिन निश्चय ही उन्हें किसी प्रकारका संतोष नहीं होता। बिलकुल नहीं! तुम्हारी पूजासे न तो वे फूल उठते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उनकी महिमा ही बढ़ती है। इस विचारको निकाल देना चाहिये। आध्यात्मिक और भौतिक लोकोंके बीच एक पूरा-का-पूरा प्राणिक शक्तियोंका प्रभाव-क्षेत्र है, और यही वह क्षेत्र है जो इन चीजोंसे भरपूर रहता है, क्योंकि ये सत्ताएं उसपर जीती हैं, उससे संतुष्ट हैं और यहां उन्हें तुरंत महत्त्व मिल जाता है; और उनमेंसे जिसके सबसे ज्यादा विश्वासी, भक्त और आराधक होते हैं वही सत्ता सबसे खुश होती है और सबसे ज्यादा फूल उठती है, लेकिन हम कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि देवताओंको यह पसंद होगा...। देवता — मैं सच्चे देवताओंकी बात कर रही हूं, 'अधिमानस'के देवताओंकी भी, यद्यपि वे अभीतक कुछ-कुछ... ऐसे-वैसे हैं... ऐसा लगता है कि उन्होंने बहुत-से

मानवी दोष अपना लिये हैं, खैर, इसके बावजूद, उनकी चेतना सचमुच उच्चतर होती है — उन्हें इन चीजोंसे जरा भी खुशी नहीं होती। सच्चे हितकी, बुद्धिमानी, निस्वार्थता, या सूक्ष्म समझदारीकी या एकदम सच्ची अभीप्साकी क्रिया उनके लिये एक छोटी-सी धार्मिक पूजाकी अपेक्षा अनंत गुना ऊंची होती है। अनंतगुना ! दोनोंमें कोई तुलना नहीं ! धार्मिक क्रियाएं ! उदाहरणके लिये, ऐसी कितनी ही सत्ताएं हैं जिन्हें काली कहा जाता है — और जिन्हें, इसके अतिरिक्त कम, या अधिक भयंकर रूप दिये जाते हैं — ऐसी कितनी ही हैं जिन्हें घरोंमें गृहदेवीके रूपमें स्थापित किया गया है; ये सब भयंकर प्राण-शक्तिसे भरपूर होती हैं ! मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो अपने घरमें प्रतिष्ठित कालीसे इतना डरते थे कि छोटी-से-छोटी भूल करते ही कांप उठते थे, क्योंकि जब उनपर महाविपत्तियां टूट पड़तीं तो वे मानते थे कि उन्हें कालीने ही भेजा है। ऐसा विचार ही एक भयंकर चीज है। मैं इन सत्ताओंको जानती हूं। मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूं, लेकिन ये प्राणकी सत्ताएं हैं, प्राणकी रचनाएं जिन्हें रूप दिया है मनुष्यके मनने, और रूप भी कैसा ? और यह सोचना कि मनुष्य इतनी भयावह और विकराल चीजोंकी पूजा करते हैं ! और तिसपर ये बिचारे देवता जिन्हें यह अभिनन्दन दिया जाता है कि वे...।

इस दृष्टिकोणसे यह बहुत अच्छा है कि कुछ समयके लिये मानवजाति इस धार्मिक वातावरणसे बाहर निकल आये जो भयसे और उस अंधे, अंधविश्वासी आत्म-समर्पणसे भरपूर है जिसका विरोधी शक्तियोंने भयंकर रूपसे अनुचित लाभ उठाया है। इस दृष्टिकोणसे मनुष्योंको अंधविश्वाससे मुक्त करनेके लिये इंकार और प्रत्यक्षवादका युग एकदम अनिवार्य है। इन सब चीजोंसे, भयंकर प्राण-शक्तियोंके प्रति घृणित समर्पणसे बाहर निकलकर ही हम सच्ची आध्यात्मिक ऊंचाइयोंतक उठ सकते हैं और तब 'सत्य'की शक्तियोंके, वास्तविक चेतनाके और सत्य 'शक्ति'के सहायक और सच्चे यंत्र बन सकते हैं।

और ऊपर उठनेसे पहले आदमीको इन सब चीजोंको दूर, बहुत दूर छोड़ देना होगा।

माताजी, उस दिन आपने कहा था कि रातके समय आप सब जगह घूमती हैं, कहा था न ? तो आश्रममें जो कुछ हो रहा है उसके बारेमें आपको मालूम ही होगा...

मैं पुलिसवालेकी तरह काम करती हूं !

तो माताजी, आप जो इस तरहसे ही जानती हैं और जो भौतिक रूपसे जानती हैं उसमें क्या फर्क होता है? कहनेका मतलब, यह जरूरी क्यों है कि सब...।

क्या तुमे मानते हो कि मैं सब जगह जा सकती हूं और सब कुछ देख सकती हूं? दुर्भाग्यवश, मेरे केवल एक सिर, दो हाथ और दो पैर हैं और इसलिये इसमें बहुत समय लगेगा; मैं अपना समय सब जगह दौड़नेमें ही बिता दूंगी।

जी, नहीं! कहनेका मतलब, चूंकि आप पहलेसे ही जानती हैं कि आश्रममें क्या हो रहा है तो हर एक विभागाध्यक्षको आपके पास सूचना देनेके लिये आनेकी क्या जरूरत है?

नहीं, नहीं, वे मुझे सूचना देने नहीं आते? वे आते हैं मुझसे आज्ञा लेने। ये दोनों एक ही नहीं हैं। और अगर मैं उन्हें रातको आदेश दूं तो वे मेरी बात सुन नहीं पाते या अगर संयोगवश कुछ सुन भी लें तो हो सकता है कि ठीक उल्टा ही सुनें! वे अपनी कल्पनाके अनुसार मनमानी करेंगे। नहीं, नहीं! सूचना? वह इसलिये कहते हैं क्योंकि वे जो कहना चाहते हैं उसे कहनेमें उनको खुशी होती है। अगर मैं उनसे तुरत कह दूं: "ठीक है, मुझे मालूम है, मुझे मालूम है!"... कभी-कभी जब मैं जल्दीमें रहती हूं तो इस तरह कह देती हूं; लेकिन इससे उन्हें जोरका धक्का लगता है और वे सोचते हैं: "इन्हें कैसे मालूम हो सकता है जब कि इन्होंने मुझसे पूछातक नहीं?" उनके अनुसार केवल वे ही मुझे ठीक-ठीक सूचना दे सकते हैं, अगर वे मुझे न समझाएं तो मुझे कुछ मालूम ही न होगा। वे यही सोचते हैं, इसलिये उन्हें समझाने देना पड़ता है। कभी-कभी, अगर बहुत समय लग रहा हो और मेरे पास ज्यादा समय न हो तो मैं उनसे कहती हूं: "ठीक है, ठीक है, मैं जानती हूं; चलो, विषयपर आओ, तुम क्या जानना चाहते हो?" तो, इससे वे बहुत विक्षुब्ध हो जाते हैं।

उदाहरणके लिये, माताजी, अगर हमने कुछ किया...

खराब काम।

जी, हां।

कभी-कभी अच्छा भी, हैं?

जी, नहीं, अधिकतर खराब। तब हम अपने-आपसे कहते हैं: "माताजी तो जानती हैं।" इसकी जगह क्या आपके पास आकर कह देना बेहतर नहीं होगा?

हां। क्योंकि यहां...। इस बातका ख्याल रखो कि अगर तुमने कुछ खराब काम किया है, अगर तुमने कोई ऐसा काम किया जिसके बारेमें तुमको मालूम था कि नहीं करना चाहिये; उदाहरणके लिये, तुम कहते हो: "माताजी तो जानती ही हैं, उनसे कहनेकी कोई जरूरत नहीं," तो तुम उसे अपने अंदर डाल लेते हो। तुम उसपर बड़ी सावधानीसे दरवाजा बंद कर देते हो, और फिर उसे अपने हृदयमें या कहीं और संजोए रखते हो। इसके विपरीत, अगर तुम उसका विचारतक न करो... तुम्हें बेचैनी होती है, कोई चीज अंदर बलखाती है, वह प्रिय नहीं है...। "अच्छा, मैं माताजीको इसके बारेमें बतानेवाला हूं।" शुरू करते वक्त बहुत बड़ा प्रयास करना पड़ता है, है न! गलेमें कुछ अटकने लगता है, जीभ सूख जाती है, और फिर शब्द ढूंढ़ना कितना मुश्किल हो जाता है — सचमुच, पता नहीं लगता कि कैसे क्या किया जाय, है न! लेकिन अब तुम संकल्प कर चुके हो, तुम बहुत प्रयास करते हो: तुम शब्दोंको एक-एक करके खींच निकालते हो, इस तरह, बहुत मेहनतके साथ आखिर कह देते हो, और यथासंभव ठीक-ठीक कहते हो। मेरे बच्चे, उससे एक द्वार खुल जाता है, इतना बड़ा, और मैं सीधी चैत्य पुरुषमें प्रवेश कर सकती हूं, बस तुमने जो सच्चाईके साथ प्रयास किया है उसीमेंसे होकर। और तब, जब मैं प्रवेश करती हूं तो अंदर सारा प्रकाश, सारी शक्ति, सारी इच्छा-शक्ति, सारी चेतना, सारा संकल्प उंडेल देती हूं ताकि जो किया है उसे दोबारा न कर पाओ। जिस प्रकार प्यालेमें ज्यादा डालनेसे वह छलक उठता है, उसी प्रकार बहुत कुछ छलककर गिर जाता है, लेकिन फिर भी थोड़ा-बहुत बच रहता है। और यह "थोड़ा-बहुत" ही काम करता है। और अगर तुम इस प्रयासको बार-बार करो, जबतक कि तुम यह अनुभव न करने लगो कि — हां, मेरे पास कहनेके लिये कुछ नहीं है, क्योंकि छिपानेके लिये कुछ नहीं बचा — तब सब कुछ बहुत अच्छा हो जाता है। तुमने बहुत प्रगति कर ली है।

मधुर मां, कक्षामें जब हम आपसे प्रश्न पूछते हैं, तो कभी-कभी प्रश्न बहुत आसानीसे आते हैं, यंत्रवत्, और कभी-कभी संकोच होता है...

जानते हो, अधिकतर प्रश्न बुरी तरह पूछे जाते हैं, क्योंकि तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या जानना चाहते हो। मेरे कहनेका मतलब यह है कि तुम्हें इस बातका ठीक ज्ञान नहीं होता कि तुम क्या जानना चाहते हो। तुम्हारे सिरमें शब्दोंका एक समूह होता है, विचारकी वह सचेतनता नहीं होती जो स्पष्ट होनेकी कोशिश करती है; वे केवल शब्द ही हैं जो तुम्हारे दिमागमें एक-दूसरेसे टकराते रहते हैं, जिन्हें तुम उस क्रममें नहीं रख पाते ताकि तुम उनका अर्थ समझ सको। इसलिये तुम आसानीसे व्यक्त नहीं कर पाते, क्योंकि तुम सोचते नहीं। प्रश्न विचारसे नहीं आता। वह एक प्रकारकी यांत्रिक चीज है जो दिमागसे आती है; तुम जिस अनुभूतिको यथार्थ रूपसे व्यक्त करना चाहते हो या अपने दिमागमें जिस विचारको क्रममें रखना चाहते हो उसके बारेमें यदि तुम्हारी चेतना स्पष्ट हो तो तुम उसे बहुत स्पष्ट रूपसे व्यक्त कर सकते हो और तब उसके साथ-ही-साथ तुम्हारा दिमाग भी उत्तर पानेके लिये तैयार रहता है; लेकिन अगर केवल शब्दोंकी टक्करके साथ — शब्द इसी तरह आते हैं, है न, तुम तीन-चार शब्दोंको जोड़ते हो, और फिर विचारको प्रस्तुत कर देते हो . . . । मैं उत्तर देती हूं, क्योंकि मैं सोचती हूं कि कुछ लोग तो होंगे ही . . . कि कहीं, किसी दिमागमें बात घुस जायगी; लेकिन अन्यथा, अधिकतर, मैं जो बोलती हूं दिमाग उसे समझनेके लिये भी तैयार नहीं होता। पूछनेसे पहले अच्छी तरह विचार करना चाहिये और तुम जो पूछना चाहते हो उसपर अच्छी तरह एकाग्र होना चाहिये, उसे स्पष्ट रूपसे देखना चाहिये। अन्यथा, मनका वह अंश जो समझता है वह नहीं पूछता। वह केवल एक सतह है जो निरंतर गतिमें रहती है, उन शब्दोंकी गतिविधिमें जो एक-दूसरेके साथ कम या अधिक अच्छा संबंध रखते हैं, जो एक साथ आते हैं, जाते हैं, गुजरते हैं; और वही सतह बोलती है, वही पूछती है, लेकिन, वास्तवमें, वह कुछ समझ नहीं पाती।

कितनी बार मैंने तुम्हें वह-की-वही बातें बतलायी हैं और अगर कभी मैं तुमसे उनके बारेमें, एक सप्ताह बाद भी, पूछ लूं तो वे तुम्हें याद नहीं होतीं! कितनी बार तुम मुझसे एक ही प्रश्न पूछते हो, क्योंकि तुमने प्रश्न तो कर दिया था लेकिन तुम उत्तरको समझ पानेकी अवस्थामें नहीं थे। कोई चीज अंदर नहीं टिकती, केवल शब्द आते-जाते रहते हैं, बस। यह ठीक वैसा ही है जैसे तुम एक पाठ कंठस्थ करते हो: उसमें केवल शब्द ही इस तरह आते-जाते हैं। कोई चीज, कोई भी चीज अंदर नहीं पैठती, सच्चे विचारमें कहीं भी स्थापित नहीं होती। तब कोई असर नहीं होता और तुम्हारी समझमें कुछ नहीं आता। प्रमाण यह है कि कितनी ही

बार मैंने तुमसे पूछा है, मैंने कहा है: "लेकिन निश्चय ही मैं तुम्हें यह बता चुकी हूं"; तुम्हें यादतक नहीं होता।

ऐसा बहुधा हुआ है न? — लेकिन प्रायः यह बहुत छोटे बच्चोंके साथ होता है — और हां, तुम्हारे साथ भी ऐसा कभी-कभी हुआ है कि किसीने मुझसे पूछा और मैंने उत्तर दिया है। दूसरा व्यक्ति दूसरे शब्दोंमें फिर वही पूछता है। अगर मैंने जो कुछ कहा था वह तुमने सुना होता तो तुम देखते कि तुम जो पूछ रहे हो उसका उत्तर मैं दे चुकी हूं! यह सब इसी तरह गुजर जाता है, जानते हो, बिलकुल इसी तरह गुजरता है, एकदम सतही विचार, कोई चीज अंदर नहीं पैठती, आंतरिक बुद्धिमें स्थापित नहीं होती। इसीलिये तुम प्रश्न नहीं कर पाते: क्योंकि तुम सोचते नहीं... केवल शब्द खेलते रहते हैं...

माताजी, एक अंतिम प्रश्न: कल खेल-कूदका दिन है। इसलिये...

अब अगर हम एक छोटी-सी अंधविश्वास-भरी प्रार्थना करें कि वर्षा न हो! (हंसी) लेकिन जानते हो, बादलोंमें, हवामें छोटी-छोटी सत्ताएं होती है। ये सत्ताएं प्राणके क्षेत्रकी हैं; वे पूर्ण रूपसे दुष्ट नहीं होतीं, वे बहुधा बहुत नटखट होती हैं। अधिकतर वे प्रकृतिके विशाल और सामान्य नियमोंका पालन करती हैं, लेकिन ऐसी कुछ सत्ताएं हैं जो अर्ध-स्वतंत्र होती हैं और जिनके कारण स्थानीय वर्षाएं होती हैं इत्यादि। शायद (मैं कह चुकी हूं कि इन छोटी सत्ताओंको प्रार्थनाएं बहुत अच्छी लगती हैं), शायद अगर हम उनसे कहें: "मैं तुमसे विनती करता हूं, थोड़ी-सी दया करो, कल हमारा उद्घाटन है, शरारत मत करो। अगर बरसनेकी इच्छा हो तो शामतक ठहर जाओ, आकर हमारे छोटे-से अधिवेशनमें बाधा मत डालो," तो शायद कुछ असर हो जाय!

तुम्हें याद है, जब वर्षाका अभाव था तब लोगोंने हमसे कहा था कि अगर हम प्रार्थना करें तो वर्षा होगी? और उस दिन हमें यह कोशिश कर देखनेमें खूब मजा आया था — वर्षाको बुलानेमें — फिर वर्षा हुई थी, याद है? बादमें सचमुच वर्षा हुई थी। हां तो, बात ऐसी है। यह प्राणका क्षेत्र है।

अब तुम जो कहना चाहते थे कहो।

माताजी, जिस दिन कोई प्रतियोगिता होती है उस दिन हम आपको ज्यादा पुकारते हैं। तो, माताजी, क्या यह...

हां, हां, मेरे बच्चो।

तो, माताजी, क्या अपने निजी उद्देश्यको पूरा करनेके लिये आपको बुलाना बुरा नहीं है?

निजी उद्देश्य? तुम इसीके लिये तो यहां हो। अगर तुम यथासंभव अच्छे-से-अच्छा करनेके लिये पुकारो तो इसमें कोई हर्ज नहीं है। लेकिन, यह सच है, जानते हो, कि जब मैं वहांसे, अधिवेशनके अंतमें लौटती हूं तो मैं एकदम चूर हो जाती हूं। मुझे विश्राम लेना पड़ता है... वह खींचता है, कभी-कभी तो भयंकर रूपसे खींचता है...। पहली दिसंबर और दूसरी दिसंबरको जो कार्यक्रम होते हैं या इसी तरहके कार्यक्रम, वे खींचते हैं, खींचते हैं, खींचते हैं...। फिर कुछ मिनट बाद वह ठीक हो जाता है। वह कोई गंभीर चीज नहीं होती, लेकिन यह सच है कि वह खींचता है।

लेकिन मुझे कोई आपत्ति नहीं है; इसके विपरीत, स्वयं मैं ही तुमसे कहती हूं: "मेरे बच्चो, अगर तुम कोई कठिन चीज कर रहे हो तो मुझे पुकारो, मुझे पुकारो।" नहीं, इसलिये नहीं कि तुम पहले आ जाओ या तुम्हें विजय प्राप्त हो, बल्कि इसलिये कि तुम्हारे साथ कोई अप्रिय चीज न होने पाए। मुझे इसलिये पुकारो ताकि तुम जो कर रहे हो वह यथासंभव अच्छे-से-अच्छा हो, बड़प्पन दिखानेके लिये नहीं, बल्कि अच्छी तरह करनेकी खुशीके लिये। और तुम उस चीजको निवेदनके रूपमें करनेके लिये भी मुझे पुकार सकते हो। और तब वह बहुत अच्छी होती है।

मधुर मां, खींचनेके अतिरिक्त बुलानेका कोई और तरीका नहीं है?

है, मेरे बच्चे। लेकिन वह बहुत ज्यादा कठिन है। हां, एक और तरीका है, एक सच्चा तरीका है... वह ज्यादा कठिन है।

लेकिन यह ठीक है, मुझे इससे कोई शिकायत नहीं, यह ठीक है। मुझे यह उस अनुभवसे ज्यादा पसंद है, जब लोगोंको देखते हुए, उनके सिरके चारों ओर एक छोटा-सा काला बादल घूमता दिखलायी दे, यह लगे कि अब दुर्घटना होनेवाली है, कुछ होनेवाला है, और मैं संरक्षण देनेके लिये उसे भेदकर जाऊं, और अपने-आपको ऐसे व्यक्तिके सामने पाऊं जो बिलकुल बंद है, जो अचेतन है, जिसे विश्वास है कि स्वयं वही अपनी रक्षा करनेमें समर्थ है और... मैं उसे दुर्घटनासे बचा न सकूं! ऐसा हुआ है! मेरे लिये यह कहीं अधिक अप्रिय है।

मुझे बुलाया जाना पसंद है...।
हां, तो कल वर्षा न हो, है न! अच्छा, फिर मिलेंगे।

७ जुलाई, १९५४

(कक्षा शुरू करनेसे कुछ दिन पहले माताजीने कहा कि वे श्रीअरविन्दकी पुस्तक 'माता' ('दि मदर') का अध्ययन एक नये तरीकेसे करवाएंगी। इसे वे खुद किताबमेंसे पढ़ेंगी, बच्चे नहीं, जैसा कि अबतक होता आया था। लेकिन कक्षासे पहले हर एकको एक अध्याय पढ़कर एक-एक प्रश्न तैयार करना होगा जिसे वह कक्षामें पूछेगा।

यह वार्ता 'माता'के पहले अध्यायपर आधारित है।

माताजी, यहां लिखा है: ...आंतरिक 'योद्धा'का समर्पण, उस 'योद्धा'का जो अंधकार और मिथ्यात्वसे लड़ता है।[1] "यह आंतरिक योद्धा" कौन है?

वह है प्राणमय पुरुष जब वह रूपांतरित हो। पूरी तरह भगवान्‌की ओर अभिमुख प्राण एक योद्धाकी तरह होता है। उसका रूप-रंग भी योद्धाके जैसा होता है। प्राण है शक्तिका स्थान और वही शक्ति उसे लड़नेके लिये बढ़ाती है, जो लड़कर जीत सकती है, और सभी चीजोंमें वही सबसे कठिन है क्योंकि लड़ाईके ठीक यही गुण प्राणमें विद्रोह, स्वतंत्रता और अपनी ही मरजीसे चलनेकी इच्छा उत्पन्न करती है। लेकिन अगर प्राण समझ

---

[1] पूरा वाक्य है:

"भगवती 'शक्ति'की क्रियाके प्रति प्रसन्न, सशक्त और सहायक समर्पण होना चाहिये और 'सत्य'के ज्ञानसे दीप्त अनुयायीकी, अंधकार और मिथ्यात्वसे लड़नेवाले आंतरिक 'योद्धा'की और भगवान्‌के सच्चे सेवककी आज्ञाकारिता होनी चाहिये।"

सके और बदल जाय, अगर वह सचमुच भागवत 'संकल्प'के प्रति समर्पित हो तो लड़ाईकी ये क्षमताएं भगवान्-विरोधी शक्तियों और हर प्रकारके अंधकारकी ओर मुड़ जाती हैं जो उनके रूपांतरको रोकते हैं। वे सर्वशक्तिमान् होती हैं, और शत्रुओंपर विजय पा सकती हैं। भगवान्-विरोधी शक्तियां प्राण जगत्में होती हैं। वहांसे, स्वभावतः वे शरीरमें फैली हैं लेकिन उनका असली आसन प्राण-जगत्में है और परिवर्तित प्राण-शक्तिमें ही उन्हें हरानेकी सच्ची शक्ति होती है। लेकिन सब चीजोंमें यह परिवर्तन सबसे कठिन है।

"छल-कपट" क्या है?

छल-कपट? वे चालाकियां होती है। तुम जानते हो कि चालाकी क्या होती है? — हां? तो छल-कपट हैं धोखा देनेके तरीके, ऐसे तरीके जो धोखा देनेके काम आते हैं। हम जो करना चाहते हैं उसे दूसरे बाहरी रूपोंसे ढक लेते हैं ताकि धोखा दे सकें; ये ही छल-कपट कहलाते हैं।

"अटल रूपांतर"?

अटल या अपरिवर्तनीयका मतलब है एक ऐसा रूपांतर जिससे कमी लौट नहीं सकते, जो हमेशा के लिये हो गया है।

मधुर मां, यहां लिखा है: "यह काफी नहीं है कि चैत्य प्रत्युत्तर दे, और उच्चतर मन स्वीकार कर ले। यहां तक कि निम्नतर[1] प्राणका समर्पण और आंतरिक शारीरिक चेतना भी प्रभावको अनुभव कर ले।" इसका मतलब है कि कोई उच्चतर प्राण भी होता है?

हां, सामान्यतः उच्चतर प्राणका समर्पण कम कठिन होता है; क्योंकि वह मनके और कमी-कमी चैत्यके भी प्रभावमें होता है; इसलिये वह ज्यादा आसानीसे समझता है। निम्नतर प्राणकी अपेक्षा इसे बदलना ज्यादा आसान है क्योंकि निम्नतर प्राण तत्त्वतः इच्छाओं और आवेगोंका प्राण होता है।

---

[1] यहां श्रीअरविन्दका शब्द है "इनर" (आंतरिक)। फ्रेंचमें इसका अनुवाद किया गया था "ऐंतेरियर" और भूलसे छप गया "ऐंफेरियर" जिसका मतलब है "निम्नतर"। इस भूलके कारण सवाल उठता है।

इसलिये, वे यहांपर कहना यह चाहते हैं कि निम्नतर प्राण समर्पण कर सकता है, वह आज्ञापालनके लिये, कहा माननेके लिये तैयार हो जाता है, लेकिन वह बिलकुल खुश नहीं होता। वह खुश नहीं होता। कभी-कभी तो वह कष्ट भी पाता है, आज्ञापालनके कारण वह अपने विरोधको अपने अंदर धकेल देता है, परंतु वह सहयोग नहीं देता। और जबतक प्राण सच्चे आनंद और प्रेमके साथ सहयोग न दे तबतक कुछ नहीं किया जा सकता। रूपांतर आ ही नहीं सकता।

माताजी, यहां लिखा है:...

ठहरो, ठहरो, तुम्हारी बारी आयगी!

एक भूल है! यहां, फ्रेंचमें लिखा है "निम्नतर प्राण", लेकिन अंग्रेजीमें है "आंतरिक प्राण"!

आंतरिक? आंतरिक प्राण? हां। लेकिन यहां भूलको बड़ी सावधानीसे दोहराया गया है! यह हमारा संस्करण है। (माताजी 'आश्रम प्रेस'में छपी पुस्तक दिखाती हैं।) ठीक यही तो! हां "आंतरिक"! आंतरिक प्राण है। हां, यहां "आंतरिक" ही होना चाहिये जैसे "आंतरिक शारीरिक"। (पवित्र पूछते हैं कि वह भूल सभी संस्करणोंमें दोहराई गयी है या नहीं।) लगता है कि सभी संस्करणोंमें "आंतरिक"के लिये निम्नतर है। लेकिन यह हमारा संस्करण है और हमें भूल ठीक कर लेनी चाहिये थी। यह फ्रांसमें छपा पहला संस्करण[1] है, वह नहीं यह; यह छोटी-सी किताब फ्रांसमें छपी है। इसके अतिरिक्त अक्षर बहुत मिलते हैं, है न? 'टी' और 'एफ़' बहुत मिलते हैं।

(जो बच्चा अभी बात कर रहा था उससे) तो तुम समझते हो कि तुम अपने प्रश्नसे बच जाओगे? (हंसी)

(दूसरे बच्चेसे) तुम्हारे पास कोई प्रश्न नहीं है? नहीं! तो वह अगले सप्ताहके लिये होगा। आज मैं कुछ नहीं कहती, क्योंकि तुम्हें पहलेसे सूचना नहीं दी गयी थी। पर्याप्त समय पहले नहीं दी गयी थी।

(एक और बच्चेसे) और तुम? तुम्हारे पास कोई प्रश्न नहीं?

(एक औरसे) और तुम?

---

[1] यह १९४५ में छपा था

यहां, मैं यह नहीं समझा : "क्योंकि अगर वह (परम 'कृपा') 'मिथ्यात्व'की मांगोंके आगे झुक जाय, तो वह अपने प्रयोजनको असफल कर देगी।" उसके अपने प्रयोजनको असफल कर देनेका मतलब क्या है?

हां। इसका मतलब यह है कि वह अपने कामके, निजी कामके विरुद्ध जायगी। भागवत कृपा आ गयी है और वह सत्यकी सिद्धिके लिये काम कर रही है। अगर वह उन परिस्थितियोंको स्वीकार ले जो मिथ्यात्व उसपर थोपता है तो वह कुछ नहीं कर पायगी! इसके बारेमें, जानते हो, मैं तुम्हें उन लोगोंके **अनगिनत** उदाहरण दे सकती हूं जो इस बातपर जोर देते हैं कि जहां उनका सवाल है चीजें अमुक ढंगसे होनी चाहिये। वे विनती करते हैं, कभी-कभी यह मांग भी करते हैं कि चीजें इसी तरह हों। और वे जिस चीजकी मांग करते हैं वह सत्यसे ठीक विपरीत होती है और अगर भागवत कृपा उनकी मांगके अनुसार चले तो वह अपने उद्देश्यके विरुद्ध जायगी और अपने उद्देश्य-को निष्फल कर देगी, यानी, वह अपने कार्य और अपने उद्देश्यके विरुद्ध जायगी। वह यहां आती है सत्यको चरितार्थ करनेके लिये; अगर वह मिथ्यात्वकी बात माने तो वह सत्यसे पीठ फेर लेगी। और मनुष्य, है न, प्रायः बैलोंके आगे गाड़ी रख देते हैं — अक्सर अज्ञान और मूर्खताके कारण; लेकिन कभी-कभी दुर्भाविनाके कारण भी वे इस पर जोर देते हैं कि उनकी मांगें पूरी की जायं, वे अपने समर्पणके लिये एक प्रकारकी सौदाबाजी करते हैं और वे ऐसा करते हैं...। हां, बहुत-से हैं जो अचेतन रूपसे करते हैं — मैं कह चुकी हूं वे अज्ञान और मूर्खताके कारण करते हैं। दूसरे हैं जो सचेतन रूपसे करते हैं। और इसलिये वे अपनी शर्तें पूरी करवाना चाहते हैं। वे कहते हैं: "अगर यह ऐसा और वैसा है...।" और अंतमें वे भगवान्‌से भी कहने लगते हैं: "अगर आप ऐसे या वैसे हैं, अगर आप उन शर्तोंको पूरा करें जो मैं आपके ऊपर थोपता हूं तो मैं आपकी आज्ञा मानूंगा!" वे इन शब्दोंमें नहीं कहते, क्योंकि वह बहुत ही हास्यास्पद हो जायगा, लेकिन वे लगभग हमेशा ही ऐसा करते रहते हैं। समझे, वे कहते हैं: "ओह, भगवान् ऐसे हैं। भग-वान् ऐसा करते हैं। भगवान्‌को इस प्रकार प्रत्युत्तर देना चाहिये।" और वे इस तरह करते रहते हैं, और उन्हें ख्यालतक नहीं आता कि वे भगवान्‌को क्या होना चाहिये और क्या करना चाहिये, इसके बारेमें अपनी धारणाओं और इच्छाओंको थोप रहे हैं। और जब भगवान् उनकी मनचाही चीज नहीं करते या उनकी लगायी शर्तोंको पूरा नहीं करते, तो वे कहते हैं: "आप भगवान् नहीं हैं!" (हंसी) यह बहुत ही सरल है। "मैं जो शर्तें लगाता हूं

उन्हें आप पूरा नहीं करते, फलस्वरूप आप भगवान् नहीं हैं!" लेकिन जानते हो, वे ऐसा निरंतर करते रहते हैं। तो, स्वभावतया, अगर 'भागवत कृपा' इन लोगोंको खुश करनेके लिये उनकी मांगोंके सामने सिर झुका दे, तो वह पूर्ण रूपसे अपने उद्देश्यके विरुद्ध जायगी और अपने 'कार्य'को खत्म कर देगी।

(दूसरे बच्चेसे) अब, तुम्हारे पास कोई प्रश्न है?

मेरी बारी नहीं है! (हंसी)

ओह, कैसी सुविधाजनक बात है! (हंसते हुए) अब किसकी बारी है? तुम? तुम्हारा प्रश्न?

यहां लिखा है: "... ऊपरसे उतरती हुई उच्चतम अतिमानसिक 'शक्ति' ही नीचेसे उद्घाटन करते हुए, भौतिक प्रकृतिपर सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है और उसकी कठिनाइयोंको मिटा सकती है।" अन्तिम हिस्सा मेरी समझमें नहीं आया।

ठीक कौन-से शब्द तुम्हारी समझमें नहीं आ रहे?

"नीचेसे उद्घाटन करते हुए, भौतिक प्रकृतिपर सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है।"

सफलतापूर्वक कार्य कर सकना! ... तुम्हें इसका मतलब नहीं मालूम? (ठीकसे उच्चारित न होनेके कारण पवित्र वाक्यको दोबारा पढ़ते हैं।) नीचेसे खुलती हुई — अर्थात्, कोई ऐसी चीज जो ऊपरसे आती है और जबरदस्ती नीचेसे ऊपर उठती है, जो अपना रास्ता जबरदस्ती बना लेती है, एक सड़क-सी बना लेती है, नीचेके विरोधमेंसे होकर रास्ता, जिस तरह तुम निर्जन वनमें घुसते हो तो पेड़ोंको काटकर रास्ता बना लेते हो। हां तो, बात वही है, है न, निम्नतर जड़ स्तरोंमें एक विरोध है, और ऊपरके दबावसे, वह शक्ति एक रास्ता खोल देती है और प्रतिरोधमेंसे यह एक रास्ता बना लेती है। और इसके बाद जो आता है, वह समझमें आया?

जी, नहीं। "सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है।"

"कार्य कर सकना" — मतलब "बर्ताव करना"; यानी, जो भौतिक जगत्के

समी विरोधोंके साथ निबट सकती है। केवल सबसे ऊंची शक्ति ही जड़-मौतिककी कठिनाइयोंको जीत सकती है। इसका मतलब यही है। मौतिक जगत्के सभी प्रतिरोधों और कठिनाइयोंको केवल उच्चतम शक्तिद्वारा पार किया जा सकता है — उच्चतम अतिमानसिक शक्तिद्वारा। अब समझे ?

जी, हां।

(दूसरे बच्चेसे) कुछ नहीं ?
(एक औरसे) तुम ?

माताजी, यहां कहा गया है : "यह झूठी धारणा छोड़ दो कि भागवत शक्ति तुम्हारी मांगके अनुसार सब कुछ कर देगी या करनेके लिये बाधित है, चाहे तुम खुद परम प्रभुद्वारा लगायी गयी शर्तोंको पूरा न भी करो।" तब...

लेकिन, जानते हो, ऐसे लोग होते हैं जिनसे कहा जाता है : "तुम्हें समर्पण करना चाहिये।" तो मुस्कानके साथ वे उत्तर देते हैं : "हां, मुझसे समर्पण करवा दीजिये।" वाह, यह तो बहुत सरल है !

जब हम कुछ प्रगति करना चाहें...

हां !

हम कोशिश करते हैं, लेकिन देखते हैं कि कोई चीज आगे बढ़ना नहीं चाहती, प्रगति करना नहीं चाहती।

हां, प्रगति करना।

तब अगर हम भगवान्से कहें कि...

सहायताके लिये ?

जी, हां।

यह और बात है। सहायता करना, यह समझमें आता है, वे तुम्हारी सहायता

करनेके लिये हैं। लेकिन यहां जो लिखा है उसका मतलब है यूं ही आलसी बने बैठे रहना, जरा भी प्रयास न करना, न ही अभीप्सा करना, न चाहना, कुछ न करना, और ऊपरसे कहना: "हां, भगवान् मेरे लिये यह कर देंगे; भगवान् मेरे लिये सब कुछ कर देंगे। भागवत 'कृपा' मुझे अभीप्सा देगी। अगर मुझे अभीप्साकी जरूरत है, तो भागवत 'कृपा' मुझे वह देगी। अगर मुझे समर्पणकी जरूरत है, तो वह भी मुझे दे देगी," इत्यादि। "बिना कुछ किये, बिना हिले-डुले, बिना कुछ चाहे, मुझे केवल निष्क्रिय बैठे रहना है।" हां, ऐसे बहुत-से लोग हैं, बहुत-से! उनसे कहा जाता है: "अभीप्सा करो।" — "मुझे अभीप्सा दो!" (हंसी) उनसे कहा जाता है: "उदार बनो।" — "ओह, मुझे उदार बना दो, और मैं सब कुछ दे दूंगा!" (हंसी)

और फिर? (दूसरे बच्चेसे) अब, तुम!

मैं एक प्रश्न दोहराता हूं, मधुर मां, यहां फ्रेंचमें लिखा है: "नीचेसे मार्गको खोलना," लेकिन अंग्रेजीमें "मार्ग" शब्द नहीं है।

हां। अंगरेजी किसके पास है?

मेरे पास।

पढ़ो, अंगरेजी पढ़ो!

"... ऊपरसे उतरती हुई अतिमानासिक शक्ति ही नीचेसे उद्घाटन करते हुए, भौतिक प्रकृतिपर सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है और उसकी कठिनाइयोंको मिटा सकती है।"

नीचेसे उद्घाटन करते हुए? (लंबा मौन)

इसका मतलब हो सकता है: जड़ भौतिकके केंद्रमें छिपी हुई शक्तिको अभिव्यक्त होने देना। इसमें अतिमानसिक 'उपस्थिति' का भाव आता है जो हर एक चीजके केंद्रमें है, लेकिन छिपी हुई और, कह सकते हैं, अभिव्यक्त होनेमें अक्षम, और फिर मानों ऊपरसे आती हुई शक्ति उसे जगायेगी और वह अभिव्यक्त होगी।

हो सकता है इसका यह मतलब हो, यानी, वह इस सत्यको अभिव्यक्त करता हो कि दोनों सिरे मिलते हैं जिस तरह गोलाकारमें होता है, जानते

हो, आरंभ और अन्त एक-दूसरेको छूते हैं। इसका यह मतलब हो सकता है।

पवित्र : मधुर मां, फ्रेंच अनुवाद भी यही कहता है!

यह स्पष्ट है! केवल, शब्द वही नहीं हैं। वास्तवमें, उसका अर्थ है : चाहे वह इस ढंगसे कहा जाये या उस ढंगसे, उसका अर्थ है कि दोनों सिरे मिलते हैं, समझे, एक हो जाते हैं, जड़-भौतिकमें उपस्थित परम प्रभु और जड़-भौतिकके बाहर उपस्थित परम प्रभु एक होते हैं, मिलते हैं। इसका यही अर्थ है। दोनों हालतोंमें इसका यही अर्थ है।

मधुर मां, "अचल निष्क्रियता"का क्या मतलब है?

अचल निष्क्रियता? इसका मतलब है...। निष्क्रियता, उस दिन हम बता चुके हैं न, कि जो चीज हिलती नहीं, काम नहीं करती, स्पंदित नहीं होती, प्रत्युत्तर नहीं देती — हां तो, जड़ निष्क्रियता वही है, जो बिल्कुल अचेतन, निष्क्रिय हो और जो प्रत्युत्तर न देती हो; जब कि उस दिन हमने उस निष्क्रियताकी बात की थी जो प्रत्युत्तर देती है, खुलती है और ग्रहणशील है, लेकिन जो हिलती-डुलती नहीं, काम नहीं करती, जो उलटी है...। चलो, निष्क्रियताको क्रियाका उल्टा समझें, कोई ऐसी चीज जो काम नहीं करती लेकिन जो ग्रहणशील है और ग्रहण करती है।

लेकिन अचल निष्क्रियता वह निष्क्रियता है जो कुछ भी ग्रहण नहीं करती, जो पत्थरके समान होती है; उदाहरणके लिये, हम कहते हैं कि पत्थरमें जड़ निष्क्रियता होती है, कहते हैं न?...जो मिट्टीकी तरह, रेतकी तरह है। यह बात पूर्ण रूपसे सच्ची नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई भी चीज नहीं जो शक्तियोंके प्रति जरा भी ग्रहणशील न हो। लेकिन फिर भी, हम जितना अधिक उस चीजके निकट जाते हैं जिसे हम अचेतन कहते हैं, उतना अधिक वह जड़ और साथ-ही-साथ निष्क्रिय भी होती है। यही है।

इसलिये, किसीके अन्दर अचल निष्क्रियताका मतलब है स्पंदित होनेमें, ग्रहण करनेमें, खुलनेमें, प्रत्युत्तर देनेमें एक प्रकारकी अक्षमता, कोई ऐसी चीज जो बिल्कुल अचेतन हो और किसी भी तरहसे न हिले-डुले!

मधुर मां, हम प्रसन्नतापूर्वक समर्पण कैसे कर सकते हैं?

यह जरूरी है कि वह सच्चा हो! अगर वह सचमुच सच्चा है, तो वह

प्रसन्नतापूर्ण बन जाता है। जबतक वह न हो — तुम चीजको घुमाकर कह सकते हो — जबतक वह प्रसन्नतापूर्ण न हो, तबतक तुम निश्चित हो सकते हो कि वह पूर्ण रूपसे सच्चा नहीं है; क्योंकि अगर वह पूर्ण रूपसे सच्चा है, तो वह हमेशा प्रसन्नतापूर्ण होगा। अगर वह प्रसन्नतापूर्ण नहीं है, तो इसका अर्थ है कि कोई चीज है जो उसे रोकती है, कोई चीज जो चाहती है कि चीजें और प्रकारसे हों, कोई ऐसी चीज जिसका अपना संकल्प है, अपनी इच्छा, अपना लक्ष्य है, और जो संतुष्ट नहीं है, फलस्वरूप, जो पूरी तरहसे समर्पित नहीं है, अपने समर्पणमें सच्ची नहीं है। लेकिन अगर समर्पणमें व्यक्ति सच्चा हो, तो वह एकदम प्रसन्न होगा, सहज रूपसे प्रसन्न; बल्कि, वह सहज रूपमें एक ऐसे सुखको अनुभव करता है जो शब्दोंमें नहीं उतारा जा सकता। फलस्वरूप, जबतक वह अवर्णनीय सुख नहीं है, तबतक यह एक **निश्चित** संकेत है कि वह सच्चा नहीं है, कि कोई चीज है, उसकी सत्ताका कम या अधिक बड़ा अंश, जो सच्चा नहीं है।

मधुर मां, इस अंशको कैसे खोजा जाय?

अभीप्सा करो, डटे रहो, उसपर प्रकाश डालो, और जरूरत पड़े तो प्रार्थना करो। बहुत-से तरीके हैं। कभी-कभी शल्य-क्रियाकी जरूरत पड़ती है, जैसे घावपर गरम लोहा रखना जरूरी होता है जब कोई घिनौना फोड़ा हो जो फटता न हो।

(एक बच्चेसे) तुमने कुछ कहा?

नहीं, मेरी बारी नहीं है।

(हंसते हुए) ओह, तुम्हारी बारी नहीं है! (हंसी) तो...

यहां कहा गया है: "परम प्रभु तुम्हारा समर्पण चाहते हैं, लेकिन उसे थोपते नहीं: जबतक अपरिवर्तनीय रूपान्तर न आये तबतक हर क्षण भगवान्‌को अस्वीकारने, उनका त्याग करने या अपने आत्म-समर्पणको वापस ले लेनेकी तुम्हें पूरी छूट होती है।"

हां, यह ऐसी चीज है जो हर क्षण होती रहती है!

(बच्चा अंतिम वाक्यको दोहराता है): "भगवान्‌को अस्वीकारने, उनका त्याग करने" — "अस्वीकार करने" का मतलब?

"अस्वीकार करना"? अभी मैं यही तो कह रही थी। जो लोग देखते हैं कि वे जो कुछ चाहते हैं उसे भगवान् नहीं चाहते, या वह उनकी इच्छाके अनुसार नहीं करते, वे भगवान्को अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं: "यह भगवान् नहीं है!" या फिर, कुछ और हैं जो और आगे जाते हैं। वे कहते हैं: "कोई भगवान् नहीं है, उनका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वह उससे मेल नहीं खाते जिसे...।" यह एक झंझटकी बात होगी कि कोई भगवान् हो: वे कहते हैं ऐसी कोई चीज नहीं है!

मधुर मां, "अचल यंत्र"का क्या मतलब है?

यंत्र — यह अचल निष्क्रियतासे जरा बढ़कर है। यंत्र — यह एक यांत्रिक गति है; और "अचल" का अर्थ है अचेतन। तो वह एक यंत्रवत् और अचेतन गति है, कोई ऐसी चीज जिसमें आत्मा न हो, भाव न हो, संकल्प न हो, उत्साह न हो, कोई ऐसी चीज जो केवल यंत्रके समान हो, जिसमें कोई चेतना न हो; और जो अचल, हर प्रकारकी चेतना और ग्रहणशीलतासे शून्य हो। वह फिर भी... मैं नहीं सोचती कि, उदाहरणके लिये, घड़ीको भी अचल यंत्र कहा जा सकता है। घड़ीमें आत्मा जैसी कोई चीज होती है: जब कोई यंत्र बहुत अच्छी तरह बनाया गया हो, तो उसमें आत्मा जैसी कोई चीज होती है, वह प्रत्युत्तर देती है, उसमें अमुक ग्रहणशीलता होती है। लेकिन यह (अचल यंत्र) कोई ऐसी चीज है जिसमें कोई ग्रहणशीलता, कोई चेतना नहीं होती, और वह केवल एक यंत्रके जैसी होती है जिसमें चाबी दी जाती है और जो बस, इस प्रकार करती है (माताजी यांत्रिक गतिका संकेत करती हैं), समझे, यह जाने बिना ही कि वह किसलिये और कैसे हो रहा है!

माताजी, "सहायक समर्पण"का क्या अर्थ है?

समर्पण... असहाय? (हंसी) यह नहीं हो सकता। यह सहायक समर्पण है। सहायक समर्पण क्या है, यह हम सब जानते हैं, जानते हैं न? सहायक समर्पण।

मूल पाठ कहां है? हम असहाय समर्पण नहीं कह सकते। (हंसी)
(माताजी मूलपाठमें ढूंढती हैं।)

सहायक, वह असहाय नहीं है! (हंसी)

प्रसन्नतापूर्वक समर्पण, जैसा कि मैंने अभी-अभी बताया। शक्तिशाली,

कोई कमजोर या अशक्त चीज नहीं, समझे; शक्तिशाली, प्रभावशाली, और सहायक, यानी, जो काम करता है, जो क्रियाशील है, परिणाम लाता है, एक ऐसा समर्पण जो अपने-आपको उपयोगी बनाता है, एक ऐसा समर्पण जो, उदाहरणके लिये, काममें सहयोग, प्रगतिमें सहयोग देना चाहता है। वह अचल यंत्रसे उल्टा है, बिल्कुल उल्टा।

मधुर मां, "भागवत 'शक्ति'की ओर अपने अन्दर ऐकांतिक उद्घाटन" का अर्थ क्या है?

अपने अन्दर उद्घाटनकी जगह हम ग्रहणशीलता रख सकते हैं, कोई ऐसी चीज जो ग्रहण करनेके लिये खुलती हो। इसलिये, सब तरफसे खुलकर, सब तरफसे और सब लोगोंसे ग्रहण करनेकी जगह, जैसा कि सामान्यतः होता है, तुम केवल भगवान्‌की ओर खुलते हो ताकि केवल भागवत शक्ति ही ग्रहण कर सको। सामान्यतः मनुष्य ठीक इससे उल्टा करते हैं। वे सतहपर हमेशा खुले रहते हैं, हर तरफसे, हर प्रकारके प्रभावको स्वीकारते हैं। तब फिर उनके अन्दर, हम कह सकते हैं, हर प्रकारकी परस्पर-विरोधी गतिविधियोंकी एक खिचड़ी बन जाती है (माताजी हंसती हैं), और स्वभावतः उससे अनगिनत कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। इसलिये यहां, बाकी सब कुछ छोड़कर केवल भगवान्‌की तरफ खुलनेकी और केवल भागवत शक्तिके प्रति ही खुलनेकी सलाह दी गयी है। इससे लगभग सारी कठिनाइयां विलीन हो जाती हैं। केवल एक ही चीज कठिन रह जाती है। वह है...। तुम उसे कर सकते हो। जबतक तुम पूरी कीमियाकी अवस्थामें न हो, तो, लोगोंके संपर्कमें रहना, उनसे बातचीत करना, उदाहरणके लिये, बिना किसी चीजको आत्मसात् किये उनके साथ किसी भी प्रकारकी अदला-बदली करना कठिन है। यह कठिन है। अगर हम एक प्रकारके... अगर हम एक ऐसे वातावरणमें हों जो छन्नेके समान हो, तो बाहरसे जो कुछ आता है वह तुम्हें छूनेसे पहले शुद्ध हो जाता है। लेकिन यह बहुत कठिन है; इसके लिये बहुत अनुभव जरूरी है। इसीलिये तो, जो लोग सबसे सरल रास्ता चाहते थे, एकांतमें एक पेड़के नीचे बैठनेके लिये चले जाते थे, बात करना और किसीसे मिलना बन्द कर देते थे; क्योंकि इससे अप्रिय आदान-प्रदान कम करनेमें सहायता मिलती है। केवल, एक चीज देखी गयी है कि ये लोग छोटे-छोटे जानवरोंके जीवनमें, वनस्पति जीवनमें बहुत ज्यादा रस लेने लगते हैं, क्योंकि किसी भी चीजके साथ आदान-प्रदान न करना कठिन है। इसलिये समस्या-

का सामना करना और एक ऐसे वातावरणसे घिरे रहना ज्यादा अच्छा है जो भगवान्‌पर इतना अधिक एकाग्र हो कि जो कुछ इस वातावरणको पार करता है वह रास्तेमें ही शुद्ध बन जाता है।

और जब यह भी हो जाय, तब भी आहारका सवाल रह जाता है; जबतक जिंदा रहनेके लिये हमारा शरीर बाहरी पदार्थोंको आत्मसात् करनेके लिये बाधित है, तबतक वह अचल या अचेतन शक्तियोंको या अवांछनीय चेतनावाली शक्तियोंको भी काफी मात्रामें आत्मसात् करता रहेगा। और यह कीमिया अपने शरीरके अन्दर ही होना चाहिये। हम उन चेतनाओं-की बात कर रहे थे जिन्हें हम आहारके साथ आत्मसात् करते हैं, लेकिन आहारके साथ बहुत-सी निश्चेतनाको भी आत्मसात् करते हैं — बहुत-सी। इसीलिये बहुत-से योगोंमें खानेसे पहले आहारका भगवान्‌को भोग लगाने-की सलाह दी जाती थी (माताजी अर्पणभावकी मुद्रा दिखाती हैं, दोनों हाथ जोड़कर हथेलियां ऊपरकी ओर खोलती हैं)। इसमें खाना खानेसे पहले आहारमें भगवान्‌का आवाहन करते हैं। उसे भगवान्‌के प्रति अर्पित करते हैं — यानी, उसे भगवान्‌के सम्पर्कमें लाते हैं, ताकि उसे आत्म-सात् करते समय भगवान्‌के प्रभावमें रह सकें। यह बहुत उपयोगी है, बहुत अच्छा है। अगर हम करना जानें, तो यह बहुत उपयोगी है, हमें जो आंतरिक रूपांतरका काम करना है उसे यह बहुत कम कर देता है। लेकिन वर्तमान जगत्‌में, जैसा कि वह है, हम सब एक-दूसरेपर निर्भर हैं, समझे। स्पन्दनोंको आत्मसात् किये बिना तुम हवा-को भी आत्मसात् नहीं कर सकते, वे अनगिनत स्पन्दन जो हर प्रकारकी गतिविधि और हर प्रकारके लोगोंसे आते हैं, और अगर तुम्हें सुरक्षित रहना है तो निरंतर उस छन्नेकी अवस्थामें रहना होगा जिसकी मैं बात कर रही थी। यानी, जो कुछ अप्रिय है उसे घुसनेका अधिकार नहीं होना चाहिये, जैसे संदूषित स्थानोंमें जाते हुए मुंहपर नकाब पहन लेते हैं, ताकि सांस लेनेसे पहले हवा शुद्ध हो जाय। हां तो, कुछ-कुछ ऐसा ही करना चाहिये। अपने चारों ओर एक ऐसा तीव्र वातावरण होना चाहिये जो **पूरी तरह** भगवान्‌के प्रति समर्पित हो, अपने चारों ओर वह इतना तीव्र हो कि जो कुछ वहांसे गुजरे वह स्वाभाविक रूपसे शुद्ध होता जाय। बहरहाल, जीवनमें यह बहुत उपयोगी है, क्योंकि — हम इसके बारेमें बात कर चुके हैं — बुरे विचार, बुरी इच्छाएं, बुरा चाहनेवाले लोग होते हैं, जो रचनाएं बनाते हैं। वातावरणमें हर प्रकारकी बिल्कुल अप्रिय चीजें होती हैं। इसलिये, अगर सारे समय निगरानी रखनी पड़े, इर्द-गिर्द देखते रहना पड़े, तो तुम एक ही चीजके बारेमें सोच सकोगे, अपनी

रक्षा किस तरह की जाय। सबसे पहले तो यह उबाऊ है, और फिर, उसमें तुम्हारा बहुत समय नष्ट होता है, समझे। अगर तुम इस तरह इस प्रकाशसे, पूरी तरह प्रसन्नतापूर्ण, पूर्णतः सच्चे समर्पणके प्रकाशमें लिपटे रहो, जब तुम इसमें लिपटे रहो, तो वह एक अद्‌भुत छल्लेका काम करता है। कोई भी चीज, जो बिल्कुल अवांछनीय है, कोई भी चीज जो दुर्भावनापूर्ण है वहांसे नहीं गुजर सकती। तब, सहज रूपसे, वे जहांसे आयी थीं वहीं लौट जाती हैं। अगर कोई बुरी सचेतन इच्छा तुम्हारे विरुद्ध है, तो वह आती तो है, पर उसमेंसे गुजर नहीं सकती; दरवाजा बन्द होता है, क्योंकि वह केवल भागवत चीजोंके लिये ही खुला रहता है, और किसीके लिये नहीं। इसलिये वह जहांसे आयी थी वहीं चुपचाप लौट जाती है।

लेकिन ये सब, ये ऐसी चीजें हैं...। एक प्रकारके अध्ययन और विज्ञानद्वारा हम उन्हें करना सीख सकते हैं। लेकिन बिना अध्ययन और बिना विज्ञानके भी हम उन्हें कर सकते हैं, बशर्ते कि अभीप्सा और समर्पण समग्र और संपूर्ण हों। अगर अभीप्सा और समर्पण संपूर्ण हैं, तो यह यंत्रवत् हो जायगा। लेकिन तुम्हें इसका ध्यान रखना चाहिये कि वे संपूर्ण हों; और इसके अतिरिक्त, जैसा कि मैं अभी कह रही थी, हम उसके बारेमें अच्छी तरह अवगत हो सकते हैं, क्योंकि जिस क्षण वे पूर्ण-नहीं होतीं, तुम सुखी नहीं रह पाते। तुम दुःखी, बहुत उदास, निरुत्साहित — और अप्रसन्न हो जाते हो: "आज चीजें अनुकूल नहीं हैं। वे कल जैसी नहीं हैं; कल वे कितनी अद्‌भुत थीं; लेकिन आज वे सुखद नहीं रहीं!" क्यों? क्योंकि कल तुम पूर्ण समर्पणकी अवस्थामें थे, कम या अधिक पूर्ण और आज तुम उस अवस्थामें नहीं रहे। इसलिये, कल जो चीज इतनी सुन्दर थी वह आज सुन्दर नहीं रही। तुम्हारे अन्दर जो खुशी थी, यह विश्वास था, यह आश्वासन था कि सब कुछ ठीक होगा, कि वह महान् 'कार्य' सिद्ध हो जायगा, यह निश्चिति — यह सब ढक जाता है, समझे, उसका स्थान ले लेता है एक प्रकारका संदेह, और हां, एक असंतोष: "चीजें सुन्दर नहीं हैं, जगत् दुष्ट है, लोग अच्छे नहीं हैं।" कभी-कभी तो बात यहांतक पहुंच जाती है: "आज खाना अच्छा नहीं है, कल बहुत अच्छा था।" यह वही है पर आज वह अच्छा नहीं है! यह बैरोमीटर है! तुम तुरन्त कह सकते हो कि कहीं कोई कपट पैठ गया है। यह जानना बहुत आसान है, बहुत ज्ञानी होनेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि जैसा कि श्रीअरविंद 'योगके तत्त्व' पुस्तकमें कहते थे: हम सुखी हैं या दुःखी, संतुष्ट हैं या असंतुष्ट, यह हम अच्छी तरह जानते हैं, इसके लिये

अपने-आपसे पूछनेकी, जटिल सवाल करनेकी कोई जरूरत नहीं, हम जानते हैं! — हां, तो यह बहुत सरल है।

जिस क्षण तुम दुःख अनुभव करने लगो उसी क्षण तुम उसके नीचे लिख सकते हो, "मैं सच्चा नहीं हूं!" ये दो वाक्य साथ-साथ चलते हैं:

"मैं दुखी हूं।"

"मैं सच्चा नहीं हूं।"

अब, कौन-सी चीज ठीक नहीं चल रही? तब फिर व्यक्ति देखने लगता है, वह जल्दी ही खोज लेता है...

तो यह लो, मेरे बच्चो। बस, इतना ही?

सब प्रश्न खत्म हो गये या नहीं?

(एक बच्चेसे) तुमने अपना प्रश्न नहीं पूछा, पूछा क्या?

मधुर मा, 'पत्रों'में श्रीअरविंद कहीं कहते हैं[1] कि भागवत कृपा न धार्मिकको चुनती है न पापीको त्यागती है। उसका अपना विवेक होता है जो मानसिक विवेकसे अलग है। उदाहरणके लिये, भागवत कृपा इसी तरह सन्त ऑगस्टाइनकी मदद करने आयी थी। तो फिर, यहां श्रीअरविंद यह क्यों कहते हैं: "लेकिन परम कृपा केवल 'प्रकाश' और 'सत्य'की अवस्थामें काम करेगी...?"

हां, मैंने देखा है। जब मैंने यह पढ़ा था तभी मैंने इसके बारेमें सोचा था।

मैंने इसके बारेमें सोचा था। मेरा ख्याल है कि उन्होंने वाक्य इस तरह लिखा है ताकि वह आसानीसे समझमें आ सके। लेकिन वास्तवमें उन्हें जो कहना था उसे उन्होंने यहां कह दिया है: तुम खुद 'कृपा'को अस्वीकार करते हो...। है न? उन्होंने कहा है — कहां है वह? कौन-से पृष्ठपर? पृष्ठ चार? हां, "...भागवत 'कृपा' को अपनेसे दूर हटाते," हां, "...तुम खुद भागवत 'कृपा' को अपनेसे दूर हटाते हो।" नहीं, यह नहीं; यह... (बच्चा पढ़ने लगता है: "भागवत 'कृपा'...") नहीं, इसके बाद, मेरे बच्चे... "वह काम नहीं करेगी..." (दूसरे बच्चेसे) यही तो हम समझा चुके हैं। वह और बात है। है न, यही तो मैंने समझाया है: तुम 'कृपा' से अपने लिये कोई चीज करनेके लिये कहते

---

[1] देखो 'लैटर्स ऑन योग' — सेंटेनरी वोल्यूम २३, पृ० ६०९।

हो, लेकिन वह चीज मिथ्यात्व है। 'वह' उसे नहीं करेगी, क्योंकि 'वह' हमेशा केवल सत्यमें ही काम करेगी।

लेकिन फिर 'वह' पापीकी सहायता करनेके लिये कैसे आती है?

वह पापीको पापी बने रहनेमें मदद नहीं देती! वह पापीको पापको छोड़नेमें मदद देती है; यानी, पापीको यह कहते हुए धकेल नहीं देती: "मैं तुम्हारे लिये कुछ नहीं करूंगी।" 'वह' हमेशा उपस्थित रहती है, तब भी जब वह पाप करता है, उससे बच निकलनेमें सहायता करनेके लिये, लेकिन पापोंको जारी रखनेके लिये नहीं।

इसमें और इस विचारमें बहुत फर्क है कि तुम बुरे हो और फलस्वरूप "मैं तुमसे संबंध नहीं रखूंगी, मैं तुम्हें दूर फेंक दूंगी, और तुम्हारा जो होना है होगा, मेरा इसके साथ कोई संबंध नहीं।" यह सामान्य विचार है। तुम कहते हो: "भगवान्‌ने मुझे छोड़ दिया है।" बात ऐसी नहीं है। हो सकता है कि तुम 'कृपा' को महसूस न करो, लेकिन 'वह' हमेशा उपस्थित रहती है, सबसे बड़े पापी, सबसे बड़े अपराधीके साथ भी रहती है, ताकि अगर वह चाहे तो वह उसे बदलनेमें, अपने अपराधसे, अपने पापसे मुक्त होनेमें सहायता दे सके। 'वह' उसे अस्वीकार नहीं करेगी, लेकिन बुरा करनेमें उसे सहायता भी नहीं देगी। तब 'वह' 'कृपा' न रहेगी। तुम फर्क समझते हो?

लेकिन यहां उन्होंने एक वाक्य रखा है जो... यह रहा; वह बिलकुल ठीक है: "तुम खुद भागवत 'कृपा' को अपनेसे दूर हटा देते हो।" और फिर... (बत्ती जलानी पड़ी। इससे माईकमें आवाज हुई। माताजी आश्चर्यका भाव प्रकट करती हैं, फिर उस वाक्यको ढूंढनेके लिये पन्ने पलटती हैं।) मेरा ख्याल था कि वह यहीं था... (उनको वाक्य मिल जाता है और वे पढ़ती हैं:) "फिर..." यह रहा, "...तुम हमेशा आक्रमणकी ओर खुलोगे और 'कृपा' तुमसे दूर हट जायगी।" है न, यह...। (मौन) 'कृपा' तुमसे दूर नहीं हटती, बल्कि तुम 'कृपा'से दूर हट जाते हो। यह एक अनुभूति है, और एक तथ्यकी अभिव्यक्ति है। क्योंकि वाक्यमें... पिछले वाक्यमें है: "तुम खुद भागवत 'कृपा' को अपनेसे दूर हटा देते हो।" और यही बात है। तुम खुद भागवत 'कृपा' को अपनेसे दूर हटाते हो। लेकिन फिर हटानेके बाद, तुम्हें लगता है कि 'वह' तुमसे दूर हो गयी है; मानों ऐसा है:... 'फिर तुम हमेशा आक्रमणकी ओर खुले रहोगे और 'कृपा' तुमसे दूर हट जायगी।" तथ्य यह नहीं है कि 'वह' तुमसे दूर हट जाती है, तुम्हें लगता है कि 'वह' हट जाती है।

इसे पढ़ते समय मैंने यह देखा। मुझे मालूम नहीं अंगरेजीमें किस तरह है। यह पृष्ठ सातपर है। मुझे मालूम नहीं, मैं समझती हूं कि लगभग एक ही पृष्ठपर होगा : "अगर तुम 'सत्य' का आवाहन करो...", कुछ ऐसा ही।

(अंगरेजी किताबमें वह वाक्य मिल जाता है और कोई पढ़ने लगता है : "**'कृपा' तुमसे पीछे हट जायगी।**")

ओह, हां। "तुमसे पीछे हट जायगी..." "... तब तुम हमेशा आक्रमणके प्रति खुले रहोगे और 'कृपा' तुमसे पीछे हट जायगी।"

हमें जो आभास होता है यह उसकी अभिव्यक्ति है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि 'कृपा' हट जाती हो। क्योंकि वहां लिखा है न, कुछ आगे, जहां वे कहते हैं : "तुम्हें भागवत 'कृपा' को दोष नहीं देना चाहिये," तुम खुद ही 'उसे' दूर फेंकते हो।

एक बार वे 'कृपा'की स्थितिसे देखते हैं और दूसरी बार उसकी मनोवृत्तिसे, जो कहता है : "'कृपा' मुझसे दूर हट जाती है।" लेकिन 'कृपा' नहीं हटी है, तुमने खुद ही 'उसे' हटा दिया है, यानी, तुमने अपने और 'कृपा' के बीचमें दूरी पैदा कर ली है। वास्तवमें, "धकेलना" भी ठीक चित्रण नहीं है; यह किसी दार्शनिकके लिये नहीं लिखा गया था, समझे, इसलिये दर्शनकी भाषामें नहीं है। एक हालतमें, उन्होंने यह विशेष मनोवृत्ति अपनायी है, लेकिन बात एक ही है; यानी, 'कृपा' और व्यक्तिके बीच एक प्रकारका मनोवैज्ञानिक अंतर उत्पन्न हो जाता है। और इस मनोवैज्ञानिक दूरीकी वजहसे व्यक्ति 'कृपा'को ग्रहण नहीं कर पाता, और उसे लगता है कि 'कृपा' है ही नहीं। लेकिन वास्तवमें, 'कृपा' होती अवश्य है; केवल चूंकि उसने यह दूरी पैदा कर ली है, इसलिये वह 'उसे' और महसूस नहीं कर पाता। यह वास्तविक तथ्य है। बात ऐसी नहीं है कि 'कृपा' चली जाती है, न ही यह कि व्यक्तिमें 'उसे' धकेलनेकी शक्ति है, क्योंकि अगर 'वह' न जाना चाहे, तो वह चाहे जितना भी प्रयत्न क्यों न करे, 'वह' न जायेगी। लेकिन वह अपने-आपको 'उसे' अनुभव करने और 'उसके' प्रभावोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ बना लेता है। वह अपने और 'कृपा' के बीच एक मनोवैज्ञानिक बाधा बना लेता है।

लो, मेरे बच्चे, मेरा ख्याल है आजके लिये इतना काफी है।

शुभ-रात्रि।

१४ जुलाई, १९५४

(१४ जुलाई [फरासीसी गणतंत्र दिवस समारोह]के पटाखोंके कारण माताजीके इस वार्तालापको ध्वन्यांकित करना बहुत मुश्किल हो गया था।

यह वार्ता श्रीअरविन्दकी पुस्तक 'माता'के दूसरे अध्यायपर आधारित है।)

मधुर मां, क्या श्रीअरविंद भगवान् और शक्तिमें भेद करते हैं? यहां वे कहते हैं: "अपने आपका और तुम जो कुछ हो, तुम्हारे पास जो कुछ है, चेतनाके हरएक स्तरका, हर एक गतिका भगवान् और शक्तिके प्रति समर्पण।"

उन्होंने कहा है कि भगवान् 'परम पुरुष' है। वे स्रोत हैं। उन्होंने कहा है, है न? इस अध्यायके एकदम शुरूमें, मेरा ख्याल है कि उन्होंने कहा है: "भगवान्..."

(बच्चा मूल पाठ पढ़ता है) **"...सब कामोंके पीछे भगवान् अपनी शक्तिके द्वारा रहते हैं..."**[1]

वे शक्तिको संचालक शक्तिके रूपमें, सर्जनात्मक 'चेतना'के रूपमें लेते हैं।

"समर्पण" और "चेतनाके हर एक स्तरका" अर्थ क्या है?

इसका मतलब है भौतिकका समर्पण, प्राणका समर्पण, मनका समर्पणका और चैत्यका समर्पण। और अगर तुम अपनी सत्ताके और अंशोंके प्रति सचेतन हो तो...। सबसे पहले तुम्हें अपनी सत्ताके अलग-अलग अंगोंमें भेद करनेसे

पूरा वाक्य यह है:

[1] "जगत्में जो कुछ होता है उस सबमें, सब कामोंके पीछे भगवान् अपनी शक्तिके द्वारा रहते हैं, किंतु वे अपनी योगमायासे ढके रहते हैं और इस अपरा प्रकृतिमें जीवके अहंकारके द्वारा कार्य करते हैं।"

शुरू करना चाहिये, और फिर, जब उनमें अच्छी तरह भेद करना आ जाय, तो तुम उन्हें एक-एक करके समर्पित करते हो।

"योगमाया" का क्या मतलब है?

योगमाया? मुझे मालूम नहीं वे मायाको किस अर्थमें लेते है, सबसे बाहरी अभिव्यक्तिके अर्थमें... वे योगमाया कहते हैं क्या?

(एक बच्चा वाक्यका अंतिम हिस्सा पढ़ता है): **"... वे अपनी योगमायासे ढके रहते हैं..."**

हां, अपनी बाहरी अभिव्यक्तिसे ढके रहते हैं। सचमुच, उसका अर्थ यही है, जगत्का बाहरी रूप; और जीवका अहंकार भी, यानी, व्यष्टिगत सत्ता।

वे "जीवके अहम्के द्वारा काम करते हैं..."

हां, वही बात है। हां, "द्वारा" — अर्थात्, अहम् उपस्थित है।

मधुर मां, यहां लिखा है: "किन्तु जबतक निम्नतर प्रकृति क्रियाशील है तबतक साधकका व्यक्तिगत प्रयास जरूरी है।" मैं यहां "जबतक निम्नतर प्रकृति क्रियाशील है" का मतलब नहीं समझ पाया। कैसे?

निम्नतर प्रकृति, साधारणतः, हमेशा क्रियाशील रहती है। वह क्रियाशील होना तभी बंद करती है जब तुम पूर्ण समर्पण कर दो। जब तुम अपनी निम्नतर चेतनामें नहीं रहते, जब तुम पूर्ण आत्म-समर्पण कर लेते हो तब निम्नतर प्रकृति क्रियाशील नहीं रहती। लेकिन जबतक वह क्रियाशील है तबतक व्यक्तिगत प्रयास जरूरी है।

वस्तुतः, जबतक हम अपने बारेमें एक अलग व्यक्तिके रूपमें सचेतन हैं, तबतक व्यक्तिगत प्रयास करना होगा। केवल तभी, जब हम अलगावकी भावनाको महसूस नहीं करते, जब हम भगवान्के प्रति पूरी तरह समर्पित ही नहीं, बल्कि उनमें विलीन हो जाते हैं, व्यक्तिगत प्रयासकी जरूरत नहीं रहती। लेकिन जबतक हम अपने-आपको एक अलग सत्ता महसूस करते हैं,

तबतक व्यक्तिगत प्रयास करना पड़ता है। इसे ही वे निम्नतर चेतनाका क्रियाकलाप कहते हैं।

(मौन)

हम सच कहनेसे इतना क्यों डरते हैं?

हां, क्यों? मैं भी पूछती हूं: क्यों? मैं जाननेके लिये बहुत उत्सुक हूं! लेकिन बात ऐसी है। चीजें ऐसी ही हैं। मेरा ख्याल है कि मुख्य कारण यह है कि प्रकृति, अपने बाहरी और व्यक्तिगत रूपमें प्रकृति, बदलना नहीं चाहती। वह बदलना नहीं चाहती; इसलिये जो शक्ति तुम्हें बदलना चाहती है, उसका विरोध होता है, यानी, सत्यका विरोध।

(अचानक पटाखोंकी आवाज आती है और माताजीकी आवाज सुनायी नहीं देती। माताजी विनोद भावसे कहती हैं:)

ओह, यह अच्छा है! अब हमारी बातचीतमें ये विरामचिह्न लगते रहेंगे! (विश्वनाथकी ओर मुड़ते हुए) तुम उसे बंद कर सकते हो, हमें पटाखोंकी आवाजको ध्वन्यांकित नहीं करना है! (हंसी)

"एक तामसिक समर्पण जो समर्पित होनेसे इनकार करता हो" — अगर वह शर्तें पूरी करनेसे इनकार करे तो वह समर्पण न रहेगा, है न?

बिलकुल। लेकिन ऐसे बहुत-से लोग हैं जो सोचते हैं कि उन्होंने समर्पण कर दिया है और वे कहते हैं: "अब मैं खुद कुछ नहीं करता, मैं भगवान्‌के प्रति समर्पित हो चुका हूं, भगवान्‌को मेरे लिये सब कुछ करना चाहिये।" वे इसे समर्पण कहते हैं...। इसका मतलब है कि यह प्रमाद और तमसकी क्रिया है जो प्रयास नहीं करना चाहती और चाहती है कि भगवान् तुम्हारे लिये सब कुछ कर दें, क्योंकि यह ज्यादा आरामदेह है।

"हृदयकी खोज"... क्या है?

हृदयकी खोज — यह भावात्मक सत्ताका प्रयास है जो...

(दौत्वार नामक छात्रावासके बच्चे अपनी छतसे पटाखे देख रहे हैं। उनके आश्चर्यकी चीखोंसे कक्षा फिरसे रुक जाती है।)

हमें कुछ नहीं दिखायी पड़ता...। यह उस तरफ है...है न? हमें केवल आवाजें ही सुनायी देती है!

"खोज"का अर्थ यह है कि भावात्मक केंद्र भगवान्‌के साथ भावुकतापूर्ण संपर्क पानेकी कोशिश करता है। सचमुच यही है।

(आवाजें होती रहती हैं, माताजी फिरसे विश्वनाथसे कहती हैं) : मेरा ख्याल है तुम बंद कर दो!

(एक बच्चा) **नहीं, माताजी! नहीं, माताजी!**

मैं मुश्किलसे बोल पाती हूं! (दूसरे बच्चेसे) तो फिर?

हम हमेशा बेकार बातें क्यों करते हैं? क्यों हम बेकार बातें करते हैं?

लोग बेकार बातें क्यों करते हैं? हां, शायद इसलिये कि मनुष्य शब्दोंका प्रयोग कर सकनेके कारण सहज रूपसे घमंड करता है। पृथ्वीपर बातें करनेवाला वह पहला प्राणी है, जो स्पष्ट उच्चारित आवाज निकाल सकता है। इसलिये यह एक प्रकारका...मनुष्य एक बच्चे जैसा है जिसके हाथमें एक नया खिलौना है जिसके साथ खेलनेमें उसे बहुत मजा आता है। पृथ्वीपर मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो स्पष्ट ध्वनियां कर सकता है, इसलिये वह उनके साथ खेलता है, है न...मैं सोचती हूं कि बात ऐसी ही है...।

और फिर, सारी मूर्खता है...। मैंने यह भी कहा है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जो तभी सोचना शुरू करते हैं जब वे बोलें। जब वे बोलते नहीं तो सोचते भी नहीं! उनमें चुपचाप सोचनेकी क्षमता नहीं होती, इसलिये उन्हें बातें करनेकी आदत हो जाती है। हम जितने अधिक विकसित हों, उतने अधिक बुद्धिमान् होते हैं और अपने-आपको अभिव्यक्त करनेकी जरूरत कम पड़ती है। हमेशा निम्नतर स्तरपर ही बातें करनेकी जरूरत पड़ती है। और सचमुच, जो व्यक्ति बहुत सचेतन, मन और बुद्धिकी दृष्टिसे बहुत विकसित होता है, वह जरूरत पड़नेपर ही बात करता है। वह बेकारकी बातें नहीं करता। सामाजिक सोपानमें ऐसा है...। सोपानके सबसे निचले स्तरके लोगोंको लो: वे सबसे ज्यादा बातूनी होते हैं, वे बातें करनेमें ही अपना समय बिता देते हैं। वे अपने-आपको रोक

नहीं सकते! उनके साथ जो भी हो वे उसे तुरंत शब्दोंमें उतार देते हैं। और आदमी जितना विकसित हो, क्रम-विकासके उच्चतर सोपानपर हो, उतनी ही बोलनेकी आवश्यकता कम होती है।

इसके दो कारण हैं: एक तो यह कि चूंकि यह एक नयी क्षमता है जिसका सहज रूपसे दूसरी क्षमताओंके प्रति आकर्षण होता है; दूसरा यह कि वह तुम्हें अपने विचारके बारेमें सचेतन होनेमें मदद करता है। नहीं तो तुम सोचते नहीं, अगर तुम अपने विचारको शब्दोंमें, ऊंचे स्वरमें प्रकट न करो, तो तुम उसे सूत्रबद्ध नहीं कर सकते...। सिवाय उन लोगोंके जो पेशेसे ही बातूनी हैं — यानी, जिन्हें वाद-विवाद या राजनैतिक भाषणोंमें भाग लेनेकी, या कक्षा लेनेकी या पाठ पढ़ानेकी आदत है — इन लोगोंके सिवाय जो, स्पष्टतः, एक ही साथ बुद्धिजीवी और बातूनी हो सकते हैं, सामान्य रूपसे, लोग जितने अधिक बातूनी होते हैं, बुद्धिमें उतने ही कम विकसित होते हैं!

बातें करनेसे बचनेके लिये क्या करना चाहिये?

सोचो! बस, जरा ज्यादा सोचो। अगर बोलनेसे पहले तुम विचार करनेकी आदत डालो, तो तुम जितना बोलते हो उससे कम-से-कम आधा बोलनेसे बच जाओगे। बात करनेसे पहले सोचो और तुम्हें जो बिल्कुल अनिवार्य लगे वही बोलो — तब तुम बहुत जल्दी देखोगे कि बहुत कम चीजें अनिवार्य हैं, भौतिक दृष्टिके अतिरिक्त, काममें, जब तुम किसीके साथ काम कर रहे हो और बोलनेके लिये विवश होते हो: "यह करो", "मुझे वह दो", या "इस तरह", या "उस तरह"। और वहां भी, कम-से-कम बोला जा सकता है। नहीं तो, है न... (फिरसे पटाखोंकी आवाज) ये उड़न तश्तरियां हैं! वे दूरतक जाती हैं! क्या यह बहुत देरतक चलेगा?

आधा घंटा।

(दूसरा बच्चा) **यह दस बजे तक चलता है...!**

दस बजेतक!... तब तो फिर मैं आगे चलती हूं!
किसे प्रश्न पूछना है? किसकी बारी है।

मधुर मां, कभी-कभी हम जानते हैं कि यह सत्य है लेकिन

फिर भी इस सत्यपर शंका होती है। हमें शंका क्यों होती है?

(बहुत ज़ोरसे आवाज होती है। कुछ सुनायी नहीं देता।)

तुम क्या कह रहे हो? बहुत स्पष्ट उच्चारण करो। तुम्हारे लिये यह अच्छी कसरत होगी। (हंसी)

हम जानते हैं कि अमुक चीज सच्ची है लेकिन फिर भी हमें शंका होती है। हमें सत्यपर शंका क्यों होती है?

वह सामान्य उत्तर, कि तुम मूर्ख हो इसलिये! (हंसी)

लेकिन सच बात तो यह है कि भौतिक मानसिक सत्ता सचमुच बहुत मूर्ख हैं! हम बहुत आसानीसे इसे साबित कर सकते हैं। यह एक प्रकार-के नियंत्रणके रूपमें, और यह निश्चित करनेके लिये कि चीजें उसी तरह की जा रही हैं जैसे की जानी चाहिये, बनाया गया है। मेरा ख्याल है कि यही उसका सामान्य काम है...। लेकिन उसने हर एक चीजपर शंका करनेकी आदत डाल ली है।

मेरा ख्याल है कि मैं तुम्हें उस छोटे-से परीक्षणके बारेमें बता चुकी हूं जो मैंने एक दिन किया था। मैंने अपना नियंत्रण हटा लिया था और नियंत्रण भौतिक मनके हाथोंमें छोड़ दिया था — भौतिक मन ही संदेह करता है। तो मैंने यह परीक्षण किया: मैं एक कमरेमें गयी, फिर उस कमरेसे निकलकर मैंने दरवाजा बन्द कर दिया। मैंने दरवाजा बन्द करनेका निश्चय कर लिया था; और जब मैं एक दूसरे कमरेमें पहुंची तो इस मन, भौतिक मनने कहा: "क्या तुम्हें विश्वास है कि तुमने दरवाजा बन्द कर दिया था?" तो, मैंने अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रखा था, है न... मैंने कहा: "अच्छा, मैं इसकी बात मानूंगी!" मैं देखनेके लिये वापस गयी। मैंने देखा कि दरवाजा बन्द था। मैं लौटी। जैसे ही दरवाजा मेरी आंखसे ओझल हुआ, उसने मुझसे पूछा: "क्या तुमने ठीक तरह जांच कर ली है?" तो मैं फिरसे गयी...। और यह तबतक चलता रहा जबतक मैंने यह निश्चय नहीं कर लिया: "चलो, इतना काफी है, है न? बन्द हो या न हो, मैं अब देखनेके लिये नहीं जाती!" यह दिन-भर चल सकता था। वह (मन) इस तरहका बना है। वह इस तरह होना तभी बन्द करता है जब कोई उच्चतर मन, तर्क-संगत मन, उससे कहे: "चुप रहो!" नहीं तो वह अनिश्चित कालतक चलता रहता है...।

इसलिये, अगर दुर्भाग्यसे तुम इस भ्रममें केंद्रित हो, तो वह उन उच्चतर चीजोंपर भी शंका करता है जिनके बारेमें तुम्हें मालूम है कि वे सच्ची हैं, यहांतक कि ऐसी वस्तुओंपर भी शंका करता है जिनका तुम्हारे पास भौतिक प्रमाण है — जैसे बन्द दरवाजेके बारेमें शंका करता है, वह शंका करेगा भी, क्योंकि वह शंकासे ही बना है। वह हमेशा कहेगा: "क्या तुम्हें पूरा विश्वास है कि यह सच है? ... क्या यह तुम्हारी धारणा नहीं है? ... क्या यह तुम्हारी कल्पना नहीं है कि चीज ऐसी है?" और जबतक हम उसे चुप और शांत रहना नहीं सिखाते तबतक वह चलता रहेगा।

"ख्याल रखो कि ऐसा तामसिक समर्पण जो शर्तें पूरी करनेसे इनकार करता हो और भगवान्‌से सब कुछ करनेके लिये कहता हो..."

हां, इसीके बारेमें तो हमने अभी बातचीत की है! मैं इस प्रश्नका उत्तर दे चुकी हूं। किसीने मुझे पूछा था...। मैं उत्तर दे चुकी हूं...

भगवान् साधना कैसे हैं?[1]

क्योंकि अन्तमें भगवान् ही साधना करते हैं। भगवान्‌के बिना साधना नहीं होती। केवल, तुम उस बारेमें कुछ नहीं जानते... तुम सोचते हो — तुम इस भ्रममें रहते हो — कि तुम ही कर रहे हो। और यथार्थतः, जबतक तुम इस भ्रममें हो, तबतक प्रयास करना जरूरी है; लेकिन सच्ची बात तो यह है कि भगवान् ही तुम्हारे अन्दर साधना कर रहे हैं, और बिना भगवान्‌के कोई साधना न होगी।

यहां वे लिखते हैं: "... भगवान्... साधक और साधना हैं।"

हां, वे सब कुछ हैं, हैं न?

जी, हां।

(दूसरा बच्चा) तब फिर, माताजी, व्यक्तिगत प्रयास किस-

---

[1] "योगमें भी भगवान् ही साधक और साधना हैं।

लिये? अगर भगवान् ही साधना कर रहे हैं, तो उन्हें करने दो; व्यक्तिगत प्रयास कहां आता है?

हां, आलस्यमें लोग ठीक यही कहते हैं! लेकिन अगर तुम आलसी न होते, तो यह न कहते! (हंसी)

व्यक्तिगत प्रयासका क्या मतलब है?

वह प्रयास जो समझता है कि वह व्यक्तिगत है। तुम्हें अपने अलग व्यक्तित्वका भान है। क्या तुम्हें यह अनुभव होता है कि तुम भगवान् हो, केवल भगवान्? नहीं! (हंसी) हां, तो भगवान् यही हैं... ठीक जबतक तुम्हें यह भान रहे कि तुम मनोज हो, हां तो, मनोजको प्रयास करना पड़ेगा। अगर तुम मनोजकी धारणाको पूरी तरह मिटा सको, तो भगवान्-ही-भगवान् हैं, और भगवान् ही प्रयास करेंगे, यह तो स्वाभाविक है!... लेकिन जबतक एक मनोज है, तबतक मनोजको ही प्रयास करना पड़ेगा।

लेकिन जब मनोज प्रयास करता है, तो मनोजमें स्थित भगवान् ही प्रयास करते हैं!

शायद हां, लेकिन मनोज उसके बारेमें कुछ नहीं जानता! (हंसी) मैं बस, यही कहती हूं कि अगर भगवान् न होते तो मनोज प्रयास न कर पाता। लेकिन मनोज अभीतक यह जाननेकी अवस्थामें नहीं है, इसलिये वह जानता है कि वह प्रयास कर रहा है।

लेकिन अब आपने कह दिया! आज मैं जानता हूं, इसलिये...

(तुरंत) ओ, हो, हो, हो, हो!... (हंसी) मानसिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है, तुम्हें व्यावहारिक अनुभव होना चाहिये। नहीं तो, मेरे बच्चे, हम सब बहुत समय पहले रूपांतरित हो गये होते, क्योंकि हमारे पास बहुत पहलेसे यह ज्ञान है कि रूपांतर होना चाहिये। (हंसी)

बस, इतना ही? आगे चलो!

मधुर मां, आत्म-निवेदन, आत्म-समर्पण और समर्पणमें क्या फर्क है?

आत्म-निवेदन, आत्म-समर्पण और समर्पण? मेरा ख्याल है कि हमने यह कहीं पढ़ा है न? उस प्रकारकी व्याख्या हो चुकी है न? हम पहले इसकी बात कर चुके हैं। 'योगके तत्त्व' में भी यह था। किसीने यह प्रश्न पूछा था और उत्तर उस किताबमें था। श्रीअरविंदने भेदके बारेमें उत्तर दिया है, इनमें फर्क... इसलिये, मेरे बच्चो, अगर तुम...

वह विश्वासके बारेमें था।

है? 'योगके तत्त्व' में, है न?

'योगके तत्त्व' में; विश्वास, श्रद्धा और प्रतीतिमें भेद था।

ओह, यह इन तीन चीजोंमें था! समर्पण, आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पणमें नहीं? लेकिन मैंने यह कहीं पढ़ा है।

माताजी, पारुल कहती है कि उसने यह प्रश्न पूछा था।

(दूसरा बच्चा) — यह 'प्रार्थना और ध्यान' में था।

ओह, यह 'प्रार्थना और ध्यान' में था?

जी, हां, माताजी।

तो फिर, मैंने तुमसे क्या कहा था? अहा, मजेदार होगा! (हंसी) मैंने क्या कहा था?

(लंबा मौन)

पवित्र: हम "अर्पण" भी जोड़ सकते हैं?

मैं सोचती हूं कि ये बहुत हदतक पर्यायवाची हैं, कि ये अर्थ-भेदकी अपेक्षा अर्थ-छटाएं हैं। क्योंकि एक वाक्यमें हम एक (शब्द) की जगह दूसरा रख सकते हैं। यह इसपर निर्भर है कि वाक्य-रचना कैसी है और वहां कौन-सा शब्द ज्यादा अच्छा बैठता है। यह एक साहित्यिक प्रश्न है।

लेकिन अगर तुम चाहो, तो हम इनमें फर्क ढूंढ सकते हैं, लेकिन यह सब इस बातपर निर्भर है कि तुम शब्दोंको क्या अर्थ देना चाहते हो।

मैंने तुमसे कहा था न कि "सुमिस्सियों" (अधीनता या आज्ञाकारिता) अच्छा शब्द नहीं है। फ्रेंचमें "सुमिस्सियों" "सरण्डर" के लिये रखते हैं, क्योंकि कोई ऐसा शब्द नहीं जो "सरण्डर"का ठीक अनुवाद हो। "सुमिस्सियों" एक ऐसी चीजका भान देता है जो लगभग अनिच्छासे स्वीकार करती है, जो पूरी तरह आज्ञा-पालन नहीं करती, जो पूरी तरह सहयोग नहीं देती। इसीकी वजहसे "सुमिस्सियों" में भेद आता है, जहां पूर्ण आज्ञापालनका भाव होता है। यानी, यद्यपि हम "सुमिस्सियों" शब्दका प्रयोग करते हैं, लेकिन वह अच्छा नहीं है...

(मौन)

अगर तुम बालकी खाल निकालना चाहो, तो आत्म-निवेदन, आत्म-समर्पण और अर्पणमें भेद किया जा सकता है। ये तीन...वे तीनों अलग-अलग पहलू हो सकते हैं। लेकिन तभी जब हमें सचमुच जटिलताएं उत्पन्न करनी हों। क्योंकि लिखते समय, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, वाक्यकी लयके अनुसार हम एक शब्दकी जगह दूसरा रख सकते हैं, और अर्थ वही बना रहता है। क्योंकि अगर तुम भेद करना चाहो, तो तुरन्त तुम विशेषण लगानेके लिये बाधित होते हो, है न..., केवल शब्दोंको लो, "आत्म-निवेदन, अर्पण और आत्म-समर्पण"...। अब, अगर तुम्हें भेद करना है, तो तुम कहते हो "पूर्ण आत्म-समर्पण", "आंशिक आत्म-निवेदन"...। है न, तुम्हें विशेषण जोड़ने ही पड़ते हैं: ये शब्द पर्यायवाची हैं।

प्रश्न किसने पूछा था? तुमने? अब, यह उस वाक्यपर निर्भर होगा जो तुम लिखोगे — तुम एक शब्द रखो या दूसरा। लेकिन तुम्हें जानना होगा: "सुमिस्सियों" शब्दमें ठीक वह भाव नहीं आता जो आना चाहिये। "सुमिस्सियों" (अधीनता या आज्ञाकारिता) और "सरण्डर" में ठीक वह भेद है जो आज्ञा-पालन और सहयोगमें है — शायद उससे कुछ कम। एकमें पूर्ण पालन होता है, और दूसरेमें शायद जरा रुकती हुई-सी स्वीकृति है; वह इसलिये स्वीकारती है क्योंकि वह अन्यथा नहीं कर सकती, लेकिन पूरा सहयोग भी नहीं देती...। वह पूरी तरह बात नहीं मानती।

और प्रश्न है?

मधुर मां, पिछली बार आपने कहा था कि पत्थरोंमें एक प्रकारकी ग्रहणशीलता होती है!

हां।

किस प्रकारकी ग्रहणशीलता?

शायद उनमें कोई ऐसी चीज होती है जो संवेदनशीलतातकसे मिलती-जुलती है। लेकिन, उदाहरणके लिये, अगर तुम्हारे पास एक रत्न है — निश्चय ही साधारण पत्थरोंकी अपेक्षा इन रत्नोंका संगठन ज्यादा पूर्ण होता है, और पूर्णताके साथ चेतना भी बढ़ती है — अगर तुम एक रत्नको लो, तो तुम उसमें चेतना और शक्ति भर सकते हो; तुम उसमें शक्ति डाल सकते, एकत्र कर सकते हो। फलस्वरूप वह ग्रहणशील होता है, वरना वह ग्रहण न कर पाता, उसे रख न पाता। तुम उसे भर सकते हो। जैसे बैटरीमें बिजली "चार्ज" की जाती है, उसी तरह तुम पत्थरको भी शक्तिसे भर सकते हो, पत्थरमें सचेतन शक्ति डाल सकते हो; वह उसे बनाये रखता है और किसी दूसरेको दे सकता है। अतः इस पत्थरमें ग्रहणशीलता होती है। वरना वह यह न कर पाता।

फूल बहुत ग्रहणशील होते हैं। वे सभी फूल, जिन्हें मैंने अर्घ दिया है, उस शक्तिको ठीक प्रकार ग्रहण करते हैं जो मैं उनमें डालती हूं और वे उस शक्तिको आगे बढ़ाते हैं। लोग उसे हमेशा ग्रहण नहीं कर पाते क्योंकि वे बहुधा फूलकी अपेक्षा कम ग्रहणशील होते हैं, और अपनी अचेतना और ग्रहणशीलताके अभावके कारण उस शक्तिको बरबाद करते हैं जो उनमें डाली जाती है। लेकिन शक्ति उपस्थित है, और फूल उसको अद्भुत रूपसे ग्रहण करता है।

मुझे यह बहुत पहलेसे मालूम था। पचास साल हो गये...। एक गुह्यवादी थे जिन्होंने मुझे दो सालतक गुह्यवाद सिखाया था। उनकी श्रीमती जी एक अद्भुत अन्तर्दर्शी थीं और उनमें — ठीक इस तरह — शक्ति संचारित करनेकी क्षमता थी। वे तेमसेममें रहते थे। मैं पैरिसमें थी। हमारी चिट्ठी-पत्री चलती थी। मैंने उन्हें अभी देखा भी नहीं था। और फिर, एक दिन, एक चिट्ठीमें उन्होंने मुझे अनारके फूलकी पंखुड़ियां भेजीं, "भागवत प्रेम" की। उस समय मैंने फूलको आध्यात्मिक नाम नहीं दिया था। उन्होंने मुझे अनारके फूलकी पंखुड़ियां भेजीं, इस संदेशके साथ कि ये पंखुड़ियां उनकी सुरक्षा और शक्तिको ला रही हैं।

अब, उन दिनों मैं अपनी घड़ी गलेमें लटकी एक जंजीरमें लगाकर पहना करती थी। अभी हाथकी घड़ियां नहीं चली थीं या बहुत कम थीं। और अठारहवीं शताब्दीका एक छोटा-सा आवर्धक लेन्स भी था... वह बहुत

ही छोटा था, बस, इतना-सा (माताजी संकेत करती हैं)...। और उसमें दो लेंस थे, है न, जैसे सब पढ़नेके चश्मोंमें होते हैं; एक छोटे-से सुनहरे फ्रेममें दो लेंस लगे थे और वह मेरी जंजीरसे लटके रहते थे। अब, दोनों शीशोंके बीच मैंने इन पंखुड़ियोंको रख दिया और वे हमेशा मेरे साथ रहती थीं क्योंकि मैं उन्हें अपने पास रखना चाहती थी; मुझे इस महिलापर विश्वास था, है न, और मैं जानती थी कि उनमें शक्तियां थीं मैं उन्हें अपने पास रखना चाहती थी और हमेशा एक प्रकारकी ऊर्जा, ऊष्मा, विश्वास, शक्ति अनुभव करती थी जो इस चीजसे आती थी... मैं यह सोचती नहीं थी, समझे, मुझे यह अनुभव होता था।

और फिर, अचानक एक दिन, मुझे बहुत खाली-खाली-सा लगा, मानों कोई सहारा जो वहां था चला गया हो। कोई बहुत अप्रिय चीज थी। मैंने कहा: "यह तो अजीब है; बात क्या है? मेरे साथ कोई अप्रिय चीज नहीं घटी। मुझे ऐसा क्यों लग रहा है, इतनी खाली, शक्तिहीन?" और शामको, जब मैंने अपनी घड़ी उतारी, तो देखती क्या हूं, एक शीशा उतर गया था और सभी पंखुड़ियां गायब थीं। एक भी पंखुड़ी नहीं बची थी। तब मैं सचमुच जान पायी कि उनमें काफी शक्ति थी, क्योंकि कारण जाने बिना ही मैंने फर्क महसूस किया था। मैं कारण नहीं जानती थी, फिर भी मुझे काफी फर्क लगा था। तो इसके बाद मैंने देखा कि किस तरह फूलोंका उपयोग उनमें शक्तियां भरनेके लिये कर सकते हैं। वे बहुत ही ग्रहणशील होते हैं।

(शोर जारी है।) म समझती हूं कि इतना काफी है न? काफी शोर हो गया!

एक और प्रश्न? (जोरकी आवाज) धुम!

क्या फूल हमेशा शक्तिको बनाये रखते हैं, तब भी जब वे सड़ जायं?

सड़ जायं? नहीं, मेरे बच्चे; सूख जानेपर, हां। जो फूल सड़ जाते हैं उनका कुछ मूल्य नहीं रहता। एक प्रकारका विघटन होता है, इसलिये वह चीज चली जाती है। शायद उससे पृथ्वीको शक्ति मिलती हो, यह बिल्कुल संभव है; लेकिन फिर भी जब वे सड़ जायं तो खाद बनानेके कामके रह जाते हैं जिससे और फूल उठ सकें। लेकिन अगर फूल सूख जाय, तो वह सुरक्षित रहता है, और काफी लम्बे समयतक रहता है।

काली पूजाके समय मैं तुम्हें जो छोटे-छोटे पैकेट देती हूं वे साल-भर

सुरक्षित रह सकते हैं। एक सालतक वे अपनी शक्तियोंको सुरक्षित रखते हैं और मैं हर साल उन्हें बदल देती हूं ताकि यह निश्चित रहे कि... मैं जानती हूं कि तुम लोगोंमें दसमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जो ठीक उपयोग करता हो... फिर भी, मैं यूं ही दे देती हूं ताकि जो काम लेना जानते हैं वे ले सकें। वे साल-भरतक शक्ति बनाये रखनेके लिये तैयार किये जाते हैं। और जब मैं नया पैकेट दूं, तो तुम पुरानेको ठिकाने लगा सकते हो। साधारणतः, वह चूर-चूर हो जाता है। हमेशा नहीं...। लेकिन ये छोटे-छोटे पैकेट ठीक एक सालतक अपनी शक्ति बनाये रखते हैं।

मधुर मां, आप हमें हर रोज जो फूल देती हैं उनका क्या करना चाहिये?

फूल? जबतक वे ताजा रहें तबतक उन्हें रखो, और जब वे ताजा न रहें, तो उन्हें इकट्ठा करके मालीको दे दो (अपने परिचित किसी भी मालीको दे सकते हो), ताकि वह और फूल उत्पन्न करनेके लिये उन्हें भूमिमें डाल दे। हां, भूमि हमें जो देती है वह उसे लौटाना चाहिये, वरना वह अनुपजाऊ बन जायगी।

मधुर मां, अमुक मौसममें अमुक फूल आते हैं; तो क्या इसका मतलब यह है कि इस विशिष्ट मौसममें कोई ज्यादा महान् शक्ति काम करती है?

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना कठिन है। लेकिन मैंने इस प्रकारका एक काफी मजेदार परीक्षण किया है।

मुझे मालूम नहीं तुम्हें याद है या नहीं — तुम यहां थे भी या नहीं — जब हम फूल गिना करते थे; प्रकृति और मेरे बीच एक प्रकारका समझौता था वह। हर एक फूलको मैंने एक विशेष मूल्य दे रखा था, केवल उसका प्रतीकात्मक नाम नहीं बल्कि उसका मूल्य। उदाहरणके लिये — यह सुनिश्चित था — मैंने प्रकृतिके साथ एक समझौता किया था। उदाहरणके लिये, "रूपांतर"के फूलको लो; अगर तुम काफी ध्यान दो तो देखोगे कि विभिन्न ऋतुओंमें एक फूलका स्थान उसी जैसे या उससे मिलते-जुलते अर्थवाला फूल लेता है, और अगर हम चीजोंका उपयोग करना जानते हों, तो इसी तरह सालभर काम चला सकते हैं! ऐसी चीजें भी

होती हैं जो चिरस्थायी होती हैं, वे हमेशा बनी रहती हैं...। लेकिन फूलोंकी, उदाहरणके लिये, "रूपांतर"के फूलोंकी एक ऋतु होती है, काफी लंबी, लेकिन फिर भी ऋतु होती है। "सिद्धि" फूल काफी देर रहता है, लेकिन वह "रूपांतर"के समय नहीं आता...। यह...। कैसे कहा जाय?... वे कुछ समयतक साथ रहते हैं। एकके समाप्त होनेसे पहले दूसरा शुरू हो जाता है। लेकिन उनके बहुत अधिक संख्यामें पैदा होनेकी ऋतुएं एक नहीं होतीं, और सभी फूलोंके साथ ऐसा ही है। हां, यह व्यवस्थित है। इससे तुम्हें प्रश्नका उत्तर मिल जाता है, है न? भावमें अर्थ-छटाएं होती हैं और यह संभव है कि कुछ ऋतुएं ज्यादा अनुकूल होती हों; व्यक्ति एककी अपेक्षा दूसरी क्रियापर ज्यादा जोर दे सकता है।

लेकिन इन फूलोंमेंसे हर-एकका संख्यात्मक मूल्य होता था, और मैं उसे लिख लिया करती थी; मैं उन्हें गिनवाती थी, क्योंकि मैं उनका संख्यात्मक मूल्य लिखती थी। मैंने यह तब बन्द किया जब मेरे पृष्ठ... मेरे पृष्ठ यूं लम्बे थे (पृष्ठोंकी लम्बाई दिखानेके लिये माताजी हाथ फैलाती हैं), क्योंकि मैं संख्यात्मक मूल्योंका कुल योग करती थी। यह करनेके मेरे अपने कारण थे, यूं ही नहीं करती थी...। इसके साथ मैंने एक बड़ा काम किया...। मुझे बन्द करना पड़ा क्योंकि इसमें बहुत समय लग जाता था। है न, जब कम-से-कम इतने लंबे कागजपर संख्याएं लिखनी पड़ती थीं, और फिर बादमें, अचानक और भी लंबे कागजकी जरूरत पड़ती थी, यह असंभव था! (माताजी फिरसे हाथ फैलाती हैं।) इसलिये मुझे बन्द करना ही पड़ा। मैंने इस कारण उसे बन्द कर दिया। लेकिन इतना ही नहीं कि मेरे पास संख्यात्मक मूल्य था और मैं यह काम करती थी, बल्कि फूलका अर्थ भी था।

हां, तो इस तरहका एक समझौता था वह : संख्यात्मक मूल्य एक ऐसी चीजके साथ मेल खाता था जो समझौतेके अनुसार प्रकृति मुझे मेरे कामके लिये देगी। लेकिन फूलका अर्थ भी मेरे और प्रकृतिके बीच एक समझौता ही था। उदाहरण के लिये, "रूपांतर"को लो। जब हिसाब होता था — ऋतुमें हजारों होते थे, समझे — तो, इसका यह अर्थ था (प्रकृतिके साथ निश्चित था) कि उतने लोग रूपान्तरित होंगे...। और यह इससे भी बहुत अधिक अच्छा होता था। यानी, जब मैं किसी व्यक्तिको एक, दो, तीन, चार, पांच फूल देती थी तो मैं साथ-ही साथ उसे अपने अन्दर उतने ही तत्त्वोंको परिवर्तित करनेकी शक्ति भी प्रदान करती थी। लेकिन पूरी सचाईके साथ उसका असर होनेके लिये, स्वभावतः, यह जरूरी

था कि वह दिमागमेंसे न जाय; क्योंकि जब मनुष्योंका दिमाग चलता है — अधिकतर ठीक तरीकेसे नहीं चलता — तो वे सब कुछ बिगाड़ देते हैं। इसी कारण मैं इस बारेमें कभी कुछ न कहती थी।

सभी फूलोंके साथ भी यही बात थी, उदाहरणके लिये, "अभीप्सा" फूल-के साथ: "अभीप्सा"के ये फूल जो बड़ी-बड़ी डलियाओंमें आते थे, हैं न; गिननेपर लाखों होते थे...। अच्छा, तो हर एक फूल किसी अभीप्साका प्रतीक होता था; और अब भी, कभी-कभी, जब मेरे पास "प्रार्थना"के जैसे फूल होते हैं..: ऐसा हुआ है कि जब मैं तुम्हें "प्रार्थना" फूल बांटती हूं तो मैं तुमसे कहती हूं: "यह एक प्रार्थना है। सावधान रहना, वह स्वीकृत है।" मैंने ऐसा किया है, तुम्हें याद है, है न? और मैंने तुमसे कहा है: "अपनी 'प्रार्थना'के बारेमें सावधान रहो। तुम जो चाहते हो केवल उसीके लिये प्रार्थना करो! बहुत सावधान रहो; क्योंकि यह प्रार्थना स्वीकृत है। मैं फूल देती हूं, लेकिन साथ-ही-साथ तुम जो प्रार्थना करोगे उसे (...)[1] की संभावना भी। अच्छा, तो यह स्वीकृत की जायगी।" यह बहुत मजेदार था, इस दृष्टिसे कि मैं हमेशा प्रकृतिसे कहा करती थी: "देखो, अगर तुम न चाहो कि मेरे पास ये चीजें हों तो तुम मुझे न दिया करो।" घट-बढ़ होती थी, कभी-कभी जब मैं जोर डालती, तो प्रचुरता हो जाती थी; कभी-कभी वे अचानक बन्द हो जाते थे, कारण मालूम न होता था, हम समझते न थे...। वह हमें देनेके लिये राजी न होती थी...। इसके विपरीत, वह दूसरी चीजें अधिक प्रचुरतामें देती थी।

लेकिन यह सब नेपथ्यकी, परदेके पीछेकी बात है.....

अगर हमारे पास आपकी तस्वीरकी अंगूठी या कोई अन्य गहना हो, तो क्या वह हमारी रक्षा करता है?

मेरे बच्चे, मुझे केवल आतिशबाजी सुनायी दे रही है!

(बच्चा प्रश्न दोहराता है।)

यह विशेष रूपसे इसपर निर्भर है कि तुम उसके बारेमें क्या सोचते हो! जो चीज मैं तुम्हें अपने हाथसे देती हूं — उसमें कुछ रख देती हूं; लेकिन अगर तुमने खुद एक अंगूठी या तस्वीर, या कोई और चीज चुनी है, और तुम उसे पहनते हो... अगर तुम्हारे अन्दर यह विश्वास है, यह श्रद्धा है कि वह चीज तुम्हारी रक्षा करती है, तो वह रक्षा

---

[1] यह शब्द स्पष्ट सुनायी नहीं दिया, इसलिये लिखा नहीं गया।

करती है। जब मैं वही देती हूं तब मैं उस चीजकी अपेक्षा कुछ और ही देती हूं। अगर मैं उसमें यह चीज रखूं तो वह रहती है, अगर न रखूं, तो नहीं रहती।

जानते हो, श्रीअरविंद कहा करते थे कि उनकी तस्वीरवाली कोई अंगूठी पहनना, और यह सोचना कि वह तुम्हारी रक्षा करती है, एक अन्धविश्वास है! वे तुमसे कहेंगे कि यह एक अन्धविश्वास है! यानी, यह तुम्हारे सोचनेपर निर्भर है...। यह पूरी तरह इसपर निर्भर है कि तुम इस बारेमें क्या सोचते हो। अगर उन्होंने तुम्हें एक अंगूठी यह कहते हुए दी होती कि "इसे पहनो, मेरी शक्ति तुम्हारे साथ रहेगी," तो बात बिलकुल अलग होती है; जमीन-आसमानका फर्क है।

मैं तुम्हें एक और छोटी-सी कहानी सुनाऊंगी। पुराने जमानेमें कुछ लोग सोचते थे कि एक कटे किनारोंवाला सिक्का...। वह ऐसा जमाना था जब सिक्कोंमें छेद नहीं किये जाते थे... अब तो कटे किनारे या छेदवाले सिक्के होते हैं, है न, कुछ देशोंमें छेदवाले सिक्के चलते हैं, लेकिन उस जमानेमें उनमें छेद नहीं किये जाते थे, और फिर भी कभी-कभी एक सिक्केमें छेद होते थे। और तब ठीक इस तरहका अन्धविश्वास था, कि जब कटे किनारोंकी मुद्रा मिले, तो वह सौभाग्य लाती है। वह सुख लाती है और तुम जो करना चाहो उसमें सफलता मिलती है।

किसी दफ्तरमें एक कर्मचारी था। वह काफी गरीब था और बहुत सफल न हो रहा था। एक दिन उसे कटे किनारोंकी मुद्रा मिल गयी। उसने उसे अपनी जेबमें डाल लिया और अपने-आपसे कहा: "अब मैं सफल होऊंगा!" और वह आशा, साहस और शक्तिसे भरपूर हो गया क्योंकि वह जानता था: "अब चूंकि मेरे पास मुद्रा है, इसलिये मेरा सफल होना निश्चित है!" और, वास्तवमें, वह सफल होता जा रहा था, अधिकाधिक सफल। वह पैसा अधिकाधिक कमाता जा रहा था, उसका पद ऊंचा होता जा रहा था और लोग कहते थे: "कितना अद्‌भुत मनुष्य है! कितनी अच्छी तरह काम करता है! यह सभी समस्याओंको हल कर देता है!" सचमुच, वह विलक्षण बन गया था और रोज सुबह कमीज पहनते समय वह इसे छूता था — इस तरह — यह निश्चित करनेके लिये कि उसकी मुद्रा जेबमें है तो...। वह छूता था, वह महसूस करता था कि मुद्रा है, और उसे विश्वास रहता था। और फिर, एक दिन, उसे जरा कुतूहल हुआ और उसने कहा: "मैं अपनी मुद्राको देखूंगा!" — बरसों बाद...। वह अपनी पत्नीके साथ बैठकर नाश्ता करता था, वह बोला: "मैं अपनी मुद्रा देखूंगा!" उसकी पत्नीने कहा: "तुम अपनी मुद्रा-

को क्यों देखना चाहते हो? कोई जरूरत नहीं।" — "हां, हां, मुझे अपनी मुद्रा देखने दो।" उसने वह थैला निकाला जिसमें मुद्रा रखी थी और देखता क्या है, उसमें मुद्रा तो है पर उसके किनारे कटे नहीं हैं!

उसने कहा: "ओह, यह मेरी मुद्रा नहीं है! यह क्या है? किसने मेरी मुद्रा बदल दी?" तब उसकी स्त्रीने कहा: "देखो, एक दिन तुम्हारी कमीजपर धूल थी... मैंने उसे खिड़कीके बाहर झाड़ा और मुद्रा गिर गयी। मैं भूल गयी थी कि उसमें मुद्रा रखी थी। मैं उसे ढूंढनेके लिये दौड़ी लेकिन वह मिली नहीं। किसीने उसे उठा लिया था। तब मैंने सोचा कि तुम बहुत दुःखी होओगे और मैंने एक और मुद्रा डाल दी।" (हंसी) हां, निश्चय ही, उसे विश्वास था कि उसकी मुद्रा वहां है और इतना काफी था।

श्रद्धा ही, विश्वास ही है जो काम करता है, है न... कटे किनारोंवाली मुद्रा कुछ नहीं देती। तुम हमेशा प्रयास कर सकते हो। अगर तुम्हारे अन्दर विश्वास है, तो वह तुम्हें देता है...। जब विश्वास हो...

यह लो!... बस, अब काफी है।

२१ जुलाई, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'माता'के तीसरे अध्यायपर आधारित है।

पिछली बार किस-किसने प्रश्न नहीं पूछे थे?... पहला!

"भागवत, आध्यात्मिक और अतिमानसिक 'सत्य'" में क्या भेद है?

अगर मुझे सुनायी दे कि तुम क्या बोल रहे हो तो ज्यादा सुविधा होगी!

(बच्चा उसी प्रश्नको ज्यादा जोरसे दोहराता है।)

भागवत सत्य...

"...आध्यात्मिक और अतिमानसिक।"

मैं नहीं सोचती कि बहुत फर्क है!

माताजी, "निष्कपट" निष्ठाका क्या अर्थ है?

निष्कपट? वह सरल, सच्ची और शंकारहित होती है। विशेष रूपसे हम बच्चेकी निष्कपटताकी बात करते हैं, जिसकी निष्ठा सरल और शंकारहित होती है।

माताजी, हर बार जब हम भूल करते हैं तो भागवत 'कृपा' को दूर हटा देते हैं क्या?

हैं? हर बार हम भूल करनेपर उसे दूर हटा देते हैं?

हां तो, दो भिन्न प्रकारकी भूलें होती हैं। एक भूल वह है जो हम अज्ञानके कारण करते हैं। वह भूल बनी रहती है, और वह 'कृपा' और तुम्हारे बीच परदा डाल देती है, लेकिन वह ऐसी भूल है जिसे हम यह जाने बिना करते हैं कि हम भूल कर रहे हैं। लेकिन ज्यों ही हमें मालूम हो कि यह भूल है, हमें उसे करनेसे बिलकुल परहेज करना चाहिये, क्योंकि हर बार जब हम उसे करते हैं, तो यह बात सच होती है कि हम भागवत 'कृपा' और अपने बीच दीवार खड़ी कर रहे हैं।

जिस भूलको हम अज्ञानमें करते हैं और यह जाननेपर कि वह भूल है हम जिसे कभी नहीं दोहराते उसमें, और उस भूलमें बहुत बड़ा फर्क है जिसे हम यह जानते हुए भी करते हैं कि वह भूल है। और, वास्तवमें, इसका नाम है **जिद**! और यह ज्यादा गंभीर है, यहांतक कि बहुत ही ज्यादा गंभीर। वह चेतनाको बहुत आच्छादित कर देती है, इतना कि कुछ समय बाद तुम्हें मालूम ही नहीं पड़ता कि तुम भूलें कर रहे हो। तुम उन्हें इस विश्वासके साथ करते हो कि तुम उन्हें नहीं कर रहे। तुम जो कुछ करते हो उसके लिये इतने बहाने बनाते हो, उसे न्यायोचित ठहराते हो कि अन्तमें तुम यह विश्वास करने लगते हो कि मैं बिलकुल भूल नहीं कर रहा। तब, फिर, बात गंभीर हो जाती है, क्योंकि तुम असुधार्य बन जाते हो!

ग्रहणशीलता और उन्मीलनमें क्या फर्क है?

इसकी बात पहले एक बार हो चुकी है। मैंने उत्तर दे दिया है। और मैंने बता दिया है कि मैं एक ही चीजको नहीं दोहराऊंगी, क्योंकि मैं चाहती हूं कि मैं जो कुछ कहूं उसे तुम याद रखनेकी आदत डालो।

माताजी, "महत्वाकांक्षासे रंजित... स्वार्थपूर्ण श्रद्धा" का क्या अर्थ है?

हां, उदाहरणके लिये, अगर तुम कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बनना, ऊंचा पद प्राप्त करना या अपने अगल-बगलके व्यक्तियोंकी प्रशंसा पाना, बड़ा साधक बनना, बड़ा संन्यासी बनना, महायोगी बनना, इत्यादि चाहो, कोई बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, तो यह कहलायेगी महत्त्वाकांक्षापूर्ण श्रद्धा। तुम्हारे अन्दर यह श्रद्धा होती है कि यह चीज सिद्ध हो सकती है, तुम्हारे अन्दर भगवान्‌के लिये श्रद्धा होती है, लेकिन होती है तुम्हारे अपने मिथ्या-गौरवके लिये; और यह कोई पवित्र, सच्ची और सीधी चीज नहीं रहती। वह ऐसी चीज है जो पूरी तरह व्यक्तिगत लाभके लिये होती है। स्वभावतः, वहां आत्म-समर्पणका कोई सवाल ही नहीं उठता; यह शक्तियोंका संचय करना है, यथासंभव संचय, यानी, सच्ची गतिविधिके विपरीत गतिविधि। हम जितना समझते हैं उससे बहुत अधिक बार ऐसा होता है...। महत्त्वाकांक्षाकी यह गतिविधि अकसर सत्ताकी गहराईमें छिपी रहती है और वह तुम्हें धकेलती है, यूं, पीछेसे...। वह तुम्हें कोड़े लगाती है ताकि तुम आगे बढ़ो। यह एक प्रकारका गुप्त घमण्ड है।

माताजी, ऐसे लोगोंको शक्ति क्यों मिलती है, जब कि भगवान् जानते हैं कि वे सच्चे नहीं हैं?

सुनो, मेरे बच्चे, अपनी कार्य-पद्धतिमें भगवान्‌के अन्दर ऐसी मानवीय धारणाएं नहीं होतीं। हमेशाके लिये, तुम्हें यह चीज अपने दिमागमें बिठा लेनी चाहिये। हो सकता है कि वे ऐसी चीजें करें जिनका हमारी दृष्टिमें कोई कारण न हो। लेकिन जो भी हो, अगर उनके पास कारण हैं भी तो वे मानवीय कारणोंसे भिन्न हैं, और **निश्चय ही** उनमें उस तरहकी न्यायदृष्टि **नहीं** है जैसी मनुष्य समझते हैं।

उदाहरणके लिये, तुम उस मनुष्यकी बहुत अच्छी तरह कल्पना कर सकते हो जिसमें धन-दौलतकी लालसा है और जो धन पानेके लिये लोगोंको धोखा देनेकी कोशिश करता है...। तुम्हारे न्यायकी दृष्टिसे, इस

मनुष्यको धनसे वंचित रहना चाहिये और गरीब बन जाना चाहिये। हम देखते हैं कि सामान्यतः बात इससे उल्टी होती है। लेकिन निश्चय ही, यह सब बाहरी रूपमात्र है। रूप-रंगोंके पीछे, कोई और चीज होती है...। दूसरी संभावनाओंके बदले वह इस चीजको पाता है। संभव है कि उसके पास धन हो, लेकिन उसमें अन्तःकरण न रहे। और, वस्तुतः, जैसा कि अकसर होता है, जब उसे वह धन मिल जाता है जिसकी उसने इच्छा की थी, वह सुखी नहीं रहता...। और आदमीके पास जितना अधिक होता है, साधारणतः वह उतना ही कम सुखी रहता है! वह उस धनसे पीड़ित होता है जिसे उसने पाया है, है न।

चीजोंका मूल्यांकन बाहरी सफलता या हारके आभाससे नहीं करना चाहिये। हम कह सकते हैं — और सामान्यतः लगभग हमेशा ही ऐसा होता है — कि भगवान् हमें वांछित चीज दे देते हैं, और सभी पाठोंमेंसे यही श्रेष्ठ है! क्योंकि, अगर तुम्हारी कामना निश्चेतन, अन्धकारपूर्ण, स्वार्थ-भरी है, तो तुम अपने अन्दर निश्चेतना, अन्धकार और स्वार्थपूरताको बढ़ाते हो; यानी, वह पाना तुम्हें सत्यसे, चेतना और सुखसे अधिकाधिक दूर हटा देता है। वह तुम्हें भगवान्‌से दूर ले जाता है। और, स्वभावतः, भगवान्‌के लिये एक ही चीज सत्य है और वह है भागवत 'चेतना', भगवान्‌के साथ 'ऐक्य'। और जब कभी तुम भौतिक चीजोंको सामने रखते हो, तो तुम अधिकाधिक भौतिक बन जाते हो और पूरी सफलतासे अधिकाधिक दूर हटते जाते हो।

लेकिन 'सत्य'के लिये यह सफलता एक भयानक हार है...। तुमने सत्यके बदले मिथ्यात्वको लिया है!

बाहरी रूप और बाहरी सफलताके अनुसार मूल्यांकन करना यथार्थतः पूर्ण अज्ञानकी क्रिया है। उस व्यक्तिमें भी, जो सबसे कठोर और बाहरी तौर पर सबसे सफल हो, उसमें भी हमेशा दूसरा पक्ष होता है। और सत्ताकी जो कठोरता उत्पन्न होती है, यह परदा जो बाहरी चेतना और आन्तरिक सत्यके बीच बनता है अधिकाधिक मोटा होता जाता है, एक-न-एक दिन बिलकुल असह्य बन जाता है। साधारणतः इसके लिये — बाह्य सफलताका — बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

(माताजीका स्वर बहुत गंभीर हो जाता है।) सफलतासे प्रभावित हुए बिना सफल होनेके लिये व्यक्तिको **बहुत** महान्, **बहुत** पवित्र होना चाहिये, उसकी आध्यात्मिक चेतना **बहुत** ऊंची और **बहुत** अनासक्त होनी चाहिये। **सफल होनेसे बढ़कर कठिन कोई चीज नहीं है। यही जीवनकी सच्ची परीक्षा है!**

जब तुम सफल नहीं हो पाते, तो स्वभावतः तुम अपनी ही ओर और

अपने अन्दर मुड़ते हो, और अपने अन्दर अपनी बाहरी असफलताकी सांत्वना ढूंढते हो। और जिनके अन्दर ज्वाला है, अगर भगवान् सचमुच उनकी सहायता करना चाहें, अगर वे सहायता पानेके लिये परिपक्व हों, अगर वे मार्गका अनुसरण करनेके लिये तैयार हों, तो एकके बाद एक प्रहार आयेगा, क्योंकि इससे उन्हें सहायता मिलती है! यह सबसे शक्तिशाली, सबसे सीधी और सबसे अधिक प्रभावकारी सहायता है। और अगर तुम सफल होओ, तो सावधान रहो, अपने-आपसे कहो: "किस कीमतपर, किस मूल्यपर मैंने सफलता पायी है? आशा करता हूं कि यह... की ओर एक कदम नहीं है।"

ऐसे लोग हैं जो इसके परे जा चुके हैं, जो अपनी आत्माके प्रति सचेतन हैं। जिन्होंने स्वयंको पूरी तरह दे दिया है जो — जैसा कि मैं कह आयी हूं — बिल्कुल पवित्र हैं, अनासक्त हैं, और सफलतासे प्रभावित हुए बिना, उसका स्पर्श पाये बिना सफल हो सकते हैं; तब फिर बात अलग है। **लेकिन सफलताको सह सकनेके लिये बहुत ऊंचा होना चाहिये।** और आखिर, शायद यह अन्तिम परीक्षा है जो भगवान् किसी व्यक्तिको देते हैं: "अब तुम उदात्त हो, अनासक्त हो, तुममें अहंकार नहीं है, तुम मेरे सिवाय किसीके नहीं हो, मैं तुम्हें विजयी बना दूंगा। मैं देखूंगा कि तुम डटे रहते हो या नहीं।"

असुरोंके विरुद्ध 'शक्ति' किस प्रकार काम करती है?

मुझे कुछ भी नहीं सुनायी दे रहा!... असुरोंके विरुद्ध काम करती है? तुम यह क्यों जानना चाहते हो?

यह मजेदार है! (हंसी)

शायद उन्हें भी 'वह' मनचाही चीज दे देती है...। (मौन) और साधारणतः इससे उनका अन्त जल्दी आता है। नाना प्रकारके असुर होते हैं... यानी... नहीं, असुर असुर ही होते हैं, लेकिन वे सब हैं जो उनसे निकले हैं, और जो उनसे निम्नतर स्तरकी सत्ताएं हैं।

साधारणतः असुर सचेतन सत्ता होता है और वह जानता है कि उसका अन्त होगा। वह जानता है कि उसने विश्वमें जो मनोवृत्ति अपनायी है वह अमुक समय बाद आवश्यक रूपसे उसे नष्ट कर देगी। स्वभावतः, मनुष्यकी अवधिकी तुलनामें असुरकी अवधि बहुत लम्बी होती है। लेकिन फिर भी, उसे मालूम होता है कि उसका अन्त आयेगा, क्योंकि उसने अपने-

आपको 'शाश्वत'से अलग कर लिया है। और इसलिये वह अपनी पूरी पराजयके दिनतक यथासंभव पूर्ण रूपसे अपनी योजनाको चरितार्थ करनेकी कोशिश करता रहता है। और यह संभव है कि अगर उसे अपनी योजना चरितार्थ करने दें; तो हार अधिक जल्दी आ जायेगी। शायद इसीलिये जब महान् चीजें सिद्ध होने वाली होती हैं — उसी समय विरोधी शक्तियां सबसे ज्यादा क्रियाशील होती हैं, सबसे प्रबल रूपमें क्रियाशील, और देखनेमें पूर्णतः सफल मालूम होती हैं। ऐसा लगता है मानों उसके लिये मैदान खुला पड़ा है: यह शायद इसलिये कि वह अधिक जल्दी खत्म हो जाय।

(लम्बा मौन)

बस, इतना ही?

मधुर मां, "मानसिक घमण्ड" का क्या अर्थ है?

मेरे बच्चो, **स्पष्ट रूपसे** बोलो! जोरसे चिल्लानेकी जरूरत नहीं...। स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये!

(बच्चा वाक्यको स्पष्ट रूपसे दोहराता है।)

मानसिक घमण्ड? उसका मतलब है... वह जो तुम सबमें है! (हंसी)

मैं ऐसे किसी मनुष्यको नहीं जानती जिसमें मानसिक घमण्ड न हो। कुछ हैं जिनमें कम हैं, कुछ हैं जिनमें ज्यादा है, कुछ हैं जो पूरी तरह इसीसे बने हैं...। मन, अपने स्वभावसे, तत्त्वतः घमण्डी है। वह सोचता है कि वह जानता है, वह सोचता है कि वह मूल्यांकन कर सकता है, और वह सभी चीजोंका मूल्यांकन करनेमें अपना समय बिताता है — तुम्हारे अन्दर, तुम्हारे ऊपर, दूसरोंपर, सभी चीजोंपर निर्णय देता है!

अभी हाल ही में एक मजेदार घटना घटी। किसीने एक पत्र लिखा जिसमें श्रीअरविंदकी लिखी किसी बातपर शंका प्रकट करनी शुरू की। पर फिर, बादमें, उसने कहा: "लेकिन हमें यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि जिसने यह लिखा है वह कम-से-कम हमारे जितना बुद्धिमान् तो है ही!" (माताजी हंसती हैं।) जब लोग चीजोंका मूल्यांकन करनेमें समय बिताते हैं, तब अगर वे कहें: "लेकिन शायद दूसरा व्यक्ति कम-से-कम मेरे जितना बुद्धिमान् है ही!", वे कम...

लेकिन अपना निरीक्षण करना काफी है... तुम अपना निरीक्षण कर

सकते हो, तुम दिनमें कम-से-कम सौ बार अपने-आपको एक ऐसे मनके साथ पकड़ सकते हो जो हर बातका निर्णय करता है, जो सब जानता है, जो हर चीज का मूल्यांकन करता है, जो अच्छी तरह जानता है कि क्या भला है, क्या बुरा, क्या सच है, क्या झूठ, क्या ठीक है...। और यह भी कि काम कैसे किया जाय, अमुक व्यक्तिको क्या करना चाहिये था, वह समस्या कैसे हल की जाय...। सब लोग जानते हैं, है न...। अगर वे, उदाहरणके लिये, सरकारके शीर्षपर होते तो उन्हें हर एक चीज-को अच्छी तरह व्यवस्थित करना आता! लेकिन लोग उनकी बातपर कान नहीं देते... बस!

तुम्हें केवल अपने-आपपर नजर डालनी है, तुम देखोगे, तुम अपने-आपको सारे समय पकड़ोगे...। हम उन लोगोंकी बात नहीं करते जो बहुत पहलेसे निश्चय कर चुके हैं कि भगवान्‌ने कितनी सारी भूलें की हैं और अगर उन्हें सृष्टि-निर्माणका काम सौंपा जाता तो संसार कैसा होता! यह लो।

भागवत 'कृपा' के संपर्कमें आनेसे, कठिनाइयां किस तरह प्रगति-के अवसर बन जाती हैं?

प्रगतिके अवसर! हां! हां, यह तो बिलकुल स्पष्ट बात है। तुमने बहुत बड़ी भूल की है, तुम अपने-आपको बहुत बड़ी कठिनाईमें पाते हो: तब, अगर तुम्हारे अन्दर श्रद्धा है, अगर तुम भागवत 'कृपा'पर विश्वास रखते हो, अगर तुम सचमुच उसपर आश्रित हो तो तुम अचानक देखोगे कि यह एक पाठ है, कि तुम्हारी कठिनाई या गलती एक पाठसे बढ़कर कुछ नहीं है, जो इसलिये आयी है कि तुम अपने अन्दर उस चीजको परिवर्तित करना सीख सको जिसे परिवर्तित करना चाहिये और भागवत 'कृपा'की इस सहायतासे तुम अपने अन्दर बदलने-योग्य चीजको देख पाओगे। और उसे बदल दोगे। और इस प्रकार तुम, एक कठिनाईके कारण बहुत प्रगति कर लोगे। आगेकी ओर एक लंबी छलांग लगा लोगे। यह तो, वस्तुतः, हर वक्त होता रहता है। केवल, तुम्हें बहुत ही सच्चा होना चाहिये, यानी, 'कृपा'पर आश्रित होकर उसे अपने लिये काम करने देना चाहिये — इस प्रकार नहीं: तुम्हारा एक अंश सहायताकी मांग करे और दूसरा यथासंभव विरोध करे क्योंकि वह बदलना नहीं चाहता... यही तो है कठिनाई।

उन्होंने (श्रीअरविंदने) जो कुछ कहा है, और बार-बार कहा है, वह है: पूरी तरह, समग्रताके साथ, पूरी सच्चाईके साथ, बिना कुछ बचाये।

क्योंकि सत्ताका एक अंश है जिसमें अभीप्सा है, सत्ताका एक अंश है जो आत्मसमर्पण करता है और कुछ दूसरे अंश हैं — कभी-कभी एक छोटा-सा अंश और कभी एक बड़ा अंश जो बिल्कुल तलीमें छिपा रहता है और चुपचाप रहता है ताकि उसका पता न लगे, लेकिन जो अपनी **पूरी** शक्ति-के साथ **विरोध** करता है ताकि बदलना न पड़े।

और तुम्हें आश्चर्य होता है कि "ओह, मेरी अभीप्सा इतनी सुन्दर थी, मेरे अन्दर इतनी सद्भावना थी, मेरी बदलनेकी इतनी तीव्र इच्छा थी फिर भी देखो, मैं नहीं कर सकता! क्यों?" तब स्वभावतः तुम्हारा मान-सिक घमण्ड आता है और कहता है, "मुझे वह उत्तर नहीं मिला जिसके मैं योग्य थ, भागवत कृपा मेरी सहायता नहीं करती, और वह मुझे भटकनेके लिये अकेला छोड़ देती है", इत्यादि।

बात यह नहीं है। बात यह है कि कहींपर एक छिपी हुई छोटी-सी चीज है जो कुण्डलाकार बनकर वहां बैठी है, **दुबककर, अपने ही ऊपर मुड़ी हुई,** और अच्छी तरह छिपी हुई, मानों बक्सेकी बिल्कुल तलीमें हो, और हिलनेसे इनकार करती है। (माताजी धीमे स्वरमें बात करती हैं) तो जब प्रयास, अभीप्सा कुछ कम हो जाते हैं, मंद पड़ जाते हैं तो वह चीज इस प्रकार धीमेसे फूट पड़ती है, और फिर वह अपनी इच्छाको तुमपर थोपना चाहती है और वह तुमसे ठीक वही करवाती है जो तुम न करना चाहते थे, तुमने जिसे कभी न करनेका निश्चय किया था और जिसे तुम क्यों और कैसे जाने बिना ही करते हो! क्योंकि वह चीज वहां थी और उसने छोटी चीजोंके लिये, बड़ीके लिये, ब्योरोंके लिये और यहांतक कि जीवनके निर्देशनके लिये भी अपनी बारी ली!

ऐसे लोग हैं जो स्पष्ट रूपसे देखते हैं, और खूब अच्छी तरह जानते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये पर उन्हें लगता है कि वे कर नहीं पाते ...। वे नहीं जानते कि ऐसा क्यों है। यह और कुछ नहीं, बस, यही बात है। एक छोटा-सा कोना होता है जो बदलना नहीं चाहता और यह कोना अपनी घड़ीकी प्रतीक्षा करता है। और जिस दिन हम अपनी शिथिलताद्वारा, थकान, उनींदेपन या थोड़े-से आलसद्वारा उसे ऊपर उठ आने देंगे तो वह अपनी पूरी एकाग्र, संचित ऊर्जाके साथ ऊपर उठेगी और तुमने जो निश्चय किया था उससे **ठीक** उल्टा करवायेगी, कहल-वायेगी, अनुभव करवायेगी, काम करवायेगी! और तुम उस अवस्थामें होओगे, "आह! यह कितना उत्साह भंग करनेवाला है! ..." तब ऐसे लोग होते हैं जो "भाग्य!" कहते हैं। वे सोचते हैं कि यह भाग्य है। यह भाग्य नहीं, बल्कि वे खुद हैं!... उन्होंने प्रकाशसे, प्रकाशस्तंभसे

काम नहीं लिया। उन्होंने अपनी सत्तामें गुप्त छोटे-छोटे कोनोंपर प्रकाश नहीं डाला, जो चीज अच्छी तरह छिपी हुई थी उसे उन्होंने ढूंढ नहीं निकाला। उन्होंने उसे वहीं छोड़ दिया, और फिर इस तरह किया (माताजी सिर घुमा लेती हैं) ताकि उसे न देखें। बहुत बार हमें ऐसा अनुभव होता है कि हम अभी किसी चीजको पकड़नेवाले हैं: "हप!" थोड़ा दर्द होता है...। यह त्रासदायक होता है...। तब हम किसी दूसरी चीजके बारेमें सोचते हैं, और बस! अवसर निकल गया। अब तुम्हें किसी और अवसरके लिये प्रतीक्षा करनी होगी, कुछ और मूर्खताएं करनी होंगी, तब किसी दिन तुम उस चीजको दोबारा पूंछसे, इस तरह, या कान या नाकसे पकड़कर यह कह सकोगे: "नहीं! तुम अब और न छिप सकोगे, तुम जैसे हो मैं तुम्हें वैसा देख रहा हूं, तुम्हें या तो निकल जाना होगा या बदलना पड़ेगा!"

तुम्हारी पकड़ जोरदार होनी चाहिये और तुम्हारा संकल्प दृढ़। उस दिनकी जापानी कहानीके सिपाहीकी तरह जिसने अपने घुटनेमें चाकू रखा था ताकि वह सो न सके... और जब उसे लगता था कि नींद आ रही है तो वह चाकूको इस तरह घुमा देता था जिससे और भी दर्द हो। तुम्हारे पास इस तरहकी कोई चीज होनी चाहिये। यह, यह है दृढ़ निश्चय: यह जानना कि तुम्हें क्या चाहिये और वही करना। यह लो!

माताजी, क्या मैं कुछ पूछ सकता हूं?

पूछो!

माताजी, पिछली बार मैं एक चीज नहीं समझ पाया... आपने उस समयके बारेमें जो कहा था कि जब आप "रूपांतर" के फूल गिनती थीं, तब उनकी संख्या यह बताती थी कि कितने लोग रूपांतरित होंगे?

(मौनके बाद) यह, यह तो मेरी बनायी पहलेकी व्यवस्थापर निर्भर होता था, है न...। एक दिन एक चीज हो सकती थी और दूसरे दिन दूसरी। कभी-कभी केवल गतिविधियां, तत्त्व, कोषाणु होते थे...। कभी-कभी व्यक्ति। यह उसपर निर्भर होता था जिसे मैं संभव समझती थी और गिननेसे पहले मैंने जो व्यवस्था की थी।

उसी तरह जब मैं लोगोंको अमुक संख्यामें फूल देती थी तो कभी-कभी

उसका अर्थ होता था : "तुम्हारे अन्दर इतनी गतिविधियां, इतने तत्त्व परिवर्तित हो सकेंगे।" किसी और समय मैं उन्हें कुछ फूल देती थी और मतलब होता था : "जितने फूल हैं उतने लोगोंको बदलनेकी, उतनोंका रूपांतर करनेकी तुम्हारे अंदर शक्ति होगी" — और इस प्रकारकी बहुत-सी चीजें। हमेशा एक ही चीज नहीं होती थी। लेकिन हमेशा किसी चीजको रूपांतरित करनेकी शक्ति होती थी...। इच्छाका रूपांतरण हो सकता था, क्रियाका रूपांतरण हो सकता था, कोषाणुओंका भौतिक रूपांतरण हो सकता था, तुम्हारा अपना रूपांतरण हो सकता था... विश्वके तारागणका रूपांतरण हो सकता था... बहुत-सी चीजोंका...। यह लोगोंपर निर्भर होता था।

मधुर मां, जब लोगोंके लिये होता था तो क्या वह रूपांतर पूर्ण होता था?

कभी-कभी। सामान्यतः दूसरे फूलोंके साथ संसर्ग होते थे...। ऐसे क्षण होते थे जब इस चीजकी अपेक्षा उस चीजको ज्यादा व्यवस्थित किया जा सकता था...। ऐसा समय होता था... ऐसा समय था जब मैं फूलोंको इस प्रकार व्यवस्थित करती थी... कुछ लोगोंके लिये यह पूर्ण रूपांतर होता था। लेकिन जब...

कभी-कभी समयका तत्त्व हमसे बच निकलता है, यह कठिन है...। इन व्यवस्थाओंमें, नियंत्रणके लिये सबसे मुश्किल चीज है समय। हमें मालूम नहीं होता कि इसमें एक साल लगेगा या एक शताब्दी...। इसपर काबू पाना कठिन है। फूलोंको समयका भाव देनेका अवसर मुझे कभी नहीं मिला, और शायद यह संभव भी नहीं है। हो सकता है कि यह आये, लेकिन फिलहाल यह एक ऐसा तत्त्व है जिसे नापना मुश्किल है।

मधुर मां, "तारों का रूपांतर" मतलब?

इसका मतलब क्या है? तुम्हारा प्रश्न क्या है? मैंने नक्षत्रोंके रूपांतरकी बात की है...। अगर संपूर्ण विश्वको रूपांतरित होना है तो नक्षत्र भी रूपांतरित होंगे! तुम क्यों मान लेते हो कि यह केवल पृथ्वीपर ही होगा?

यहां कुछ लोग थे जिनकी अभीप्सा बहुत तीव्र थी, लेकिन जिन्होंने किसी कारणसे विद्रोह किया और फिर चले गये।

और ये लोग विशेष रूपसे आश्रमके विरुद्ध हैं। लेकिन क्या हम कह सकते हैं कि एक दिन वे भी लौट आयेंगे?

लौट आयेंगे? (माताजीका संकेत) यह... यह तुम्हें व्यक्तिगत रूपसे बताऊंगी।

यह किसी चीजपर निर्भर है...। हम इसे इस तरह प्रस्तुत कर सकते हैं: सबसे पहले — गीतामें भी यही प्रश्न है — दो प्रकारकी आसुरिक सत्ताएं होती हैं। कुछ ऐसी हैं जो रूपांतरित हो सकेंगी और होंगी — आखिर, शायद एक दिन रूपांतरको संभव बनानेके लिये इतना काफी हो कि इन्होंने अमुक क्षणमें, चाहे वह निमिष मात्रके लिये ही क्यों न हो, इन सत्ताओंने रूपांतरकी संभावनाकी कल्पना की थी। और ऐसी सत्ताएं भी हैं जिन्होंने सचेतन और स्वैच्छिक रूपसे यह निश्चय कर लिया है कि वे विलीन और अदृश्य होना पसन्द करेंगी। इसलिये जो विलीन होना चाहती हैं उन्हें विलीन किया जायगा और जो रूपांतरित होना चाहती हैं उन्हें रूपांतरित किया जायगा। जीवनमें ऐसा ही है!

ऐसे असुर होते हैं जो मर जाते हैं और ऐसे भी जो लौट आते हैं। साधारणतः यह ज्ञात और लगभग निश्चित बात होती है। हम निश्चयके साथ कह सकते हैं — **ये, ये मरेंगे।** वे मरेंगे, वे मरेंगे, यानी, वे अपनी आत्मासे बिल्कुल अलग हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त — जैसा कि मैं अभी कह रही थी — उनका ऐसा जीवन हो सकता है... जो पूर्ण रूपसे सफल प्रतीत हो। यह जरूरी नहीं है कि वे भौतिक दृष्टिसे दुःखी हों, बिलकुल नहीं; कभी-कभी, इसके विपरीत, उनके लिये सब कुछ सफलतापूर्ण होता है। फिर, दूसरी तरफ, ऐसे भी हैं जो शायद किसी विशेष कृपाके प्रभावमें हैं, जिन्हें अपनी साहस-यात्रामें सबसे खराब हारोंसे पाला पड़ता है; और कुछ समय बाद उन्हें अनुभव होता है कि वे नासमझ, मूर्ख और बेवकूफ थे। तब फिर... वे लौट आते हैं। यह लोगोंपर निर्भर है। वास्तवमें, जब वे सफल होते हैं तो इसका मतलब होता है कि उनके भाग्यमें निन्दित ईंट है; जब वे सफल नहीं होते तो इसका मतलब यह होता है कि भागवत कृपा उनके साथ रही है।

लेकिन विशेष फर्क पड़ेगा उनकी मृत्युके बाद, क्योंकि जिन मनुष्योंने विरोधी शक्तियोंको अपने ऊपर काबू पाने और शासन करने दिया है, वे ज्यों ही शरीर छोड़ते हैं त्यों ही निगले जाते हैं; बस खतम! उन्होंने अपने चैत्य पुरुषसे पहले ही संपर्क काट लिया है, इसलिये अक्सर उनका चैत्य-पुरुष दूसरे लोकोंमें, कहीं दूर होता है... तब फिर, उनका प्राण जो इन

शक्तियोंका आघात है, शरीर त्यागते ही हड़पा जायगा। और बस, खत्म। और तब वे हमेशाके लिये मर जायेंगे। जगत्में रहते बहुत फर्क नहीं पड़ता। चीजोंमें बहुत परिवर्तन नहीं होता।

मधुर मां, उन्हें कौन हड़प लेता है?

एक और भी बड़ी प्राणिक सत्ता! (हंसी) देखो, उन लोगोंके अन्दर विरोधी प्राणमय शक्तियोंका निर्गत अंश होता है और जिस सत्ता या शक्तिने यह निर्गमन किया है उसने इसीलिये किया है ताकि वह शरीरसे ऐसे काम ले सके, भौतिक जीवनमें ठीक वे चीजें करवा सके जिन्हें वह करवाना चाहती थी। लेकिन जब शरीर ही नहीं रहता तो उसे इसमें रस नहीं रहता...। है न, यह शरीर ही तो था जो मागवत क्रियाके विरोधमें अमुक चीजें करनेका साधन था। जब शरीर गायब हो जाता है, तो वह सत्ता या शक्ति अपने निर्गत अंश और उसके साथकी सारी शक्तिको हड़प लेती है ताकि किसी और अवसरपर काम आये।

वे अपना समय यही करनेमें बिता देती हैं। वे निर्गमन करती हैं और फिर जब मर्जी हो, उसे आत्मसात् कर लेती हैं, कभी-कभी मौतसे भी पहले... यानी, इससे मौत कुछ जल्दी आ जाती है। इससे सत्ता एक प्रकारका चिथड़ा बनकर रह जाती है, शक्तिहीन, जीवनहीन, सर्वस्वहीन...। ऐसा होता है; यह उन्हें बिल्कुल पागल बना देता है। या फिर, ऐसा तब होता है जब लोग किसी दुर्घटनामें काम आयें, जैसा कि पिछले युद्धमें हुआ था, तुरंत... हप! यह (विरोधी निर्गमन) रक्त-चूषण-यंत्रकी तरह काम करता है, जो सब कुछ आत्मसात् कर लेता है, किसी दूसरे अवसरके लिये सब कुछको फिरसे अपनेमें समा लेता है। वह उस दूसरे अवसरको ढूंढता है, उसे ढूंढता है जो तैयार है और यह उसे...। हमेशा कोई-न-कोई इसे ग्रहण करनेके लिये तैयार रहता है, और वह तुरंत अपने-आपको उच्च कोटिकी सत्ता समझने लगता है; क्योंकि यह उसे ऐसी चीज प्रदान करता है, लोगोंको ऐसा भाव प्रदान करता है कि वे सचमुच अपवादस्वरूप अद्भुत हैं... वे चीजोंमें उन भूलोंको देखनेमें समर्थ होते हैं जिन्हें दूसरे नहीं देख पाते; दूसरे सैकड़ों व्यक्तियोंके मूल्यांकनकी अपेक्षा उनका मूल्यांकन ज्यादा ठीक होता है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने निश्चय कर लिया है; वे उन लोगोंमेंसे हैं जिन्होंने यह निश्चय किया है कि सृष्टि कैसी होनी चाहिये, और जो चीजोंको यथास्थान, ठीक-ठीक रखते हैं।

मैंने देखा है... ऐसे लोग देखे हैं जिन्होंने स्वस्थता और सच्चाईके एक क्षणमें उस विरोधी निर्गमनसे छुटकारा पानेकी मांग की थी जो उनसे काम करवाता था। और फिर, सचाईकी इस घड़ीमें वह निर्गमन उनके बाहर चला जाता था और शरीरको हानि पहुंचाये बिना, उसे पकड़कर नष्ट किया जा सकता था। ऐसा बहुत बार हुआ।

तब कुछ दिनोंके लिये सत्ता इतनी खुश रहती है...। वह अपने-आपको मुक्त, स्वस्थ और ज्योतिर्मय अनुभव करती है... और फिर अचानक वह अपने-आपसे कहती है: "लेकिन मेरे अन्दर कोई शक्ति नहीं रही! मैं कुछ नहीं जानती, कुछ नहीं कर सकती, मैं बिलकुल साधारण प्राणी हूं!" और फिर: "लेकिन यह बिल्कुल ठीक नहीं है, पहले बहुत ज्यादा अच्छा था!" और चूंकि ये शक्तियां अनगिनत हैं — ये सत्ताएं हजारों-लाखों होती हैं, पता है, वे वहां लोगोंके चारों ओर मंडराती रहती हैं, और बस, किसीमें घुसनेके अवसरकी ताकमें रहती हैं — व्यक्ति तुरन्त अपनी मात्रा फिरसे निगल लेता है और पहले जो था वही बन जाता है, कभी-कभी उससे भी गया-बीता। और तब नाटक फिरसे शुरू हो जाता है।

जहांतक मेरा संबन्ध है, यह बेकार है, एक बार काफी है! तुम उससे बहुत आसक्त हो! अपनी छोटी-सी विरोधी सत्ताको अपने पास ही रखो! इस हालतमें यह बेकार है। लेकिन यह, यह भावना ही है वह चीज कि अचानक मेरी सारी शक्ति चली गयी है। इसके अतिरिक्त, यह बात उन लोगोंके साथ होती है जो महत्त्वाकांक्षी होते हैं, विशेष रूपसे महत्त्वाकांक्षी लोगोंके साथ, जो शक्ति पाना चाहते हैं, जो दूसरोंपर शासन करना चाहते हैं, जो महान् आचार्य, महान् गुरु बनना चाहते हैं, जो चमत्कार दिखाना चाहते हैं, असाधारण शक्तियां प्राप्त करना चाहते हैं...: इन लोगोंके साथ यह अक्सर होता है... जिनमें एक प्रकारकी महत्त्वाकांक्षा होती है, यहां यह उनके मनमें चक्कर काटती रहती है। यह खतरनाक है।

सरल होना, सरल रूपमें सद्भावनापूर्ण होना, अपनी तरफसे अच्छे-से-अच्छा और जहांतक हो सके श्रेष्ठ रूपसे करना कितना अच्छा है; बहुत बड़े महल न बनाना, बल्कि केवल प्रगति, प्रकाश, सद्भावनापूर्ण शांतिके लिये अभीप्सा करना और भगवान्‌को जो जगत्‌में सब कुछ जानते हैं, उन्हें अपने लिये इस बातका निश्चय करने देना कि तुम क्या बनो और तुम्हें क्या करना होगा। तब तुम्हें कोई चिन्ता नहीं रहती और तुम पूर्ण रूपसे सुखी होते हो!

तो, यह लो!

२८ जुलाई, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'माता' के चौथे अध्यायपर आधारित है।)

"धन एक वैश्व शक्तिका प्रत्यक्ष चिह्न है। यह शक्ति धरती-पर प्रकट होकर प्राण और जड़के स्तरोंपर कार्य करती है और बाहरी जीवनकी पूर्णताके लिये इसका होना अनिवार्य है। अपने मूल और वास्तविक कर्मकी दृष्टिसे यह भगवान्‌की शक्ति है। परंतु भगवान्‌की अन्य शक्तियोंकी भांति यह शक्ति भी यहां औरोंको सौंप दी गयी है और निम्नतर प्रकृतिके अज्ञानमें इस-का अपहरण अहंकारके उपयोगके लिये हो सकता है या आसुरिक प्रभावोंकी पकड़में आकर उनके उद्देश्योंके लिये विकृत की जा सकती है।"

धन दूसरे स्तरोंपर किस तरह अभिव्यक्त होता है?

कौन-से दूसरे स्तर? वे प्राणिक और भौतिक स्तरकी बात करते हैं, है न?... कि वह एक ऐसी शक्ति है जो प्राणिक और भौतिक स्तरपर अभिव्यक्त होती है। धनपर प्राणिक शक्तियोंका बहुत बड़ा प्रभाव होता है।

(थोड़ी चुप्पीके बाद) हां तो, जब तुम धनके बारेमें सोचते हो तो तुम नोट या सिक्कों या किसी प्रकारकी दौलत या मूल्यवान् चीजोंके बारेमें सोचते हो। लेकिन वह तो केवल एक ऐसी शक्तिकी भौतिक अभिव्यक्ति है जिसे प्राणके द्वारा चलाया जा सकता है और जो हस्तगत या नियंत्रित किये जानेपर लगभग अपने-आप ही धनकी सबसे ठोस अभिव्यक्तियोंको ले आती है और यह चीज एक प्रकारकी शक्ति है। (मौन) यह कुछ बिल-कुल भौतिक स्पन्दनोंको आकर्षित करनेवाली शक्ति है और उसमें उपयोग करनेकी क्षमता भी होती है और यह उसकी शक्तिको बढ़ा देती है — यह शारीरिक कसरतकी तरहकी चीज है, समझे — उपयोगके द्वारा यह इस शक्तिको बढ़ाती है।

उदाहरणके लिये, अगर इस शक्तिपर तुम्हारा अधिकार है — यह एक ऐसी शक्ति है जिसका रंग, प्राणमय जगत्‌में लाल, बहुत गहरे तेज लाल और गहरे, किंतु न बहुत तेज और न हल्के सुनहरे रंगके बीच होता है। हां तो, जब यह शक्ति गतिशील या संचारित होती रहे तो उसका बल बढ़ जाता

हैं। वह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे बिना उपयोगके इकट्ठा करके रखा जा सके। वह ऐसी शक्ति है जिसे हमेशा घूमते रहना चाहिये। उदाहरणके लिये, जो लोग कंजूस होते हैं, जो यथासंभव सारी संपत्ति अपनी ओर खींचते और सारा धन इकट्ठा करते हैं वे इस शक्तिको उसकी गतिकी शक्तिका उपयोग किये बिना रख छोड़ते हैं; परिणामस्वरूप, या तो वह बच निकलती या सुन्न पड़ जाती है और अपना बल खो बैठती है।

इस धन-शक्तिके प्रवाहमें रहनेकी सच्ची रीति ठीक वही है जो यहां लिखी है : पूर्ण निर्वैयक्तिकताका भाव, यह भाव कि वह ऐसी चीज नहीं है जिसपर तुम्हारा अधिकार हो, जो तुम्हारी अपनी हो, बल्कि वह एक शक्ति है जिसे तुम चला सकते हो, वह दिशा दे सकते हो जिस दिशामें उसे जाना चाहिये ताकि वह अधिक-से-अधिक उपयोगी कार्य कर सके। और इन गतिविधियोंद्वारा, इस निरंतर क्रियाद्वारा ही यह शक्ति बढ़ती है — आकर्षणकी शक्ति, और एक खास व्यवस्थाकी शक्ति भी। कहनेका मतलब यह कि वह व्यक्ति भी, जिसके पास कोई भौतिक साधन नहीं है, जो ऐसी परिस्थितियोंमें नहीं है जहां वह भौतिक रूपसे धनका प्रयोग कर सके, अगर उसके हाथमें यह शक्ति हो तो वह उसे क्रियाशील कर सकता है, उसे संचारित कर सकता है, और अगर कभी उसे जरूरत पड़े तो वह उससे जरूरतके अनुसार शक्ति ग्रहण कर सकता है, भले बाहरी तौरसे इस व्यक्तिके पास धनके आनेका न कोई चिह्न हो और न कारण। हो सकता है कि वह व्यक्ति ऐसी परिस्थितियोंमें हो जो सामान्य धनकी परिस्थितियोंसे ठीक उल्टी होती हैं, और फिर भी वह इस शक्तिका उपयोग करे और उसे अपने कामके लिये जितने धनकी आवश्यकता हो उतना उसके अधिकारमें रहे।

अतः, बात ऐसी थी, समझे : यह चिट्ठी किसी ऐसे व्यक्तिको लिखी गयी थी जो श्रीअरविंदके कार्यके लिये धन इकट्ठा करनेके लिये बाहर जाना चाहता था, और स्वयं इस व्यक्तिके पास कोई साधन नहीं था। तो उसने श्रीअरविंदसे कहना शुरू किया : "लेकिन चूंकि मेरे पास साधन नहीं हैं, इसलिये लोग मेरे ऊपर विश्वास न करेंगे, और मैं कुछ न पा सकूंगा।" तब श्रीअरविंदने कुछ इस तरहका उत्तर दिया था कि अपने सबसे भौतिक रूपमें बाहरी शक्ति जरूरी नहीं है, इस आंतरिक शक्तिका प्रयोग ही हमें धनपर नियंत्रण करनेकी सामर्थ्य देता है, चाहे वह धन कहीं क्यों न हो : चाहे वह सार्वजनिक संस्थामें हो या व्यक्तियोंके पास, हम उसपर अधिकार पा लेते हैं और एक विशेष क्रियाद्वारा, जरूरत पड़े तो, हम वांछित चीजको खींच सकते हैं।

मधुर मां, धनकी शक्तियोंने किस तरह भगवान्‌को छोड़ दिया?

क्या?

(बच्चा प्रश्न दोहराता है)

तुम्हारे प्रश्नके ठीक उस शब्दको मैं नहीं पकड़ पा रही। किस तरह, किस तरीकेसे धनकी शक्तियों...

...ने भगवान्‌को छोड़ा?

छोड़ा? धनकी शक्ति एक ऐसे जगत्‌की है जो विकृत रूपमें ही पैदा हुआ था। यह चीज प्राण-जगत्‌की है; और वे यही कहते हैं, है न? वे कहते हैं कि वह (धन) प्राणिक और भौतिक जगत्‌की चीज है। इसलिये सदा-सर्वदा, वह आसुरिक शक्तियोंके कब्जेमें रहा है; और जो करना चाहिये वह ठीक यह कि आसुरिक शक्तियोंसे उसे पुनः जीत लिया जाय।

उसी कारण पहले जमानेमें जो लोग योग करना या किसी साधनाका अनुसरण करना चाहते थे, वे कहा करते थे कि धनको छूना भी नहीं चाहिये, क्योंकि — वे कहते थे — कि यह एक आसुरिक चीज है या कम-से-कम भागवत जीवनके ठीक विपरीत है। लेकिन सारा विश्व, अपनी सारी अभिव्यक्तिके साथ स्वयं भगवान् है और, परिणामस्वरूप पूरी तरह उनका है; और इस आधारपर वे (श्रीअरविंद) कहते हैं कि धनकी शक्तियां भगवान्‌की हैं। उन्हें जीतकर भगवान्‌को लौटाना होगा। अभीतक वे आसुरिक शक्तियोंके प्रभावमें थीं : उन्हें फिरसे जीतकर भगवान्‌के हाथोंमें सौंपना चाहिये ताकि वे उन्हें अपने रूपांतरके कार्यमें लगा सकें।

(लंबा मौन)

मधुर मां, मनुष्योंने ही तो धन बनाया है। फिर वह भागवत शक्ति कैसे है?

हुं! (हंसते हुए) यह तो ऐसा है जैसे तुम मुझसे कहो : पुरुष और स्त्री आदमी बनाते हैं, तो वह सार-रूपमें भागवत कैसे हो सकता है? यह ठीक वही चीज है! सारी सृष्टि बाहरी रूपसे, बाहरी चीजोंसे बनी है, लेकिन

उसके पीछे भागवत शक्तियां होती हैं। जिन चीजोंके मनुष्योंने आविष्कार किये हैं — कागज या सिक्के या दूसरी वस्तुएं — ये सब केवल अभिव्यक्तिके साधन हैं — इससे बढ़कर कुछ नहीं...। मैं अभी कह चुकी हूं, वह स्वयं शक्ति नहीं है, वह उसकी भौतिक अभिव्यक्ति है, जैसा कि मनुष्योंने उसे बनाया है। लेकिन यह विशुद्ध रूपसे परंपरा है। उदाहरणके लिये, ऐसे देश हैं जहां धनके बदलेमें छोटे-छोटे सीप दिये जाते हैं। ऐसे भी देश हैं जहां...। किसीने इस तरहकी कहानी लिखी है: उत्तरमें, धनका मतलब है मछली पकड़नेके लिये कंटिया; और धनी वह कहलाता है जिसके पास सबसे ज्यादा कंटियां हों। क्या तुम जानते हो कंटिया क्या चीज होती है? — लोहेके छोटे-छोटे कांटे जिनसे मछलियां पकड़ते हैं और जिन्हें धागेके सिरेसे बांध दिया जाता है। अतएव, करोड़पति वह है जिसके पास सबसे ज्यादा कंटियां हों!

यह विशुद्ध रूपसे परंपरा है। इसके पीछे है वह शक्ति जिसकी मैं बात कर रही हूं, हां, तो वह हर प्रकारसे अभिव्यक्त होती है। उदाहरणके लिये, सोना भी... मनुष्योंने सोनेको अमुक मूल्य प्रदान किया है, क्योंकि सभी धातुओंमेंसे यही है जो सबसे कम खराब होती है। इसे लगभग अनिश्चित कालतक रखा जा सकता है। और यही कारण है, इसके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं। लेकिन यह मात्र परंपरा है। प्रमाण यह कि जब कभी सोनेकी नयी खान मिली है और उसकी खुदाई की गयी है तो सोनेका मूल्य गिर गया है। यह तो मनुष्योंके बीच केवल रिवाज है। लेकिन धनको शक्ति बनानेवाली चीज यह नहीं, वह उसके पीछेकी शक्ति है। जैसा कि मैं अभी कह रही थी, यह ऐसी शक्ति है जिसमें किसी भी चीजको आकर्षित करने या उसका उपयोग करनेकी क्षमता है, सभी भौतिक चीजोंको और...

तो इसका उपयोग रिवाजके अनुसार होता है। अब तो जानी-मानी बात है कि धनके लिये कागजके छोटे-छोटे टुकड़े काम आते हैं जो मैले पड़ जाते हैं और जिनपर कुछ छपा रहता है। वे बिलकुल घिनौने होते हैं, बहुधा केवल आग सुलगानेके कामके होते हैं। लेकिन यह एक बहुत बड़ी संपत्ति माने जाते हैं। क्यों? क्योंकि यह एक परंपरा है। लेकिन जो व्यक्ति इसे आकर्षित करके किसी अच्छे कामके लिये उसका उपयोग करनेमें, इस जगत्के कल्याणको, इस जगत्के कल्याण और कुशल-क्षेमको बढ़ानेमें समर्थ है, उसे धन-शक्तिपर, यानी, धनके पीछे जो शक्ति है उसपर प्रभुत्व प्राप्त है।

फरासीसीमें धनको "आर्जां" कहते हैं। आर्जां (चांदी) उस सफेद धातुको

भी कहते हैं जो दूसरी धातुओंकी अपेक्षा... जरा ज्यादा सुन्दर और टिकाऊ होती है, जिसमें कम जंग लगता है और जो कम बिगड़ती है। इसलिये उसे आर्जा (पैसा) कहते हैं। फिर विस्तारद्वारा समस्त धन आर्जा कहलाता है। वह कागज होता है, सोना होता है, कभी-कभी केवल लिखे हुए पुरजे होते हैं... क्योंकि बड़ी-बड़ी संपत्तियां होती हैं जो केवल कागज-पर लिखित अंकके रूपमें होती हैं, ये कागज नहीं जिनका चलन है, केवल बही-खाते! कुछ संपत्तियां होती हैं जो बहुत ही विशाल होती हैं, जो जगत्-पर शासन करती हैं और जो केवल कागजोंपर लिखे दस्तावेज, मनुष्योंकी परंपराएं होती हैं। संपत्ति बढ़ सकती है, तिगुनी हो सकती है, चौ-गुनी, दसगुनी हो सकती है, या फिर वह न के बराबर बन सकती है। लोग सब कुछ बेचते हैं, रूई बेचते हैं, शक्कर बेचते हैं, गेहूं बेचते हैं, कॉफी बेचते हैं, सब कुछ बेचते हैं, लेकिन वहां होता कुछ नहीं! न रूई होती है, न शक्कर, न गेहूं, न कुछ और। सब कुछ कागजपर ही होता है! तुम लाखों रुपयेकी रूई खरीदते हो: तुम्हारे पास तनिक भी रूई नहीं होती! वह सब कागजपर लिखा है। फिर, कुछ समय बाद, तुम फिरसे बेच देते हो। अगर रूईकी कीमत बढ़ी है तो तुम्हें नफा होता है, अगर घटी है तो तुम्हें घाटा होता है; जब कि तुम्हारे पास होता कुछ भी नहीं, न धन, न रूई, न कुछ और, होता है केवल कागजका एक टुकड़ा! (हंसी) यह पूर्ण रूपसे रिवाज है।

किस तरह हम अपने-आपको अपने पृथक्कारी अहंको भागवत 'चेतना'में मिला सकते हैं?

किस तरह तुम भागवत 'चेतना'में मिल सकते हो?

किस तरह अपने-आपको अपने पृथक्कारी अहंको भागवत चेतना-में मिला देना चाहिये?[1]

ऐं? अपने-आपको मिला देना?

...अपने पृथक्कारी अहंको...

---

[1] बल्चेने फरासीसीमें यहां बातको गलत रूपमें रखा था।

मेरी समझमें नहीं आ रहा कि तुम कहना क्या चाहते हो। "मिला देना"?

...भागवत 'चेतना'में...

यह ठीक वही है जो मैं कहना चाहती हूं...। तुम्हारा मतलब है किस तरह भगवान्‌के अन्दर घुल-मिलकर अपना अहं खोना चाहिये?

सबसे पहले उसके लिये संकल्प करना चाहिये। फिर उसके लिये अध्यवसायके साथ अभीप्सा करनी चाहिये, और जब कभी अहं प्रकट हो तो उसकी नाकपर चोट करनी चाहिये (अपनी नाकपर टकोर लगाते हुए), यहांतक कि उसे इतने सारे चपत लगाये जायं और तबतक लगाये जायें जबतक कि वह थककर हार न मान बैठे।

लेकिन अक्सर उसकी नाकपर चपत लगानेकी जगह हम उसकी उपस्थितिको न्यायोचित ठहराते हैं। जब कभी वह अपने-आपको हमारे सामने प्रकट करता है तो हम प्रायः सदा कह उठते हैं: "आखिर यही चीज ठीक है।" और अक्सर हम यह जानते भी नहीं कि यह अहं है, हम समझते हैं कि यह अपना-आपा ही है। लेकिन पहली शर्त यह है कि हम समझें कि अहंका होना जरूरी नहीं है। सचमुच समझना चाहिये कि हमें उसकी जरूरत नहीं। यह इतना आसान नहीं है। इतना आसान नहीं है! क्योंकि तुम शब्दोंको सिरमें अच्छी तरह फिरा सकते हो, और कह सकते हो: "और मुझे अहं नहीं चाहिये, मुझे अब भगवान्‌से अलग नहीं रहना है।" यह सब कुछ अन्दर होता रहता है, इस तरह; लेकिन वह वहींतक रहता है, जीवनपर उसका बहुत असर नहीं होता। अगले ही क्षण तुम पूरी तरह स्वार्थपूर्ण क्रिया करते हो, है न, और तुम्हें वह बिलकुल स्वाभाविक लगती है। इससे तुमको धक्कातक नहीं लगता।

पहले तुम्हें यह सचमुच समझना शुरू करना चाहिये कि इसका अर्थ क्या है। पहली पद्धति...देखो, इसमें बहुत-से स्तर होते हैं...पहले स्वार्थपूर्ण न होनेकी कोशिश करनी चाहिये — यह बिलकुल ही अलग चीज है, है न?...अगर तुम अंग्रेजी शब्द लो तो भेद समझ पाओगे। अंग्रेजीमें एक शब्द है "सेल्फिश" और एक है "ईगोइज्म"। "ईगो" है अहं, और "सेल्फिश" है स्वार्थपूर्ण होना। और ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। पर फरासीसीमें वे यह भेद नहीं करते। वे कहते हैं: "मुझे "ईगोइस्ट" (स्वार्थपूर्ण) नहीं बनना है।" लेकिन यह तो बहुत नगण्य चीज है, बहुत नगण्य! जब लोग स्वार्थपूर्ण होना बन्द करते हैं तब वे समझते हैं कि

उन्होंने बहुत प्रगति कर ली है! लेकिन यह बहुत नगण्य चीज है। यह तो बस, ओह, यह तो बस, उसकी (स्वार्थकी) हास्यास्पदताको जानना है। तुम कल्पना नहीं कर सकते कि ये स्वार्थी लोग कितने हास्यास्पद होते हैं।

जब हम उन्हें सारे समय अपने बारेमें ही सोचते हुए, सब कुछका अपने ही संबन्धसे विचार करते हुए देखते हैं, तो वे बस, अपने छोटे-से व्यक्तित्वके द्वारा शासित होते हैं, अपने-आपको विश्वके केंद्रमें बिठाकर भगवान् सहित सारे विश्वको वे अपने चारों ओर व्यवस्थित करनेकी कोशिश करते हैं मानों विश्वमें सबसे महत्त्वपूर्ण वही हों! अगर आदमी इसे अलग खड़ा होकर देख सके, समझे, जिस तरह हम शीशेमें देखते हैं, उस तरह अपने-आपको जीते हुए देखे तो वह इतना घिनौना होता है! (हंसते हुए) इससे तुम काफी कुछ:...। अचानक लगता है कि हम — ओह! बिलकुल हास्यास्पद हुए जा रहे हैं!

मुझे याद है, मैंने फरासीसीमें पढ़ा था — वह अनुवाद था — रवीन्द्रनाथ ठाकुरका एक वाक्य पढ़ा था जो मुझे बहुत मजेदार लगा। वे एक नन्हें-से कुत्तेकी बात कर रहे थे। वे कह रहे थे:.. उन्होंने उसकी तुलना किसी चीजसे की... मुझे ब्योरे तो याद नहीं रहे, लेकिन जिस चीजने मुझे आकर्षित किया वह यह थी: वह छोटा-सा पिल्ला अपनी मालकिनकी गोदमें बैठा हुआ समझ रहा था कि वह विश्वका केन्द्र है! इसने मुझे बहुत प्रभावित किया। यह सच है! मैं इस तरहके एक कुत्तेको जानती थी! लेकिन ऐसे बहुत-से होते हैं। लगभग सभी इस तरहके होते हैं। है न, वे चाहते हैं कि सब लोग उन्हींकी ओर ध्यान दें और सचमुच वे इसे पानेमें खूब सफल रहते हैं। क्योंकि जब तुम्हारे पास एक कुत्ता या छोटा बच्चा होता है — दोनों लगभग एक ही चीज है — तो सब लोग उसकी ओर ध्यान देते हैं।

तुमने ख्याल नहीं किया कि जब इतना-सा (माताजी संकेत करती हैं) बच्चा आता है तो सब कुछ रुक जाता है? पहले लोग बात कर सकते थे, मजेदार चीजें सुना सकते थे, किन्हीं उच्चतर चीजोंमें व्यस्त हो सकते थे। लेकिन ज्यों ही एक बच्चा आता है कि सब लोग मुस्कुराने लगते हैं, बच्चेकी तरह व्यवहार करते हैं, उससे बुलवानेकी कोशिश करते हैं, उसकी ओर ध्यान देते हैं। यह संभव नहीं कि तुम एक बच्चेको कहीं ले जाओ और लोग उसे सहलानेकी, उठानेकी और बुलवानेकी कोशिश न करें और तब स्वभावतः बच्चा अपने-आपको विश्वका केन्द्र महसूस करता है! यह बिलकुल स्वाभाविक है!

छोटे कुत्तेके साथ भी यही बात है। छोटे बिलौटेके साथ भी यही बात है। यह एक प्रकारका... यह अपने-से छोटी चीजकी रक्षा करनेकी आवश्यकताकी बहुत ही निम्न प्रकारकी विकृति है। और यह अहंकी अहंकार-रहित अभिव्यक्तियोंके सबसे पहले रूपोंमेंसे एक है! जब वह किसी चीजकी रक्षा कर सकता है, ऐसी चीजकी देखभाल कर सकता है जो उससे बहुत ज्यादा छोटी, बहुत ज्यादा कमजोर है, जो लगभग पूरी तरह उसपर आश्रित है — लगभग या फिर पूरी तरह उसकी दयापर आश्रित है — जिसमें विरोध करनेकी कोई शक्ति नहीं है, तो ऐसेकी रक्षा करके वह बहुत सन्तोषका अनुभव करता है। तब व्यक्ति अपने-आपको सद्भावनापूर्ण और उदार मानता है क्योंकि वह उसे कुचल नहीं देता!

जगत्में उदारताकी यह पहली अभिव्यक्ति है। लेकिन यह सब तब, जब तुम इसके पीछे और कुछ ऊपर देख सको, वह तुम्हें स्वार्थपूर्ण होनेसे रोकता है, क्योंकि सचमुच वह हास्यास्पद है! यह सचमुच हास्यास्पद है!

तो अपने अहंको भगवान्में मिला देनेसे पहले लम्बा, लम्बा, लम्बा रास्ता चलना होता है।

भगवान्में अपना अहं मिला देना! लेकिन पहली बात, पूरी तरह व्यष्टिकृत होनेसे पहले भगवान्के अन्दर अपना अहं नहीं मिलाया जा सकता। क्या तुम **पूरी तरह** व्यष्टिकृत होनेका अर्थ जानते हो? सभी बाहरी प्रभावोंका विरोध करनेमें समर्थ होनेका अर्थ?

अभी कुछ दिन पहले मुझे किसीकी चिट्ठी मिली थी, उसने मुझे बताया कि वह साधारण साहित्यकी, उदाहरणके लिये, उपन्यास या नाटककी किताबें पढ़ते झिझकता है क्योंकि उसकी प्रकृतिमें इन किताबोंके चरित्रोंके संस्कार ग्रहण करनेकी, इन चरित्रोंकी भावनाओं, विचारों और स्वभावको जीने लगनेकी अलंघनीय प्रवृत्ति है। हम जितना सोचते हैं उससे ज्यादा ही लोग ऐसे होते हैं। वे कोई किताब पढ़ते समय अपने अन्दर हर प्रकारकी भावनाएं, विचार, इच्छाएं, मनोवृत्तियां, योजनाएं, यहांतक कि आदर्श भी अनुभव करते हैं। वे पढ़नेमें पूरी तरह निमग्न हो जाते हैं। उन्हें इस बातका ख्यालतक नहीं होता। क्योंकि व्यक्तिमें, उसके चरित्रके निन्यानवे भाग मुलायम मक्खनके बने होते हैं — स्वभावतः खानेलायक नहीं... लेकिन जिसपर अंगूठा रखते ही छाप पड़ जाती है।

अब सब कुछ "अंगूठा" होता है: एक व्यक्त विचार, पढ़ा हुआ वाक्य, देखी हुई वस्तु, दूसरे व्यक्तिकी क्रियाओंका निरीक्षण, और फिर पड़ोसीकी इच्छा। और ये सारी इच्छाएं... है न, जब हम उन्हें देखते हैं तो वे

बिलकुल नहीं है। यह पूरी तरह इसपर निर्भर है कि तुम किस व्यक्ति से बात करते हो या कौन-सी पुस्तकें पढ़ते हो या तुम उस समय किस स्थितिमें हो। यह इसपर भी निर्भर है कि तुम्हारा पाचन ठीक है या खराब; यह इसपर निर्भर है कि तुम ऐसे कमरेमें बन्द हो जहां काफी हवा नहीं है या खुली जगहमें हो; यह इसपर निर्भर है कि तुम्हारे सामने कुछ भूदृश्य है या नहीं; यह इसपर निर्भर है कि धूप है या वर्षा! तुम्हें पता नहीं होता लेकिन तुम तरह-तरहकी चीजोंके बारेमें पूरी तरह किसी प्रकारसे सोचते हो, वह भी ऐसी चीजोंके अनुसार जिनका तुम्हारे साथ कोई संबंध नहीं!

और विचारके समन्वित, सुसंगत और युक्तियुक्त होनेके लिये कितने श्रमसाध्य कामकी जरूरत है। और फिर, इसमें सबसे अच्छी बात तो यह है कि जब तुम एक सुन्दर मानसिक रचनातक जा पहुंचे हो, जो सुनिर्मित, मजबूत और शक्तिशाली होती है तो तुमसे पहली बात यह कही जाती है: "इसे तुम्हें तोड़ना होगा ताकि तुम भगवान्‌के साथ एक हो सको!" लेकिन तुम भगवान्‌के साथ तबतक एक नहीं हो सकते जबतक कि उसे बना न लो क्योंकि तुम्हारे पास भगवान्‌को देनेके लिये केवल उन्हीं चीजोंका ढेर होता है जो तुम नहीं हो! **अपने-आपको समर्पित कर सकनेके लिये सबसे पहले तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये।** मैंने अभी जो बात कही थी उसे ही दोहरा रही हूं।

सचमुच, जगत्‌की वर्तमान अवस्थामें हम भगवान्‌को जो एकमात्र चीज दे सकते हैं, वह है अपना शरीर। लेकिन यही वह चीज है जिसे हम उन्हें नहीं देते। हां, हम अपना काम समर्पित करनेकी कोशिश कर सकते हैं! लेकिन इसमें अभी बहुत सारे तत्त्व हैं जो सत्य नहीं हैं!

तुम अपने शरीरको भगवान्‌के साथ मिलाकर एक कर देना चाहते हो, है न? प्रयास कर देखो! तुम यह किस तरह करोगे? तुम अपने मनको मिला सकते हो, अपने प्राणको मिला सकते हो, तुम अपनी सारी भावनाओं-को मिला सकते हो, तुम अपनी सारी अभीप्साओंको मिला सकते हो, तुम यह सब मिला सकते हो। लेकिन अपने शरीरको किस तरह मिलाओगे? तुम उसे एक कड़ाहीमें तो नहीं मिलाओगे! (हंसी) लेकिन यही एक चीज है जिसके बारेमें तुम निश्चितिके साथ कह सकते हो: "यह है," उसे नाम दे सकते हो; लेकिन तुम्हारा नाम भी एक रिवाज है... आखिर, तुम अपनेको किसी नामसे बुलानेके अभ्यस्त हो — तुम कहते हो: "यह मैं हूं।" तुम शीशेमें देखते हो, और यद्यपि बीस साल पहले तुम जो थे और अब जो हो उसमें भेद है... वह पहचाना भी नहीं जाता... फिर भी

कोई चीज है जिसके कारण तुम कहते हो : "हां, यह मैं हूं।" हां? "मैं फलाना हूं" — पियेर, लुई, जाक, आंद्रे, कुछ भी . . .

(थोड़ी चुप्पीके बाद) और यह भी, अगर हम अपने-आपको हर सातवें साल देखें, तो सारे कोषाणु बदले हुए होते हैं, और केवल एक प्रकारकी आदतसे वही चीज बनी रहती है। क्या वही चीज रहती है? तुम्हारे पास बचपनकी फोटो है? और फिर दस, बीस, तीसकी आयुकी फोटो है? — क्योंकि हम अपने-आपको बहुत अधिक पहचानना चाहते हैं, इसलिये पहचान लेते हैं; वरना, सचमुच, हम वही चीज नहीं रहते . . .। जब हम इतने छोटे थे और अब जबकि हम इतने बड़े बन गए हैं, इसमें काफी फर्क पड़ जाता है! इसलिये तो, यह लो . . .

यह सब . . . मैं यह सब तुम्हें अभिभूत करनेके लिये नहीं कह रही। यह केवल तुम्हें यह बतानेके लिये है कि भगवान्‌के अन्दर अपने अहंको विलीन कर देनेकी बात करनेसे पहले, तुम्हें पहले थोड़ा-बहुत यह जानना चाहिये कि तुम अपने-आप क्या हो। अहं उपस्थित है। उसकी आवश्यकता यह है कि तुम सचेतन, स्वतंत्र, व्यष्टिकृत सत्ताएं बनो — मेरा मतलब है स्वतंत्र सत्ता बनो — ताकि तुम चौक न बन जाओ, जहां सब कुछ आड़ा-तिरछा चलता है! ताकि तुम अपने अन्दर जी सको। इसी-लिये अहं है। यह इस तरह है; चमड़ी भी इसीलिये है, इस तरह . . . यद्यपि सचमुच भौतिक शक्तियां भी चमड़ीमेंसे गुजरती हैं। एक स्पन्दन होता है जो कुछ दूरीतक जाता है। फिर भी, यह चमड़ी ही है जो हमें एक-दूसरेमें घुल-मिल जानेसे रोकती है। लेकिन यह जरूरी है कि बाकी सब कुछ भी इस तरह हो।

(थोड़ी चुप्पीके बाद) और फिर, बादमें, तुम यह सब भगवान्‌को अर्पित कर देते हो। वर्षोंका काम चाहिये। तुम्हें केवल . . . (मौन) . . . अपने बारेमें, अपने सभी ब्योरोंमें ही सचेतन नहीं होना चाहिये, बल्कि तुम जिसे "मैं" कहते हो, उसे चैत्य केंद्रके, अपनी सत्ताके दिव्य केंद्रके चारों ओर संगठित करना चाहिये ताकि वह एक अनोखी, सुसंगत और पूरी तरह सचेतन सत्ता बन सके। और चूंकि यह दिव्य केंद्र अपने-आपमें पहलेसे ही (माता-जी अर्पणकी मुद्रा करती हैं) पूरी तरह भगवान्‌को समर्पित है, इसलिये अगर हर चीजको सामंजस्यपूर्ण रूपसे उसके चारों ओर सुव्यवस्थित किया जाय तो सब कुछ भगवान्‌के प्रति समर्पित हो जायगा। और तब, जब भगवान् ठीक समझें, जब घड़ी आ जाय, जब व्यष्टीकरणका काम पूरा हो जाय तब भगवान् तुम्हें अपने अहंको उनके अन्दर मिला देनेकी, और आगेसे केवल भगवान्‌के लिये जीनेकी स्वीकृति देते हैं।

बिलकुल नहीं है। यह पूरी तरह इसपर निर्भर है कि तुम किन व्यक्तियों से बात करते हो या कौन-सी पुस्तकें पढ़ते हो या तुम उस समय किस मनःस्थितिमें हो। यह इसपर भी निर्भर है कि तुम्हारा पाचन ठीक है या खराब; यह इसपर निर्भर है कि तुम ऐसे कमरेमें बन्द हो जहां काफी हवा नहीं है या खुली जगहमें हो; यह इसपर निर्भर है कि तुम्हारे सामने सुन्दर भूदृश्य है या नहीं; यह इसपर निर्भर है कि धूप है या वर्षा! तुम्हें पता नहीं होता लेकिन तुम तरह-तरहकी चीजोंके बारेमें पूरी तरह विभिन्न प्रकारसे सोचते हो, वह भी ऐसी चीजोंके अनुसार जिनका तुम्हारे साथ कोई संबंध नहीं!

और विचारके समन्वित, सुसंगत और युक्तियुक्त होनेके लिये लम्बे श्रमसाध्य कामकी जरूरत है। और फिर, इसमें सबसे अच्छी बात तो यह है कि जब तुम एक सुन्दर मानसिक रचनातक जा पहुंचे हो, जो सुनिर्मित, मजबूत और शक्तिशाली होती है तो तुमसे पहली बात यह कही जाती है: "इसे तुम्हें तोड़ना होगा ताकि तुम भगवान्‌के साथ एक हो सको!" लेकिन तुम भगवान्‌के साथ तबतक एक नहीं हो सकते जबतक कि उसे बना न लो क्योंकि तुम्हारे पास भगवान्‌को देनेके लिये केवल उन्हीं चीजोंका ढेर होता है जो तुम नहीं हो! **अपने-आपको समर्पित कर सकनेके लिये सबसे पहले तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये।** मैंने अभी जो बात कही थी उसे ही दोहरा रही हूं।

सचमुच, जगत्‌की वर्तमान अवस्थामें हम भगवान्‌को जो एकमात्र चीज दे सकते हैं, वह है अपना शरीर। लेकिन यही वह चीज है जिसे हम उन्हें नहीं देते। हां, हम अपना काम समर्पित करनेकी कोशिश कर सकते हैं! लेकिन इसमें अभी बहुत सारे तत्त्व हैं जो सत्य नहीं हैं!

तुम अपने शरीरको भगवान्‌के साथ मिलाकर एक कर देना चाहते हो, है न? प्रयास करके देखो! तुम यह किस तरह करोगे? तुम अपने मनको मिला सकते हो, अपने प्राणको मिला सकते हो, तुम अपनी सारी भावनाओंको मिला सकते हो, तुम अपनी सारी अभीप्साओंको मिला सकते हो, तुम यह सब मिला सकते हो। लेकिन अपने शरीरको किस तरह मिलाओगे? तुम उसे एक कड़ाहीमें तो नहीं मिलाओगे! (हंसी) लेकिन यही एक चीज है जिसके बारेमें तुम निश्चितिके साथ कह सकते हो: "यह है," उसे नाम दे सकते हो; लेकिन तुम्हारा नाम भी एक रिवाज है... आखिर, तुम अपनेको किसी नामसे बुलानेके अभ्यस्त हो — तुम कहते हो: "यह मैं हूं।" तुम शीशेमें देखते हो, और यद्यपि बीस साल पहले तुम जो थे और अब जो हो उसमें भेद है... वह पहचाना भी नहीं जाता... फिर भी

कोई चीज है जिसके कारण तुम कहते हो : "हां, यह मैं हूं।" हां? "मैं फलाना हूं" — पियेर, लुई, जाक, आंद्रे, कुछ भी...

(थोड़ी चुप्पीके बाद) और यह भी, अगर हम अपने-आपको हर सातवें साल देखें, तो सारे कोषाणु बदले हुए होते हैं, और केवल एक प्रकारकी आदतसे वही चीज बनी रहती है। क्या वही चीज रहती है? तुम्हारे पास बचपनकी फोटो है? और फिर दस, बीस, तीसकी आयुकी फोटो है? — क्योंकि हम अपने-आपको बहुत अधिक पहचानना चाहते हैं, इसलिये पहचान लेते हैं; वरना, सचमुच, हम वही चीज नहीं रहते...। जब हम इतने छोटे थे और अब जबकि हम इतने बड़े बन गए हैं, इसमें काफी फर्क पड़ जाता है! इसलिये तो, यह लो...

यह सब... मैं यह सब तुम्हें अभिभूत करनेके लिये नहीं कह रही। यह केवल तुम्हें यह बतानेके लिये है कि भगवान्‌के अन्दर अपने अहंको विलीन कर देनेकी बात करनेसे पहले, तुम्हें पहले थोड़ा-बहुत यह जानना चाहिये कि तुम अपने-आप क्या हो। अहं उपस्थित है। उसकी आवश्यकता यह है कि तुम सचेतन, स्वतंत्र, व्यष्टिकृत सत्ताएं बनो — मेरा मतलब है स्वतंत्र सत्ता बनो — ताकि तुम चौक न बन जाओ, जहां सब कुछ आड़ा-तिरछा चलता है! ताकि तुम अपने अन्दर जी सको। इसी-लिये अहं है। यह इस तरह है; चमड़ी भी इसीलिये है, इस तरह... यद्यपि सचमुच भौतिक शक्तियां भी चमड़ीमेंसे गुजरती हैं। एक स्पन्दन होता है जो कुछ दूरीतक जाता है। फिर भी, यह चमड़ी ही है जो हमें एक-दूसरेमें घुल-मिल जानेसे रोकती है। लेकिन यह जरूरी है कि बाकी सब कुछ भी इस तरह हो।

(थोड़ी चुप्पीके बाद) और फिर, बादमें, तुम यह सब भगवान्‌को अर्पित कर देते हो। वर्षोंका काम चाहिये। तुम्हें केवल... (मौन)... अपने बारेमें, अपने सभी व्योरोंमें ही सचेतन नहीं होना चाहिये, बल्कि तुम जिसे "मैं" कहते हो, उसे चैत्य केंद्रके, अपनी सत्ताके दिव्य केंद्रके चारों ओर संगठित करना चाहिये ताकि वह एक अनोखी, सुसंगत और पूरी तरह सचेतन सत्ता बन सके। और चूंकि यह दिव्य केंद्र अपने-आपमें पहलेसे ही (माता-जी अर्पणकी मुद्रा करती हैं) पूरी तरह भगवान्‌को समर्पित है, इसलिये अगर हर चीजको सामंजस्यपूर्ण रूपसे उसके चारों ओर सुव्यवस्थित किया जाय तो सब कुछ भगवान्‌के प्रति समर्पित हो जायगा। और तब, जब भगवान् ठीक समझें, जब घड़ी आ जाय, जब व्यष्टीकरणका काम पूरा हो जाय तब भगवान् तुम्हें अपने अहंको उनके अन्दर मिला देनेकी, और आगेसे केवल भगवान्‌के लिये जीनेकी स्वीकृति देते हैं।

लेकिन इसका निर्णय भगवान् करते हैं। उससे पहले यह जरूरी है कि तुम यह काम पूरा कर लो, सचेतन सत्ता बन जाओ, जो विशुद्ध और पूर्ण रूपसे भगवान्‌के इर्द-गिर्द केंद्रित हो और उन्हींके द्वारा शासित हो। और इस सबके बाद भी अहं बना रहता है; क्योंकि अहं ही तुम्हारे व्यक्तित्वके बनानेमें काम आता है। लेकिन एक बार जब वह काम पूर्ण हो जाय, पूरी तरह चरितार्थ हो जाय, तब, उस क्षण, तुम भगवान्‌से कह सकते हो, "यह लो; मैं तैयार हूं। क्या आप मुझे चाहते हैं?" और साधारणतः भगवान् कहते हैं, "हां।" सब कुछ समाप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है। और तुम भगवान्‌के कामके लिये सच्चे यंत्र बन जाते हो। लेकिन पहले यंत्रको गढ़ना जरूरी है।

तुम सोचते हो कि तुम्हें जो पाठशाला भेजा जाता है और तुमसे जो कसरत करवायी जाती है, यह सब तुम्हें तंग करनेके लिये है? नहीं! नहीं, यह इसलिये कि तुम्हारे लिये यह अनिवार्य है कि तुम्हारे पास एक ऐसा ढांचा हो जिसमें तुम अपने-आपको आकार देना सीख सको। अगर तुम व्यष्टीकरणका, पूर्ण निर्माणका काम अपने-आप, अकेले, एक कोनेमें करो तो तुमसे कोई मांग न की जायगी। लेकिन तुम ऐसा नहीं करते, करोगे भी नहीं, एक भी बच्चा नहीं जो ऐसा करे, उसे यह मालूम तक न होगा कि यह कैसे किया जाय, कहांसे शुरू किया जाय। अगर तुम किसी बच्चेको जीना नहीं सिखाओ तो वह जी भी न सकेगा, वह कुछ भी करना न जानेगा, कुछ भी नहीं। मैं अप्रिय ब्योरोंकी बात नहीं करना चाहती लेकिन अगर हम बच्चेको न सिखाएं तो वह सबसे प्रारंभिक चीजें भी ठीक ढंगसे न करेगा। परिणामस्वरूप तुम एक-एक पग...। कहनेका मतलब यह कि अगर व्यक्तित्वकी संरचनाके लिये हर एकको सारी अनुभूति दोहरानी पड़े तो जीना शुरू करनेसे बहुत पहले ही वह मर चुका होगा! यही उन लोगोंका लाभ है जिन्हें — सदियोंसे इकट्ठी की गयी — अनुभूतियां प्राप्त हैं और जो तुमसे कहते हैं, "अच्छा, तो अगर तुम जल्दी जानना चाहो, कुछ ही वर्षोंमें वह जानना चाहो जिसे सीखनेमें सदियां लग गयीं, तो ऐसा करो!" पढ़ो, सीखो, अध्ययन करो और फिर, भौतिक क्षेत्रमें, तुम्हें इस चीजको इस तरहसे, उसको उस तरहसे, उसे उस तरहसे करना सिखाया जायगा (संकेत)। एक बार तुम थोड़ा-सा जान लो, फिर यदि तुम्हारे अन्दर प्रतिभा होगी तो तुम अपनी पद्धति ढूंढ सकोगे, लेकिन पहले तुम्हें अपने पैरोंपर खड़ा होना और चलना सीखना होगा। अपने-आप सीखना बहुत कठिन है। सबके लिये यही बात है। अपने-आपको गढ़ना होगा। परिणामस्वरूप, शिक्षाकी जरूरत होती है। यह लो!

(एक बच्चीसे) तुम्हें कुछ पूछना है? नहीं? किसीको कुछ पूछना है?

माताजी, पिछली बार आपने कहा था कि अक्सर हमारे अंदर एक काला तत्त्व होता है — जो हमें सुझाव देता है... जो हमसे बेवकूफियां करवाता है। इसलिये आपने कहा था कि जब हम इस तत्त्वके बारेमें सचेतन हों तो उसे उखाड़ देना चाहिये। लेकिन क्या उखाड़नेका अर्थ है...। उदाहरणके लिये, जब हम सचेतन हैं कि यह तत्त्व हमसे कोई बेवकूफी करवाने आया है, तब अगर हम संकल्पद्वारा उसे वह करनेसे रोक दें तो क्या हम कह सकते हैं कि हमने उसे उखाड़ फेंका है?

हम बेवकूफियां नहीं करते...?

संकल्पके द्वारा। उदाहरणके लिये, हमें जो क्रिया नहीं करनी चाहिये उसे नहीं करते।

हां, हां।

तो क्या हम कह सकते हैं कि हमने उस तत्त्वको उखाड़ फेंका जो उसका कारण था?

तुम उसपर बैठ जाते हो।

तो उसे किस तरह उखाड़ा जाय?

उसके लिये, सबसे पहले, उसके बारेमें सचेतन होना होगा, समझे, उसे अपने ठीक सामने रखना होगा और उन कड़ियोंको काट देना होगा जो उसे तुम्हारी चेतनाके साथ बांधे रखती हैं। यह आंतरिक मनोविज्ञानका काम है, समझे।

अपने-आपका बहुत ध्यानसे अध्ययन करनेपर तुम देख सकते हो...। उदाहरणके लिये, अगर तुम अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि एक दिन तुम बहुत उदार होते हो। यही लें, इसे समझना आसान है। बहुत उदार: अपनी भावनाओंमें उदार, अपने संवेदनोंमें उदार, अपने विचारोंमें

उदार, यहांतक कि भौतिक रूपसे भी उदार; यानी, तुम दूसरोंके दोष समझते हो, उनके इरादे, उनकी कमजोरियां, यहांतक कि दुष्ट गतिविधियां भी समझते हो — तुम यह सब देखते हो, और सद्भावनाओंसे, उदारतासे भर जाते हो। तुम अपने-आपसे कहते हो: "ठीक है... हर एक भरसक अच्छे-से-अच्छा करता है!" — इसी तरह।

दूसरे दिन — या शायद अगले ही क्षण — तुम अपने अन्दर एक प्रकारकी शुष्कता, कठोरता देखोगे, कोई चीज जो कड़वी है, जो कठोर रूपसे मूल्यांकन करती है, यहांतक कि जिसमें मनमुटाव है, विद्वेष है, जो यह चाहती है कि अपराधीको सजा दी जाय, जिसमें लगभग बदलेके भाव हैं, जो पहले भावसे ठीक विपरीत है! एक दिन कोई तुम्हें चोट पहुंचाता है तो तुम कहते हो: "आखिर, वह जानता नहीं था"... या: "वह अन्यथा नहीं कर सकता था..." या: "उसका स्वभाव ऐसा था"... या: "वह समझ नहीं सकता था!" अगले दिन — या हो सकता है कि घंटे-भर बाद ही — तुम कहते हो: "उसको सजा मिलनी चाहिये! उसे किये-का फल मिलना चाहिये! उसे यह महसूस कराना चाहिये कि उसने गलती की है" — एक प्रकारके रोषके साथ ऐसा कहते हो; और तुम चीजें लेना चाहते हो, उन्हें अपने लिये रखना चाहते हो, तुम्हारे अन्दर ईर्ष्या, जलन, संकरेपनकी ये भावनाएं होती हैं, है न, जो दूसरी भावनासे ठीक विपरीत हैं।

यह है अंधेरा पक्ष। और तब, जिस क्षण तुम उसे देखते हो, अगर तुम उसे देखो और यह न कहो: "यह मैं हूं," अगर तुम कहो: "नहीं, यह मेरी छाया है, मुझे इस सत्ताको अपने अन्दरसे निकाल फेंकना चाहिये," तो तुम उसपर दूसरे पक्षका प्रकाश डालते हो, तुम उन्हें आमने-सामने लानेकी कोशिश करते हो। और इस दूसरे पक्षके ज्ञान और प्रकाशके साथ, तुम उसे विश्वास दिलानेकी बहुत कोशिश नहीं करते — क्योंकि यह बहुत कठिन है — बल्कि तुम उसे चुप रहनेके लिये बाधित करते हो... पहले तो उसे दूर रखनेकी कोशिश करते हो, और फिर उसपर बहुत तेज प्रकाश डालकर उसे और भी दूर खदेड़ देते हो ताकि वह फिर लौट न सके। ऐसे उदाहरण हैं जहां परिवर्तित करना संभव है, लेकिन वह बहुत विरल है। ऐसे उदाहरण हैं जब तुम इस सत्ता पर — या इस छायापर — इतना तीव्र प्रकाश डाल सकते हो कि वह उसे रूपांतरित कर देता है, और वह उस चीजमें बदल जाता है जो तुम्हारी सत्ताका सत्य है।

लेकिन यह विरल चीज है...। यह संभव है, लेकिन है बहुत विरल।

साधारणतः, सबसे अच्छी चीज है यह कहना : "नहीं, यह मैं नहीं हूं! मैं यह नहीं चाहता! इस गतिके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मेरे लिये इसका अस्तित्व ही नहीं, यह ऐसी चीज है जो मेरे स्वभावसे उल्टी है!" और तब, जोर देते-देते धकेलते-धकेलते, अन्तमें तुम अपने-आपको उससे अलग कर लेते हो।

लेकिन अपने अन्दर संघर्षको देख सकनेके लिये पहले पर्याप्त रूपसे स्वच्छ और सच्चा होना चाहिये। साधारणतः तुम इन चीजोंकी ओर ध्यान नहीं देते। तुम एक सिरेसे दूसरेपर जा पहुंचते हो। है न, हम कह सकते हैं, बहुत सरल शब्दोंमें कह सकते हैं; एक दिन मैं अच्छा होता हूं, अगले दिन दुष्ट। और यह बिल्कुल स्वाभाविक लगता है...। यहांतक कि कभी-कभी एक घड़ी तुम अच्छे होते हो और अगली घड़ी बुरे; या फिर, दिन-भर अच्छे रहते हो और फिर अचानक दुष्ट बन जाते हो, एक क्षण बहुत दुष्ट, उतने ही दुष्ट जितने कि अच्छे थे! केवल तुम उनका अवलोकन नहीं करते, तुम्हारे मनमें हिंसापूर्ण, बुरे और घृणित चीजोंके तथा ऐसी ही दूसरी चीजोंके विचार आते हैं... साधारणतः तुम ध्यान नहीं देते। लेकिन इसीको तो पकड़ना है! ज्यों ही वह व्यक्त हो तुम्हें उसे इस तरह पकड़ लेना चाहिये (माताजीका संकेत), बहुत दृढ़ पकड़के साथ, और फिर उसे प्रकाशके सामने पकड़े रहना, पकड़े रहना और कहना, "नहीं! मैं तुम्हें, नहीं चाहता! मैं — तुम्हें — नहीं चाहता! इसके साथ मेरा कोई संबन्ध नहीं! तुम यहांसे चले जाओ, और फिर वापस न आना!"

(थोड़ी चुप्पीके बाद) और यह एक ऐसी चीज — ऐसी अनुभूति है जो हमें लगभग रोज हो सकती है... जब तुम्हारे अन्दर बड़े उत्साह, बड़ी अभीप्साकी गतियां होती हैं, जब तुम अचानक दिव्य लक्ष्यके प्रति भगवान्‌की ओर छलांगके प्रति, इस इच्छाके प्रति सचेतन हो जाते हो कि भगवान्‌के कार्यमें भाग लेना है, जब तुम अपने अन्दरसे बहुत आनन्द और बहुत शक्तिके साथ बाहर निकल आते हो... और फिर, कुछ घंटे बाद, किसी नगण्य-सी चीजके लिये, तुम दुःखी होते हो। तुम अपने इतने नीच, इतने संकरे, इतने गंवारू स्वार्थकी ओर लौट आते हो, तुम्हारी इच्छा इतनी मंद होती है... और वह सब भाप बनकर उड़ जाता है, मानों वह कभी था ही नहीं। तुम विरोधके बहुत आदी हो; तुम इधर ध्यान नहीं देते और इसी कारण ये सारी चीजें पड़ोसियोंकी तरह आरामसे रहने लगती हैं। पहले उन्हें ढूंढ निकालना चाहिये, और उन्हें चेतनामें घुल-मिल जानेसे रोकना चाहिये : उन्हें विभाजित करना चाहिये, छायासे प्रकाशको अलग करना चाहिये। बादमें तुम छायासे छुटकारा पा सकते हो।

यह लो, समय हो गया। कोई महत्त्वपूर्ण चीज पूछनी है? नहीं?

मधुर मां...

आह!

मानसिक पसंदगियों और प्राणिक आग्रहोंके बीच योगके लिये कौन-सी चीज ज्यादा खतरनाक है?

जो तुम्हारे अन्दर हो! (हंसी)

४ अगस्त, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'माता' के पांचवें अध्यायपर आधारित है।)

मधुर मां, सेवक और कार्यकर्तामें क्या भेद है?

मैं नहीं सोचती कि बहुत भेद है; लगभग एक ही चीज है। शायद मनोवृत्ति बिल्कुल एक वही न हो, लेकिन बहुत भेद नहीं है। "सेवक"में लगता है कि कोई चीज अधिक है: वह है सेवा करनेका आनन्द। कार्यकर्ताको केवल कार्यका आनन्द प्राप्त है। लेकिन जो काम तुम सेवाकी तरह करते हो वह अधिक आनन्द लाता है।

"आत्म-प्रेम"का मतलब क्या है?

मेरा ख्याल है कि आत्म-प्रेम मिथ्याभिमानके लिये एक मैत्रीपूर्ण शब्द है। आत्म-प्रेमका अर्थ है कि तुम और किसी चीजकी अपेक्षा अपने-आपसे अधिक प्रेम करते हो; और यहां उनका मतलब ठीक यही है, है न, उस मिथ्याभिमानकी प्रतिक्रियाएं जो अपना उचित मूल्यांकन न होनेके कारण चिढ़ गया है, जिसे लगता है कि उसे वह प्रशंसा नहीं मिलती जो उसे मिलनी

चाहिये, या फिर वह पुरस्कार नहीं मिलता जिसका वह अपने-आपको अधिकारी मानता है, और जब उसे अपने हर कार्यके लिये अभिनन्दन नहीं मिलता। वस्तुत, ये सारी गतिविधियां असंतोषसे ही आती हैं, क्योंकि तुम जो पानेकी आशा करते हो, जिसे पानेके लिये तुमने अपने-आपको योग्य समझा था वह तुम्हें नहीं मिलता।

मधुर मां, "सक्रिय तादात्म्य" क्या है?

यह निष्क्रिय और अचल तादात्म्यका ठीक विपरीत है। यह ऊर्जा, संकल्प, क्रिया और उत्साहसे भरा तादात्म्य है; जब कि तुम एक प्रकारकी जड़तामें भी तादात्म्य पा सकते हो।

'पहलेकी बातें' पुस्तकमें आपने लिखा है कि जब हमारे अंदर आत्म-विश्वासका अभाव रहता है तो हम अपनी सभी कमजोरियोंको न्यायसंगत ठहराते हैं। इसका क्या कारण है?

हां! तो! हम अपनी सारी कमजोरियोंको न्यायसंगत ठहराते हैं? निश्चय ही यह आत्म-विश्वासका अभाव नहीं है। यह इस बातपर विश्वासका अभाव है कि तुम्हारे साथ भागवत कृपा क्या कर सकती है। अपनी कमजोरियोंको न्यायसंगत ठहराना एक प्रकारका आलस्य और तमस् है।

हां, जब तुम सुधरनेके लिये प्रयास नहीं करना चाहते, तो कहते हो: "ओह, यह असंभव है, यह मुझसे नहीं होता, मेरे अन्दर शक्ति नहीं, मैं उस धातुका बना हुआ नहीं हूं, मेरे अन्दर अपेक्षित गुण नहीं हैं। मैं यह हर्गिज न कर सकूंगा।" यह शुद्ध रूपसे आलस्य है, ताकि तुम आवश्यक प्रयाससे बच सको। जब तुमसे प्रगति करनेके लिये कहा जाता है तो तुम कहते हो: "ओह, यह मेरी पहुंचसे परे है, मैं एक दीन प्राणी हूं, मैं कुछ नहीं कर सकता!" बस। यह लगभग दुर्भावना है। यह अत्यधिक आलस्य है, प्रयास करनेसे इंकार है। अपने सभी दोषों और अक्षमताओंको तुम इस लिये स्वीकार कर लेते हो ताकि उन्हें जीतनेका प्रयास न करना पड़े। तुम कहते हो: "मैं हूं ही ऐसा, मैं अन्यथा नहीं हो सकता!" यह भागवत कृपाको अपने अन्दर काम करने देनेसे इनकार है। यह तुम्हारा अपनी दुर्भावनाको न्यायसंगत ठहराना है।

वहां, किसीके पास कोई प्रश्न है या नहीं?

मधुर मां, यहां श्रीअरविंदने लिखा है: "तुम यह जानोगी, देखोगे और अनुभव करोगे कि तुम उनके द्वारा रचित, उन्हींसे रचित शक्ति हो जिसे लीलाके लिये बाह्य रूप दिया गया है...।" कौन-सी लीला?

विश्वको भगवान्‌की लीला कहते हैं!

क्यों?

क्यों? यह बोलनेका ढंग है! तुम्हें लगता है कि यह मजेदार खेल नहीं है? ऐसे बहुत-से लोग हैं (हंसी) जिन्हें यह खेल मजेदार नहीं लगता। लेकिन आखिर, यह बोलनेका एक ढंग है...। हम एक प्रकारसे — यह सोचे बिना कि यह मजेदार है — कहते हैं: "शक्तियोंका खेल"; यह गति है, परस्पर क्रिया-प्रक्रिया है। सभी क्रियाएं शक्तियोंका खेल हैं। इसलिये तुम इस अर्थमें ले सकते हो। लेकिन इसका मतलब यह है कि भागवत 'शक्ति', भागवत 'चेतना'ने विश्वका और विश्वमें सभी शक्तियोंके खेलका सर्जन करनेके लिये मूर्त्त रूप धारण किया है। उसका मतलब इतना ही है, और कुछ नहीं। मेरा मतलब अवश्य ही 'क्रीड़ांगन'में खेलनेसे नहीं है। इसके बहुत सारे अर्थ हो सकते हैं!

(दूसरे बच्चोंसे प्रश्न पुछवानेके लिये उनकी तरफ मुड़ते हुए) कुछ नहीं? तुम भी नहीं?

इसका अर्थ क्या है: "अहंकी विकृतियोंके कलंकसे अपने-आपको मुक्त रखो"?

अहंकी विकृतियां?

(चुप्पीके बाद) विकृति वह सब है जो भागवत सत्य और पवित्रतासे भटक जाता है। जिस क्षण तुम अज्ञान और मिथ्यात्वमें जीते हो, तुम विकृतिमें जीते हो; और फिलहाल सारा जगत् ही अज्ञान और मिथ्यात्वसे बना है। इसका मतलब यह है कि अगर तुम साधारण चेतनामें रहो तो तुम अनिवार्य रूपसे अहंकी विकृतिमें जीते हो।

मधुर मां, यहां वे कहते हैं: "अगर तुम्हारे अन्दर पृथक् कार्यकर्ताका विचार स्पष्ट और शक्तिशाली हो, और तुम यह अनु-

भव करो कि तुम ही काम कर रहे हो, फिर भी काम उनके लिये करना चाहिये।" उदाहरणके लिये, खेल-कूद या अध्ययन, जो हम करते हैं – क्या हमें यह सोचना चाहिये कि यह भगवान्‌के लिये है?

हां, जरूर...

कैसे?

यह बहुत कठिन भी नहीं है। पहले तुम उसे एक तैयारीके रूपमें कर सकते हो ताकि तुम भागवत शक्तियोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाओ, और फिर, सेवाके रूपमें, ताकि तुम आश्रमका पूरा संगठन बनानेमें मदद करो। तुम उसे व्यक्तिगत लाभकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि इस दृष्टिसे कर सकते हो कि तुम भागवत कार्यको सिद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ! अगर तुम परिस्थितिका पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहो तो मुझे यह काफी अनिवार्य लगता है। अगर तुम साधारण मनोवृत्ति बनाये रहो तो तुम हमेशा अपने-आपको ऐसी परिस्थितियोंमें पाओगे जो बिलकुल संतोषजनक नहीं हैं, और तुम जिन सब शक्तियोंको ग्रहण कर सकते हो उन्हें ग्रहण करनेमें असमर्थ रहोगे।

मधुर मां, अगर, उदाहरणके लिये, लम्बी कूदमें हम अधिकाधिक दूर कूदनेकी कोशिश करें तो हम भागवत कार्य किस तरह करते हैं?

हां? माफ करना, लेकिन यह लम्बी कूद करनेके मजेके लिये नहीं, तुम्हारे शरीरको अपनी क्रियामें ज्यादा पूर्ण और, फलस्वरूप, भागवत शक्तियोंको ग्रहण और अभिव्यक्त करनेके लिये अधिक योग्य यंत्र बनानेके लिये है।

लेकिन यहां तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ भी, वह इसी मनोवृत्तिसे किया जाना चाहिये, वरना तुम उस अवसरका लाभ भी नहीं उठाते जो तुम्हें दिया गया है, उन परिस्थितियोंका भी नहीं जो तुम्हें दी गयी हैं। उस दिन मैंने तुम्हें समझाया था, है न, कि 'चेतना' यहां मौजूद है, वह सभी चीजोंमें प्रविष्ट होकर सारी गतिविधियोंमें अभिव्यक्त होनेकी कोशिश कर रही है। लेकिन अगर तुम अपनी तरफसे, अपने-आपसे कहो कि मैं जो प्रयास कर रहा हूं, मैं जो प्रगति कर रहा हूं वह इसलिये कर रहा

हूं कि मैं इस 'चेतना'को ग्रहण और अभिव्यक्त करनेमें ज्यादा समर्थ बन जाऊं, तो स्वभावतः काम ज्यादा अच्छी तरह और ज्यादा जल्दी हो जायेगा। और सच्ची बात तो यह है कि यह मुझे बिलकुल प्रारंभिक बात लगती है। मुझे आश्चर्य होता है कि यह अन्यथा भी हो सकता है! क्योंकि अगर ऐसा न हो तो इस तरह संगठित आश्रममें जैसा कि यह है, तुम्हारी उपस्थितिका कोई अर्थ नहीं होता! उसका लाभ ही क्या? जगत्‌में बहुत सारे विश्व-विद्यालय और विद्यालय हैं जो बहुत अच्छी तरह व्यवस्थित हैं!

लेकिन अगर तुम यहां हो, तो **एक विशेष कारणके लिये हो!** क्योंकि यहां चेतनाको आत्मसात् करने और प्रगति करनेकी ऐसी संभावना है जो और कहीं नहीं है। और अगर तुम अपने-आपको उसे ग्रहण करनेके लिये तैयार नहीं करते तो तुम दिये गये अवसरको खो बैठोगे!

लो, यह ऐसी चीज है जो मैंने कभी नहीं कही थी, क्योंकि मुझे यह इतनी स्पष्ट लगती थी कि उसे कहनेकी कोई जरूरत नहीं मालूम हुई।

माताजी, इस तरह हम जानते तो हैं कि हमें यह सब करना चाहिये! लेकिन जब करते हैं तब मनोवृत्ति और ही होती है!

नहीं, लेकिन...। (मौन) सामान्य रूपसे तुम क्या सोचते हो? एक प्रकार-के संयोगसे या यूं ही भाग्यवश — या केवल इसलिये कि तुम्हारे मां-बाप यहां हैं — तुम यहां हो? या फिर क्या? मुझे नहीं मालूम! (हंसते हुए) कि तुम जैसे यहां हो वैसे ही कहीं बाहर हो सकते थे, या कुछ और?

तुम काफी बड़े हो इसलिये थोड़ा-बहुत विचार और चिन्तन तो किया ही होगा। तुमने कभी अपने-आपसे यह नहीं पूछा कि मैं यहां किसलिये हूं?" क्या तुमने अपने-आपसे यह पूछा है? या यह ऐसी चीज है जो... मैं तो सोचती थी कि तुम उसे... बिलकुल मानी हुई, स्वाभाविक चीजके रूपमें लेते होंगे! इसलिये मैंने तुम्हें कभी नहीं बताया। मुझे जाननेमें रस है...। (एक बच्चेसे) तुमने इसके बारेमें सोचा है?

मधुर मां, उस दिन तो मैंने आपसे कहा था!

हां, कहा तो था, लेकिन तुम उसे दोहरा सकते हो। (दूसरे बच्चेसे) और

तुम? क्या तुमने इसके बारेमें सोचा है? या तुम उसे इस तरह लेते हो...क्योंकि मां-बाप यहां हैं, इसलिये मैं भी यहां हूं! (हंसी) (एक और बच्चेसे) और तुम?

जब आपने मुझे 'आश्रमके बच्चोंसे' पुस्तिका दी तब मैं समझ गया।

ओह, तुम समझे! उससे पहले नहीं?

पहले मैंने सोचा नहीं था।

लेकिन तुम लोग कितने वर्षके हो? औसत...पन्द्रह साल? सोलह साल? सत्रह साल? बीस साल? नहीं? बात ऐसी नहीं है? लाल दलमें पन्द्रहसे बीस तक रहते हैं, है न? कुछ इससे कम उमरके हैं?

जी, नहीं!

लेकिन तेरह वर्षकी अवस्थामें आदमी सोचने लगता है। वह सोचने लगता है, अपने-आपसे प्रश्न पूछता है, यहांतक कि जाननेको उत्सुक होता है कि जीवन क्या है और और हम किसलिये जीते हैं? और जब व्यक्ति ऐसे स्थानपर हो जैसा कि यह है, जो एक साधारण स्थान हर्गिज नहीं है, तब तो यह जिज्ञासा और भी होती है: "मैं यहां किसलिये हूं?" और "यहां रहनेका क्या लाभ है" और "किस कारणसे मैं यहां हूं?" हां,—तुम सोचते नहीं? सोचते नहीं? मैं तुममेंसे दो-तीनको जानती हूं जो सोचते हैं, क्योंकि उन्होंने मुझे बताया है। लेकिन (हंसते हुए) बाकी सब? तुमने कभी अपने-आपसे ये प्रश्न नहीं पूछे? नहीं?...कोई नहीं बोलता! (हंसी)

(एक बच्चेसे) तो, तुमने इस बारेमें कभी नहीं सोचा? सोचा है। (कोई उत्तर नहीं देता।) आह! वे कुछ कहना नहीं चाहते! ठीक है, हम इसके बारेमें बात नहीं करेंगे। (हंसी)

इतना ही? बस, काफी है?

माताजी, मजेदार बात यह है: हमारे अन्दर कौन-सी चीज है जिसके कारण हम यहां हैं?

आह! यह मजेदार है! किस कारणसे तुम यहां हो? हां, तो हर एकको अपना (कारण) ढूंढना है। तुमने ढूंढ निकाला है? नहीं, अबतक नहीं? लो, यह तो और एक मजेदार प्रश्न है!

अगर तुम... (मौन) अगर तुम अपने-आपसे यह पूछो तो तुम्हें उत्तर की खोजमें कहीं अन्दर जाना पड़ेगा — क्योंकि उत्तर **तुम्हारे भीतर** है। "हमारे अन्दर कौन-सी चीज है जिसके कारण हम यहां हैं?" उत्तर भीतर है। बाहर कुछ भी नहीं है। और अगर तुम पर्याप्त गहराईमें पैठो, तो तुम्हें बहुत स्पष्ट उत्तर मिलेगा... (मौन) और मजेदार उत्तर। अगर तुम पर्याप्त गहराईमें पैठो, सभी बाहरी चीजोंकी अपेक्षा काफी पूर्ण शान्तिमें अन्दर पैठो, तो तुम्हें अपने अन्दर वह लौ मिलेगी जिसकी मैं बहुत बार बात करती हूं और इस लौमें तुम **अपनी नियति** देख पाओगे। तुम सदियोंसे धीरे-धीरे इकट्ठी होती हुई उस अभीप्साको देख पाओगे जो तुम्हें अनगिनत जन्मोंमेंसे होकर **सिद्धिके महान् दिवसकी ओर** ले आयी है — यह तैयारी युग-युगान्तरसे होती आयी है, और अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच रही है।

और चूंकि यह जाननेके लिये तुम बहुत गहराईमें पैठ चुके होगे, इसलिये तुम्हें यह अनुभव होगा कि तुम्हारी सारी अक्षमताएं, तुम्हारी सारी कमजोरियां, तुम्हारे अन्दर जो कुछ इनकार करता है और समझ नहीं पाता, यह सब तुम्हारा अपना-आपा नहीं है, यह केवल एक वस्त्र है जो किसी तरह काम आता है और जिसे तुमने अभीके लिये पहन रखा है। लेकिन तुम समझ जाओगे कि अवसरका पूरा-पूरा लाभ उठानेमें सचमुच समर्थ होनेके लिये, तुम जो करना चाहते थे, इतने समयसे तुमने जिसकी अभीप्सा की थी, वह कर सकनेके लिये यह जरूरी है कि तुम प्रकाश, चेतना और सत्यको थोड़ा-थोड़ा करके बाहरी वस्त्रके सभी अंधकारमय तत्त्वोंपर डालो ताकि तुम यह पूर्ण रूपसे समझ सको कि **तुम यहां किसलिये हो!** केवल इतना ही नहीं कि तुम समझ जाओ, बल्कि उसे करनेमें समर्थ हो सको। यह चीज सदियोंसे तुम्हारे अन्दर तैयार हो रही है, इसमें नहीं... (माताजी अपनी बांहकी चमड़ीको पकड़ती हैं) यह तो बिलकुल हालका है, है न?... लेकिन अपने सच्चे आपेमें। और **सदियोंसे** यह **इस अवसरकी** प्रतीक्षामें है।

और तब तुम **तुरंत** अद्भुत तत्त्वमें प्रवेश करते हो। तुम देखते हो कि यह किस हदतक असाधारण है... कि जिन चीजोंकी तुमने बहुत लम्बे समयसे आशा की, जिन चीजोंके लिये तुमने इतनी प्रार्थना की, इतना परिश्रम किया, वे अचानक एक क्षणमें **सिद्ध हो जाती हैं।**

यह वह घड़ी है जब महान् चीजें की जाती हैं। इस अवसरको खो नहीं बैठना चाहिये!

(लम्बा मौन)

१५ अगस्तको मैं तुम्हें श्रीअरविंदकी लिखी एक चीज दूंगी जो ठीक इसी विषयमें है — उसका नाम है "भागवत मुहूर्त"।

तुम उसे ध्यानसे पढ़ोगे और समझोगे।

लो बस।

११ अगस्त, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक "माता"के छठे अध्यायपर आधारित है।)

बिल्कुल शुरूमें लिखा है: "भगवती मांकी चार 'शक्तियां'।" मधुर मां, ये चार शक्तियां कौन-कौन-सी हैं?

ये!

माताजी, ये उनके रूप हैं न?

(लंबा मौन)

हां।

इसका अर्थ क्या है: "...उनके द्वारा वह (परम पुरुष) जगतोंमें ईश्वर-शक्तिकी अनन्य और द्विविध चेतनाके रूपमें तथा पुरुष-प्रकृतिके द्विविध सिद्धांतके रूपमें अभिव्यक्त होता है"?

इसका अर्थ क्या है? वही जो लिखा हुआ है। (हंसी) इसका अर्थ

यह है कि जगत्में सर्जनशील ऊर्जाकी एकमात्र शक्ति सभी अभिव्यक्तियोंमें विभाजित होती है, यहांतक कि अधिक-से-अधिक विरोधी अभिव्यक्तियोंमें भी, समझे। यही वह एकमात्र शक्ति है जो सृष्टिमें पुरुष और प्रकृतिमें, ऊर्जा तथा प्रतिरोधमें विभाजित होती है। यही है इसका अर्थ; मूलमें शक्ति एक ही होती है और अभिव्यक्तिमें वह विभाजित हो जाती है। और सभी विरोधी चीजोंमें बंट जाती है जो विरोधी होनेके साथ-ही-साथ पूरक भी होती है। क्योंकि सृष्टिके लिये, यह विभाजन जरूरी था, वरना सारे समय वही एक अनन्य चीज होती।

"विभूति" का मतलब क्या है?

उसका अर्थ है अंश-विभूति या निर्गमका अवतरण। भागवती मांकी एक अंश-विभूति किसी सत्तामें अवतरित होती है और यह सत्ता विभूति बन जाती है।

मधुर मां, यहां मेरी समझमें नहीं आ रहा: "लेकिन उनके तरीकोंको कुछ-कुछ उनके मूर्त रूपोंद्वारा देखा और अनुभव किया जा सकता है और वह ज्यादा बोधगम्य होता है क्योंकि जिन लोगोंमें वह अभिव्यक्त होना स्वीकारती है उनमें देवीका स्वरूप और उनकी क्रिया ज्यादा ठोस और सीमित रूप धारण करती है।"

इसका अर्थ है, यथार्थतः सत्ताके अलग-अलग गुण, अलग-अलग तरीके होते हैं जो अलग-अलग रूप धारण करके अभिव्यक्त होते हैं और इनमेंसे हर एक रूप उन देवोंमेंसे एक है जिनकी मनुष्य आराधना करते आये हैं, जिन्हें समझते आये हैं क्योंकि वे सीमित हैं। जब कोई चीज असीम होनेकी अपेक्षा सीमित होती है तब मनुष्य उसे ज्यादा आसानीसे समझ सकता है, क्योंकि मनुष्यका स्वभाव सीमित होता है, इसलिये स्वभावतः वह सीमित चीज ही समझता है। अतः, समझमें आनेके लिये यह जरूरी है कि चीजें विभाजित और सीमित हों। अन्यथा अपने सार-तत्त्वमें 'शक्ति' — जो अविभाज्य और असीम है — मनुष्यकी वर्तमान अवस्थामें, जैसा कि मनुष्य अभी है, उसके लिये मानवीय समझसे बिलकुल परे है।

"'अज्ञान'का त्रिविध जगत्" क्या है?

"त्रिविध जगत्..."?

"...'अज्ञान'का।"

'अज्ञान'?

जड़-पदार्थ, जीवन और मन; यानी, भौतिक, प्राणिक और मानसिक जगत् 'अज्ञान'का त्रिविध जगत् है।

महासरस्वती और महालक्ष्मी देखनेमें कैसी हैं?

क्या?

देखनेमें वे कैसी हैं?

वत्स, तुम्हें उन्हें देखना होगा।[1] जब तुम उन्हें देखोगे तब जानोगे...। प्रसंगके मुताबिक रूप बदलता है, उन लोगोंके मुताबिक जिनके सामने वह प्रकट होती हैं, उस कामके मुताबिक जो वे करती हैं...इस शरीरमें हम जो देखते हैं वह नहीं...

हम महासरस्वतीके जो चित्र देखते हैं क्या वे सच्चे हैं?

हे भगवान! (हंसी) जब एक बहुत छोटा-सा बच्चा किसी चीजका चित्र बनानेकी कोशिश करता है तो क्या वह उस चीजसे मिलता-जुलता है? लगभग ऐसी ही चीज है, कभी-कभी तो उससे भी बदतर! क्योंकि बच्चा भोला और सच्चा होता है; जबकि जो व्यक्ति देवताओंका चित्र आंकता है वह पूर्वाग्रहों या पूर्वकल्पित विचारोंसे, या औरोंने जो कहा है और शास्त्रोंमें जो लिखा है और लोगोंने जो देखा है उससे भरपूर होता है। अतः, वह इन सबसे बंधा रहता है। कभी-कभी, समय-समयपर, कुछ ऐसे कलाकार होते हैं जिनमें अन्तर्दृष्टि होती है, महान् अभीप्सा होती है, आत्मा और दर्शनकी महान् पवित्रता होती है, जिन्होंने ऐसी चीजें बनायी

---

[1]माताजीने ये शब्द बहुत धीमी आवाजमें कहे थे, इसलिये उनका ध्वन्यांकन स्पष्ट रूपसे नहीं किया जा सका। हम वाक्योंको अधूरे ही छोड़ रहे हैं जैसे वे मशीनमें अंकित हो सके।

हैं जो सन्तोषजनक हैं। लेकिन यह बहुत विरल है। और, सामान्य तौरपर, मुझे लगता है कि बात उल्टी है।

मैंने प्राणिक जगत्में और मानसिक जगत्में उनमेंसे कुछ रूप देखे हैं जो सचमुच मनुष्यके रचे हुए थे! वहां, ऊपरकी एक शक्ति है जो अभिव्यक्त होती है। लेकिन मिथ्यात्वके इस त्रिविध जगत्में मनुष्यने — कम या अधिक रूपमें — भगवान्को सचमुच अपने ही आकारमें गढ़ा है, और ऐसी सत्ताएं हैं जो उन रूपोंमें अभिव्यक्त होती हैं जो मानव सर्जनशील विचारका परिणाम हैं। और तब, सचमुच भयंकर होता है! मैंने ऐसी कुछ रचनाएं देखी हैं... (मौन) और वे इतनी अन्धकारपूर्ण होती हैं, इतनी अबोधगम्य, इतनी अर्थशून्य...

कुछ देवता हैं जिनके साथ औरोंकी अपेक्षा ज्यादा बुरा व्यवहार किया जाता है। उदाहरणके लिये, वह बेचारी महाकाली, जानते हो, उसके साथ कैसी चीजें की जाती हैं!... यह इतना **भयंकर** है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती! लेकिन यह चीज केवल बहुत निचले जगत्में होती है... हां, निम्नतम प्राणमें; और इसमें मूल सत्ताकी जो चीज होती है... वह प्रतिच्छाया है जो मूलसे इतनी दूर होती है कि उसे पहचाना नहीं जाता। फिर भी, सामान्यतः, इसीको मानव चेतना अपनी ओर आकर्षित करती है। और जब तुम एक मूर्ति बनाते हो, है न, और पुजारी उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करता है — जब मूर्ति-स्थापनाका धार्मिक अनुष्ठान यथाविधि किया जाता है, तो वह आह्वानकी आंतरिक अवस्थामें जाता है और एक ऐसे रूपको या देवताकी किसी अंश-विभूतिको मूर्तिमें उतारनेकी कोशिश करता है जो उसे शक्ति प्रदान करे — अगर वह पुजारी ऐसा व्यक्ति है जिसमें सचमुच आह्वानकी शक्ति है तो वह सफल हो सकता है। लेकिन सामान्यतः — हर एक चीजमें अपवाद होते हैं — लेकिन सामान्यतः पुजारी ऐसे व्यक्ति होते हैं जो परंपरागत सामान्य विचारमें प्रशिक्षित होते हैं। हां, तो जब वे उस देवताके बारेमें सोचते हैं जिसका वे आह्वान कर रहे हैं तो वे उनको प्रदान किये गये सब गुणों और रूपोंको मनमें रखते हुए सोचते हैं। और, साधारणतः, वह (आह्वान) प्राण-जगत्की सत्ताओंको या अधिक-से-अधिक मानसिक जगत्की सत्ताओंको संबोधित हो जाता है, स्वयं 'परम सत्ता' को नहीं। और यही वे छोटी-छोटी सत्ताएं हैं जो इस या उस मूर्तिमें अभिव्यक्त होती हैं। छोटे मंदिरोंमें, यहांतक कि परिवारोंमें — कुछ लोगोंके घरोंमें — जानते हो, छोटे-से मंदिर होते हैं जिनमें कुल देवताकी मूर्ति होती है — ये सत्ताएं अभिव्यक्त होती हैं; कभी-कभी काफी बुरे परिणाम आते हैं, क्योंकि ये ऐसे रूप हैं

जो मूल देवतासे इतनी दूर हैं कि... वे बेढंगी रचनाएं हैं। कुछ परिवारोंमें ऐसी कालियोंकी पूजा की जाती है जो सचमुच दानव-सी होती हैं।

मुझे स्वीकार करना चाहिये कि मैंने कुछ लोगोंको सलाह दी थी कि वे मूर्तिको उठाकर गंगामें फेंक दें ताकि वे उसके एकदम विनाशकारी प्रभावसे छुटकारा पा सकें। और सचमुच यह बहुत सफल रहा...। कुछ ऐसी सत्ताएं होती हैं... जिनकी उपस्थिति दुर्भाग्यपूर्ण होती है। लेकिन यह मनुष्यका दोष है। यह देवताओंका दोष नहीं है। देवताओंपर दोष आरोपित करना गलत होगा। दोष है मनुष्यका। वह अपने रूपमें देवता गढ़ना चाहता है। जो दुष्ट होते हैं वह उन्हें और निरंकुश बना देता है; और जो सुन्दर होते हैं उन्हें वह और भी सुन्दर बना देता है; यानी, मनुष्योंने अपने दोषको अतिरंजित कर दिया है।

मानव विचार रूप किस तरह गढ़ सकता है?

मानसिक जगत्में मानव विचार सारे समय रूप बनाता रहता है। मानसिक जगत्में मानव विचार बहुत सर्जनशील है। जब तुम सोचते हो तो रचनाएं बनाते हो और उन्हें बाहर, वातावरणमें सैर करनेके लिये भेज देते हो और वे अपना काम करनेके लिये चली जाती हैं। तुम हमेशा ढेर सारी छोटी-छोटी रचनाओंसे घिरे रहते हो।

स्वभावतः, ऐसे लोग होते हैं जो स्पष्ट रूपसे सोच भी नहीं सकते। इसलिये वे किसी भी रूप-रचनाका निर्माण नहीं कर सकते, वे बस, भंवरें ही बनाते हैं। लेकिन जो लोग स्पष्ट रूपसे सोचते हैं, उनके इर्द-गिर्द हजारों छोटी-छोटी रचनाएं रहती हैं, जो कभी-कभी घूमने चली जाती हैं, जो दूसरोंमें कोई क्रिया करने जाती हैं; और जब तुम उनके बारेमें दोबारा सोचते हो तो वे लौट आती हैं।

और फिर, उन लोगोंके उदाहरण हैं जो अपनी ही रचनाओंसे पीड़ित होते हैं, जो रचनाएं उनके पास बार-बार लौट आती हैं, मानों उनको अपने वशमें करनेके लिये आती हैं और वे उनसे पिंड नहीं छुड़ा सकते क्योंकि उन्हें यह पता नहीं होता कि अपनी बनायी हुई रचनाओंको कैसे रद्द किया जाय। ऐसे उदाहरण, हम जितना सोचते हैं उससे ज्यादा ही हैं। जब उन्होंने एक विशेष रूपसे बलशाली रचना बनायी हो — उनके लिये बलशाली, है न, यह सापेक्ष है — तो यह रचना हमेशा स्रष्टासे बंधी रहती है और शक्ति प्राप्त करनेके लिये मस्तिष्कपर खटखटाने आती है और अंतमें सचमुच एक आवश्यकता बन जाती है। यहां सीखने-

के लिये एक पूरा जगत् है; तुम सचमुच अज्ञानमें रहते हो, तुम्हारे अंदर ऐसी शक्तियां होती हैं जिन्हें तुम जानते ही नहीं, तब स्वभावतः तुम उनका उपयोग खराब ढंगसे करते हो। तुम उनका उपयोग बहुत अचेतन और खराब ढंगसे करते हो।

मुझे मालूम नहीं कि तुमने श्रीमती दाविद नीलका नाम सुना है या नहीं, जो तिब्बत गयी थीं; और जिन्होंने तिब्बतके बारेमें किताबें लिखी हैं, और वे बौद्ध थीं, और बौद्ध लोग — कट्टर बौद्ध लोग — भगवान्‌को नहीं मानते, वे उनकी 'नित्यता' को नहीं मानते, और देवताओंको नहीं मानते जो सचमुच दिव्य होते हैं, लेकिन वे मानसिक क्षेत्रसे काम लेना अच्छी तरह जानते हैं; और बौद्ध-साधना तुम्हें मानसिक यंत्र और मानसिक क्षेत्रका स्वामी बना देती है।

हम बहुत-सी चीजोंके बारेमें बातचीत किया करते थे, और एक बार उन्होंने मुझसे कहा: "सुनिये, मैंने एक परीक्षण किया है!" (उन्होंने थियोसोफीका भी थोड़ा-बहुत अध्ययन किया था।) उन्होंने कहा: "मैंने एक महात्मा बनाया; अपने विचारसे मैंने एक महात्मा बनाया।" और वे जानती थीं (यह साबित हो चुका है) कि अमक समय ये मानसिक रचनाएं अपना व्यक्तिगत जीवन पा लेती हैं जो अपने स्रष्टासे स्वतंत्र होते हुए उससे जुड़ा रहता है, इस अर्थमें स्वतंत्र कि उनका अपना संकल्प हो सकता है। तो उन्होंने मुझसे कहा: "कल्पना कीजिये, मैंने अपने महात्माको इतनी अच्छी तरह बनाया था कि वह मुझसे स्वतंत्र व्यक्तित्व बन गया और सारे समय वह मुझे तंग करनेके लिये आता था! वह आता था, कभी इस बातके लिये डांटता था, कभी उस बातके लिये सलाह देता था, वह मेरे जीवनका निर्देशन करना चाहता था; और मैं उससे पिंड नहीं छुड़ा पाती थी। यह बहुत कठिन था, मुझे पता नहीं कि क्या किया जाय!"

तब मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने किस प्रकार प्रयास किया था। उन्होंने मुझे वह बताया। उन्होंने कहा, "वह मुझे बहुत तंग करता है, मेरा महात्मा बहुत तकलीफदेह है। वह मुझे आरामसे नहीं रहने देता। वह मुझे ध्यानके समय तंग करता है, मुझे काम करनेसे रोकता है; और फिर भी मैं भली-भांति जानती हूं कि मैंने ही उसे बनाया है और मैं ही उससे पिंड नहीं छुड़ा पा रही!" तब मैंने कहा: "यह इसलिये है क्योंकि तुम्हें 'गुर' नहीं मालूम...।" (माताजी हंसती हैं) और मैंने उन्हें समझाया कि उन्हें क्या करना चाहिये। और अगले दिन — उन दिनों मैं उनसे लगभग रोज मिलती थी, समझे — अगले दिन वह आयीं और उन्होंने कहा: "आह, मैं अपने महात्मासे मुक्ति पा गयी!" (हंसी) उन्होंने

संबन्धको काट नहीं दिया था क्योंकि इससे कोई काम नहीं बनता। अपनी रचनाको फिरसे आत्मसात करना जानना चाहिये। यही एकमात्र उपाय है! अपनी रचनाओंको निगल लेना।

लेकिन देखो, छोटे पैमानेपर और कम पूर्णताके साथ तुम सारे समय रचनाएं बनाते रहते हो। जब, उदाहरणके लिये, तुम किसीके बारेमें बलपूर्वक सोचते हो तो मानसिक पदार्थका एक छोटा-सा अंश तुरन्त उस व्यक्तिके पास जा खड़ा होता है, समझे, तुम्हारे विचारका स्पंदन जाकर उसके स्पंदनको छूता है; और अगर वह ग्रहणशील है तो वह तुम्हें देखता है। वह तुम्हें देखता है और कहता है: "कल रात तुम मुझसे मिलने आये थे!" यह इसलिये कि तुमने एक छोटी-सी रचना बनायी और वह रचना अपना काम करने चली गयी — यह काम कि वह तुम्हारे और उस व्यक्तिके बीच संपर्क स्थापित करे, या अगर तुम्हें उस व्यक्तिसे कुछ विशेष बात कहनी थी तो वह तुम्हारा संदेश पहुंचाये; और वह पहुंचा दिया गया। यह हमेशा होता रहता है; लेकिन चूंकि यह सतत, निरंतर और सहज तथ्य है और अज्ञानमें किया जाता है, इसलिये तुम्हें ख्यालतक नहीं आता कि तुम उसे कर रहे हो, तुम उसे यंत्रवत् करते जाते हो।

जिन लोगोंमें कामनाएं होती हैं, वे मानसिक रचनाके साथ एक प्रकारका छोटा-सा आवरण जोड़ देते हैं, एक प्राणमय कोष जो उसे ज्यादा वास्तविक बना देता है। ऐसे लोग अक्सर बहुत-सी छोटी-छोटी सत्ताओंसे घिरे रहते हैं जो उनकी अपनी रचनाएं होती हैं और प्राणिक शक्तिसे परिवेष्टित उनकी अपनी मानसिक रचनाएं होती हैं जो सब समय उन्हें प्रभावित करनेके लिये आती हैं और उनसे, अपनी बनायी रचनाओंको, भौतिक रूपसे चरितार्थ करवानेकी कोशिश करती हैं।

तुमने शायद मोरिस माग्रकी किताबें पढ़ी हों; उनमेंसे कुछ पुस्तकालयमें हैं। वे इसका वर्णन करते हैं; मोरिस माग्र यहां आये थे और हमारी बातचीत हुई थी। उन्होंने मुझसे कहा कि उन्होंने हमेशा देखा था — वे बहुत संवेदनशील थे — उन्होंने हमेशा देखा था कि जिन लोगोंमें लैंगिक कामनाएं होती हैं वे एक प्रकारकी बहुत-सी छोटी-छोटी सत्ताओंसे घिरे रहते हैं जो कम या अधिक लसलसी और कुरूप होती हैं और जो निरंतर तंग करती और उनमें वासना जगाती हैं। उन्होंने बताया कि उन्होंने कुछ लोगोंके इर्द-गिर्द यह देखा था। यह मच्छरोंके झुण्डसे घिरे होनेके समान था, हां! लेकिन वह ज्यादा स्थूल होता है, और ज्यादा भद्दा भी, और वह लसलसा होता है, घिनौना होता है, और वह व्यक्ति-

के चारों ओर मंडराता रहता है, और उसे आरामसे नहीं रहने देता, और उसमें उस वासनाको जगा देता है जिसने इन सत्ताओंकी रचना की थी और ये उसीपर पनपती हैं। यही उनका आहार है। यह बिलकुल सच है। उनका निरीक्षण बिलकुल ठीक था। उनकी अन्तर्दृष्टि बिलकुल सच्ची थी। बात ऐसी ही है।

लेकिन हर व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द अपनी कामनाओंका वातावरण लिये घूमता है। इसलिये यह जरूरी नहीं है कि लोग तुम्हें कुछ बतायें; तुम बस, एक नजर डालो और तुम्हें दिख जायगा कि वे ठीक किस अवस्थामें हैं। यह संभव है कि वे फरिश्ता या सन्त होनेका दिखावा करना चाहें, लेकिन वे तुम्हें धोखा नहीं दे सकते, क्योंकि वह चीज उनके चारों ओर मंडराती रहती है। तो, जरा कल्पना करो! (अपने सामने बैठे बच्चोंकी तरफ इशारा करते हुए) देखते हो तुम कैसे लगते हो, तुम जितने भी हो, सभीका, और हर एकका इस प्रकार मानसिक रचनाओंका अपना छोटा-सा जगत् है, इन मानसिक रचनाओंमेंसे कुछ प्राणिक पदार्थसे परिवेष्टित हैं, और ये सब एक साथ रेंगती हैं, मिलती-जुलती हैं और एक-दूसरेसे टकराती हैं। यह देखनेके लिये संघर्ष होता है कि कौन सबसे बलशाली है और अपने-आपको अभिव्यक्त कर पाता है, और यह एक वातावरण बना देता है!...

जब हम आपके सामने आते हैं तो वे सत्ताएं क्या करती हैं?

जब तुम मेरे सामने आते हो, तो मैं यह सब देखती हूं। मैं ठीक यही देखती हूं और इसी कारण यह जरूरी है कि तुम आओ। क्योंकि, तुम्हें एक फूल देना निश्चय ही बहुत अच्छा है, लेकिन यह कोई ऐसी चीज नहीं जो बहुत अधिक... ऐसी चीजें हैं जो इससे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन तुम जब कभी आते हो, एक क्षणमें — एक कौंध काफी है, बस एक क्षण — आनेवाला अपनी सब रचनाओंके साथ आता है और तब मैं केवल... मैं केवल यों करती हूं... (संकेत)। फूल तो बहाना मात्र है, फूलके द्वारा मैं कोई चीज देती हूं।

और फिर, कभी-कभी, समझे, लगता है कि मैं अपने अन्दर प्रवेश कर रही हूं, मेरी आंखें मुंद जाती हैं, और फिर, धीरे-धीरे या तो मैं कुछ देती हूं या क्षण-भरके लिये हिलती-डुलती नहीं — यह तब होता है जब जो काम करना है वह उसके सन्निकट होता है। कभी-कभी, किसी-न-

किसी कारणसे, या तो सहायता करनेके लिये या किसी चीजको तोड़नेके लिये, या शुरू होनेवाली प्रगतिकी ओर धकेलनेके लिये या इस तरहकी अन्य चीजोंके लिये हस्तक्षेपकी आवश्यकता होती है...। इसलिये कभी-कभी मैं केवल हाथ पकड़ लेती हूं, है न: "हिलो-डुलो मत!" तब व्यक्ति अपने-आपसे कहता है: "माताजी समाधिमें चली गयी हैं।" मुझे तो मजा आता है...। (हंसी) मैं काममें व्यस्त हूं, चीजोंको सुव्यवस्थित कर रही हूं, कभी-कभी मैं आपरेशन करनेके लिये बाधित होती हूं, मैं कुछ चीजोंको निकाल देती हूं जो हैं पर जिन्हें होना नहीं चाहिये। केवल क्षण-भर काफी होता है, समझे, मुझे इसके लिये समय नहीं चाहिये; कभी-कभी काममें ज्यादा समय लग जाता है, कुछ अधिक क्षण, एक मिनट...। अन्यथा, सामान्यतः — सामान्य तौरपर — जब चीजें, हम कह सकते हैं, "सामान्य" होती हैं, तो केवल देखना काफी होता है, समझे, और... उत्तर? मैं फूल देती हूं... फूलके बिना भी, इस तरह... केवल प्रकाश डालती हूं या कभी-कभी दहकता लोहा, या ज्योति, कुछ भी, ठीक स्थान और समयपर... और "पुनर्दर्शनाय"!

मधुर मां, ये सत्ताएं आपसे डरती नहीं?

ओह, वत्स, बहुत ज्यादा डरती हैं! (हंसी) जो सत्ताएं दुर्भावनापूर्ण हैं वे सब छिपनेकी कोशिश करती हैं और, जानते हो, अक्सर वे क्या करती हैं? वे आनेवाले व्यक्तिके सिरके पीछे इकट्ठी हो जाती हैं (हंसी) ताकि दिखायी न दें। लेकिन इससे कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि, सोचो तो, मेरे अन्दर आर-पार देखनेकी क्षमता है। (हंसी) अन्यथा — वे हमेशा सहजबोधसे ऐसा करती हैं। जब उन्हें भीतर घुसनेका मौका मिलता है तो भीतर घुस जानेकी कोशिश करती हैं। लेकिन तब... मैं ज्यादा शक्तिके साथ हस्तक्षेप करती हूं, क्योंकि यह दुष्टतापूर्ण है! इन लोगोंमें छिपनेकी वृत्ति होती है। समझे, ऐसी हालतमें मैं भीतरतक उनका पीछा करती हूं। औरोंके साथ बहुत कम करनेकी जरूरत होती है, बहुत कम; लेकिन ऐसे लोग हैं — ऐसे हैं, जानते हो, खुद उन्होंने मुझे बताया है — जब वे मेरे पास आनेको होते हैं, तो मानों, कोई चीज होती है जो उन्हें पीछे खींचती है, जो उनसे कहती है: "नहीं, नहीं, नहीं, इसकी जरूरत नहीं। वहां क्यों जाएं? माताजीके लिये वैसे ही कितने लोग हैं, एक और व्यक्ति किसलिये?" और वह चीज पीछे खींचती है, इस तरह, ताकि वे आने न पायें। तब मैं हमेशा उन्हें बताती हूं कि वह क्या चीज

है : "इसकी ओर कान न देना ज्यादा अच्छा होगा, क्योंकि यह अच्छी चेतनावाली चीज नहीं है।" ऐसे लोग हैं जो उसे सह नहीं सकते। इस तरहके उदाहरण हैं, ऐसे लोगोंके उदाहरण जो भाग जानेके लिये बाधित हुए थे, क्योंकि वे स्वयं अपनी रचनाओंसे बहुत ज्यादा बंधे हुए थे और वे उनसे पिंड नहीं छुड़ाना चाहते थे। तो स्वभावतः, एक ही उपाय है, भाग जाना!

तो बस!

हम आजके लिये बैठक खत्म करते हैं।

१८ अगस्त, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविन्दकी पुस्तक "माता" के छठे अध्यायपर आधारित है।)

मधुर मां, मैं यहां नहीं समझ पाया: "यह महालक्ष्मीकी शक्ति है, और सशरीर सत्ताओंके हृदयके लिये 'भागवत शक्ति'का और कोई रूप इतना आकर्षक नहीं है।"

इसका मतलब है मनुष्य। धरतीपर मानव सत्ता, धरतीपर रहनेवाली सत्ताएं इसे कहनेका यह एक और तरीका है। और यह भी है... इसका मतलब पशुओंसे भी है। वे पशुओंके प्रति बहुत-बहुत स्नेहपूर्ण हैं और पशुओंको भी वे बहुत प्रिय हैं; बहुत उग्र पशु भी उनके सामने मृदु बन जाते हैं, और इसी कारण "मनुष्य" शब्द रखनेकी जगह, उन्होंने "सशरीर सत्ताओं" रखा है, ऐसी सत्ताएं जो सशरीर धरतीपर हैं।

(मौन)

प्रश्न?

मधुर मां, मैं समझ नहीं पाया: "वह भगवान्‌की मादक मधुरताका जादू फैलाती हैं...।"

समझमें नहीं आया ? क्योंकि तुम्हारा मन काव्यमय नहीं है, अतः . . . । यह कहनेका एक काव्यमय ढंग है . . . । इस तरहकी चीजोंको तुम्हें प्रत्यक्षवादी मनके साथ नहीं समझना चाहिये; तुम्हें शब्दों तथा वाक्योंके सामंजस्यका थोड़ा बोध होना चाहिये।

"महेश्वरी जगत्की शक्तियोंकी महान् रेखाएं खींचती हैं . . . ।"
"जगत्की शक्तियोंकी महान् रेखाएं" का अर्थ क्या है ?

इसका मतलब यह कि जगत्को जो बनना चाहिये उसकी वह योजना बनाती है। इसलिये वह योजनाकी बड़ी-बड़ी रेखाएं खींचती हैं, जगत्को जो होना चाहिये उसकी, विश्वकी। उन्हें समग्रकी दृष्टि प्राप्त है, सार्वभौम सृष्टिकी; ब्योरे देखनेकी जगह वह चीजोंकी समग्रता देखती हैं, वह योजनाकी बड़ी रेखाएं खींचती हैं, और सृष्टि किस तरहकी होनी चाहिये, उसे किस चीजकी ओर बढ़ना चाहिये, और फिर परिणाम क्या होंगे, इसकी रेखाएं। उनकी दृष्टि वैश्व है, ब्योरोंकी अपेक्षा वह समग्रसे संबन्ध रखती हैं।

"अपनी पूर्तिके लिये अन्य 'शक्तियों'का सारा काम उसपर (महासरस्वतीपर) निर्भर है . . . ।"

महासरस्वतीपर। हां, क्योंकि वह . . . (मौन) यथार्थ रूपमें पूर्णताकी देवी हैं। उनके लिये हर एक चीज ब्योरेमें की जानी चाहिये, और बिलकुल पूर्ण रूपसे। और वह चाहती हैं, इस बातपर जोर देती हैं कि वह चीज भौतिक रूपसे, पूर्ण रूपसे और पार्थिव रूपसे की जाय। वह नहीं चाहतीं कि चीज मानसिक या प्राणिक क्रियाकी तरह हवामें ही रह जाय, बल्कि वह अपने सभी ब्योरोंमें भौतिक सिद्धि हो, और हर एक ब्योरा पूर्ण हो, किसीकी भी उपेक्षा न हो। इसलिये, दूसरे क्षेत्रोंमें अन्य (देवियां) जो काम शुरू करती हैं उसे वह मूर्त्त रूप देती हैं और उसे अपनी भौतिक पूर्णताकी ओर ले जाती हैं।

पिछले पाठसे मुझे एक प्रश्न पूछना है। यहां, श्रीअरविंदने कहा है: "पार्थिव खेलके सभी दृश्य, जैसा कि नाटकमें होता है, उसके (महाशक्ति) द्वारा संगठित, कल्पित और कार्यान्वित किये गये हैं। वैश्व देवता उनके सहायक हैं और वह स्वयं

अवगुण्ठित अभिनेत्री।" तब इसका मतलब यह हुआ कि जहां जो कुछ होता है उसका अभिनय किसी उच्चतर क्षेत्रपर हो चुका है। तब तो सब कुछ पहलेसे ही नियत है, माताजी! तो क्या "स्वतंत्र चुनाव" नहीं है?

बात ऐसी नहीं है। यह इस तरह कही गयी है और यह चीजोंको देखनेका एक विशेष तरीका है। लेकिन वास्तवमें, वह...। (मौनके बाद) हम उतनी ही यथार्थताके साथ कह सकते हैं, हर क्षण सारी सृष्टि नये सिरेसे बनती है, और दोनों बातें समान रूपसे सच्ची हैं।

(लंबा मौन)

अगर हम जगत्को इसकी वर्तमान स्थितिमें ज्यों-का-त्यों लें, एक प्रकारके रासायनिक मिश्रणके रूपमें, उन सब अनिवार्य परिणामोंके साथ लें जो इस शरीरकी रचनाके कारण आते हैं, और अगर हम कल्पना करें कि इस रचनामें, किसी भी क्षण, एक नया तत्त्व प्रवेश कर सकता है, तो अनिवार्यतः वह सारी चीजकी रचना ही बदल देगा, है न? हां, तो बात कुछ ऐसी ही है, ज्यादा बड़ी और ज्यादा जटिल; लेकिन कुछ-कुछ ऐसी ही।

विश्व तत्त्वोंका एक ढेर है जिससे अमुक मिश्रण बनता है, और सभी चीजें इस मिश्रणके अनुसार गठित हैं — एक आंतरिक संगठनकी तरह, समझे (माताजी हाथमें गोलक पकड़नेकी मुद्रा करती हैं), बिलकुल सुनिश्चित रूपमें। लेकिन यह पराकाष्ठा नहीं है; यह ऐसी चीज है जो निर्माण-पथपर है। और जिस किसी भी क्षण, अमुक प्रकारकी क्रियाके द्वारा समग्रमें एक या अनेक तत्त्व प्रवेश पा सकते हैं और तुरंत, अनिवार्यतः, सभी आंतरिक सम्मिश्रण बदल जाते हैं। हां, तो विश्व कुछ इस तरहकी चीज है।

मैं भौतिक विश्वकी बात कर रही हूं। भौतिक विश्व परम प्रभुके अनिवार्यतः एक विशेष रूपका, एक विशेष अंश-विभूतिका मूर्त्त रूप है। लेकिन यह मूर्त्त रूप लेनेकी क्रिया प्रगतिशील है — और यह अनिवार्यतः एकसमान, अनिवार्यतः नियमित नहीं होती, बल्कि यह होती है स्वतंत्रताके एक विधानका उत्तर देते हुए जो बहुत ज्यादा सूक्ष्म है।

इस रचनामें नये तत्त्व पैठते हैं और सारे संगठनको बदल देते हैं। और तब, यह संगठन, जो अपने-आपमें पूर्ण था, और जो अपने विधानके

अनुसार खुलता जा रहा था, लगभग अचानक बदल जाता है और सभी आंतरिक संबन्ध बदल जाते हैं। तब हम समस्याको जिस दृष्टिकोणसे देखते हैं उसके अनुसार यह किसी असंगत, अप्रत्याशित चीजका या चमत्कार-का आभास देता है। और इससे दो सहगामी चीजें बनती हैं: एक ऐसा नियतिवाद जो, अगर यह स्वतंत्रता न होती तो, अपने-आपमें निरपेक्ष होता, साथ ही इस जगत्में अप्रत्याशित और अतिरिक्त तत्त्वकी निरपेक्षता भी है। मुझे पता नहीं कि तुम समझ पाए हो या नहीं, लेकिन मैंने उसे समझानेकी कोशिश की है।

यह जोड़ या संयोजन कैसे किया जाता है?

क्या, यह जोड़?

एक नये तत्त्वका जुड़ना...

हां, परम 'चेतना' की अभीप्साद्वारा।

परम 'चेतना' की अभीप्साद्वारा?

हां। वह इस जगत्में काम कर रही है और, कामकी आवश्यकताके लिये, इस जगत्में काम करते हुए, वह किसी विशेष उद्देश्यके लिये काम करती है, समझे — अन्धकारपूर्ण चेतनाको भागवत चेतनाकी स्वाभाविक अवस्थामें लानेके लिये और अपने काममें जब कभी उसका किसी नयी बाधासे सामना होता है, किसी नयी चीजको जीतना या परिवर्तित करना हो तो वह एक नयी 'शक्ति' को पुकारती है। (माताजी हाथ खोलनेका संकेत करती हैं।) और यह नयी 'शक्ति' नयी सृष्टिके समान है। और तब, जिस तरह हर एक चीजका अपना सादृश्य होता है, उसी तरह हम कह सकते हैं, हर एक सत्ताकी विभिन्न क्षेत्रोंमें — एक मानव सत्ताकी — विभिन्न क्षेत्रोंमें नियति होती है जो, कहा जा सकता है, **निरपेक्ष** है। लेकिन अभीप्साके द्वारा उसके अन्दर उच्चतर क्षेत्रके साथ सम्पर्कमें आनेकी और इस उच्चतर क्षेत्रकी क्रियाको इन भौतिक-तर नियतियोंमें प्रविष्ट करनेकी क्षमता भी होती है। और वहां भी यही चीज है। ये दोनों संयुक्त चीजें: एक नियतिवाद जिसे हम (समझ

सकनेके लिये) हर एक क्षेत्रमें "क्षैतिज" कह सकते हैं, जो निरपेक्ष है, और उस नियतिवादमें दूसरे क्षेत्रोंका या किसी उच्चतर क्षेत्रका हस्तक्षेप जो उसे पूरी तरह बदल देता है। इस प्रकार, हर एक व्यक्ति, एक ही समयपर उन नियतियोंका समूह होता है जो देखनेमें बिलकुल निरपेक्ष मालूम होती हैं। और हर एकको उच्चतर क्षेत्रकी सत्ता या चेतनाकी अवस्थाओंको या शक्तियोंको बीचमें लानेके लिये पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है; और वह इन शक्तियोंको पुकारकर और उन्हें बाहरी नियतियोंमें लाकर हर चीजको पूरी तरह बदल देता है। और इसी तरह शक्तियां अप्रत्याशित या अनजानी वस्तुका या स्वतंत्रताका आभास देती हैं।

मां, क्या यह वही चीज है जिसे हम "भागवत कृपा" कहते हैं?

(मौनके बाद) अमुक दृष्टिकोणसे, हां। यानी, बिना भागवत कृपाके यह नहीं हो सकता। (मौन) लेकिन, नहीं... अगर तुम सब कुछ भागवत कृपाकी ओर ले जाओ तो यह ठीक है; निश्चय ही चेतनाकी एक अवस्था है और चीजोंको देखनेकी एक दृष्टि है जिसकी वजहसे हम सब कुछ भागवत कृपाकी ओर वापिस ले जाते हैं और अन्तमें यह खोज करते हैं कि केवल उसीका अस्तित्व है, और वही सब कुछ करती है। लेकिन, जबतक तुम उस छोरतक नहीं पहुंचते, उससे पहले तुम भली-भांति यह कल्पना कर सकते हो कि सत्तामें व्यक्तिगत अभीप्साका एक तत्त्व है और भागवत कृपा प्रत्युत्तर देती है। यह कहनेका एक तरीका है। दूसरा भी कहनेका तरीका है। बात इससे ज्यादा सूक्ष्म है, ज्यादा अबोधगम्य है! इन चीजोंको शब्दोंमें व्यक्त करना ज्यादा कठिन है, क्योंकि तब वह अनिवार्यतः मानसिक कठोरता धारण कर लेती है और वास्तविकताका एक पूरा अंश अदृश्य हो जाता है। लेकिन अगर तुम्हें अनुभूति प्राप्त है तो तुम बहुत आसानीसे समझ लोगे। निष्कर्ष: अनुभूति प्राप्त करनी चाहिये।

मधुर मां, "भागवत विरक्ति" क्या है?

ओह, मेरे वत्स! (मौन) वह ऐसी विरक्ति है जो पूर्ण असीम करुणासे भरपूर है।

वह ऐसी चीज है जो खराब स्पंदनोंको अपने ऊपर ले लेती है ताकि दूसरे उससे मुक्त हो जायं। परिणाम... (मौन) गलत और निम्न

गतिविधिके परिणामको — भूल करनेवालेपर क्रूर न्यायके साथ फेंकनेकी जगह, वह उसे आत्मसात् कर लेती है ताकि उसे अपने अन्दर परिवर्तित कर सके, और की गयी भूलके भौतिक परिणामोंको यथासंभव कम कर दे। मेरा ख्याल है कि भगवान् शिवकी वह पुरानी कहानी इस भागवत विरक्तिको अभिव्यक्त करनेका कल्पनात्मक तरीका है, जिसमें उनके गलेपर एक काला दाग पड़ गया था क्योंकि उन्होंने जगत्में जो कुछ अशुभ था उसे निगल लिया था! इससे उनके गलेपर काला दाग पड़ गया।

मां, जब भगवान् मानव कष्टको अपने ऊपर ले लेते हैं...

हां...:

तो क्या उनपर भी उन कष्टोंका वैसा ही असर होता है जैसा कि हमपर होता है? यानी, क्या वे हमारी तरह ही दुःख-कष्ट अनुभव करते हैं?

नहीं! मैं कह सकती हूं, नहीं! क्योंकि, स्पष्ट ही अज्ञानकी अवस्थामें और ज्ञानकी अवस्थामें एक तात्त्विक भेद है। मान लो, तुम्हारे साथ कोई दुःखद चीज घटती है; अज्ञानमें यह दुःखद चीज एक विशेष स्वरूप धारण करती है। लेकिन अगर तुम इस कष्टकर चीजको ज्ञानकी अवस्थामें ग्रहण करो तो उसके असर वही नहीं होते। किसी भौतिक चीजको ही ले लो, जैसे, बहुत ही भौतिक प्रहार, एक अच्छा प्रहार इस तरहका (संकेत)। हां, तो जब तुम अज्ञानकी साधारण मानवी अवस्थामें रहो तो प्रहारका पूरा-पूरा परिणाम आता है। यह पूरी तरह प्रहार करनेवालेके और उसे ग्रहण करनेवालेके बलपर निर्भर है, समझे। लेकिन अगर यही प्रहार उसी तरीकेसे, उसी चीजसे एक ऐसी सत्तापर पड़े जिसमें अज्ञानकी जगह ज्ञान है तो **तुरंत** शरीरकी ऐसी प्रतिक्रिया होगी जो परिणामोंको...न के बराबर कर देगी। यह तो ठोस तथ्य है! यहांतक कि परिणाम बिलकुल रद्द कर दिये जाते हैं। चीज इस हदतक जा सकती है; यानी, वह (सत्ता) परिणामोंको मिटा सकती है, क्योंकि तब प्रतिक्रिया अज्ञानकी प्रतिक्रिया होनेकी जगह ज्ञानकी प्रतिक्रिया होती है। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि ये एक ही बात हैं।

नैतिक चीजोंमें यह बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि, उदाहरणके लिये, तुम आघातमक धक्केको साधारण अहंकारपूर्ण भावनाके अन्धेपनके साथ ग्रहण

करनेकी जगह, उसे वस्तुनिष्ठ रूपमें लेते हो; देखते हो कि वह क्या चीज है, तुम स्पन्दनकी रचनाको देखते हो; और तुरंत उसपर प्रकाश, ज्ञान और सत्य डालते हो। और सारी चीजें अपने-अपने स्थानपर आ जाती हैं। यह सब तुरन्त हो जाता है। लेकिन मैं इस बातपर जोर देती हूं कि नितान्त भौतिक शरीरपर भी, और नितान्त भौतिक तरीकेसे भी, असर एक-सा नहीं होता। और फिर, इसे समझना काफी आसान है, क्योंकि अगर एक ही प्रभाव होता तो भगवान्‌के अपने ऊपर खराब चीजोंको लेनेका कोई शुभ परिणाम न होता! क्योंकि उस हालतमें वे ज्यों-की-त्यों बनी रहतीं और विश्व भी जो है वही बना रहता। चूंकि भगवान्‌में इन अन्धकारपूर्ण स्पन्दनोंको प्रकाशमय स्पन्दनोंमें बदलनेकी क्षमता है, इसलिये वे सब कुछ अपने ऊपर ले सकते हैं। वरना, यह न केवल निरर्थक, बल्कि असंभव भी होता; यह एक वाहियात बात होती।

जो भौतिक प्रहार मिलता है...

क्या?

यहां "ज्ञान" का अर्थ क्या है?

"ज्ञान" का अर्थ क्या है? अगर तुम्हारे अन्दर ज्ञान है — कोषाणुओंका आंतरिक ज्ञान, उनके अस्तित्वका, उनके मिश्रणका और प्रहारके परिणामोंका, यानी, कोषाणुओंपर प्रहारके प्रभावका ज्ञान और साथ-ही-साथ, अगर तुम्हें इस बातका भी ज्ञान हो कि कोषाणुओंको क्या होना चाहिये, और प्रहार मिलनेपर उन्हें किस तरह प्रतिक्रिया करनी चाहिये, तब भौतिक स्वभावकी प्रक्रियाकी जगह, जिसमें बिगड़ी हुई चीजकी मरम्मत करनेके लिये कई घण्टे या दिन या महीने लग जाते हैं, तुम उसे तुरंत कर सकते हो। और, वास्तवमें, यही होता भी है!

(मौनके बाद) यह सब एक... यह क्रियाके एक बहुत छोटे-से अंशका वर्णन है। क्योंकि, जब क्रिया सर्वांगीण और पूर्ण होती है तब इस निरे भौतिक ज्ञानके साथ एक आंतरिक ज्ञान, और अतिमानसिक शक्तियों जैसी शक्तियोंको संचालित करनेवाली एक शक्ति जुड़ जाती है, जो उस चीजको तुरंत कर सकती है जिसे करनेके लिये भौतिक जगत्‌में काफी लम्बी अवधि लग जाती है, समझे। वहां भी, जब तुम केवल उस भौतिक ज्ञानको ही नहीं जो तुम्हें जल्दी-से-जल्दी चीजोंको सुव्यवस्थित करने देता

है, बल्कि अतिमानसिक ज्ञान और शक्तिको भी लानेमें सफल हो जाओ ताकि तुम उस स्थानपर सत्यकी शक्तिको प्रक्षिप्त कर सको — इस तरह कि सब कुछ इस शक्तिके प्रभावमें आ जाय और सभी चीजें, तत्त्व, कोषाणु और वह सब जो इन्हें संघटित करता है, इस अतिमानसिक शक्तिके प्रति ग्रहणशील बन जाय और संगठन सत्यके विधानके अनुसार हो सके — तब वह प्रहारको ठीक करनेका, और दुर्घटनासे हुई क्षतिको सुधारनेका ही नहीं, बल्कि सामान्य चेतनामें — और विशेष बिन्दुपर भी — बहुत बड़ी प्रगति करनेका और शक्तियोंको ग्रहण करनेमें, इन शक्तियोंके आदी बननेमें, उनके प्रभावका प्रत्युत्तर देनेमें बड़ी प्रगति करनेका मौका हो सकता है।

जब तुम्हारे अन्दर शक्ति हो तो तुम इसी तरह किसी खराब चीजको अच्छी चीजमें बदल सकते हो। यह एक असीम शक्ति है, इस अर्थमें कि अगर तुमने कोई भूल की है और वह गंभीर है, तो अगर तुम्हारे अंदर इस सत्य-चेतनाको, इस अतिमानसिक शक्तिको लानेकी और उसे काम करने देनेकी क्षमता है तो यह अद्भुत प्रगतिके लिये एक अवसर है। (मौन) इसलिये तुम्हें कभी हताश नहीं होना चाहिये। या अगर तुम बहुत बार भूल कर चुके हो तो भी तुम्हें कभी भूल न करनेकी इच्छा रखनी चाहिये; और तुम्हें इस बातका पक्का विश्वास होना चाहिये कि अगर तुम अपने संकल्पपर डटे रहो, तो किसी-न-किसी दिन तुम कठिनाईपर विजय प्राप्त कर लोगे।

अस्तु !

मधुर मां, महासरस्वती चारोंमें सबसे छोटी क्यों हैं?

क्योंकि उनका काम सबसे अन्तमें आया; इसलिये वह भी बिल्कुल अन्तमें आयीं। (मौन) वे इसी क्रममें अभिव्यक्त हुई हैं, यहां जो क्रम दिया गया है उसके अनुसार। ये रूप भगवती मांकी विशेषताओंके जैसे हैं जो कामकी आवश्यकताओंके अनुसार एकके बाद एक अभिव्यक्त हुए; और पूर्णताकी आवश्यकता अन्तमें थी, इसलिये वह सबसे छोटी हैं।

लेकिन ये चारों एक-दूसरेसे स्वतंत्र हैं न?

कुछ हदतक, लेकिन पूरी तरह नहीं। हमेशा वही चीज होती है। एक ऐसी स्वतंत्रता होती है जो कभी-कभी पूर्ण प्रतीत होती है और, साथ-

ही-साथ उन्हें जोड़नेवाला एक घनिष्ठ सूत्र भी होता है, यहांतक कि कह सकते हैं कि वह निरपेक्ष होता है। यहां, भौतिक जगत्में, केंद्रीय चेतना है महाशक्ति। हां, तो उनमें अपने विविध रूपोंकी क्रियाओंको नियंत्रित करनेकी शक्ति है — चाहे वे रूप कितने भी स्वतंत्र क्यों न हों, और अपनी-अपनी अभीप्साके अनुसार ही काम करते हों। और फिर भी वे नियंत्रण कर सकती हैं, इस अर्थमें कि यदि...

उदाहरणके लिये, कालीको लो। अगर काली हस्तक्षेप करनेका निश्चय करती हैं और 'महाशक्ति' — जिनमें स्वभावतः चीजोंकी ज्यादा पूर्ण और व्यापक दृष्टि है — देखती हैं कि हस्तक्षेप करनेका समय ठीक नहीं है, या बहुत जल्दी है तो वह महाकालीपर दबाव डाल सकती हैं और उनसे कह सकती हैं: "शांत रहो।" और तब वे शांत रहनेके लिये बाधित होती हैं; और फिर भी वह बिलकुल स्वतंत्र रूपसे काम करती हैं।

लेकिन वे महाकालीको क्यों क्रिया नहीं करने देतीं? क्योंकि यहां तो कहा गया है कि अगर महाकाली हस्तक्षेप करें तो जिसके होनेमें शताब्दियां लगतीं वह अभी हो सकता है।

मैं कहती हूं, इसीलिये तो महाकाली हैं और अपना काम करती हैं। लेकिन कामको देखनेका महाकालीका अपना तरीका होता है; और जब तुम्हें पूर्ण दृष्टि प्राप्त हो तो तुम देख सकोगे कि, है न...। वह केवल अपने कामका ही पक्ष देखती हैं, और जब तुम समग्रको देख सको तो कह सकोगे: "नहीं, नहीं, यह ठीक समय नहीं है!" (मौन)

ओह! मुझे लगता है कि समाप्त करनेका समय हो गया है।

पिछली बार आपने कहा था कि श्रीमती दाविद-नील अपनी रचनाको आत्मसात् करना नहीं जानती थीं और आपने उन्हें "गुर" बताया था।

(पवित्र जोरसे दोहराते हैं) श्रीमती दाविद-नील अपनी रचनाको आत्मसात् करना नहीं जानती थीं...

हां तो?... तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें "गुर" बता दूं? (हंसी) पहले रचनाएं बनाना सीखो, फिर मैं तुम्हें "गुर" बताऊंगी! (हंसी)

२५ अगस्त, १९५४

(यह वार्तालाप भी 'माता' के छठे अध्यायपर आधारित है।)

> "भगवती माताके और भी महान् 'व्यक्तित्व' हैं, लेकिन उन्हें इस धरतीपर उतारना ज्यादा कठिन था और वे धरतीकी चेतनाके विकासमें प्रधान रूपसे आगे नहीं आये। उनमेंसे कुछ ऐसी 'उपस्थितियां' भी हैं जो अतिमानसिक सिद्धिके लिये अनिवार्य हैं — विशेषकर, यह गुह्य और बलशाली उल्लास तथा 'आनन्द'का स्वरूप जो भगवान्‌के ऊंचे-से-ऊंचे भागवत 'प्रेम'से प्रवाहित होता है। वह 'आनन्द' ही अतिमानसिक आत्माके सबसे ऊंचे शिखरोंका नाता 'जड़-तत्त्व'की गहरी-से-गहरी खाइयों-के साथ जोड़ सकता है। उसी 'आनन्द'के पास आश्चर्यमय, परम दिव्य 'जीवन'की चाबी है और अब भी वह अपने गुप्त स्थानोंमें रहता हुआ विश्वकी अन्य 'शक्तियों'के कामको सहारा देता है।"
>
> मधुर मां, यह 'व्यक्तित्व' कौन-सा है और वह कब अभि-व्यक्त होगा?

मैंने अपना उत्तर तैयार रखा है। मैं जानती थी कि मुझसे यह प्रश्न पूछा जायगा, क्योंकि इस उद्धरणकी सभी चीजोंमेंसे यही सबसे मजेदार है, इसलिये मैंने अपना उत्तर तैयार रखा है। मैंने इसका और दूसरे प्रश्न-का भी उत्तर तैयार कर लिया है। लेकिन पहले मैं यह पढ़ूंगी।

तुमने पूछा है: "यह व्यष्टि कौन-सी है और वह कब आयगी?" (मौन) और मैं यह उत्तर देती हूं:

"वह अपने साथ धरतीके लिये अभीतक अपरिचित शक्ति और प्रेम-की महिमा और भागवत 'आनन्द'की तीव्रताको लिये आ चुकी है।

इससे भौतिक वातावरण बिलकुल बदल गया था, वह नयी और अद्‌भुत संभावनाओंसे शराबोर था।

लेकिन यहां, इहलोकमें, स्थायी और क्रियाशील होनेके लिये यह जरूरी था कि उसे कुछ थोड़ी-सी ग्रहणशीलता तो मिले, कम-से-कम एक मनुष्य तो मिले जिसके प्राण और शरीरमें अपेक्षित गुण हों, जो एक तरहसे

परम पावन हो, जिसमें सहज और सर्वांगीण पवित्रता हो, साथ ही जिसका शरीर बिना टूटे, इसके साथ आनेवाले 'आनन्द'को सह सकनेके लिये काफी ठोस और संतुलित हो।

अभीतक उसे वह चीज नहीं मिली जो आवश्यक थी। मनुष्य दुराग्रह के साथ मनुष्य ही बने रहते हैं। वे अतिमानव नहीं बनना चाहते या नहीं बन पाते। वे केवल अपनी अंजलिके अनुसार ही मानव प्रेमको ग्रहण और अभिव्यक्त कर सकते हैं! और दिव्य 'आनन्द'का अद्भुत हर्ष उनके बोझसे बच निकलता है।

कभी-कभी यह देखकर कि जगत् उसे स्वीकारनेके लिये तैयार नहीं है, वह लौट जानेकी सोचती है। यह एक निष्ठुर क्षति होगी। यह सच है कि अभी तो उसकी उपस्थिति सक्रिय न होकर नामके लिये ही है, क्योंकि उसे अभिव्यक्त होनेका अवसर ही नहीं मिला। लेकिन यूं भी, वह कामके लिये एक प्रबल सहायता है। क्योंकि भगवती मांके सभी रूपोंमेंसे इसीमें शारीरिक रूपांतरके लिये सबसे अधिक सामर्थ्य है। वास्तवमें, जो कोषाणु भागवत आनन्दके संपर्कसे स्पंदित हो सकते हैं, जो उसे ग्रहण कर सकते और बनाये रख सकते हैं वे पुनरुज्जीवित कोषाणु हैं जो अमर बननेके मार्गपर हैं। लेकिन भागवत आनन्द और भोग-विलासके स्पन्दन एक ही प्राणमय और भौतिक शरीरमें नहीं रह सकते। अतः, 'आनन्द'को ग्रहण कर सकनेकी अवस्थामें होनेके लिये हर प्रकारके सुख अनुभवको **पूरी तरह** त्याग देना चाहिये। लेकिन ऐसे लोग विरले ही हैं जो सक्रिय जीवनमें भाग लेना छोड़े बिना, घोर तपश्चर्यामें डूबे बिना सुखको त्याग सकते हैं। और जो लोग यह जानते हैं कि सक्रिय जीवनमें ही रूपांतर सिद्ध होगा उनमेंसे कुछ सुखको 'आनन्द'का कम या ज्यादा भ्रष्ट रूप मानते हैं और इस तरह अपनी निजी तुष्टिकी खोजको न्यायसंगत ठहराते और अपने रूपांतरके मार्गमें ऐसी रुकावट खड़ी कर देते हैं जिसे पार करना लगभग असंभव है।"

हम यहां बन्द करें? हम अगली बार पूरा कर लेंगे। मुझे भी ढूंढनेके लिये समय मिल जायगा।

यह लो, अब अगर तुम कुछ पूछना चाहो...। (लंबी चुप्पी) पूछो!

जो कोई भी कुछ बोलना चाहे बोले...कोई भी जो कुछ बोलना चाहे बोले, केवल विद्यार्थी ही नहीं।

माताजी, अगर हम पहले सफल नहीं हो पाये तो कोशिश कर सकते हैं?

क्या ?

अगर हम अबतक सफल नहीं हो पाये तो कोशिश कर सकते हैं ?

ओह, हां, तुम हमेशा प्रयास कर सकते हो...। जगत् हर क्षण पुनः-सर्जित होता है। तुम इस क्षण भी एक नये जगत्को पुनःसर्जित कर सकते हो, अगर तुम उसे सर्जित करना जानो तो, यानी, अगर तुम अपने स्वभावको बदलनेमें समर्थ हो तो!

मैंने यह नहीं कहा कि वह चली गयी है। मैंने कहा है कि वह कभी-कभी, समय-समयपर, चले जानेकी सोचती है।

लेकिन, माताजी, वह इसलिये उतरी क्योंकि उसने कोई संभावना देखी होगी!

क्या ?

वह उतरी क्योंकि एक संभावना थी; क्योंकि चीजें अमुक हदतक आ गयी थीं, और उसके अवतरणकी घड़ी आ गयी थी।

वास्तवमें वह उतरी थी क्योंकि मैंने सोचा था कि यह संभव था... कि वह सफल हो सकती है। (मौन) हमेशा संभावनाएं रहती हैं, केवल उन्हें भौतिक रूप लेना चाहिये। है न, मैंने तुमसे जो कहा उसका प्रमाण लो: वह एक निश्चित क्षणपर आयी, और... दो-तीन सप्ताहमें, केवल आश्रमका ही नहीं, बल्कि धरतीका वातावरण इतनी शक्ति, इतने तीव्र भागवत 'आनन्द'से भरपूर हो गया, जो इतनी अद्भुत शक्ति पैदा करता है कि पहले जिन चीजोंको पूरा करना इतना कठिन था, वे लगभग तुरंत पूरी हो सकती थीं! संपूर्ण जगत्पर इसका प्रभाव पड़ा। मुझे नहीं लगता कि तुममेंसे एक भी ऐसा है जो इससे अवगत हो। तुम मुझे यह भी नहीं बता सकोगे कि यह हुआ कब, बता सकोगे ?

कब हुआ ?

मुझे तारीख नहीं मालूम। मुझे नहीं मालूम। मुझे तारीखें याद नहीं रहतीं। मैं लगभग बता सकती हूं, इस तरह...। (मौन) अगर मैं अपने कागज देखूं, तो हो सकता है कि मुझे तारीखें मिल जायं। लेकिन मैं

तारीखें नहीं जानती। यह मेरे लिये ऐसी चीज है जो...। मैं केवल इतना जानती हूं कि यह श्रीअरविंदके शरीर-त्यागसे पहले हुआ था, कि उन्हें पहलेसे ही सूचना मिल गयी थी, उन्होंने इस तथ्यको पहचाना था...

(मौन)

निश्चेतनाके साथ घोर संघर्ष हुआ; क्योंकि, जब मैंने देखा कि ग्रहणशीलता वैसी नहीं जैसी होनी चाहिये तो मैंने निश्चेतनाको उत्तरदायी ठहराया और वहीं लड़ाई करनेकी कोशिश की। मैं यह नहीं कहती कि उसके परिणाम नहीं आये, लेकिन प्राप्त परिणाम और अपेक्षित परिणाममें बहुत अंतर था।

मैं तुमसे यह बात कहती हूं, समझे... तुम सब इतने नजदीक हो, तुम वातावरणमें नहाते हो, लेकिन... तुममेंसे किसीको कुछ पता लगा? तुम अपना छोटा-सा जीवन सामान्य रूपमें बिताते रहे, है न?

(मौन)

माताजी, मेरा ख्याल है कि यह १९४६ में था, क्योंकि तब आपने हमें बहुत-सी बातें बतायी थीं!

बिलकुल ठीक!

(लंबा मौन)

मधुर मां, अब जब कि वह आ गयी है, हमें क्या करना चाहिये?

क्या?

हमें क्या करना चाहिये?

तुम नहीं जानते? तुम...। (मौन) अपनी चेतनाको बदलनेका प्रयास करो।

(लंबा मौन)

तो, यह लो! अब तुम जो प्रश्न पूछना चाहते थे पूछ लो...। (एक बच्चेकी ओर मुड़ते हुए) कुछ नहीं कहना?

माताजी, क्या एक भी व्यक्ति नहीं है?

क्या?

क्या एक भी व्यक्ति नहीं है?

मुझे नहीं मालूम!

माताजी, तो आप आश्रमके इन सब व्यक्तियोंके साथ अपना समय नष्ट कर रही हैं?

ओह, लेकिन देखो, गुह्य दृष्टिसे यह एक चयन है! बाहरी दृष्टिकोणसे तुम कह सकते हो कि जगत्‌में ऐसे लोग हैं जो तुमसे बहुत ज्यादा ऊंचे हैं; मैं तुम्हारा विरोध नहीं करूंगी। लेकिन गुह्य दृष्टिकोणसे यह एक चयन है। यहां जो हैं... बिना भूलके कहा जा सकता है कि यहां जो बच्चे हैं उनमेंसे अधिकतर यहां इसलिये आये हैं क्योंकि उन्हें वचन दिया गया था कि 'सिद्धि'के समय वे यहां होंगे। उन्हें याद नहीं है। (माताजी हंसती हैं।) मैं पहले बहुत बार कह चुकी हूं कि जब तुम धरतीपर उतरते हो तो सिरके बल गिरते हो और उससे मूर्ख बन जाते हो। (हंसी) यह खेदकी बात है। लेकिन आखिर, तुम इस मूर्खतासे निकल सकते हो, है न? जो चीज आवश्यक है वह यह है कि अपने अन्दर प्रवेश करो, अपने अन्दर स्थित अमर चेतनाको ढूंढो और तब तुम अच्छी तरह देख सकोगे, वे परिस्थितियां बहुत स्पष्ट रूपसे याद आ सकेंगी जिनमें तुमने 'कार्य'-सिद्धिके समय यहां रहनेके लिये अभीप्सा की थी! लेकिन आखिर, सच पूछो तो, मेरा ख्याल यह है कि तुम्हारा जीवन इतना आरामदेह है कि तुम बहुत कष्ट नहीं उठाते!... क्या तुममें ऐसे बहुत-से हैं जिन्हें अपने चैत्य पुरुषको ढूंढनेकी तीव्र आवश्यकता मालूम होती हो? यह जाननेकी कि तुम सचमुच हो क्या? तुम्हें क्या करना है? तुम यहां किसलिये हो? लोग बस, जीते हैं, यहांतक कि जब चीजें बहुत आसान नहीं होतीं तो शिकायत भी करते हैं। और फिर चीजें जिस तरह आती हैं उसी तरह उन्हें स्वीकार लेते हैं, और कभी-कभी, अगर कोई अभीप्सा जाग उठे

और उन्हें अपने अन्दर किसी कठिनाईका सामना करना पड़े तो वे कहते हैं: "ओह, माताजी तो हैं ही, वे मेरे लिये इसे ठीक कर देंगी," और फिर किसी दूसरी चीजके बारेमें सोचने लग जाते हैं!

माताजी, पहले आश्रममें बहुत सख्ती बरती जाती थी, लेकिन अब वैसा नहीं है, क्यों?

हां। मैंने हमेशा यह कहा है: यह तबसे है जबसे हमें बच्चोंको स्वीकृति देनी पड़ी। तुम इतने छोटे बच्चोंके साथ तापसिक जीवनकी कल्पना नहीं कर सकते! (संकेत) यह संभव नहीं है। यह युद्धका उपहार था! जब यह खोज की गयी कि पृथ्वीपर पांडिचेरी ही सबसे सुरक्षित जगह थी तो, स्वभावतः... जब लोग बच्चोंका दल-बल लेकर आते थे और आश्रयके लिये प्रार्थना करते थे तो हम उन्हें लौटा कैसे सकते थे, तो! ... यह इसी तरह हुआ, अन्यथा नहीं।

शुरूमें, पहली शर्त यह थी कि परिवारके साथ कोई संबन्ध नहीं रहेगा। अगर कोई व्यक्ति विवाहित था, तो उस क्षणसे उसे यह बात अपने मनसे पूरी तरह भुला देनी होती थी कि उसकी स्त्री और बच्चे हैं, उसे हर प्रकारका संबन्ध काट देना होता था; उसका उनके साथ कोई संबन्ध नहीं रहता था। और अगर कभी कोई स्त्री आनेकी स्वीकृति मांगती क्योंकि उसका पति यहां है, तो उसे जवाब दिया जाता था: "यहां आपका कोई काम नहीं।"

शुरूमें हम बहुत, बहुत, बहुत सख्त थे। बहुत समयतक, पहली शर्त यह थी: "अपने परिवारके साथ तुम्हारा अब कोई संबन्ध नहीं।" लेकिन अब हम उससे बहुत दूर हैं, है न? और मैं कहती हूं कि यह केवल इसी तरह हुआ। बात ऐसी नहीं थी कि हमें इसकी आवश्यकताका ख्याल नहीं आया; यह एक बहुत जरूरी शर्त है। जबतक तुम उन सब नातोंको बनाये रखो जो तुम्हें जीवनके साथ बांध देते हैं, जो तुम्हें साधारण जीवनका दास बना देते हैं, तबतक तुम केवल भगवान्‌के ही कैसे हो सकते हो? यह बचकानी बात है, यह संभव नहीं है! लेकिन, अगर तुम आश्रमके पहले नियमोंको पढ़नेका कष्ट उठाओ, तो लोगोंमें दोस्ती भी खतरनाक और अवांछनीय मानी जाती थी। हमने एक ऐसा वातावरण बनानेकी कोशिश की थी जहां केवल एक ही चीजका महत्त्व था, और वह था दिव्य जीवन। लेकिन, जैसा कि मैंने कहा है, है न, थोड़ा-थोड़ा करके ... सब कुछ बदल गया।

इसका एक फायदा है। हम जीवनसे एकदम बाहर थे। बहुत-सी समस्याएं तो आती ही नहीं थीं, जो जब पूर्ण अभिव्यक्तिको लाना चाहते तो अचानक ही उठ खड़ी होतीं। हमने समस्याओंको जरा जल्दी हाथमें ले लिया। लेकिन उन्हें हल करना जरूरी था। बहुत-सी चीजें हम इसी तरह सीखते हैं; बहुत-सी कठिनाइयां इसी तरह पार करते हैं। लेकिन बात ज्यादा जटिल हो जाती है। और शायद, वर्तमान परिस्थितियोंमें, इतने सारे तत्त्वोंके साथ जिन्हें इस बातका तनिक भी पता नहीं कि वे यहां किसलिये हैं... पहलेकी अपेक्षा शिष्योंसे ज्यादा प्रयासकी मांग की जाती है।

पहले, है न, हमने पैंतीस-छत्तीस लोगोंके साथ शुरू किया था। लेकिन डेढ़ सौ लोगोंतक, डेढ़ सौ तक भी यह इतना... वे मेरी चेतनामें इस तरह समाये हुए थे मानों एक अण्डेमें हों, इतने नजदीक, समझे, कि मैं उनकी सभी आंतरिक और बाह्य गतिविधियोंका सारे समय निर्देशन कर सकती थी; हर एक चीज, हर क्षण, दिन-रात, पूरे नियंत्रणमें रहती थी। और स्वभावतः, मेरा ख्याल है कि उस समय वे प्रगति किया करते थे। यह पूर्णतया एक तथ्य था कि मैं उनके लिये साधना करती थी, **सारे समय**! लेकिन फिर, (बच्चोंकी) बाढ़के बाद, तुम तीन सालके, चार सालके, पांच सालके पिट्ठोंके लिये साधना तो नहीं कर सकते। इसका सवाल ही नहीं उठता। मैं केवल उनपर अपनी चेतना डाल सकती हूं और इसके लिये कोशिश कर सकती हूं कि वे यथासंभव अच्छी-से-अच्छी परिस्थितियोंमें बड़े हों।

इसलिये, इसका एक फायदा होता है। यही कि पूरी तरह और निष्क्रिय रूपसे निर्भर होनेकी जगह यह जरूरी है कि हर एक थोड़ा-बहुत प्रयास करे और, सच पूछो तो, यह बहुत अच्छा है!

मुझे अब याद नहीं कि आज मैं किससे कह रही थी — मेरा ख्याल है कि कोई "जन्म-दिन वाला" था...। नहीं, मुझे याद नहीं... कोई ऐसा व्यक्ति था जिसने कहा: "आज मैंने अठारह वर्ष पूरे किये।"

वह जया थी।'

हां, मैं जानती हूं, कि आज उसका जन्मादन है। लेकिन मुझे याद नहीं कि मैंने उसीसे कहा था। मैंने आज सुबह किसीसे यह कहा था।

मैंने कहा कि अठारह और बीसके बीच मैंने भागवत उपस्थितिके साथ सचेतन और सतत ऐक्य पा लिया था और मैंने उसे **एकदम** अकेले, बिना

किसीकी मददके प्राप्त किया था। पुस्तकोंकी भी मदद नहीं ली, समझते हो! जब मैंने उसे प्राप्त कर लिया — उसके कुछ समय बाद मुझे विवेकानन्दकी पुस्तक 'राजयोग' मिली और मुझे यह चीज इतनी अद्-भुत लगी कि चलो, कोई तो मुझे कुछ समझा सका। उससे मैंने कुछ ही महीनोंमें वह चीज प्राप्त कर ली जिसके लिये शायद मुझे कई साल लग जाते।

एक आदमीसे मेरी भेंट हुई। मैं शायद इक्कीस सालकी थी, बीस या इक्कीसकी। मेरी एक भारतीयसे भेंट हुई जो भारतसे आया ही था। उसने मुझे गीताके बारेमें बताया। गीताका एक अनुवाद था जो काफी बुरा था, उसने मुझे वही पढ़नेकी सलाह दी, उसने मुझे कुंजी दी — उसकी कुंजी, यह उसकी कुंजी थी — उसने मुझसे कहा: "गीता पढ़िये, गीता का यह अनुवाद पढ़िये, इसका मूल्य तो बहुत नहीं है, पर फरासीसीमें यही एकमात्र प्राप्य है।" उस समय मैं और भाषाओंमें समझ भी न पाती। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी अनुवाद भी उतने ही खराब होते हैं, और मेरे पास कोई और... श्रीअरविंदने अभी अपना अनुवाद नहीं लिखा था।

उसने कहा: "गीता पढ़िये, और श्रीकृष्णको अंतर्यामी भगवान्का, अंतः-स्थित भगवान्का प्रतीक मानिये।" उसने मुझसे बस, इतना ही कहा। उसने कहा: "उसे इस ज्ञानके साथ पढ़िये कि गीता में श्रीकृष्ण अंतर्यामी भगवान्के प्रतीक हैं, उस भगवान्के जो आपके अन्दर विद्यमान हैं।" हां तो, एक ही महीनेमें सारा काम हो गया!

और तुम, हां, तुममेंसे कई बचपनसे यहीं हैं, तुम्हें सब कुछ समझा दिया गया है, तुम्हारे लिये सब कुछ कर दिया गया है — केवल शब्दोंमें ही नहीं, बल्कि चैत्य सहायताके द्वारा भी, सब प्रकारसे... सभी संभव तरीकोंसे — तुम्हें आंतरिक शोधके इस पथपर खड़ा कर दिया गया है, और तुम, बस, जीते जाते हो, इस तरह... (मुद्रा) और तुम इस बारे-में सोचते भी हो तो यही कि उसे जब आना होगा आ जायगा!

तो, बस। लेकिन इससे मैं तनिक भी हताश नहीं होती। मुझे तो यह... बहुत मजेदार लगता है। केवल, और चीजें हैं जो मुझे ज्यादा गंभीर प्रतीत होती हैं, यानी, जब तुम स्वयं अपने-आपको धोखा देनेकी कोशिश करते हो...। वह सचमुच अच्छा नहीं होता। एक चीजको दूसरी नहीं मान लेना चाहिये। जैसा कि कहा जाता है, कानेको काना कहना चाहिये, और मानव सहजबोधको मानव सहजबोध, और मुझसे आकर दिव्य चीजोंकी चर्चा न करो जब कि वे हों निरी मानव। यह लो! जब तुम बिलकुल साधारण

चेतनामें रहते हो तब अतिमानसिक अनुभूतियां प्राप्त करनेका दिखावा न करो।

यह लो। अगर तुम अपने-आपको अपने सामने रखकर देखो और यह जानो कि तुम कैसे हो, और अगर अचानक संकल्प करो...

मुझे इस बातका आश्चर्य होता है कि तुम इसकी तीव्र आवश्यकता महसूस तक नहीं करते: "हम किस तरह जान सकते हैं?" क्योंकि तुम जानते हो — तुमसे कहा गया है, तुम्हारे आगे दोहराया गया है, बार-बार दोहराया गया है, अनेकों बार दोहराया गया है — तुम जानते हो कि तुम्हारे अन्दर दिव्य चेतना है, फिर भी तुम, रात-पर-रात सोते, दिन-पर-दिन खेलते, दिन-पर-दिन सीखते रह सकते हो और फिर भी तुम्हारे अन्दर अपने-आपके साथ संपर्कमें आनेके लिये उत्साह और तीव्र संकल्प न हो, हां, अपने साथ, यहां अन्दर! ... (माताजी वक्षके केंद्रकी ओर संकेत करती हैं) यह, यह बात वस्तुतः, मेरी समझमें नहीं आती!

जब पहली बार मुझे मालूम हुआ — और किसीने मुझे बताया नहीं, मुझे एक अनुभूतिसे मालूम हुआ — जब पहली बार मुझे पता चला कि मुझे अपने अंदर एक आविष्कार करना है, तो वही सबसे महत्त्वपूर्ण चीज थी। यह जरूरी है कि वह सबसे पहले आये। और जब, जैसा कि मैंने कहा, मुझे केवल एक छोटा-सा संकेत देनेके लिये एक किताब मिली, एक आदमी मिला, यह कहनेके लिये: "लो, अगर तुम इस तरह करो तो पथ तुम्हारे आगे खुल जायगा," तो मैं एक ... एक तूफानकी तरह वहांसे भागी, और कोई चीज मुझे रोक न सकी।

और तुम यहां कितने सालसे हो, उनींदे! कभी-कभी, तुम उसके बारे-में सोचते तो हो, विशेष रूपसे तब जब मैं उसकी चर्चा करती हूं; कभी-कभी तब जब तुम पढ़ते। हो लेकिन यह तीव्रता, यह इच्छा जो सभी बाधाओंको जीत लेती है, यह एकाग्रता जो हर एक चीजसे बढ़कर है!

मुझसे किसने पूछा था कि अब क्या करना चाहिये?

मैंने।

तो, यह है जो तुम्हें करना चाहिये, मेरे बच्चे। मैंने अभी-अभी बताया।

मधुर मां, हम आपके स्पर्शके प्रति नमनीय कैसे बन सकते हैं।

ओह, नमनीय? जब तुम्हारे अन्दर बहुत सद्भावना हो, जब तुम जान

लो कि तुम कुछ नहीं जानते, कि तुम्हें सब कुछ सीखना है, कि तुम असमर्थ हो, कि वहां भी तुम्हें सब कुछ सीखना है, तब तुम कुछ-कुछ नमनीय बनने लगते हो और जब कोई शक्ति दबाव डालती है तब तुम उत्तर देते हो।

लेकिन उसका वर्णन... तुम्हें केवल किताब उठाकर अंतिम वर्णन फिर-से पढ़ना होगा; बस, इतना ही। लोग जिस अवस्थामें हैं उसका यह ठीक-ठीक चित्रण है। यह अंतिम पृष्ठपर है... शारीरिक वर्णन, मनका वर्णन, प्राणका वर्णन, वह सब यहां मौजूद है, इसके सिवाय भी इसका वर्णन उन्होंने बहुत बार किया है, है न? (लंबा मौन। माताजी किताब उठाती हैं और वह अनुच्छेद ढूंढती हैं, फिर कहती हैं:) यह रहा, इस अनुच्छेदमें: "लेकिन सावधान रहो और भगवती मांको अपने छोटे-से भौतिक मनद्वारा समझने और उनका मूल्यांकन करनेकी कोशिश मत करो — वह मन जो अपनेसे ऊंची चीजोंको अपने मानदण्डों और नापोंके, अपनी संकरी तर्कणा और गलत रायोंके, अपने अथाह और आक्रामक अज्ञान-के और अपने तुच्छ धृष्टतासे भरे ज्ञानके अधीन करना पसंद करता है।" तुम इसे कभी-कभी दुबारा पढ़ सकते हो, यह तुम्हें सद्बुद्धिकी ओर ले जायगा।

अच्छा, तो बस? और कुछ नहीं पूछना? किसीको कुछ नहीं पूछना? आजकी शाम कोई भी बोल सकता है। (एक बालकसे) तुम्हें कुछ नहीं कहना? तुम्हें भी नहीं? किसीको कुछ नहीं पूछना? कोई कुछ नहीं कहता!

क्या तापसिक अनुशासन हमें आसक्तिको पार करनेमें सहायता नहीं देता?

नहीं, वह तुम्हारे मिथ्याभिमानको फुलाकर और मजबूत बना देता है!

लेकिन आपने कहा: "सुखका त्याग करो।" तब...

सुखका त्याग करना... लेकिन तापसिक अनुशासनद्वारा सुखका त्याग नहीं किया जाता! वह किया जाता है एक आंतरिक प्रदीप्तिके द्वारा और सत्ताके एक प्रकारके उदात्तीकरणके द्वारा, जिससे तुम्हें यह अनुभव होता है कि सुखमें जो कुछ है वह गंवारू, अंधकारपूर्ण और अप्रिय है!

अगर हम गंवारू सुखमें रहते हैं तो उसे पार कैसे करें?

लेकिन मुझे नहीं लगता कि तुम केवल गंवारू सुखमें रहते हो; वरना, मेरा ख्याल है कि तुम यहां न होते!

लेकिन सब कुछ सुख ही तो है, है न? सुख, इसका अर्थ है ...सुख। हम आरामसे रहते हैं, हम खाते हैं इत्यादि। यह सब, यह सुख नहीं है?

(आश्चर्यसे) तुम यह सब सुखके लिये करते हो? (हंसी) यह तुम्हारी धारणा है। मुझे तुमसे कुछ नहीं कहना। अगर तुम उच्चतर जीवनके लिये अभीप्सा करनेवाली और बिलकुल साधारण जीवनमें आरामसे रहनेवाली चीजमें भेद न कर सको तो मैं तुम्हारी मदद नहीं कर सकती। यह जरूरी है कि तुम पहले अपने अंदर यह खोज कर लो।

लेकिन बाहरी अनुशासन कुछ मदद नहीं करता?

अगर तुम अपने लिये एक अनुशासन ठीक करो और अगर वह बहुत मूर्खतापूर्ण न हो तो वह अनुशासन तुम्हारी मदद कर सकता है। अनुशासन, मैं तुमसे कहती हूं — अनुशासन, तपस्याएं और सभी प्रकारकी तपस्यामय साधनाएं, जैसा कि उनका साधारणतः अभ्यास किया जाता है, तुम्हारे अंदर मिथ्याभिमान पैदा करनेके लिये सबसे अच्छे तरीके हैं, इतना भयंकर अभिमान निर्मित करनेके लिये कि तुम कभी-कभी नहीं बदल सकोगे। तुम्हें उसे हथोड़ेसे तोड़ना होगा!

पहली शर्त है संतुलित विनम्रता, जो तुम्हें इस बातके प्रति सचेतन कर दे कि जबतक भगवान् तुम्हारी देखभाल, तुम्हारा पोषण, तुम्हारी सहायता, प्रबोधन और पथ-प्रदर्शन नहीं करते तबतक तुम कुछ भी नहीं हो। यह लो। जब तुम यह अनुभव कर लो, केवल दिमागसे ही नहीं समझो, बल्कि अपने शरीरके अंदरतकसे अनुभव कर लो, तब तुम बुद्धिमान् बनने लगते हो, उससे पहले नहीं।

माताजी, आपने जो दूसरी चीज लिखी है वह क्या है?

मुझे लगा कि कोई मुझसे कहेगा: "वह आपके कारण क्यों नहीं ठहर जाती जब कि वह आपकी पुकार सुनकर आयी है, वह आपके कारण क्यों नहीं रह जाती?" लेकिन किसीने मुझसे यह नहीं पूछा।

माताजी, हमें बता दीजिये।

उस शक्तिके लिये यह शरीर कालकी अनंततामें आनेवाले अनेक यंत्रोंमेंसे एक है। उसके लिये इसका महत्त्व उतना ही है जितना धरती और उसके मनुष्य इसे देते हैं और जिस परिमाणमें यह उसकी अभिव्यक्ति और उसके प्रसारणमें माध्यमका काम दे सकता है।

अगर मैं ऐसे लोगोंसे घिरी हूं जो उसे ग्रहण नहीं कर सकते, तो मैं उसके लिये किसी कामकी नहीं हूं। यह बहुत स्पष्ट है। तब फिर, यह वह चीज नहीं जो उसे रहनेके लिये रोक रखे; और, अवश्य ही, मैं उसे किसी स्वार्थपूर्ण कारणसे रहनेके लिये नहीं कह सकती। और फिर, ये सभी रूप, ये सभी व्यक्तित्व जो निरंतर अभिव्यक्त होते रहते हैं, वे कभी व्यक्तिगत कारणोंके लिये अभिव्यक्त नहीं हुआ करते। उनमेंसे एक भी नहीं जिसने मेरे शरीरकी सहायता करनेकी सोची हो, और मैं सहायता करनेके लिये कहती भी नहीं, क्योंकि वे उसके लिये तो नहीं आते। लेकिन यह स्पष्ट है कि अगर मेरे चारों ओर ग्रहणशीलता होती तो वे शक्तियां ग्रहणशील लोगोंके होनेके कारण निरंतर अभिव्यक्त हो सकतीं और इससे मेरे शरीरको बहुत अधिक सहायता मिलती। क्योंकि, सभी स्पन्दन मेरे शरीरमेंसे गुजरते और इससे उसे सहायता मिलती; लेकिन उसे अभिव्यक्त होनेका कोई अवसर नहीं मिलता; एक भी अवसर नहीं, उसे केवल ऐसे लोग मिलते हैं जो उसकी उपस्थिति अनुभवतक नहीं करते, उन्हें उसका पतातक नहीं होता। उनके लिये कोई फर्क नहीं पड़ता! तब फिर, वह अभिव्यक्त कैसे होगी?

और मैं उससे यह नहीं कहूंगी: "जरा कृपा करके मेरा शरीर बदलनेके लिये आओ।" हमारे संबंध इस तरहके नहीं हैं... और स्वयं शरीर भी नहीं चाहेगा। उसने अपने बारेमें कभी नहीं सोचा, उसने कभी अपनी परवाह नहीं की। वह केवल कामके द्वारा ही रूपांतरित हो सकता है और जब वह आयी तब अगर ग्रहणशीलता होती और अगर वह उस शक्तिके साथ अभिव्यक्त हो पाती जिसके साथ वह आयी थी, तो अवश्य...। उसके आगमनसे भी पहले...। मैं तुम्हें एक चीज बता सकती हूं, वह यह कि जब मैंने श्रीअरविन्दके साथ योगके लिये उतरना — मनसे प्राणमें उतरना — शुरू किया, जब हमने अपने योगको मनसे प्राणमें उतारा, एक महीनेकी अवधिमें — उस समय मैं चालीस सालकी थी, मैं वयस्क नहीं लगती थी, चालीससे कमकी लगती थी, लेकिन आखिर मैंने चालीस वर्ष पूरे कर लिये थे — एक महीनेके योगके बाद मैं ठीक अठारह वर्षकी लगती थी। और

कोई व्यक्ति, जिसने मुझे देखा था, जो मेरे साथ जापानमें रह चुका था और यहां आया था, उसे मुझे पहचाननेमें कठिनाई हुई, उसने मुझसे पूछा : "लेकिन आप ही हैं?" मैंने कहा : "निश्चय ही!"

केवल, जब हम प्राणसे शरीरमें उतरे तब वह चीज चली गयी, क्योंकि भौतिकमें काम बहुत ज्यादा कठिन होता है! ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि और भी बहुत सारी चीजें बदलनी थीं। लेकिन अगर इस तरहकी किसी शक्तिको अभिव्यक्त और ग्रहण किया जा सकता तो उसकी क्रिया अद्‌भुत होती! आखिर, है न, यह... मैं उसकी बात कर रही हूं क्योंकि मुझे लगा था कि तुम प्रश्न करोगे, वरना यह नहीं... मेरा संबंध ऐसा नहीं है। समझे, मेरा मतलब है, अगर तुम मेरे शरीरको लो, यह बेचारा शरीर; वह बिलकुल निर्दोष है, और वह न ध्यान आकर्षित करनेकी कोशिश करता है, न शक्ति। अपने कामको भरसक कर सकनेकी कोशिश करनेके अलावा वह और कुछ करनेकी कोशिश नहीं करता। तो यह ऐसे ही है, है न? कामके लिये उसका महत्त्व उसकी उपयोगिताके अनुपातमें होता है, और जगत् उसे जो महत्त्व देता है उसके अनुपातमें भी, क्योंकि क्रिया इस जगत्‌के लिये है। अपने-आपमें वह दूसरे अनगिनत शरीरोंमेंसे एक है।

अगर तुमने अपने चैत्यको अनुभव करनेका जरा भी निश्चय किया होता तो मेरा समय नष्ट न हुआ होता।

तो बस; हो गया! अब समाप्त।

८ सितंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय एक : "स्थिरता — शांति — समता" के आधारपर है। इस पुस्तकमें शिष्योंके प्रश्नोंके उत्तरमें लिखे गये श्रीअरविंदके कुछ पत्रोंका संकलन है।)

"साधनाके मार्गमें जो शक्तियां आड़ी आती हैं वे निम्न मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिकी शक्तियां हैं। उनके पीछे मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म भौतिक लोकोंकी विरोधी

शक्तियां होती हैं। इनके साथ तभी निबटा जा सकता है, जब मन और हृदय एक होकर भगवान्‌के प्रति एकमात्र अभीप्सामें एकाग्र हों।"

तो? . . .

मधुर मां, सूक्ष्म भौतिककी विरोधी शक्तियां कौन-सी हैं?

विरोधी शक्तियां कौन-सी है? जगत्‌में जितने तत्त्व हैं उतनी ही विरोधी शक्तियां हैं। हां, लेकिन जबतक वे अपने-आपको भौतिक रूपमें प्रकट न करें, तबतक हम उन्हें नहीं देख पाते। इसलिये हमें उनका पता नहीं है। लेकिन मैंने उस दिन तुमसे कहा था कि वातावरण असंख्य रचनाओंसे भरा है जो प्रायः विचारों, कामनाओं, आवेगों, इच्छाओंसे बनी हैं और वे इतनी ही मिश्रित होती हैं जितने मनुष्यके विचार। अच्छी रचनाएं हैं, बुरी शक्तियां हैं; और उनके पीछे प्राणिक जगत्‌की सारी रचनाएं हैं, और यह जगत् तत्त्वतः भगवान्‌का विरोधी है। केवल चैत्य प्रभाव-तले मनुष्यका प्राण बदल सकता है और भगवान्‌के काममें सहयोग दे सकता है। अन्यथा, प्राणिक जगत् तत्त्वतः ऐसी सत्ताओंसे बना है जो भागवत कार्यके विरुद्ध हैं। जो बिना किसी संयमके अपने-आपको इन शक्तियोंके प्रति खोलते हैं, वे स्वभावतः, इन विरोधी शक्तियोंके प्रभावके अधीन हो जाते हैं। इसलिये, यह नहीं कहा जा सकता कि ये विरोधी शक्तियां क्या हैं। यह कहना ज्यादा आसान होगा कि वे क्या नहीं हैं।

(पहली पंक्तिमें बैठे हुए बच्चोंसे) तुम्हें कुछ पूछना है? तुम्हारे पास कोई प्रश्न है? और तुम? तुम?

यह पाठसे बाहरका है।

क्या? पाठसे बाहरका है? और आगे? तो वह अगली बारके लिये। (माताजी फिर पूछती हैं) और तुम? कुछ नहीं? और अब, तुम, तुम्हें भी कुछ नहीं पूछना?

जरा आगेका है।

तो मैंने बहुत थोड़ा पढ़ा है?

पवित्र : नहीं, माताजी !

मुझे शिकायतें मिली हैं कि मैंने 'माता' बहुत तेजीसे पढ़ी। मुझसे जरा धीरे पढ़नेके लिये कहा गया है; इसलिये मैं धीरे पढ़ती हूं।

मधुर मां, "मनोमय सत्ताके पदार्थ" का क्या मतलब है?

वत्स, पदार्थका मतलब है . . . कैसे कहूं ? . . . इसका मतलब है वह द्रव्य जिससे मानसिक सत्ता बनी है। उदाहरणके लिये, कहा जा सकता है कि, कोषाणु तुम्हारे शरीरके पदार्थ हैं। वह ठीक जड़-पदार्थ नहीं हैं, मन बिलकुल भौतिक नहीं है, लेकिन यह वही चीज है जिससे मन बना है। अगर मानसिक पदार्थ न होता तो मानसिक सत्ता भी न होती। वह केवल स्पंदन होता; और स्पंदनोंके प्रकट होनेके लिये भी तो किसी माध्यमकी जरूरत होती है।

लेकिन अगर तुम्हारा शरीर भौतिक पदार्थसे न बना होता, तो तुम्हारे शरीर ही न होता। यही पदार्थ कहलाता है। पदार्थ वह चीज है जिससे कोई चीज बनती है। और यथार्थतः, यह बात जरूरी है, लोग यह समझते हैं कि मन केवल एक क्रिया-पद्धति है, जब कि सचमुच एक मानसिक पदार्थ होता है, वैसे ही जैसे प्राणिक पदार्थ और भौतिक पदार्थ होता है। और चूंकि पदार्थ है इसलिये उसके अनुरूप एक स्वतंत्र जगत् भी है जिसमें स्वतंत्र जीवन भी है, यानी, भौतिक आधारके बिना भी मन हो सकता है। हो सकता है कि भौतिक शरीर लुप्त हो जाय पर मन बना रहे। इस जगह यह समझ लेना जरूरी है कि एक मानसिक पदार्थ होता है जो, स्पष्टतः, अधिक . . . (मौन) कैसे कहा जाय ? . . . भौतिक द्रव्यकी अपेक्षा बहुत अधिक अभौतिक है।

कुछ लोग परिपाटीसे भिन्न "विरल करना" शब्दका प्रयोग करते हैं। लेकिन मुझे नहीं लगता कि इसमें ठीक वह भाव है। हां, हम कहते हैं कि पदार्थोंमें भिन्न-भिन्न घनता है और पदार्थ जितना अधिक भौतिक होता है उतनी ही घनता अधिक होती है, जैसे-जैसे वह जड़-भौतिकसे दूर होता है, वैसे-ही-वैसे घनता कम होती है। फिर भी, वह पदार्थ तो रहता ही है। एक ईथरीय पदार्थ भी होता है। मैं यह नहीं कहती कि यह बात वैज्ञानिक सिद्धांतोंसे मेल खाती है; मैं यह जिम्मेदारी नहीं लेती कि मैं जो कह रही हूं वह वैज्ञानिक दृष्टिसे नास्तिकता नहीं है! लेकिन यह वैश्व तथ्य है। (माताजी हंसती हैं।) शायद जब मैं रहस्यवादके बारेमें बतला रही थी तो मैंने कहा था कि गुह्यवादका अभ्यास कर सकनेसे

पहले सबसे पहली चीज जो तुम्हें जाननी चाहिये वह है कि सत्ताकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न घनता होती है, और उनमेंसे हर एकका एक अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, कि वे जीवित वास्तविकताएं हैं, कि वे सचमुच वास्तविक पदार्थ हैं, कि वे केवल सत्ताकी पद्धति नहीं हैं। मानसिक सत्ता और मानसिक क्रिया हो सकती हैं, उदाहरणके लिये, मस्तिष्कसे बिलकुल स्वतंत्र विचार हो सकता है, जब कि जड़वादी सिद्धांतोंका कहना है कि मस्तिष्क ही मानसिक क्रियाको जन्म देता है। लेकिन यह ठीक नहीं है। मस्तिष्क मानसिक क्रियाका भौतिक आलेखन है। मानसिक क्रियाका अपना क्षेत्र होता है; मानसिक क्षेत्रकी अपनी ही वास्तविकता होती है, अपना पदार्थ होता है। व्यक्ति मस्तिष्कके बाहर सोच सकता है, क्रिया कर सकता है और मस्तिष्कके बाहर रचनाएं बना सकता है। तुम जी भी सकते हो, घूम सकते हो, एक जगहसे दूसरी जगह जा सकते हो, मानसिक जगत्में मानसिक चीजोंका सीधा ज्ञान पा सकते हो, संक्षेपमें, शरीरसे बिलकुल स्वतंत्र, और उस समय तुम्हारा शरीर पूर्ण जड़तामें, पूरी तरह सुप्तावस्थामें ही नहीं, स्तम्भित अवस्थामें भी हो सकता है। और फिर, यह बिलकुल निश्चित है कि जबतक तुम यह नहीं समझ पाते कि तुम सत्ताकी विभिन्न अवस्थाओंसे बने हो जिनमेंसे हर एकका अपना-अपना स्वतंत्र जीवन है, तबतक तुम्हें अपनी सत्तापर पूरा अधिकार नहीं हो सकता। हमेशा कुछ-न-कुछ बच निकलेगा।

(एक बच्चेसे) तुम्हें कुछ पूछना है?

जी, प्रश्न पुस्तकसे बाहरका है।

क्या पुस्तकसे नहीं है? चलो, मजेदार हो तो कोई हर्ज नहीं!

माताजी, कार्यक्रममें जो अचानक परिवर्तन हुआ है उसका क्या मतलब है?[1]

ओह! लेकिन वह — वह चीज एकदम व्यक्तिगत है!

---

[1] माताजी सबेरे बहुत-से लोगोंको आशीर्वाद दिया करती थीं जिनमें विद्यार्थी भी होते थे। अब वह कार्यक्रम बन्द हो गया। प्रश्न उसके बारेमें है।

अच्छा, मैं तुम्हें बताये देती हूं: वह हर एकके लिये अलग है और स्वयं तुम्हें अपने अन्दर पता लगाना चाहिये। और अगर तुम पता लगा लो तो तुमने कुछ प्रगति कर ली होगी!...

(मौन)

(एक बच्चेसे) कुछ कहना है?

जी नहीं।

(एक औरसे) तुम, तुम्हें कुछ पूछना है? नहीं? नहीं! तुम सपने देख रहे हो! (हंसी) किसीके पास कोई प्रश्न नहीं? (और एकसे) तुम?

जब हम एकाग्र होना चाहते हैं तो नाना प्रकारके विचार क्यों आते हैं जो अन्यथा कभी नहीं आया करते?

क्या कहा तुमने?

जब हम एकाग्र होना चाहते हैं तो नाना प्रकारके विचार क्यों आते हैं जो पहले तो कभी नहीं आये?

शायद वे आते थे पर तुम्हें पता न था! शायद तुम्हें उनका पता इसलिये लगता है क्योंकि तुम एकाग्र होना चाहते हो। यह भी हो सकता है कि चेतनामें कोई विरोधका तत्त्व है, और जब तुम मौन होना चाहते हो तो कोई चीज कहती है: "नहीं, मैं मौन न होऊंगी।"

मेरा ख्याल है, तुममेंसे बहुतोंके अन्दर इस तरहका आंतरिक विरोध है। जब तुम अच्छे होनेका निश्चय करते हो तो कोई चीज ऐसी होती है जो तुम्हें दुष्ट होनेकी ओर धकेलती है, और जब तुम शांत होना चाहते हो तो कोई चीज तुम्हें उत्तेजित होनेकी ओर धक्का देती है, और जब तुम नीरव होना चाहते हो तो तुरंत विचार भटकना शुरू कर देते हैं। एक ऐसा विरोध है जो मनुष्यकी प्रकृतिमें निहित है। यह भी हो सकता है; जो मैंने कहा वह भी हो सकता है: कि ये सब विचार पहले भी थे पर चूंकि तुम उनकी ओर ध्यान नहीं देते थे, तुम्हें उनका भान न था।

यह बिलकुल निर्विवाद है कि पूर्ण नीरव-निश्चलता पैदा करना सब चीजोंमें सबसे ज्यादा कठिन है, क्योंकि बहुतेरी चीजें, जिनका तुम्हें भान भी न था **बहुत बड़ी** हो जाती हैं! सब प्रकारके सुझाव, गतियां, विचार, रचनाएं तुम्हारी बाहरी चेतनामें मानों **यंत्रवत्** चलती रहती थीं, लगभग चेतनाके बाहर, चेतनाकी सीमापर; और जैसे ही तुम पूर्णतया निश्चल-नीरव होना चाहते हो, वैसे ही तुम्हें इन सबका पता चलता है जो घूमती, चक्कर-पर-चक्कर लगाती फिरती रहती हैं और बहुत शोर मचाती हैं और तुम्हें नीरव होनेसे रोकती हैं। इसलिये ज्यादा अच्छा यह है कि बहुत शांत-स्थिर रहो, एकदम शांत और साथ ही अपने ऊपरकी किसी चीज-की ओर, जिसके प्रति तुम अभीप्सा करते हो, बहुत अधिक एकाग्र रहो और तब अगर इस तरहका शोर-शराबा तुम्हारे चारों ओर मचा हो (माताजी अपना हाथ सिरके चारों ओर घुमाती हैं), तो उसकी ओर ध्यान न दो, उसे देखो भी मत, उसकी अवहेलना करो। अगर ऐसे विचार हैं जो गोल, गोल, गोल, इस तरह (संकेत) चक्कर लगाते हैं; ये आते हैं और चले जाते हैं, तो उन्हें देखो मत, उनपर ध्यान न दो; महान् अभीप्सामें (जिसे तुम रूप भी दे सकते हो) ऊपरकी ओर एकाग्र होओ — रूप देना प्रायः एकाग्रतामें सहायक होता है — प्रकाशकी ओर, शांति, स्थिरता, एक प्रकारकी आंतरिक निष्क्रियताकी ओर एकाग्र होओ। एकाग्रता इतनी मजबूत हो कि चारों ओर चक्कर लगानेवाली चीजोंकी ओर तुम ध्यान ही न दे पाओ। लेकिन अगर तुम अचानक कह उठो: "आह, कुछ शोर हो रहा है! ओह, यह रहा एक विचार!", तो मामला खत्म। तुम शांत-स्थिर होनेमें कभी सफल न हो सकोगे। तुमने ऐसे लोग कभी नहीं देखे जो लड़ाईको शांत करनेके लिये लड़नेवालोंकी अपेक्षा बहुत ज्यादा जोरसे चिल्लाते हैं? हां तो, यह भी कुछ वैसी ही चीज है! (माताजी हंसती हैं।)

मधुर मां, क्या मैं इस विषयसे बाहरका एक प्रश्न पूछ सकता हूं?

कौन-सा प्रश्न?

'ब्रेन ऑफ इण्डिया' (भारतीय मस्तिष्क) में श्रीअरविंदने लिखा है कि बंगाली अपने हृदयसे सोच सकते हैं...

कौन हृदयसे सोच सकते हैं? मैं नहीं सुन पाती! बंगाली हृदयसे सो

सकते हैं? यह बात कहनेका काव्यात्मक ढंग है! (हंसी) उन्होंने यह कहां लिखा है? यह सचमुच एक बहुत काव्यमय वर्णन है। मतलब यह है कि वे तत्त्वतः भावुक लोग होते हैं और उनका हृदय उनके विचारोंमें भी सचेतन रहता है, कि उनका विचार शुद्ध रूपसे बौद्धिक और शुष्क नहीं होता, और कि उनका हृदय उनके विचारसे अवगत होता है। उनका यह आशय था।

लेकिन मैं यह भी बता दूं कि जब मैं जापानमें थी, तो मुझे एक आदमी मिला था। उसने एक दल... बनाया था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह दल साधनाके लिये था, वह एक प्रकारके अनुशासनके लिये था। उसका एक सिद्धांत था और उस सिद्धांतपर ही दल बनाया गया था। वह यूं था: तुम सत्ताके किसी भी अंगसे सोच सकते हो, अगर तुम वहांपर एकाग्र होओ। यानी, अपने सिरमें सोचनेकी जगह तुम छातीमें सोच सकते हो। उसका कहना था कि आदमी यहां (इशारा), पेटमें भी सोच सकता है। वह पेटको प्राणका, अर्थात्, प्राण-शक्तिका स्थान मानता था। वह कुछ संस्कृत शब्दोंका उपयोग करता था — लेकिन अधकचरे...। लेकिन इससे कुछ नहीं आता-जाता। वह बहुत सद्भावनापूर्ण था, और कहा करता था, आदमियोंके अधिकतर दुःख इस तथ्यसे आते हैं कि लोग अपने सिरसे सोचते हैं। इसीसे सिर-दर्द होता है, तुम थक जाते हो और तुम्हारी मानसिक स्पष्टता चली जाती है। इसके विपरीत, अगर तुम यहां सोचना सीख लो (पेटकी ओर इशारा), तो तुम्हें शक्ति, बल और शांति मिलती है। और बड़ी विलक्षण बात यह थी कि उसने मानसिक शक्तिको **ठीक** यहां (इशारा) उतार लानेकी एक प्रकारकी क्षमता प्राप्त कर ली थी; मानसिक क्रिया-कलाप वहींपर पैदा होते थे, सिरमें नहीं। और उसने इस तरह बहुत-से लोगोंका, बहुत-से, यानी, सैकड़ों लोगोंका इलाज किया था जो सिर-दर्दसे बुरी तरह पीड़ित रहते थे।

मैंने इसका परीक्षण किया है। यह बहुत सरल है, ठीक इसीलिये कि जैसा मैंने थोड़ी देर पहले कहा था, मानसिक शक्ति, मानसिक क्रिया-कलाप मस्तिष्कसे स्वतंत्र है। हमें मस्तिष्कका उपयोग करनेकी आदत है, लेकिन हम किसी और चीजका प्रयोग कर सकते हैं, या यूं कहें, मानसिक शक्तिको कहीं और केंद्रित कर सकते हैं, और तब ऐसा लगेगा कि मानसिक क्रिया-कलाप वहांसे आते हैं। तुम अपनी मानसिक शक्तिको सौर-चक्र (हृदय-स्थान) में यहां (संकेत) केंद्रित कर सकते हो, और यह अनुभव कर सकते हो कि वह क्रिया-कलाप वहांसे आ रहा है।

वह आदमी कहा करता था : "क्या आपने नहीं देखा कि जिन लोगोंमें बहुत शक्ति होती है, उनका पेट बड़ा होता है ? (हंसी) — क्योंकि वे अपनी शक्तियोंको वहां संचित करते हैं, इसीलिये उनका पेट बड़ा हो जाता है।" वह हमेशा नेपोलियनका उदाहरण दिया करता था और कहता था : "ये लोग हमेशा एकदम सीधे खड़े होते हैं, हमेशा सीधे, सिर भी सीधा। इस तरह कभी नहीं (माताजी सिर सामने झुकाती हैं), कभी इस तरह नहीं (माताजी सिर दायीं ओर झुकाती हैं), कभी इस तरह नहीं (माताजी सिर बायीं ओर झुकाती हैं); हमेशा एकदम सीधे और अपनी सारी शक्ति यहां रखते हैं (पेटकी ओर इशारा) और यह चीज उन्हें बहुत बलवान् बना देती है !" और वह हमेशा नेपोलियनकी बात करता था। वह कहता था : "देखो, नेपोलियनको..." (माताजी दिखाती हैं कि नेपोलियनका पेट बड़ा था।) जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर जापानमें थे तो वे उससे मिलने आये थे। उसने मुझसे कहा : "आपसे देखा, रवीन्द्रनाथ हमेशा एकदम सीधे खड़े होते हैं, इस तरह, सिर भी एकदम सीधा रहता है।" तो मैंने कहा : "परंतु उनका पेट तो बड़ा नहीं है !" वह बोला : "हो जायगा।" (हंसी)

उसकी सभाओंमें सैकड़ों आदमी होते थे। वे हमेशा घुटनोंके बल बैठते थे जैसे जापानमें बैठा जाता है। वह एक छड़ीसे मेजपर टकोर लगाता था और हर एक अपनी मानसिक शक्ति पेटमें उतार लाता था; फिर, वे सब इसी अवस्थामें रहते थे... ओह, कम-से-कम आधे घंटेके लिये। और आधे घंटेके बाद वह दूसरी बार मेजपर टकोर लगाता था और वे अपनी मानसिक शक्ति छोड़ देते थे और बोलने लगते थे... बहुत नहीं, क्योंकि जापानी बहुत नहीं बोलते, फिर भी, बोलते तो हैं।

हां, तो ! ख्याल करो इसमें कुछ चीज बहुत सच्ची थी। इस अर्थमें कि, अगर कभी तुम्हें सिर-दर्द हो, तो मैं तुम्हें यह करनेकी सलाह देती हूं : विचार शक्ति, मानसिक शक्ति, — और अगर तुम जरा-सी प्राण-शक्ति खींच सको तो वह भी — उसे नीचे ले आओ, इस तरह (सिरपरसे दोनों हाथोंको धीरे-धीरे नीचे लानेकी मुद्रा)। अगर तुम्हारे सिरमें दर्द हो या भारीपन हो या, उदाहरणके लिये, धूप लग गयी हो, अगर तुम्हें कुछ भी हो गया हो, तो अगर तुम यह करना जानो और शक्तिको इस तरह यहां ले आओ (छातीके मध्य भागकी ओर इशारा), या इससे भी नीचे (पेटकी ओर इशारा), तो वह गायब हो जायगा। वह गायब हो जायगा। तुम पांच मिनटमें यह कर सकोगे। अगली बार जब तुम्हारे सिरमें दर्द हो तो तुम यह करके देख सकते हो... मैं आशा करती हूं कि तुम्हें सिर दर्द न होगा, लेकिन अगली बार हो तो यह परीक्षण कर देखना। सीधे बैठ

जाओ, यूं (एक आसन दिखाते हुए), जापानी कहते हैं कि तुम्हें अपनी एड़ियोंपर बैठना चाहिये — लेकिन उससे तुम्हारे ध्यानमें बाधा पड़ सकती है; इस तरह बैठनेसे — इसे वे सुखसे बैठना कहते हैं।[1] भारतीय ढंग यह है (संकेत), अन्यथा, तुम्हें इस तरह बैठना चाहिये (संकेत); अगर तुम्हें आदत न हो तो यह ज्यादा कठिन लगता है।

तो, तुम आरामसे बैठो और अपनी सारी शक्ति ले लो, मानों... तुम अपने सिरकी सारी ऊर्जा ले रहे हो, उसे ले लो, और फिर नीचे उतारो, नीचे, नीचे, नीचे, यूं, धीरे-धीरे, बहुत सावधानीसे, एकदम नीचे यहां, नाभि-तक और तुम देखोगे कि सिर-दर्द गायब हो गया है। मैंने बहुत बार यह परीक्षण किया है... यह बहुत अच्छा इलाज है, बहुत आसान; गोलियां या सूचीबेध लेनेकी कोई जरूरत नहीं; वह इस तरह ठीक हो जाता है। लो बस!

और कोई प्रश्न? हां!

हम मनमें स्थिर शांति और नीरवता कैसे स्थापित कर सकते हैं?

सबसे पहले तुम्हें उसकी चाह होनी चाहिये।

और फिर, तुम्हें कोशिश करना और लगे रहना चाहिये। कोशिश करते रहो। अभी मैंने जो बतलाया है, वह बड़ा अच्छा उपाय है: और उपाय भी हैं। शुरूके लिये, तुम चुपचाप बैठो, और तब, पचासों चीजोंके बारेमें सोचनेकी जगह तुम अपने-आपसे "शांति, शांति, शांति, शांति, शांति, स्थिरता, शांति!" कहना शुरू करो। तुम शांति और स्थिरताकी कल्पना करो। अभीप्सा करो, यह मांगो कि वह आ जाय: "शांति, शांति, स्थिरता।" और जब कोई चीज आये, तुम्हें छुए और क्रिया करे तो अचंचलताके साथ कहो: "शांति, शांति, शांति।" विचारोंकी ओर मत देखो, विचारोंकी मत सुनो, समझे। जो भी चीज आये उसकी ओर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिये। तुम जानते हो कि जब कोई तुम्हें बहुत तंग करता है और तुम्हें उससे पिंड छुड़ाना हो तो तुम उसकी नहीं सुनते, सुनते हो क्या? अच्छा! तुम अपना मुंह फेर लेते हो (संकेत), और किसी और चीजके बारेमें सोचते हो। तो, तुम्हें वही करना चाहिये: जब विचार आयें तो उनकी तरफ मत देखो, उनकी मत सुनो, उनकी ओर जरा भी ध्यान न दो, ऐसे व्यवहार करो, मानो वे हैं ही नहीं, समझे! और फिर,

---

[1] वीरासन

सारे समय इस तरह दोहराते रहो — कैसे कहूं ? — एक मूढ़की तरह, जो सारे समय एक ही बात दोहराता रहता है। तुम भी उसीकी तरह करो; दोहराते जाओ : "शांति, शांति, शांति।" तुम कुछ मिनटोंके लिये यह प्रयास करो और फिर, तुम्हें जो करना हो करो; और फिर, एक बार, फिरसे शुरू करो; बैठ जाओ और प्रयास करो। सवेरे उठते समय यह करो, रातको सोते समय यह करो। तुम यह कर सकते हो... देखो, अगर तुम अपना भोजन भली-भांति हजम करना चाहो तो खानेसे पहले कुछ मिनट यही करो। तुम कल्पना नहीं कर सकते कि इससे तुम्हारे पाचनको कितनी सहायता मिलेगी ! खाना शुरू करनेसे पहले थोड़ी देरके लिये चुपचाप बैठ जाओ और कहो : "शांति, शांति, शांति !" और सब कुछ स्थिर हो जाता है। ऐसा लगता है मानों सभी आवाजें दूर, दूर, दूर चली जा रही हैं (माताजी दोनों बाहें दोनों तरफ फैलाती हैं), और तब तुम्हें जारी रखना चाहिये; तब ऐसा समय आता है जब तुम्हें बैठनेकी जरूरत नहीं होती, तुम चाहे कुछ भी क्यों न कर रहे हो, तुम चाहे कुछ भी कह रहे हो, हमेशा "शांति, शांति, शांति," चलता रहता है। हर चीज ऐसे रहती है (माथेके आगे संकेत), वह अंदर नहीं आ सकती। ऐसे ही रहती है। और तब तुम हमेशा पूर्ण शांतिमें रहते हो... कुछ वर्षोंके बाद।

लेकिन आरंभमें, यह बहुत ही छोटा आरंभ होता है, दो-तीन मिनट, यह बहुत सरल है। ज्यादा जटिल चीजके लिये तुम्हें प्रयास करना पड़ेगा, और जब तुम प्रयास करते हो तो अचंचल नहीं रह सकते। अचंचल रहते हुए प्रयास करना कठिन है। बहुत सरल, बहुत सरल, इन चीजोंमें तुम्हें बहुत सरल होना चाहिये। यह ऐसा है मानों तुम अपने मित्रको बुलाना सीख रहे हो : बुलानेके संकेतसे ही वह आ जाता है। हां, तो शांति और स्थिरताको अपना मित्र बना लो, और उन्हें बुलाओ : "आओ, शांति, शांति, शांति, शांति, आओ !"

हो गया, बच्चो ?

माताजी, समझका स्थान क्या सिरमें है ?

समझनेकी क्षमता ? क्या तुम यही पूछ रहे हो, क्या वह सिरमें है ? मैं अभी इससे उल्टी बात कही है। कुछ ही मिनट पहले मैंने बताया कि सभी मानसिक क्षमताएं मनमें होती हैं, और केवल आदतके कारण सिरमें होती हैं। तुम किसी भी जगहसे समझ सकते हो। चेतनाका केंद्र जहां कहीं हो, तुम वहींसे समझ सकते हो।

आप कहती हैं: "आदतसे"। हम उसे बदल नहीं सकते, हम ऐसे ही पैदा हुए थे!

जब तुम पैदा हुए थे तब सोच रहे थे क्या?

सिरसे सोचना स्वाभाविक है। हम उसे आदत कैसे बना सकते हैं?

बहुत लंबे अरसेसे यह आदत रही है — बाप-दादोंके बाप-दादोंके बाप-दादा, इसी तरह — लेकिन हर एकके लिये नहीं! यह आंखोंसे देखनेकी आदतकी तरह है। लेकिन यह प्रमाणित किया जा चुका है कि आंखोंको छोड़कर किसी और जगह भी दृष्टिका केंद्र बनाया जा सकता है — जरा-सी एकाग्रता हो तो। मैं यह नहीं कहती कि मस्तिष्क सोचनेके लिये नहीं बना। मैंने यह कभी नहीं कहा। मैंने कहा है कि विचार दिमागपर निर्भर नहीं करता, और यह और ही बात है। अगर तुम मानसिक शक्तियोंके साथ व्यवहार करना जानो तो तुम स्पष्ट देख सकते हो कि अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके लिये मस्तिष्क बहुत उपयुक्त है — स्पष्ट है कि वह इसीके लिये बनाया गया है, विचारोंको ग्रहण करने और उन्हें क्रियामें उतारनेके लिये, उन्हें अभिव्यक्तिमें, शब्दोंमें उतारनेके लिये — लेकिन यह जरूरी नहीं है कि वही एकमात्र साधन हो।

(कुछ देर मौनके बाद) मेरा मतलब है कि यह अन्यथा एक आदत है! फिर भी, थोड़ा-बहुत योग करनेके बाद, तुम अच्छी तरह जानते हो कि तुम यहां सोच सकते हो (माताजी माथेके बीच भौंहोंके केंद्रकी ओर, फिर दाएं, बाएं दिखाती हैं), तुम यहां सोच सकते हो, तुम यहां सोच सकते हो, तुम यहां सामने सोच सकते हो, जैसा कि मैं अभी कह रही थी, तुम इससे बहुत ऊपर भी सोच सकते हो — परंतु स्वभावतः, आदमी समझता है कि सभी विचार-प्रपंच, एकाग्रता आदि मस्तिष्कमें निर्मित होते हैं — और जब कोई ऊपर, यहां सोचता है (माताजी सिरके ऊपरकी जगहकी तरफ संकेत करती हैं), तो यहांकी अपेक्षा ज्यादा अच्छा सोचता है। बात यही है कि तुमने कभी और तरह सोचनेकी कोशिश ही नहीं की। यह नहीं कि "कभी कोशिश ही नहीं हुई", ऐसे लोग काफी संख्यामें हैं जिन्होंने कोशिश की है और सफलता पायी है।

तो यह रहा, मेरे बच्चो! मेरा ख्याल है, यह काफी है। आजके लिये यह बस है।

१५ सितंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदके 'योगके आधार,'
अध्याय एक : "स्थिरता — शांति — समता"
के आधारपर है।)

जब हम अपने-आपको विचारोंके मनसे अलग कर लेते हैं तब भी क्या मन विचार करना जारी रखता है?

साधारणतः वह विचार करना जारी रखता है, परंतु अब इसका तुम्हारे ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। यह सचमुच "सोचना" नहीं है, वह बाजारकी तरह नहीं है। चीजें आती हैं, घूमती हैं, मुड़ती हैं, चली जाती हैं, वापिस आती हैं, एक-दूसरेका रास्ता काटती हैं और कभी-कभी टकराती हैं। यह बिलकुल बाजारकी तरह है। ये चीजें इस तरह होती रहती हैं (संकेत)।

विचारोंका कारखाना... यह बहुधा नहीं होता। कुछ लोगोंका विशेष प्रकारका पेशा होता है जो बाहरसे आनेवाली विचार-शक्तिको कोई रूप-विशेष दे देते हैं। साधारणतः ये लोग होते हैं लेखक, वक्ता, अध्यापक आदि...। यह बहुत विरल है; साधारणतः, चीजें आती और चली जाती हैं, वापिस आती और लौट जाती हैं, और अगर तुम अपने-आपको अलग कर लो, तो तुम उन्हें ऐसे देख भी सकते हो जैसे कोई मीनारकी चोटीपर खड़ा होकर बाजारको देख रहा हो। तब यह सब बड़ा मजेदार हो जाता है। तुम यह भी देख सकते हो कि ये विचार कहांसे आ रहे हैं, वे कहां जा रहे हैं, वे क्या खलबली मचाते हैं और क्या परिणाम होते हैं।

माताजी, "प्राणिक मन"का क्या अर्थ है?

हूं, स्वभावतः, इन शब्दोंका उपयोग वर्गीकरणके लिये किया जाता है, ताकि अपनी बात समझायी जा सके; लेकिन सचमुच, सत्ताका हर भाग अपने-आप चार भागोंमें बंटा हुआ है। एक भौतिक मन है, एक भौतिक प्राण है, एक भौतिक भौतिक है, और एक भौतिक चैत्य भी होता है जो पीछे रहता है। हां, तो एक प्राणिक मन, एक प्राणमय प्राण, एक प्राणमय भौतिक और प्राणमय चैत्य भी होता है जो पीछे छिपा रहता है। और एक मनोमय

मन, एक मनोमय प्राण, एक मनोमय भौतिक और एक पीछे छिपा हुआ मनोमय चैत्य। हर एक, एक विशेष प्रकारकी क्रिया-कलापके साथ मेल खाता है। एक विशेष प्रदेश, चेतना और सत्ताके विशेष क्षेत्रके साथ भी मेल खाता है। और ये प्रदेश या आंतरिक आयाम बाहरी, वैश्व या तुम चाहो तो समस्याको सरल करनेके लिये पार्थिव कह लो, प्रदेशों और आयामोंके साथ मेल खाते हैं। तुम्हारे अंदर एक मानसिक या मनोमय मन है, पार्थिव वातावरणमें भी एक मनोमय मन है; और — इसे कैसे कहूं — इन भीतरी और बाहरी प्रदेशोंकी घनता एक ही है, उनकी स्पंदन-पद्धति एक-सी है।

अगर तुम सचेतन रूपसे अपने मनोमय मनमें प्रवेश करो, तो तुम धरतीके मनोमय मनमें सचेतन रूपसे प्रवेश कर सकोगे। हम एक बार इसकी व्याख्या कर चुके हैं, है न? हमने एक प्रकारके रेखांकन-से किये थे, याद है? नहीं, मैं गोलेकी बात नहीं कर रही, मैं उनकी... बात कर रही हूं जिनमें प्रदेशोंके निशान लगाये गये थे।

मधुर मां, हम संघर्षद्वारा इन आवेगोंपर मानसिक संयम किस तरह कर सकते हैं?

सभी शिक्षित लोग ऐसा करते हैं। केवल बर्बर ऐसा नहीं करते। जानते हो, शिक्षाका मूल सार यही है। यह मानी हुई बात है कि अगर तुम समाजमें रहते हो — वास्तवमें, अगर तुम बिलकुल अकेले भी रहते हो तो भी, लेकिन सामाजमें रहते हो तो बहुत ज्यादा — तो तुम वह सब नहीं कर सकते जिसके लिये तुम्हारे आवेश तुम्हें हांकते हैं। यह एकदम असंभव है। बहुत छोटी अवस्थासे ही तुम्हारे शिक्षकोंका काम है कि तुम्हें अपने आवेगोंको काबूमें रखना सिखायें, तुम उन्हींको मानो जो उन कानूनोंके अनुकूल हों जिनके अधीन तुम रहते हो, या उस आदर्शके अनुकूल हों जिसका तुम अनुसरण करना चाहते हो, या तुम्हारे परिवेशके वातावरणके अनुकूल हों। जो मानसिक रचना तुम्हारे आवेगोंपर नियंत्रण रखेगी उसका मूल्य बहुत कुछ तुम्हारे पास-पड़ोसपर, तुम्हारे मां-बाप और तुम्हें शिक्षा देनेवालोंके चरित्रपर निर्भर है। वह चाहे अच्छा हो या बुरा, मामूली हो या बढ़िया, वह हमेशा आवेगोंपर मानसिक नियंत्रणका परिणाम होता है। जब तुम्हारे मां-बाप कहते हैं: "तुम्हें यह नहीं करना चाहिये," या जब वे कहते हैं: "तुम्हें यह करना होगा," तो यह आवेगोंपर मनके नियंत्रणकी शिक्षाका आरंभ होता है।

तो, सच्चे गुणवाले आदमी या अधिक संस्कृत आदमीको, वह जिस

वातावरणमें रहता है उसके आदर्शके साथ सामंजस्यमें रहनेके लिये, एक भरपूर मानसिक रचनाके अनुकूल रहना पड़ता है। लेकिन जो आदमी इस रचनाके कम-से-कम एक छोटे-से भागके साथ भी मेल नहीं खाता, वह जंगली कहलायगा और उसे तुरंत समाजमेंसे निकाल फेंका जायगा। वास्तवमें, अपराधी या आधे पागल वह लोग हैं जो किसी मानसिक नियंत्रणके बिना अपने आवेगोंकी आज्ञा मानते चलते हैं। तुममेंसे एक भी ऐसा नहीं है जो बिना किसी नियंत्रणके अपनेको जकड़नेवाले सभी आवेगोंके आगे झुक जाता हो। तुम अपने जीवनका अवलोकन करो, तुम अपना समय यह कहते हुए बिताते हो : "नहीं, यह मुझसे न होगा," या : "हां, मैं यह कर सकता हूं," या एक गतिपर लगाम लगाते और दूसरी गतिको प्रोत्साहित करते हो। यह मानसिक नियंत्रण है।

मेरा ख्याल है कि यह चीज केवल जंगली आदमीमें नहीं होती, जो जंगलोंमें रहता है, और जिसका और किसीके साथ कोई संपर्क नहीं होता। लेकिन उसे भी आत्म-नियंत्रण करना पड़ता है, क्योंकि अगर वह अपने ऊपर नियंत्रण न करे तो उसके अंदर कोई बहुत बड़ी गड़बड़ हो जायगी। उसके मामलेमें भी ऐसी चीजें करनेसे रोकनेके लिये मनको काम करना पड़ता है जो उसे बड़ी कठिनाईमें डाल दे। यह मानव प्रकृति है कि उसमें एक प्रकारकी मानसिक क्रिया हो जो न्यूनाधिक रूपमें उसकी बाकी सत्तापर नियंत्रण करे। उसकी सभ्यताका स्तर ठीक उस बिंदुपर निर्भर है जहांतक यह नियंत्रण पहुंच चुका है, और जैसा कि मैंने कहा, स्वभावतः, नियंत्रण करनेवाली मानसिक रचनाके गुणपर निर्भर है।

मधुर मां, क्या भौतिक मन और यांत्रिक मन एक ही है?

लगभग। बस, जरा-सा अंतर है, बहुत नहीं। यांत्रिक मन भौतिक मनसे भी ज्यादा मूढ़ होता है। भौतिक मन वह है, जिसके बारेमें हमने एक दिन बातचीत की थी, जो कभी किसी बातके बारेमें निश्चित नहीं होता।

तुम्हें याद है, मैंने तुम्हें बंद दरवाजेकी बात बतायी थी। तो, यह है भौतिक मनका स्वभाव। यांत्रिक मन इससे भी नीचे स्तरपर होता है, क्योंकि वह युक्तियुक्त तर्क-बुद्धिकी संभावनाको भी सुननेके लिये तैयार नहीं होता। यह हर एकके साथ होता है। साधारणतः, हम उसे कार्य नहीं करने देते, लेकिन वह बार-बार वही बातें बिलकुल यांत्रिक ढंगसे, बिना किसी तुकके, यूं ही दोहराता चला जाता है। जब उसे कोई-न-

कोई सनक पकड़ लेती है, तो वह . . . उदाहरणके लिये, अगर उसे एक, दो, तीन, चार गिननेकी सनक आ जाय, तो बस, वह गिनता ही चला जायगा : "एक, दो, तीन, चार, एक, दो, तीन, चार।" तुम भले अन्य सब प्रकारकी चीजोंके बारेमें सोचते चले जाओ, पर वह "एक, दो, तीन, चार" की रट लगाये रहेगा, इस तरह . . .। (माताजी हंसती हैं।) या वह तीन-चार शब्दोंको पकड़ लेता है और उन्हें दोहराता है और दोहराता ही जाता है; जबतक तुम कुछ उग्रताके साथ मुड़कर उसकी ठीक मरम्मत न कर दो, "चुप रहो!" न कहो, तबतक वह अनिश्चित कालतक यूं ही करता रहेगा।

माताजी, क्या विचार और भाव ऐकांतिक रूपसे मनोमय जगत्‌की ही चीजें हैं?

ऐसे भी विचार और भाव हैं जो उस पारसे या ऊपरसे आते हैं, और मन केवल उन्हें रूप देता है। वास्तवमें, मैं अभी यही कहनेवाली थी। सच्चा लेखक, सच्चा विचारक, सच्चा वक्ता अपने विचारोंको मस्तिष्कमें नहीं बनाता। उसे ऊपरसे प्रेरणा मिलती है और उसके मनमें घुसते समय उसे (प्रेरणाको) शब्दोंका रूप मिलता है। लेकिन विचारका स्रोत बहुत ऊंचा होता है।

लेकिन सचमुच तुम पूछना यह चाहते थे : "क्या ऐसे विचार भी हैं जो नीचेसे आते हैं?" नहीं, ये विचार नहीं होते। ये आवेग मात्र होते हैं जो चेतनामें आकर शब्दोंमें अनूदित हो जाते हैं, शब्दोंका रूप ले लेते हैं। लेकिन ये विचार नहीं होते, इनकी प्रकृति भिन्न होती है।

"अवचेतना" का ठीक मतलब क्या है?

अवचेतना? वह जो अर्द्ध-चेतन है, है न। हम "अव" कहते हैं, उसका अर्थ है चेतनाके "नीचे"। वह चेतनासे ज्यादा घुंधली चीज है, लेकिन साथ ही, वह एक निचला स्तर है जो चेतनाको सहारा दिये रहता है। यह उन गोदामोंकी तरह है जिनमेंसे तुम कोई एकदम अनगढ़ चीज, एक रूप-हीन पदार्थ निकाल सकते हो, जिन्हें रूपोंमें अनूदित किया जा सकता है, कार्योंमें अनूदित किया जा सकता है या आवेगोंमें अथवा संवेदनोंमें भी अनूदित किया जा सकता है। लेकिन यह उन गोदामोंकी तरह है जिनमें मिली-जुली बहुत सारी चीजें होती हैं, जो बहुत स्पष्ट नहीं होतीं, लेकिन संभावनाओंकी दृष्टिसे बहुत समृद्ध होती हैं; उन्हें केवल प्रकाशमें

खींच लाना और संगठित और वर्गीकृत करना और एक आकार देना होगा ताकि उनका मूल्य हो।

जब तक ये चीजें वहां हैं वे एक ढेर, निश्चय ही अवचेतन निर्माण बनी रहती हैं, यानी, कुछ हदतक चेतन, अर्द्ध-चेतन जिसमें सब कुछ घुला-मिला है। उसमें व्यवस्था और वर्गीकरणका अभाव रहता है। चेतना-का स्वभाव है संगठित करना और वर्गीकरण करना... वर्गीकरण, चीजों-को व्यवस्थामें रखना, तर्कसंगत ढंगसे सजाना... तर्कके बहुत प्रकार होते हैं, फिर भी, इसमें कुछ तर्क, या तर्कका आरंभ होता है। तर्कके उच्च और उच्चतर प्रकार होते हैं जो अधिकाधिक श्रेष्ठ होते हैं। लेकिन प्रारंभिक तर्क भी चेतनाका पहला काम है।

लेकिन चेतना इस क्षेत्रमें डूबी हुई है, मानों उसकी जड़ें डूबी हुई हैं, और उनके द्वारा मानों रस खींचती रहती है; वह निरंतर इस अवचेतनाको ऊपर पम्पकी तरह खींचती रहती है, इसे उसको किसी व्यवस्थित रूपमें बदलना होता है। इसीलिये, हम एक ही काम बार-बार करते रहनेमें अपना समय लगाते हैं। अगर हमारे पास चेतनाकी थोड़ी-सी सीमित मात्रा होती जो हमारी अपनी होती, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं, मानों चेतनासे भरी हुई एक छोटी-सी थैली होती जो हमारी अपनी चेतना होती तो उसे सुव्यवस्थित रूपसे सजा लेनेपर ही हमारा काम पूरा हो जाता, और हम शांत-स्थिर हो सकते। लेकिन ऐसा बिलकुल नहीं है, ऐसा बिलकुल नहीं है।

जिस तरह चेतनाके ऐसे तत्त्व हैं जो बच निकलते हैं और उड़ जाते हैं, फैल जाते हैं, उसी तरह मानों गहरी भूमिसे, किसी ऐसी चीजका निरंतर उत्थान होता रहता है जो सचेतन बनाये जानेकी मांग करती है। और तुम्हें अपना काम हमेशा फिरसे करना पड़ता है। लेकिन अगर तुम सावधान और दत्तचित्त हो, तो ठीक उसी चीजको बार-बार करनेकी जगह, तुम उसे जरा-सी प्रगतिके साथ फिरसे कर सकते हो। तब यह गति सीधी लकीरमें होनेकी जगह इस तरह जानेवाली गति होती है... है न (सर्पिल गतिकी मुद्रा)। कभी-कभी लगता है कि तुम पीछे जा रहे हो, परंतु वह आगे, और आगे बढ़नेके लिये होता है।

क्या हम शांति पाये बिना निश्चल-नीरव हो सकते हैं?

शायद, हां; मतलब यह कि तुम्हारे मनमें, नीरवता हो सकती है, और हो सकता है कि हृदयमें शांति न हो। यह भली-भांति हो सकता है कि

मन बिलकुल नीरव और अचल हो, लेकिन फिर भी, यहां, हृदयमें कोई चीज स्पंदित होती और धड़कती हो। साधारणतः, इससे यह प्रमाणित होता है कि तुम काफी विमक्त हो। लेकिन बहुत-से लोग विमक्त होते हैं। तुम्हें मानसिक नीरवता हृदयकी शांतिके बिना भी प्राप्त हो सकती है। यह बहुत संभव है कि मन बिलकुल नीरव और गतिहीन हो, लेकिन इसके बावजूद, स्नायुओंमें कंपन हो सकते हैं जो स्पंदित होते और कूदते रह सकते हैं, और फिर भी मन बिलकुल नीरव रह सकता है। लेकिन अगर नीरवताको काफी लंबे समयतक रखा जाय तो बाकी को आवश्यक रूपसे अनुसरण करना होगा।

क्या स्थिरता और अचंचलता एक ही हैं?

स्थिरता और अचंचलता? हां, लगभग।

हां, विभिन्न प्रकारकी स्थिरता होती है और बहुत अलग-अलग तरह-की शांति होती है। उनमेंसे हर एकके लिये एक अलग शब्द हो सकता है, अगर तुम बहुत ज्यादा ठीक और यथार्थ होना चाहो तो हर एकको अलग नाम दिया जा सकता है। लेकिन तब, इस कामका अर्थ होगा अपने ही लिये एक शब्दकोश तैयार करना। स्पष्ट है, जब तुम्हें थोड़ी संख्यामें उन्हीं लोगोंके साथ बात करनी हो, तो तुम एक शब्दकोश बना सकते हो जो इतना यथार्थ होगा कि प्रयोगमें आनेवाले शब्दोंकी व्याख्या न करनी पड़े।

लेकिन अगर तुम्हें इन लोगोंसे या इस दलसे बाहरके लोगोंके साथ बातचीत करनी हो तो तुम्हें अपना काम फिरसे शुरू करना होगा, क्यों-कि यह शब्दकोश कुछ-कुछ, संक्षेपमें कहें तो... केवल सापेक्ष ही नहीं, बिलकुल मनमाना होता है। मेरे शब्दोंका कुछ अर्थ किया जाता है, हर एक कुछ अपना ही अर्थ करता है, लोग एक-दूसरेकी बात नहीं समझते जबतक कि उन्हें आपसमें बोलनेका अभ्यास न हो और उनमें प्रयोगमें आनेवाले शब्दोंके अर्थके बारेमें कम-से-कम मौन सहमति न हो। तुम एक नये आदमीके साथ बातचीत करो जो एक भिन्न परिवेशमें आता है, मान लो, किसी ऐसे व्यक्तिसे जो किसी अन्य देशसे आया है और जिसकी विचार-धारा तुमसे बहुत अधिक भिन्न है। तुम उससे कुछ कहते हो, तुम जो कहते हो उसे वह नहीं समझ पाता। वह कुछ और ही समझता है जो उसके सिरमें है, क्योंकि वह तुम्हारे बोले हुए शब्दोंको वही अर्थ नहीं देता जो तुम देते हो। जब लोगोंको एक-दूसरेसे बोलनेकी आदत होती

है, जब वे अपनी शब्दावलीको ठीक अर्थ देनेकी सावधानी बरत लेते हैं, तभी वे आपसमें कम-से-कम गलतफहमीके साथ, या तुम चाहो तो यूं कह लो, अधिक-से-अधिक समझके साथ बात कर सकते हैं।

'कृपा'को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करनेका क्या तरीका है?

आहा! सबसे पहले तो तुम्हें उसकी आवश्यकता अनुभव करनी चाहिये।

यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। तुम्हारे अंदर एक प्रकारकी आंतरिक नम्रता होनी चाहिये, जो इस बातका भान कराती है कि तुम भागवत 'कृपा'के बिना कितने असहाय हो, कि सचमुच, उसके बिना तुम अपूर्ण और शक्तिहीन रहते हो। आरंभमें, यही सबसे पहली चीज है।

यह एक ऐसा अनुभव है जिसे भली-भांति किया जा सकता है। जब ऐसे लोग, जो कुछ भी नहीं जानते, अपने-आपको बहुत कठिन परिस्थितियों-में पाते हैं, या किसी ऐसी समस्यामें उलझ जाते हैं जिसे हल करना ही चाहिये, या जैसा कि मैंने अभी कहा, किसी ऐसे आवेगमें आ जाते हैं जिसे जीतना जरूरी है, या अगर किसी वस्तुने उन्हें व्याकुल कर दिया है... और उस समय वे अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करते हैं; उनकी समझमें नहीं आता कि क्या करें — उनका मन, उनका संकल्प, उनके संवेदन, कोई भी सहायता नहीं करते — वे नहीं जानते कि क्या करें, तब यह होता है; उनके भीतर एक पुकार-सी उठती है, एक ऐसे-के प्रति पुकार जो वह सब कर सकता है जिसे यह नहीं कर सकते, व्यक्ति उस चीजके प्रति अभीप्सा करता है जो वह काम करनेमें समर्थ है जिसे वह स्वयं नहीं कर सकता।

यह पहली शर्त है। और फिर, अगर तुम्हें इस बातका भान हो जाय कि केवल भागवत 'कृपा' ही यह कर सकती है, कि तुम अपने-आप-को जिस परिस्थितिमें पाते हो उसमेंसे केवल 'कृपा' ही तुम्हें बचा सकती है, वही तुम्हें उसमेंसे निकलनेके लिये उपाय बता सकती है और बल दे सकती है, तो स्वभावतः, तुम्हारे अन्दर एक तीव्र अभीप्सा जगेगी — एक ऐसी चेतना जो अपने-आपको उद्घाटनमें बदल लेगी। अगर तुम आवाहन करो, अभीप्सा करो और उत्तर पानेकी आशा करो, तो तुम बिलकुल स्वा-भाविक रूपसे अपने-आपको भागवत 'कृपा'की ओर खोलोगे।

और बादमें — तुम्हें इसकी ओर बहुत ध्यान देना चाहिये (माताजी ओठोंपर उंगली रखती हैं) — भागवत 'कृपा' तुम्हें उत्तर देगी, भागवत कृपा तुम्हें कष्टमेंसे उबार लेगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें समस्याका समाधान बता

लायेगी या तुम्हें अपनी कठिनाईमेंसे निकल आनेमें सहायता देगी। लेकिन जब तुम कष्टसे छुटकारा पा जाओ और कठिनाईमेंसे निकल आओ, तो यह न भूलो कि भागवत 'कृपा'ने ही तुम्हें उबारा है, यह न सोचो कि यह तुम्हारा अपना काम है। क्योंकि वास्तवमें, यह महत्त्वपूर्ण बात है। कठिनाई खतम होते ही अधिकतर लोग कहते हैं: "आखिर, मैंने अपने-आपको बड़ी अच्छी तरह कठिनाईमेंसे निकाल लिया।"

तो यह बात है। इस तरह तुम दरवाजा बंद कर देते हो, उसपर ताला जड़कर चटखनी लगा देते हो, और फिर तुम और कुछ नहीं पा सकते। इस आंतरिक मूढ़ताको दूर करने, और तुम्हें यह अनुभव करानेके लिये कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें फिरसे किसी तीव्र व्यथाकी, किसी भयानक कठिनाईकी जरूरत होती है। क्योंकि तभी तुम जरा-सा खुलते और लचीले बनते हो जब तुम्हें यह पता लग जाय कि तुम बलहीन हो। लेकिन जबतक तुम यह समझते हो कि जो कुछ तुम करते हो वह तुम्हारे अपने कौशल और अपनी क्षमतापर निर्भर है, तो सचमुच, तुम केवल एक दरवाजा नहीं, एकके बाद एक बहुत-से दरवाजे बंद कर देते हो, समझे, और उनमें सिटकनी लगा देते हो। तुम अपने-आपको एक किलेमें बंद कर लेते हो, और वहां कोई चीज प्रवेश नहीं कर सकती। यह सबसे बड़ी त्रुटि है: आदमी बहुत जल्दी भूल जाता है। बिलकुल स्वाभाविक रूपमें, वह अपनी क्षमतासे संतुष्ट रहता है।

लेकिन, माताजी, जब हम यह सोचनेकी कोशिश करते हैं कि हम बलहीन हैं, तब भी कोई चीज यह मानती है कि वह शक्तिशाली है। तो?

हां, ठीक है, हां, ठीक है! हां, सच्चा और निष्कपट होना बहुत कठिन है...। इसीलिये प्रहार बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी भयंकर हो जाते हैं, क्योंकि यही एकमात्र चीज है जो तुम्हारी मूढ़ताको तोड़ती है। यही विपदाओंका औचित्य है। जब तुम तीव्र पीड़ाजनक स्थितिमें होते हो तभी, जब तुम ऐसी चीजके सामने हो जिसका तुमपर गहरा असर पड़ता है, तभी तुम्हारी मूढ़ता जरा-सी पिघलती है। लेकिन जैसा कि तुमने कहा, जब कोई चीज पिघलती है तो उस समय भी कोई छोटी-सी चीज तुम्हारे अंदर जैसी-की-तैसी बनी रह जाती है। इसलिये व्यथा इतने लंबे समयतक चलती है...

गहराइयोंतक यह जाननेके लिये कि हम कुछ भी नहीं है, कि हम कुछ

भी नहीं कर सकते, कि हमारा अस्तित्व ही नहीं है, कि हम हैं ही नहीं, कि भागवत 'चेतना' और 'कृपा' के बिना कोई सत्ता ही नहीं है, कितने प्रहारोंकी जरूरत होती है। जिस क्षण तुम यह जान लेते हो, यह खत्म हो जाती है; सारी कठिनाइयां चली जाती हैं। तभी जब तुम इसे पूर्ण रूपसे जान लो और कोई भी चीज इसका प्रतिरोध न करे... लेकिन उस मुहूर्ततक...। और इसमें बहुत समय लगता है।

सारा प्रहार एक साथ क्यों नहीं आ जाता?

क्योंकि उससे तुम मर जाओगे। क्योंकि अगर प्रहार इतना सशक्त है कि तुम्हारा उपचार कर सके, तो वह बस, तुम्हें कुचलकर रख देगा, वह तुम्हारा मलीदा बना देगा। थोड़ा-थोड़ा करके, जरा-जरा करके, बहुत धीरे-धीरे बढ़नेसे ही तुम जिंदा बच सकते हो। स्वभावतः, यह निर्भर है आंतरिक बल, आंतरिक सचाई और प्रगतिकी क्षमतापर, अनुभवसे लाभ उठानेकी क्षमतापर, और जैसा मैंने अभी कहा था, न भूलनेपर। अगर तुम इतने भाग्यशाली हो कि भूलते नहीं, तो तुम तेजीसे बढ़ सकते हो। तुम बहुत तेजीसे जा सकते हो। और अगर साथ-ही-साथ तुम्हारे अंदर वह आंतरिक नैतिक बल है जो लाल तपे हुए लोहेको पानी डालकर बुझाने-की कोशिश नहीं करता, बल्कि उसे फोड़ेकी जड़तक ले जाता है, तो इस हालतमें चीजें भी बहुत तेजीसे चलती हैं। लेकिन इतने मजबूत लोग अधिक नहीं होते। इसके विपरीत, वे तुरंत यूं (संकेत), यूं करेंगे, यूं ताकि छिपा सकें, अपने-आपको अपनेसे छिपा सकें। तुम अपने आगे कितने छोटे-छोटे सुंदर-से बहाने बनाते हो, तुमने जो-जो मूर्खताएं की हैं उनके लिये एक-पर-एक कितने बहानोंके ढेर लगाते जाते हो।

मधुर मां, क्या प्रहारोंकी संख्या लोगोंपर निर्भर है?

हां, यह लोगोंपर निर्भर है; जैसा कि मैंने कहा था, यह उनकी प्रगतिकी क्षमतापर, उनके बल और उनके प्रतिरोधपर निर्भर है। मैं ऐसे बहुत कम लोगोंको जानती हूं जिन्हें प्रहारोंकी बिलकुल जरूरत नहीं होती।

माताजी, क्या जो प्रहार आते हैं वे महाकालीके होते हैं?

प्रहार? जरूरी नहीं है।

अगर तुम जहर खा लो और तुमपर उसका असर हो जाय, तो यह महाकालीका दोष नहीं होगा। विष स्वयं तुमने खाया है। अगर तुम अपने-आपको बिलकुल हास्यास्पद स्थितियोंमें रखो तो ऐसी स्थितिमें तुम्हारे हाथ, पांव या सिरका टूटना अवश्यंभावी है; क्योंकि तुम ठीक संतुलित स्थितिमें नहीं हो, तो तुम भागवत शक्तियोंको दोष नहीं दे सकते। यह तुम्हारी की गयी बेवकूफीका, आंतरिक स्थितिका, साधारण यांत्रिक परिणाम है।

महाकालीके प्रहारकी प्रकृति कैसी होती है?

वह तुम्हें बहुत प्रसन्न बनाता है, वह तुम्हें हृदयमें मधुर ऊष्मा देता है। तुम पूरी तरह संतुष्ट अनुभव करते हो।

हमें उसके लिये अभीप्सा करनी होती है या वह अपने-आप आता है?

हां, तुम्हारी अभीप्सामें निष्कपटता होनी चाहिये, तुम्हारे अंदर सचमुच प्रगतिकी चाह होनी चाहिये। तुम्हें सचमुच कहना चाहिये : "जी हां, मैं प्रगति करना चाहता हूं," निष्कपटताके साथ कहना चाहिये...। "चाहे जो भी हो मैं प्रगति करना चाहता हूं।" तब वह आता है।

लेकिन जैसा कि मैंने कहा, वह प्रचुरताकी शक्तिके साथ आता है जिसमें तीव्र आनंद होता है। जब तुम एक निश्चय कर लो, अपने अंदर किसी चीजको रोकनेका निर्णय करो, जिस मूर्खताको एक बार कर चुके हो उसे न दोहरानेका निश्चय कर लो, या कोई ऐसी चीज करना चाहो जो असंभव लगती है या जिसे करना कठिन मालूम होता है, लेकिन जिसके बारेमें तुम्हें पता है कि उसे करना ही चाहिये, जब तुमने निश्चय कर लिया और अपने संकल्पकी पूरी सचाई उसमें लगा दी, तब अगर कोई जोरदार प्रहार आये और तुम्हें वह करनेके लिये बाधित करे जिसे करनेका तुमने निश्चय किया है, तो वह प्रहार तो होता है पर ऐसा जिससे तुम्हें लगता है कि तुम महिमान्वित हो रहे हो, तुम बहुत खुश होते हो, यह बहुत बढ़िया है, है न, तुम यहां (हृदयकी ओर इशारा), कोई बहुत अद्भुत चीज अनुभव करते हो।

दोनों अवस्थाओंमें बहुत भेद है। एक वह अनर्थ है जो इसलिये होता है क्योंकि तुम शुद्ध रूपसे बाहरी, यांत्रिक, भौतिक चेतना और अज्ञानकी

स्थितिमें रहते हो, जो तुमसे सभी संभव मूर्खताएं करवाती है, जो स्वभावतः, अनिवार्य रूपसे, अपने परिणाम लेकर आती हैं। इस स्थिति और एकदम उच्च स्थितिमें बहुत भेद है, उस स्थितिमें जिसमें तुम निश्चय कर लेते हो कि तुम अपने ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करोगे, किसी भी कीमतपर केवल 'सत्य'-चेतनामें ही रहोगे, चाहे प्रगतिका कुछ भी मूल्य क्यों न देना पड़े, तुम प्रगति करोगे...। उस समय तुम्हारे साथ जो-जो होता है वह सार्थक होता है। तुम उनके अंदर चमकते हुए सत्यको, मशालकी तरह तुम्हारे मार्गको आलोकित करनेवाले प्रकाशको, यहां पथ-प्रदर्शन करते हुए देखते हो... बहुत स्पष्ट देखते हो! अब यह तुम्हारी पीठपर गिरनेवाले पत्थरकी तरह नहीं है जो तुम्हें कुचल डालता है। यह एक अभिभूत करनेवाली सर्वविजयी दीप्ति है।

इसीलिये हमेशा कहा जाता है: "केवल पहले कदममें ही प्रयासकी जरूरत होती है। पहले कदमका अर्थ है: उस स्तरमेंसे निकल आओ और इधर, इसपर चढ़ो। उसके बाद हर चीज, हर चीज बदल जाती है।

लेकिन तुम्हें पूरी तरह उस स्तरसे उठ आना चाहिये, तुम्हें वहीं न रहना चाहिये। तुम्हें एक कदम यहां और एक वहां न रखना चाहिये, इससे काम न चलेगा।

लो बस, मेरे बच्चो।

२२ सितंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार' अध्याय एक: "स्थिरता — शांति — समता"के आधारपर है।)

> "स्थिरता, चाहे वह शुरूमें एक अभावात्मक चीज ही मालूम होती हो, प्राप्त करना इतना कठिन है कि उसकी जरा-सी प्राप्तिको भी प्रगतिका एक बहुत बड़ा कदम मानना चाहिये।
>
> "वास्तवमें, स्थिरता अभावात्मक चीज नहीं है। वह सत्-पुरुषका अपना स्वरूप है और भागवत चेतनाका भावात्मक

आधार है। और चाहे जिस चीजके लिये अभीप्सा की जाय, चाहे जो प्राप्त हो, इसे बनाये रखना चाहिये। यहांतक कि अगर 'ज्ञान', 'शक्ति', 'आनन्द' भी आयें और इस आधारको न पायें, तो वे भी यहां नहीं टिक सकते और तबतकके लिये लौट जाते हैं जबतक भागवत शुद्धि और सत्पुरुषकी शांति यहां स्थिर रूपसे न हों।

"शेष भागवत चेतनाके लिये अभीप्सा करो, लेकिन करो स्थिर गहरी अभीप्साके साथ। वह तीव्र होनेके साथ-साथ स्थिर हो सकती है, लेकिन अधीर, बेचैन या राजसिक उत्सुकतासे भरी न हो।

"अतिमानस 'सत्य' केवल अचंचल मन और सत्तामें ही अपनी सत्य सृष्टिका निर्माण कर सकता है।"

मधुर मां, सत्पुरुष किसे कहते हैं?

पुरुष? सत्तामें यह क्या है? ज्ञान। सचेतन सत्ता।

सच्ची अतिमानसिक सृष्टि क्या है?

सच्ची सृष्टिका मतलब है नयी अतिमानसिक सृष्टि, जिसे हम यहां उपलब्ध करना चाहते हैं। जब हम नये रूपांतरित संसारकी बात करते हैं, तो उसका मतलब इसी अतिमानसिक सृष्टिसे होता है।

"राजसिक उत्सुकता" का क्या मतलब है?

"उत्सुकता"? वह प्रचण्डता है, उग्रता है। वह अत्यधिक उत्साह है; और "राजसिक" है — सत्तामें अत्यधिक क्रियाशील और उग्र तत्त्व, दुर्दान्त तत्त्व। राजसिक — यह सभी हर्षोन्मादों, विस्फोटों, उत्साहों और सभी उग्रताओं और आवेगोंका और सभी अत्यधिक क्रियाशीलताका स्वभाव है, इसके विपरीत, तमस् है जड़, और सत्त्व है संतुलित। यह अत्यधिक क्रियाशील और उग्रतत्त्व है।

माताजी, क्या "अपनी चेतनाको ऊंचा रखने" का मतलब है उच्चतर विचार पानेकी कोशिश करना?

यह तथ्य नहीं परिणाम होता है। जब तुम्हारी चेतना उच्चतर स्तरपर रहती है, तो स्वभावतः वह विचारोंके लिये छलनीका काम करती है और केवल उच्चतर प्रकृतिके विचारोंको ही आने देती है। लेकिन यह तथ्यकी अपेक्षा परिणाम है। अपनी चेतनाको उच्चतर स्तरपर रखनेका मतलब है, उसे सत्ताके निचले स्तरोंसे ऊपर उठाना, उसका मतलब है उसे प्रकाशमें, शांतिमें, उच्चतर ज्ञान और सामंजस्यमें बनाये रखना, यानी, अपनी चेतनाको अपनी सत्तामें अधिक-से-अधिक ऊंचा रखना, ऐसे स्तरपर रखना जहां व्यक्ति सभी निम्न गतिविधियोंसे मुक्त हो। तब स्वभावतः, अगर चेतना वहां हो तो उसमें जो विचार आते हैं वे उच्चतर कोटिके होते हैं। और विचार चेतनाकी गतिका एक आकारमात्र है, वह चेतनाका द्रव्य नहीं है। एक विचारहीन चेतना होती है, चेतनाकी एक बहुत ऊंची अवस्था है जिसमें कोई विचार नहीं होते। यह वह चेतना है जिसमें चीजोंका पूर्ण ज्ञान हो सकता है, लेकिन वह विचारोंमें या शब्दोंमें व्यक्त नहीं होता। विचार क्रियावलीका एक रूपमात्र है।

"नीरवता... ऊपरसे होनेवाले अवतरणके द्वारा ज्यादा आसानीसे प्रतिष्ठित हो सकती है।" "ऊपरसे" का क्या मतलब है, मधुर मां?

चेतनाके उच्चतर स्तरोंसे। अगर तुम चेतनाके उच्चतर स्तरोंकी ओर खुलो और ऊपरसे शक्तिका अवतरण हो, तो बिलकुल स्वाभाविक ढंगसे, वह निचले क्षेत्रोंमें नीरवता स्थापित कर देती है, क्योंकि नीचे उतरनेवाली यह उच्चतर शक्ति उन क्षेत्रोंपर नियंत्रण रखती है। यह शक्ति मनके उच्चतर क्षेत्रोंसे या उनके भी परेसे, या अतिमनतकसे आती है। तो जब यह शक्ति और चेतना नीचे आकर निचले क्षेत्रकी चेतनामें प्रवेश करती हैं, तो स्वभावतः, यह चेतना शांत-स्थिर हो जाती है, क्योंकि ऐसा लगता है मानों, इसपर आक्रमण हुआ है, इसका रूपांतर करनेवाली उच्चतर ज्योतिकी बाढ़ आ गयी है।

वास्तवमें, अपने मनमें निरंतर नीरवता स्थापित करनेका यही एकमात्र उपाय है। उपाय यह है: अपने-आपको उच्चतर क्षेत्रोंकी ओर खोलो, और इस उच्चतर चेतना, शक्ति और प्रकाशको निरंतर अपने अंदर, निम्न मानसमें उतरने दो और उसपर अधिकार कर लेने दो। जब ऐसा होता है, तो इधर निम्न मानस हमेशा स्थिर-शांत और नीरव रह सकता है, क्योंकि यही क्रियाशील रहता है और सारी सत्ताको भरे रहता है। मन-

के सक्रिय हुए बिना तुम काम कर सकते हो, लिख और बोल सकते हो। मन अपने-आपमें एक निष्क्रिय यंत्र बन जाता है और ऊपरसे आनेवाली यह शक्ति उसमें प्रवेश करती और उसका उपयोग करती है। और वास्तवमें, नीरवता स्थापित करनेका यही एकमात्र तरीका है; क्योंकि एक बार यह स्थापित हो जाय, नीरवता स्थापित हो जाय तो मन फिर हिलता-डुलता नहीं, जब यह शक्ति उसमें अभिव्यक्त होती है, तो वह इसीकी प्रेरणासे चलता है। वह एक बहुत स्थिर, बिलकुल नीरव क्षेत्रके जैसा हो जाता है, और जब शक्ति नीचे आती है तो तत्त्वोंको गतिशील बनाती है और उनका उपयोग करती है। वह मनके आलोड़ित हुए बिना उसके द्वारा अभिव्यक्ति पाती है। मन बिलकुल स्थिर रहता है।

मधुर मां, हम चेतनाको मिश्रित चीजोंसे कैसे खाली कर सकते हैं?[1]

अभीप्साके द्वारा, निचली गतियोंके त्यागद्वारा और उच्चतर शक्तिको पुकार कर। अगर तुम अमुक गतियोंको स्वीकार न करो, तो स्वभावतः, उन्हें पता लगेगा कि वे अभिव्यक्त नहीं हो सकतीं, तो धीरे-धीरे उनका बल घटता जायगा और वे आना बंद कर देंगी। अगर तुम हर निम्न प्रकार-की चीजको अभिव्यक्त करनेसे इंकार कर दो, तो जरा-जरा करके वह चीज गायब हो जाती है, और तुम्हारी चेतना निम्नतर चीजोंसे खाली हो जाती है। यह अभिव्यक्त करना अस्वीकार करनेसे हो सकता है — मेरा मतलब है केवल क्रियामें ही नहीं, विचारों और भावनाओंमें भी। जब आवेश, विचार, भाव आयें, तो अगर तुम उन्हें अभिव्यक्त करनेसे इंकार कर दो, अगर तुम उन्हें एक ओर धकेल दो और आंतरिक अभीप्सा और अचंचलताकी स्थितिमें रहो, तो आहिस्ता-आहिस्ता उनका बल घटता जाता है और वे आना बंद कर देते हैं। तो इस तरह चेतना निचली गतियों-से खाली हो जाती है।

लेकिन, उदाहरणके लिये, जब अवांछनीय विचार आयें, तो यदि तुम

---

[1] "निश्चलता बनाये रखो और अगर कुछ समयके लिये वह खाली निश्चलता हो तो परवाह न करो; चेतना प्रायः उस पात्रकी तरह होती है जिसे उसकी घुली-मिली या अवांछनीय चीजोंसे खाली करना पड़ता है; उसे कुछ समयके लिये, तबतक खाली रखना पड़ता है जबतक वह नयी और सच्ची, ऋजु और पवित्र वस्तुओंसे भरी न जा सके।"

उन्हें देखो, उनका अवलोकन करो और अगर तुम उनकी गतिविधिका अनुसरण करनेमें सुख अनुभव करो तो वे कमी आना बंद न करेंगे। जब अवांछनीय भावनाएं या संवेदन आयें तो भी यही बात होती है: अगर तुम उनकी ओर ध्यान दो, उनपर एकाग्रचित्त हो या उन्हें कुछ शौकसे देखो, तो वे कमी बंद न होंगे। लेकिन अगर उन्हें ग्रहण करनेसे या व्यक्त करनेसे एकदम इंकार कर दो, तो कुछ समय बाद उनका आना बंद हो जायगा। तुम्हें धैर्यशील और बहुत आग्रही होना चाहिये।

किसी बड़ी अभीप्सामें, यदि तुम अपने-आपको किसी उच्चतर चीजके संपर्कमें रख सको, अपने चैत्य पुरुषके प्रभावमें या किसी उच्चतर प्रकाशके साथ, और अगर तुम उसे इन नीची गतिविधियोंके स्पर्शमें ला सको, तो स्वभावतः, वे ज्यादा जल्दी बंद हो जायंगी। लेकिन अभीप्साके द्वारा इन चीजोंको खींच सकनेसे पहले ही, तुम सतत आग्रह और धैर्यशील अस्वीकृतिके द्वारा अपने अन्दर इन चीजोंके प्रकट होनेको रोक सकते हो। जब ऐसे विचार आते हों जो तुम्हें पसंद नहीं हैं, तो तुम उन्हें बस, एक ओर झटक दो, और उनकी ओर जरा भी ध्यान न दो, तो कुछ समय बाद वे आना बंद कर देंगे, लेकिन तुम्हें यह चीज नियमित रूपसे और आग्रहके साथ करनी चाहिये।

आपने कहा है कि हमें यह जानना चाहिये कि भागवत 'कृपा'के बिना हम कुछ भी नहीं हैं। यह जाननेके लिये कि हम कुछ भी नहीं हैं, इतना सारा प्रयास क्यों किया जाय?

इतना प्रयास क्यों किया जाय? किस अर्थमें? तुम यह प्रयास किसी व्यक्तिगत कारणसे करना चाहते हो? क्या तुम निजी संतोषके लिये यह प्रयास करना चाहते हो? यह उन लोगोंकी तरह है जो कहते हैं: "अगर **मैं** काम नहीं कर रहा, और यह **मेरा** काम नहीं है, तो मैं काम ही कैसे कर सकता हूं?" यह वही बात है, और फिर भी बात ऐसी ही है। अगर तुम्हें ऐसा लगता है तो इसका अर्थ है कि अभी तुम्हें अपने अहंकी आवश्यकता है, बहुत अधिक आवश्यकता है, और अगर अचानक तुमसे अहंको छीन लिया जाय, तो तुम कुछ भी न कर सकोगे। अगर तुम्हें कुछ करनेके लिये किसी निजी हेतुकी जरूरत है, तो इसका मतलब यह है कि अभीतक तुम पूरी तरह अपने अहंमें ही हो, समझे। जबतक यह जरूरी है, तबतक तुम्हें उसमें रहना होगा। लेकिन तब तुम्हें यह न सोचना चाहिये कि तुम तेजीसे बढ़ सकते हो। इसमें बहुत लंबा

समय लगता है, कभी-कभी कई जीवन, और कई बार बहुत-से जीवन। अगर तुम्हें कुछ करनेके लिये निजी कारणोंकी जरूरत है, तो तुम्हें तबतक प्रतीक्षा करनी होगी जबतक तुम प्रगति करके उसमेंसे बाहर न निकल आओ, और यह समझ सको कि तुम्हें निजी कारणोंसे कोई चीज नहीं करनी चाहिये।

उदाहरणके लिये, किसी निजी हेतुसे तुम्हें पूर्णताकी चाह न करनी चाहिये, किसी निजी हेतुसे तुम्हें भगवान्‌के साथ ऐक्य न चाहना चाहिये, किसी निजी हेतुसे तुम्हें अतिमानसिक रूपांतरकी चाह न करनी चाहिये। अगर यह तुम्हारे अपने भलेके लिये और निजी कारणोंसे है, तो अपनी राह चलते रहो; मैं कहती हूं तुम वहां पहुंच जाओगे — कई जीवनोंके बाद। देखो, एक ऐसी अवस्था होती है जब आदमी यह समझ भी नहीं सकता कि वह व्यक्तिगत हेतु छोड़कर जिंदा भी रह सकता है। जबतक ऐसा है...। अगर अचानक तुम्हारी निजी चेतना और प्रयोजनसे "मैं" को अलग कर दिया जाय, तो तुम्हारा अस्तित्व ही न रहेगा। इसलिये तुम्हें चुपचाप तबतक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जबतक तुम अपने अंदर यह अनुभव न कर लो कि यह वस्तुओंका सच्चा प्रयोजन नहीं है।

क्या प्रतीक्षा करनेके सिवाय और कुछ नहीं किया जा सकता?

क्या? प्रतीक्षा करनेके सिवाय कुछ नहीं? मेरे लिये!... मैं तुम्हारे तैयार होनेके लिये घड़ियां गिना करती हूं! (माताजी हंसती हैं।)

यह बहुत नाजुक मामला है, अगर कोई बहुत लंबे समयतक अनुभव नहीं करता, अपने-आपको पूर्ण करनेकी जगह यह निजी अभीप्सा नहीं करता, भगवान्‌के साथ नाता जोड़नेकी निजी अभीप्सा नहीं करता, अतिमानस चेतनाको उपलब्ध करनेकी निजी अभीप्सा नहीं करता तो वह कहता है, जैसे तुम अभी कह रहे थे: "कुछ करनेका लाभ ही क्या है? बस, चुपचाप रहना ही ठीक है।" हां, तो जबतक स्थिति ऐसी है, जबतक तुमने अपने अंदर इतनी चेतना विकसित नहीं कर ली कि चीज और तरहसे हो, तबतक कहने या करनेके लिये कुछ नहीं है। मुझे बस, प्रतीक्षा ही करनी होगी।

"प्रतीक्षा" का मतलब कुछ जन्मोंतक?

हां।

कुछ लोगोंके लिये चीज ज्यादा तेज चल सकती है; अगर अचानक कोई चीज अंदरसे पलट जाय और उन्हें कोई अनुभूति हो जाय — चाहे वह चैत्यके साथ तादात्म्यका अनुभव ही क्यों न हो — तो वे अचानक समझ सकते हैं। चैत्य पुरुषके साथ तादात्म्यका अर्थ है भगवान्‌की चेतनाके साथ तादात्म्य। तो जैसे ही वे समझ पाते हैं, तो समझ लेते हैं और इससे उन्हें हंसी भी आती है। उन्हें लगता है कि हम कैसे बेवकूफ थे! (माताजी हंसती हैं।)

अपने व्यक्तित्वकी यह भावना एक प्रकारका पिंजरा बन जाती है, यह एक जेल है जो तुम्हें बन्द रखता है, जो तुम्हें सत्य होनेसे, सचाईके साथ जाननेसे, सचाईके साथ कार्य करनेसे, सचाईके साथ समझनेसे रोकती है। यह ऐसा है मानों किसीने तुम्हें एक बहुत कठोर खोलके अंदर बंद कर दिया है, और तुम उसमें रहनेके लिये बाधित हो।

तुम्हें सबसे पहले यही संवेदन मिलता है। इसके बाद तुम उस खोलको तोड़नेके लिये उसपर टकोरें करते हो। कभी-कभी वह बड़े लंबे समयतक प्रतिरोध करता है। फिर भी, जब तुम यह अनुभव करना शुरू कर दो कि तुम जिसे अपना स्व समझते थे, वह व्यक्ति समझते थे जो चीजें करता है और जिसके लिये वे की जाती हैं, जिस व्यक्तिका अस्तित्व है और जो तुम्हें वह बनाता है जो तुम हो, हां तो, जब तुम इसमेंसे होकर उस चेतनामें जाते हो कि यह सब एक जेल है जो तुम्हें अपना सच्चा स्व होनेसे रोकती है, तो तुम बड़ी प्रगति कर लेते हो और तब आशा है। तुम्हें ऐसा लगने लगता है कि तुम घुट रहे हो, कुचले जा रहे हो, बिना हवाके, बिना प्रकाशके, बिना किसी छेदके जेलमें पूरी तरह बंद हो, तब तुम अंदरसे धक्का देना शुरू करते हो, धक्का देते हो, धक्का देते हो और धक्का देते हो ताकि वह टूट जाय।

और जिस दिन वह टूटता है, जिस दिन वह खुलता है, तुम अचानक, चैत्य चेतनामें प्रवेश करते हो। और तब तुम समझते हो। और तब, सचमुच, यदि तुम्हारे अंदर हास्य रस है, तो तुम हंसते हो; अपनी मूढ़ताका अनुभव करते हो।

माताजी, आपने एक दिन कहा था कि भगवान्‌के साथ तादात्म्य पानेसे पहले, तुम्हें व्यक्ति बनना चाहिये।

हां, ठीक है, बात ठीक ऐसी ही है। तुम अभी व्यक्ति बननेके कालमें हो। और जबतक तुम व्यक्ति बननेके इस कालमें हो, तुम्हें इसके गुजर जानेकी

राह देखनी होगी, यानी, उस समयकी राह देखनी होगी जबतक तुम एक सचेतन व्यक्ति न बन जाओ, पूरी तरह सचेतन। यही बात है।

माताजी, आपने कहा था कि बहुत ही कम लोग, शायद दस लाखमें एक, सचमुच सचेतन हैं।

हां, अगर तुम सारी मानवजातिकी बात करो तो निश्चय ही ऐसा है! और मनुष्यजातिकी बहुत बड़ी संख्या कभी व्यक्ति नहीं बनेगी, मिली-जुली अव्यवस्थित भीड़ बनी रहेगी; इस तरह (संकेत)। व्यक्ति बनने-को ही श्रीअरविंद सचमुच मानसिक मनुष्य बनना कहते हैं। अगर तुम-ने 'ह्यूमन साइकल' (मानव-चक्र) पढ़ी है तो तुम देखागे कि सचमुच एक ऐसा मानसिक मनुष्य बनना भी इतना आसान नहीं है जो अपने-आप सोचता हो, जो सभी बाहरी प्रभावोंसे मुक्त हो, जिसमें अपना व्यक्तित्व हो, जिसकी अपनी सत्ता हो, जिसमें वास्तविकता हो; वह होना भी इतना आसान नहीं है।

लेकिन, एक तरहकी भागवत 'कृपा'के द्वारा, यह हो सकता है कि व्यक्ति बननेसे पहले, अगर किसीके अंदर अभीप्सा हो, अगर वह किसी ऐसी चीजके प्रति जागनेकी जरूरत अनुभव करता है जो कुछ और चाहती है, जो कुछ ज्यादा अच्छी चीज चाहती है, जो अनुभव करती है कि एक व्यक्ति होना कितनी छोटी चीज है, कोई ऐसी चीज जो वास्तवमें सामान्य सीमाओंके पार खोजती है, तो व्यक्ति बननेसे पहले अचानक उसे चैत्य संपर्कका अनुभव हो सकता है जिससे उसके लिये सभी द्वार खुल जाते हैं। वे फिरसे बंद तो हो जाते हैं, लेकिन एक बार वे खुल जायें तो तुम कभी भूल नहीं सकते। स्पष्ट स्मृति बनी रहती है; और उससे सहायता मिलती है। यहां तुम्हारे साथ यह होना चाहिये।

मधुर मां, क्या चैत्यके साथ तादात्म्य और चैत्यका सामने आना एक ही बात है?

मतलब यह कि पहला कदम है तादात्म्य, और फिर, एक बार तुम इस तादात्म्यको बनाये रख सको तो चैत्य प्रकृति और जीवनके बाकी सब भागोंपर शासन करता है। वह सत्ताका स्वामी बन जाता है। चैत्यके सामने आनेका यही मतलब होता है। वही जीवनपर शासन करता है, उसे दिशा देता है, उसकी व्यवस्था भी करता है, चेतना तथा सत्ताके

विभिन्न भागोंका संगठन करता है। जब यह होता है, तो काम बहुत तेजी-से चलता है। बहुत तेजीसे, हां... अपेक्षाकृत बहुत तेजीसे।

मानव चेतनामें सब कुछ **बहुत धीमा** है। किसी चीजको सिद्ध करने-में जो समय लगता है उसकी तुलना जब हम मानव जीवनकी औसत अवधिके साथ करें, तो ऐसा लगता है मानों उसका कहीं अंत ही नहीं। लेकिन सौभाग्यवश ऐसा समय आता है, जब आदमी इस धारणासे छुट-कारा पा जाता है, जब वह मानव मापदंडोंसे अनुभव नहीं करता। तुम जैसे ही सचमुच चैत्यके संपर्कमें आते हो, वैसे ही इस प्रकारकी संकीर्णता और व्यथासे भी बच जाते हो। यह व्यथा जो इतनी बुरी है: "मुझे तेजी करनी चाहिये, मुझे तेजी करनी चाहिये, अधिक समय नहीं है, मुझे तेजी करनी चाहिये, अब अधिक समय नहीं है।" इस तरह तुम चीजें बहुत बुरी तरह करते हो, या फिर करते ही नहीं, लेकिन चैत्यका संपर्क पाते ही यह चीज गायब हो जाती है; तुम जरा ज्यादा विशाल, स्थिर और शांत होने लगते हो। और शाश्वतमें जीने लगते हो।

मधुर मां, हम अपने अहंकारसे इतने आसक्त क्यों हैं?

जैसा कि मैंने अभी कहा, शायद इसलिये कि अभी तुम्हें उसकी बहुत जरूरत है, है न? एक सचेतन, व्यक्तित्ववाली सत्ता बननेके लिये, तुम्हें अहंकारकी जरूरत होती है; इसीलिये वह मौजूद है। जब तुम अपने व्यक्तित्वको काफी अच्छी तरह पा लो, तुम सचेतन स्वतंत्र सत्ता बन जाओ जिसकी अपनी वास्तविकता हो तब अहंकारकी कोई जरूरत न रहेगी, और तब अहंकारको दूर करनेके लिये प्रयत्न किया जा सकता है। दुर्भाग्यवश, अधिकतर लोग जैसे ही वास्तविक व्यक्ति बनते हैं, उनके अंदर महत्त्व और अपनी क्षमताका ऐसा भान पैदा हो जाता है कि फिर वे अहंकारसे छुट-कारा पानेके बारेमें सोचते भी नहीं। लेकिन हां, यह और ही बात है।

यहां मैं तुम्हें सोने नहीं देती। मैं समय-समयपर तुम्हें सच्ची चीजके बारेमें याद दिलाती रहती हूं। लेकिन तुम सब अभी बहुत छोटे हो। और ऐसा व्यक्ति बननेके लिये कुछ वर्षोंकी **जरूरत** होती है, गहरी आंत-रिक रचनाके वर्षोंकी जरूरत होती है, जो अपने लिये सोच सके, जो अपनी इच्छाके बारेमें सचेतन हो, जो अपनी प्रकृतिके बारेमें सचेतन हो, अपने जीवनका प्रयोजन जानता हो और मानव-समूहसे स्वतंत्र हो। कुछ समयकी जरूरत होती है। कुछ बच्चे **बहुत छोटी** अवस्थामें शुरू करते हैं। अगर कोई बहुत छोटी अवस्थामें शुरू करे, तो बीस वर्षतक होते-

होते वह भली-भांति निर्मित हो जाता है। लेकिन इसके लिये तुम्हें बहुत छोटी अवस्थामें शुरू करना चाहिये, और सचेतन रूपसे, बहुत सचेतन रूपसे। तुम्हें अपने अंदरकी गतिविधियों, उनका औरोंके साथ संबन्ध, यथार्थ रूपमें अपनी स्वाधीनताकी अवस्था, वास्तविक व्यक्तित्व, यह जाननेका कि तुम्हारे आवेग कहांसे आते हैं, दूसरी गतिविधियां कहांसे आती हैं, कि वे बाहरके संक्रमण हैं या कोई ऐसी चीज है जो स्वयं तुम्हारे अंदरसे उठती है — इन सब बातोंका अवलोकन करना चाहिये। एक जरा-सी सचेतन सत्ताको, **जरा-सी** सचेतन सत्ताको निश्चित रूप देनेके लिये अपने अंदरकी समस्त गतिविधियोंका, यथार्थ अध्ययन जरूरी है। लेकिन जब तुम, कह सकते हैं, द्रवकी तरह जीते हो, यानी, तुम्हें यह भी पता नहीं होता कि तुम्हारे अन्दर क्या हो रहा है, तुम्हें कुछ थोड़ा-सा अस्पष्ट पता होता है, अगर तुम सौमेंसे निन्नानवे बार अपने-आपसे पूछो: "मैंने ऐसा क्यों सोचा? मैंने ऐसा क्यों अनुभव किया?" या फिर: "मैंने ऐसा क्यों किया?" तो लगभग हमेशा एक ही उत्तर होता है: "मुझे नहीं मालूम, ऐसा ही आया था, बस।" यानी, आदमी जरा भी सचेतन नहीं होता।

जब तुम औरोंके साथ होते हो, तो क्या तुम यह जान पाते हो कि कौन-सी चीज तुम्हारे अंदरसे आती है, और कौन-सी औरोंसे? उनकी जीवन-पद्धति, उनके विशेष स्पंदन किस हदतक तुम्हारे ऊपर कार्य करते हैं? तुम इसके बारेमें कुछ भी नहीं जानते। तुम एक प्रकारकी "लगभग" चेतनामें रहते हो जो आधी जागी, आधी सोयी होती है, एक ऐसी चीज जो बहुत अस्पष्ट होती है, जहां चीजोंको पकड़नेके लिये तुम्हें इस तरह टटोलना पड़ता है। क्या तुम्हारे अन्दर यथार्थ, स्पष्ट और ठीक-ठीक धारणा है कि तुम्हारे अन्दर क्या चल रहा है, और तुम्हारे अन्दर क्यों चल रहा है? और फिर, यह: उन स्पंदनोंका पता है जो तुम्हारे अंदर बाहरसे आते हैं और जो तुम्हारे अंदरसे उठते हैं? और फिर, जो औरोंसे आता है क्या उस सबको बदल सकते हैं? नयी दिशा दे सकते हैं? तुम एक प्रकारकी धुंधली तरलतामें रहते हो, छोटी-मोटी चीजें अचानक तुम्हारी चेतनामें रूप ले लेती हैं, तुमने उन्हें बस, क्षण-भरके लिये पकड़ लिया है; और यह इस तरह स्पष्ट है, मानों कोई प्रक्षेपक था, परदेपर कोई चीज गुजर रही थी जो एक सेकेंडके लिये स्पष्ट हो गयी: और अगले ही क्षण हर चीज अस्पष्ट, अयथार्थ हो गयी। लेकिन तुम्हें इसका पता नहीं है, क्योंकि तुमने कभी अपने-आपसे पूछातक नहीं, क्योंकि तुम इसी तरह जीते हो। वह यहां रुकता है, यहां शुरू होता है, और यहीं समाप्त होता है। बस। तुम दिन-प्रतिदिन, मिनट-प्रति-मिनट, वही करते हो जो

करते जाते हो, वही चीजें जो तुम किया करते हो, बस इसी तरह,... ऐसे हो जाता है।

ठीक चीज आयेगी। वह आकर रहेगी। वह अवश्य आयेगी। मैं तुम्हें यूं ही नहीं छोड़ दूंगी...। थोड़ा-बहुत झकझोरूंगी — मैं तुम्हें जरा झकझोरूंगी। इसके लिये जो कुछ जरूरी होगा वह करूंगी।

तो यह लो।

मधुर मां, राजसिक उत्कंठासे आनेवाली अभीप्साका क्या असर होता है?

अभीप्साका असर? अच्छा, पहला असर तो यह है कि वह तुम्हारी स्थिरता हर लेती है। जिस चीजकी तुमने मांग की है वह तुरंत न मिले तो वह तुम्हें व्याकुल, उत्तेजित, अधीर और असंतुष्ट बना देती है। तुम अपनी अभीप्सामें जितने उग्र होते हो, सामान्यतः, निराशा और असंतोषमें भी उतने ही उग्र हो जाते हो, और साथ ही अपने असहाय होनेका जोरदार भाव रहता है।

तो क्या यह कामना है?

यह ठीक वही चीज नहीं है। यह कामना की बात नहीं, अभीप्साका प्रश्न है। लेकिन अभीप्सा ऐसी भी हो सकती है। कामना बिलकुल और ही चीज है। कामना ऐसी चीज है जो बिलकुल क्षैतिज रूपमें काम करती है।

अपनी सामान्य चेतनामें तुम कुछ चाहते हो; तुम्हारे अन्दर किसी वर्तमान वस्तु या किसी प्रगति या उच्चतर ज्ञान या उच्चतर सिद्धिके लिये अभीप्सा करनेका जरा भी विचार नहीं होता। तुम किसी दुकानमें कोई चीज देखते हो और उसे लेना चाहते हो। बस, यही चीज है। या तुम्हारे मनमें आता है कि यह खाते तो अच्छा रहता, और तुम उसे चाहते हो। ये कामनाएं हैं; ये उसी स्तरसे संपर्क रखती हैं जिसपर तुम हो। और फिर, कुछ लोग कामनामें भी जिद्दी और उग्र होते हैं, जब कि कुछ और लोगोंमें भगोड़ी और कमजोर कामनाएं होती हैं। दोनों प्रकार होते हैं।

लेकिन यहां श्रीअरविंद जिस चीजकी बात कर रहे हैं, वह सचमुच अभीप्सा है। यह किसी ऐसेके बारेमें है जो आध्यात्मिक जीवनके लिये अभीप्सा करता तो है पर करता है बहुत उग्र आवेगके साथ; और स्व-

भावत, इससे सब कुछ उलट-पुलट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अगर उसे कोई परिणाम मिले भी — अगर उसे कोई परिणाम मिल भी जाय — तो वह परिणाम बहुत ज्यादा मिश्रित होता है; वह गदला होता है और जैसा वे कहते हैं, बिलकुल साधारण और अशुद्ध होता है। वे जिसे "राजसिक उत्सुकता" कहते हैं, उसमें और तीव्रतामें गड़बड़ नहीं करनी चाहिये, क्योंकि तीव्रता बहुत विशाल, बहुत शांत और बहुत शुद्ध हो सकती है, और अभीप्साको काफी बल दे सकती है। लेकिन इसका राजसिक गतिविधि या कामनासे कोई संबन्ध नहीं है।

और, उदाहरणके लिये, तुम इसे इस तरह समझ सकते हो: अगर तुम्हारे अन्दर अभीप्सा है, मान लो, अचानक तुम प्रगतिकी संभावनाके बारेमें सोचो, और तुम्हारे अंदर प्रगतिके लिये अभीप्सा हो; लेकिन तुम्हारी अभीप्साके साथ कामना मिली हो तो तुम्हारे अंदर प्रगतिसे मिलने वाली शक्तियों, या इससे मिलनेवाले महत्त्व या अपने जीवनकी परिस्थिति-में सुधारकी कामना होगी। तुम जाकर तुरंत अपनी अभीप्साके अंदर सब प्रकारके छोटे-मोटे निजी हेतु मिला दोगे। और सच्ची बात तो यह है कि बहुत ही कम लोगोंमें बहुत ही शुद्ध अभीप्सा होती है। अभीप्सा करनेकी इच्छा, बस, इतना ही, यह वहां रुक जाती है। चूंकि तुम प्रगतिके लिये अभीप्सा करते हो, और बस, हम और आगे नहीं जायेंगे। हम प्रगति चाहते हैं। लेकिन सामान्यतः, इसके अन्दर प्रगति-के परिणामोंके लिये बहुत प्रकारकी कामना जुड़ जाती है। तो इस तरह कामना आ जाती है; इससे ठीक वही चीज आती है जिसके बारेमें उन्हों-ने कहा है — एक ऐसी चेतना जो अशुद्ध और गदली है, इसके अन्दर कोई उच्चतर चीज नहीं आ सकती। आरंभके लिये, इसे पूरी तरह निकाल देना चाहिये। अगर तुम अपने-आपको बहुत सचाई और निष्कपटता-के साथ, बहुत स्पष्टता और बहुत कठोरताके साथ देखो, तो बहुत जल्दी ही तुम देखोगे कि बहुत ही कम चीजें, चेतनाकी बहुत कम गतियां ऐसी हैं जो कामनाओंसे मिश्रित न हों। जिन्हें तुम उच्चतर गतिविधि मानते हो उनमें भी, हमेशा... नहीं, सौभाग्यवश हमेशा नहीं, बहुधा कोई कामना मिली होती है। अपने महत्त्वके भावकी कामना, या फिर केवल यही हो तो, एक प्रकारका आत्म-संतोष, श्रेष्ठतर होनेका संतोष।

यह निश्चय ही उनसे बहुत अच्छा है जो अपने पड़ोसियोंको आश्चर्य-चकित करनेके लिये या दूसरोंपर अधिकार जमानेके लिये योगी बनना चाहते हैं, यह चाहते हैं कि और लोग उनके लिये प्रशंसा और आदरसे भरे रहें। कितनी चीजें सचमुच शुद्ध हैं? शुद्ध अभीप्सा? तुम्हें पहले

उस स्तरतक पहुंचना चाहिये, उस स्तरतक जिसकी बात मैं पहले कह चुकी हूं, जहांसे तुम अपने-आपको एक मुस्कान, जरा-सी व्यंग्य-भरी मुस्कानके साथ देख सको और यह अनुभव करो कि तुम इतने छोटे, इतने छोटे, इतने छोटे, इतने तुच्छ, इतने नगण्य और इतने मूर्ख हो। उसके बाद चीजें जरा ज्यादा अच्छी तरह चलने लगती हैं। लेकिन कितने लंबे समय तक सभी गतिविधियां अपनी ओर ही मुड़ी रहती हैं! तुम बड़े विस्तारमें आरंभ करते हो मानों तुम इस विश्वके सामने छलांग मार रहे हो, तुम अपने-आप मुड़कर देखते हो, एक छोटे-से परिणामकी आशा करते हो, जरा-से संतोषकी, बहुत ही जरा-से संतोषकी आशा करते हो, चाहे वह तुम्हारे अपने अंदाजमें यही क्यों न हो: "ओह, मेरे अंदर कितनी अच्छी अभीप्सा थी!"

लो, बस अब।

२९ सितंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय एक: "स्थिरता — शांति — समता" के आधारपर है।)

> "भौतिक (शरीर)के लिये यह अच्छा है कि वह अधिकाधिक सचेतन हो, लेकिन उसे इन सामान्य मानव प्रतिक्रियाओंसे अभिभूत नहीं हो जाना चाहिये जिनके बारेमें उसे पता लगता है। उसे इनसे बुरी तरह प्रभावित या उद्विग्न न होना चाहिये। स्नायुओं और शरीरमें भी मनकी तरह प्रबल समता, प्रभुत्व और अनासक्ति आनी चाहिये। इससे शरीर इस योग्य हो जायगा कि घबराये बिना इन चीजोंके संपर्कमें आ सके। उसे केवल वातावरणमें दबावकी क्रियाओंको अनुभव करना और सहना काफी नहीं, बल्कि उसके बारेमें सचेतन होना और उसे अस्वीकार करके फेंकना भी चाहिये।"

मधुर मां, भौतिक शरीर "वातावरणमें दबावकी क्रियाओं-को" किस तरह "फेंक" सकता है?

पहले तुम्हें सचेतन होना चाहिये कि ये क्रियाएं आ रही हैं... कि उनका एक दबाव है; और फिर, तुम्हारे अन्दर संकल्प होना चाहिये, उन्हें स्वीकार न करनेका संकल्प; और फिर, उसके बाद तुम सीखो यह ...इसे कैसे कहा जाय? ...यह एक छोटी-सी तरकीब है जिसे सीखना पड़ता है, चेतनाकी, संकल्पकी एक गति, और साथ ही मानों तुम शरीरसे निकलनेवाली एक शक्तिका प्रयोग कर रहे हो; और अन्तमें यूं करो (धकेल देनेका संकेत), उस गतिको धकेल दो, और स्वीकार मत करो।

लेकिन सबसे पहले तुम्हें सचेतन होना चाहिये। अगर तुम सचेतन नहीं हो तो तुम कुछ भी नहीं कर सकते। सबसे पहले तुम्हें उस बाहरसे आनेवाली चीजको, दबाव, प्रभाव, सुझाव, वह जो भी हो, उसे देखना चाहिये, उसे आते हुए अनुभव करना चाहिये, उसे देखना चाहिये, उसका अवलोकन करना चाहिये और फिर, निर्णय लेना चाहिये, इनकार करना चाहिये, उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। ये तीन क्रम-संगत चीजें हैं।

"उचित भाव" क्या है?[1]

यह तो अवस्थापर निर्भर है, मेरे बालक। उचित भाव है अपने-आपको पूर्ण करनेका संकल्प या शांत रहनेका संकल्प, या... यह निर्भर है, देखो, यह परिस्थितियोंपर निर्भर है। इसीलिये उन्होंने इसे ठीक-ठीक शब्दोंमें नहीं रखा है, इस तरह या उस तरह; इसका मतलब है कि हर परिस्थितिमें एक भाव होता है जो उसका उचित भाव है, वह भाव जो तुम्हारे अन्दर होना चाहिये, वह वृत्ति जो तुम्हें अन्दरसे अपनानी चाहिये। यह अवस्थापर निर्भर है।

उदाहरणके लिये, है न, जैसे ही तुम शारीरिक असंतुलनका, अस्वस्थताके आनेका अनुभव करो, तो उस समय उचित भावमें एकाग्र होनेका मतलब होगा आंतरिक शांतिमें एकाग्रता, भागवत कृपापर श्रद्धा और भौतिक संतुलन और स्वस्थ रहनेका संकल्प। यह उचित भाव है। एक और मामलेमें, आदमीको यह लग सकता है कि गुस्सेकी लहर या ताव बाहरसे आ रहा है; तब उसे अपने-आपको आंतरिक शांतिमें खींच लेना चाहिये, ऊपरी चीजोंसे अपने-आपको काट लेना चाहिये। संकल्प यह होना चाहिये कि हम केवल उसी चीजको व्यक्त करें जो ऊपरसे आती है, और हमेशा

---

[1] "अभीप्सा करो, उचित भावमें एकाग्र होओ, कैसी भी कठिनाइयां क्यों न हों, तुम निश्चय ही अपने सामने रखे हुए लक्ष्यको पा लोगे।"

भगवान्‌की 'इच्छा'के प्रति समर्पित रहें। यही उचित भावना है। हर मामलेमें चीज कुछ ऐसी ही होती है। स्वभावतः बात हमेशा वहींपर आ जाती है कि हमें भगवान्‌को याद रखना चाहिये, अपने-आपको उनकी सेवामें लगाना चाहिये और वही चाहना चाहिये जो वे चाहें।

लेकिन एक मामलेमें तुम शांति चाह सकते हो, दूसरी स्थितिमें तुम शक्ति चाह सकते हो, एक तीसरी ही स्थितिमें तुम्हें स्वास्थ्यकी चाह हो सकती है, और किसी और स्थितिमें किसी ऐसी चीजकी जो बाहरसे पड़नेवाले दबावका प्रतिरोध कर सके।

जब तुम उलझनमें होते हो, जब तुम्हें चुनाव करना होता है, जब तुम्हें पता नहीं होता कि ठीक कौन-सी चीज करनी चाहिये — तुम्हें एक, दो, तीन, चार संभव निर्णयोंमें किसी एकको चुनना हो और यह समझमें न आ रहा हो कि कौन-सा ठीक निर्णय है, तब जहांतक हो सके, तुम्हें अपने-आपको चैत्य पुरुषके, अपने अन्दर दिव्य 'उपस्थिति'के संपर्कमें लाना चाहिये और अपनी समस्या चैत्य चेतनाके आगे रखकर सच्चे प्रकाशके लिये, सच्चे निर्णयके लिये, एक ऐसे निर्णयके लिये जो भागवत 'इच्छा'के सबसे अधिक अनुकूल हो मांग करनी चाहिये, और प्रेरणाको सुनने और ग्रहण करनेके लिये कोशिश करनी चाहिये।

तुम देखोगे कि हर एक अवस्थामें, वही उचित वृत्ति है।

"भगवान्‌को हमेशा पहला होना चाहिये।"[1] इसे मैं नहीं समझ पाया। "पहला होने"का क्या अर्थ है?

तुम फ्रेंच "पासे"[2] का अर्थ नहीं जानते? लेकिन अंगरेजीमें भी तो वही चीज है। मुझे मालूम नहीं कि अंगरेजी पाठमें क्या है, परंतु "पहला होना", तुम "पहला होना" का मतलब तो समझते हो? इसका मतलब यह हुआ कि और सब महत्त्वपूर्ण बातोंसे पहले भगवान्‌का महत्त्व है। यानी, वे सब महत्त्वपूर्ण चीजें जो भगवान् नहीं हैं, गौण हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं। यानी, जैसा कि मैंने अभी समझाया, उदाहरणके लिये: तुम्हें कोई चुनाव करना है, तो तुम्हें दिव्य प्रेरणाके अनुसार चुनाव करना चाहिये,

---

[1] "जो लोग आध्यात्मिक जीवन अपनाना चाहते हैं, उनके लिये भगवान्‌को हमेशा पहला होना चाहिये, और सब चीजें गौण हों।"

[2] लड़का इसके फ्रेंच अनुवाद "पासे दाबोर" का अर्थ नहीं समझ पाया था।

या ऐसी चीज चुननी चाहिये जो तुम्हें भगवान्‌के नजदीक ले आये; या भगवान्‌को पानेके लिये तुम्हें अच्छी-से-अच्छी स्थितिमें रख दे, क्योंकि भगवान्‌का स्थान पहला है, सभी वैयक्तिक हित और वैयक्तिक संतोष पीछे हैं। पहले भगवान्। भगवान्‌के प्रति समर्पणका स्थान पहला होना चाहिये, बाकी सब बादमें। वह आये, आये; न आये, न आये, उसकी परवाह नहीं। महत्त्व है भगवान्‌की खोजका, यही पहली चीज है; यही चीज और सब चीजोंसे पहले आती है, यही सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका यही मतलब है।

तुम्हारे अन्दर कोई "अधिक सत्य" वस्तु है।[1] यह चैत्य पुरुष है, है न?

कोई वस्तु...? आह, यह... देखो, ये पत्रोंके उत्तर हैं। लोग कुछ लिखा करते थे और श्रीअरविंद उनके शब्दोंको दोहरा देते थे, समझे; शायद इस आदमीने लिखा होगा कि उसे लगता है कि उसके अन्दर कोई "अधिक सत्य वस्तु" है। इसलिये वे कहते हैं: तुम्हारे अन्दर यह "अधिक सत्य" वस्तु निश्चय ही चैत्य पुरुष है।

मधुर मां, जो भगवान् हमारे अन्दर छिपे हुए हैं उन्हें हम कैसे पा सकते हैं?

इसकी कई, कई बार व्याख्या की जा चुकी है। पहली चीज है, यह चाहना और यथार्थ रूपसे यह जानना कि यह बात पहली है, और सब बातोंसे पहले, कि यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सबसे पहली शर्त है; बाकी सब बादमें आ सकती हैं, यह **अनिवार्य** शर्त है। तो देखो, कभी-कदास, समय-समयपर, जब तुम्हें और कुछ न करना हो, सब कुछ ठीक चल रहा हो और तुम ठाले बैठे हो, तो अचानक तुम अपने-आपसे कह उठते हो: "मैं बहुत चाहूंगा कि भगवान्‌को पा लूं!" — तो इसमें — इस तरह एक लाख वर्ष भी लग सकते हैं।

लेकिन अगर यही महत्त्वपूर्ण चीज है, यही एक चीज है जिसका मूल्य

---

[1] अपने अन्दरकी इस "अधिक सत्य वस्तु" के पीछेकी शांतिमें रहना सीखो और उसीको अपना सच्चा रूप अनुभव करो।

है, बाकी सब चीजें पीछे आती हैं, और तुम **इसके सिवा** और कुछ नहीं चाहते, तो — यही, पहली शर्त है। पहले तुम्हें इसको प्रतिष्ठित करना चाहिये, इसके बाद क्या आयेगा इसकी बात हम बादमें करेंगे। पहले यह, बाकी सबकी कोई गिनती नहीं है, केवल **इसी**की गिनती है, कि तुम इसे पानेके लिये सब कुछ छोड़नेके लिये तैयार हो, जीवनमें बस, इसी चीजका महत्त्व है। तब तुम इस स्थितिमें होते हो कि एक कदम आगे ले सको।

मधुर मां, एक दिन आपने कहा था कि अगर तुम यह जानते हुए भूल करो कि यह भूल है, तो तुम भागवत कृपाको दूर धकेल देते हो और एक दीवार खड़ी कर लेते हो, अपने और भगवान्‌के बीच एक सचमुच दीवार खड़ी कर देते हो।

मुझे याद नहीं कि मैंने ठीक-ठीक क्या कहा था, लेकिन एक बात है: अगर तुम यह **जानते हुए** भूल करो कि तुम भूल कर रहे हो और फिर भी करो, तब तुम ऐसा करते हो। अगर तुम अज्ञानके कारण भूल करते हो, तुम्हें यह पता नहीं होता कि यह भूल है तो बहुत अप्रिय परिणाम आ सकते हैं, पर तुम भगवान्‌को धकेल नहीं देते, क्योंकि तुमने यह चीज अज्ञानवश की है। इसका मतलब यह नहीं है कि दोष दोष नहीं है! वह दोष तो है ही, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, तुम ऐसी अवस्थामें नहीं हो कि भागवत 'कृपा'को दूर धकेल दो। लेकिन अगर तुम जानते हो कि यह दोष है और फिर भी उसे करते हो, तो हर बार ऐसा करते समय तुम भागवत 'कृपा'को दूर धकेलते हो, हर बार जरा और दूर!

माताजी, भूलें होती हैं... हम जानते हैं कि ये भूलें हैं, फिर भी, ऐसा लगता है कि हम उन्हें करनेके लिये बाधित होते हैं। तब?

किससे बाधित? ठीक यही तो होता है! निम्न प्रकृति, अवचेतनाकी सहज-वृत्तियां तुमपर शासन करती हैं और तुमसे ऐसी चीजें करवाती हैं जो तुम्हें नहीं करनी चाहियें। तो यह तुम्हारे संकल्प और हार स्वीकार करनेवाले समर्पणके बीच चुनाव होता है। हमेशा एक ऐसा क्षण होता है जब तुम निर्णय कर सकते हो। जैसा कि मैंने कहा, बात यहांतक पहुंच जाती है कि एक ऐसा क्षण भी आता है जब तुम यह निश्चय कर सकते

हो कि तुम बीमार होओ या न होओ। यहांतक कि ऐसा क्षण आता है जब तुम मरने या न मरनेका निर्णय कर सकते हो। लेकिन उसके लिये तुम्हारे अन्दर **बहुत ज्यादा** जाग्रत चेतना होनी चाहिये, क्योंकि यह कालमें एक अत्यंत सूक्ष्म बिंदु होता है, शायद सेकेंडके सौवें हिस्सेके समान, क्योंकि उससे पहले तुम कुछ नहीं कर सकते, उसके बाद तुम कुछ नहीं कर सकते, ठीक उसी क्षण कर सकते हो। और अगर तुम पूर्णतया जाग्रत हो, तो तुम उस क्षण निर्णय कर सकते हो।

लेकिन मामूली चीजोंके लिये, उदाहरणके लिये, किसी आवेशके आगे झुकने या उसे अस्वीकार करनेमें बहुत कम अवधि नहीं होती, क्षण-भर-की अवधि ही नहीं होती; तुम्हें काफी समय मिल जाता है, तुम्हें निश्चय ही कई मिनट मिल जाते हैं। और तब दुर्बलतापूर्वक झुक जाने और नियंत्रण करनेवालेके संकल्पके बीच चुनाव होता है। अगर संकल्प स्पष्ट हो, अगर वह सत्यपर आधारित हो, अगर वह सचमुच सत्यकी आज्ञाका पालन करता हो और स्पष्ट हो, तो हमेशा उसके अन्दर गलत गतिविधि-को अस्वीकार करनेकी शक्ति होती है। जब तुम कहते हो: "मैं न कर सका," तो यह एक बहाना होता है। यह सत्य नहीं है। ठीक बात तो यह है कि तुमने उसे ठीक तरह चाहा ही नहीं है। हमेशा "हां" और "ना" कहनेके बीच चुनाव होता है। लेकिन मनुष्य कमजोरीका चुनाव करता है, और फिर, अपने ही सामने यह बहाना बनाता है, कहता है: "ओह, इसमें मेरा दोष नहीं है; वह मुझसे ज्यादा प्रबल था।" अगर वह तुमसे ज्यादा मजबूत था तो यह तुम्हारा ही दोष है। तुम ये आवेग नहीं हो, तुम सचेतन अन्तरात्मा हो, समझदार संकल्प हो और तुम्हारा कर्तव्य है कि इस बातका ध्यान रखो कि तुम्हारे ऊपर **ये तत्त्व** शासन करें, नीचेसे आनेवाले आवेग नहीं।

मधुर मां, क्या "विचारमें सत्य" और विचारमें शुद्धि एक ही चीज है?

ये केवल परिभाषाएं हैं। सब कुछ निर्भर है वाक्यपर, संदर्भपर, और इसपर कि शब्दोंका प्रयोग किस तरह किया गया है।

तो 'विचारका सत्य' का मतलब क्या है?

इसका सीधा-सा मतलब है, विचार जो सत्यको अभिव्यक्त करता है।

तो फिर विचारकी शुद्धि क्या है?

अनिवार्य रूपसे, जो विचार सत्यको अभिव्यक्त करता है, वह निश्चय ही शुद्ध होता है, अन्यथा वह सत्यको अभिव्यक्त न कर पाता।

मधुर मां, हम अपनी चेतनाको विशाल कैसे बना सकते हैं?

विशाल? ऐसा करनेके बहुत-से तरीके हैं।

सबसे आसान तरकीब है, अपने-आपको किसी विशाल चीजके साथ एकात्म कर लो। उदाहरणके लिये, जब तुम्हें लगे कि तुम पूरी तरह किसी संकरे सीमित विचार, इच्छा और चेतनामें बन्द हो, जब तुम्हें ऐसा लगे कि तुम किसी सीपमें बन्द हो, तो तुम किसी बहुत विशाल चीजके बारेमें सोचने लगो, उदाहरणके लिये, समुद्रके जलकी विशालता, और अगर सचमुच तुम समुद्रके बारेमें सोच सको कि वह कैसे दूर, दूर, दूर, दूरतक सभी दिशाओंमें फैला है, इस तरह (माताजी बाहें फैला देती हैं), कैसे तुम्हारी तुलनामें वह इतनी दूर है, इतनी दूर कि तुम उसका दूसरा तट देख भी नहीं सकते, उसके छोरके आस-पास भी नहीं पहुंच सकते, न पीछे, न आगे; न दाएं, न बाएं... वह विशाल, विशाल, विशाल, विशाल है। ...तुम उसके बारेमें सोचते हो और यह अनुभव करते हो कि तुम इस समुद्रपर उतरा रहे हो, इस तरह, और कहीं कोई सीमा **नहीं** है...। यह बहुत आसान है। तब तुम अपनी चेतनाको कुछ, थोड़ा-सा विस्तृत कर सकते हो।

कुछ लोग, उदाहरणके लिये, आकाशको देखना शुरू करते हैं; और तब वे कल्पना करते हैं कि इन सब नक्षत्रोंके अन्तरिक्ष और वह सारी... अनन्तता... जिसमें पृथ्वी एक छोटा-सा बिंदु है, और तुम भी धरतीपर एक छोटी-सी चींटीसे भी छोटे बिंदु हो। और जब तुम आकाशको देखते हो तो अनुभव करते हो कि तुम इन अनन्त अन्तरिक्षोंमें, नक्षत्रोंके बीच उतराते फिर रहे हो, और तुम जैसे-जैसे दूर जाते हो वैसे-वैसे ज्यादा विशाल होते जाते हो। कुछ लोग इस तरह सफलता पाते हैं।

एक और तरीका है जिसमें तुम पृथ्वीकी सभी चीजोंके साथ तादात्म्य अनुभव करते हो। उदाहरणके लिये, जब किसी चीजके बारेमें तुम्हारी दृष्टि संकीर्ण हो और तुम्हें दूसरोंकी दृष्टि और उनके दृष्टिकोणसे चोट पहुंचती हो, तो तुम्हें अपनी चेतनाका स्थान बदलनेसे शुरू करना चाहिये, उसे दूसरोंमें रखनेकी कोशिश करो, और धीरे-धीरे अन्य सब लोगोंके

सोचनेकी विभिन्न पद्धतियोंसे अपने-आपको एक करनेकी कोशिश करो। यह जरा ज्यादा... कैसे कहूं?... खतरनाक है। क्योंकि दूसरोंके विचारों और संकल्पोंके साथ एक होनेका मतलब होता है मूढ़ताओं और दुर्भावनाओंके ढेरके साथ तादात्म्य करना (माताजी हंसती हैं), और इससे ऐसे परिणाम आ सकते हैं जो बहुत अच्छे न हों। फिर भी, कुछ लोग इसे आसानीसे करते हैं। उदाहरणके लिये, जब उनका किसीसे मतभेद होता है तो अपनी चेतनाको विस्तार देनेके लिये वे अपने-आपको दूसरेके स्थानपर रखकर चीजको अपने दृष्टिकोणसे नहीं, दूसरेके दृष्टिकोणसे देखते हैं। इससे चेतनाका विस्तार होता है, यद्यपि उतना नहीं जितना पहले बताये गये उपायोंसे, जो बिलकुल निर्दोष हैं। उनसे तुम्हें कोई हानि नहीं होती, उनसे बहुत लाभ होता है। वे तुम्हें बहुत शांत कर देते हैं।

चेतनाको विस्तृत करनेके बहुत-से बौद्धिक तरीके हैं। मैंने अपनी पुस्तकमें इन्हें अच्छी तरह समझाया है। लेकिन बहरहाल, जब तुम किसी चीजसे ऊब जाओ, जब कोई चीज तुम्हें कष्टदायक और बहुत अप्रिय लगे, उस समय यदि तुम कालकी शाश्वतताके बारेमें, देशकी अनन्तताके बारेमें सोचना शुरू करो, अगर तुम उस सबके बारेमें सोचो जो बीत चुका है, और उस सबके बारेमें सोचो जो होनेवाला है, और यह देखो कि यह सेकेंड शाश्वततामें एक चलती हुई सांसके जैसा है, और यह एकदम बेहूदा बात मालूम होती है कि कोई ऐसी बातपर परेशान हो उठे जो कालकी अनंतता में... तुम्हारे पास उससे अवगत होनेके लिये समय भी नहीं है, उसका कोई स्थान नहीं है, कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि सचमुच, शाश्वततामें एक सेकेंड क्या है? अगर तुम इसे अनुभव कर सको... इसे कैसे कहा जाय?... अगर यह देख सको, अगर अपने अन्दर यह चित्र बना सको कि इस छोटी-सी धरतीपर तुम कितने छोटे-से व्यक्ति हो, और चेतनाका वह जरा-सा सेकेंड, जो इस समय तुम्हें कष्ट दे रहा है, या इतना अप्रिय हो रहा है — बस, यही, जो तुम्हारे अपने जीवनमें बस, एक सेकेंडमात्र है; तुम स्वयं पहले बहुत-सी चीजें रह चुके हो, और बहुत-सी चीजें भविष्यमें बनोगे, और अभी जिस चीजका इतना असर हो रहा है, उसे संभवतः तुम अगले दस वर्षोंमें भूल जाओगे, और अगर तुम्हें इसकी याद रही भी तो तुम कहोगे: "मैंने इसे कोई महत्त्व कैसे दे दिया था?" ... अगर तुम पहले इस चीजका अनुभव कर सको, और फिर, यह देखो कि तुम्हारा अपना छोटा-सा व्यक्तित्व जो शाश्वततामें एक सेकेंड या एक सेकेंडके बराबर भी नहीं है, लगभग अदृश्य, इससे पहले एक पूरा जगत् फैलता

रहा है और इसके बाद भी फैलेगा, अनिश्चित कालतक — पहले, पीछे — और . . . तो अचानक तुम्हें पता लगता है कि तुम्हारे साथ जो हुआ था उसे इतना अधिक महत्त्व देना कितना हास्यास्पद है . . . । **सचमुच** तुम्हें लगता है . . . कि अपने जीवनको, अपने-आपको या अपने साथ बीती बातोंको महत्त्व देना कितना निरर्थक है। और अगर तीन मिनटके अन्दर-अन्दर तुम इसे ठीक तरह कर सको तो सारी अप्रियता दूर हो सकती है, गहरी पीड़ा भी दूर हो सकती है। सिर्फ इस तरहकी एकाग्रता, और अपने-आपको अनन्तता और शाश्वततामें रखना। सब कुछ चला जाता है। तुम उसमेंसे शुद्ध होकर निकलते हो। तुम इस तरह **सब** आसक्तियों-से भी पिंड छुड़ा सकते हो, मैं कहती हूं गहरे-से-गहरे दुःखसे भी। हर चीजसे मुक्त हो सकते हो, अगर तुम इसे ठीक तरह करना जानो। यह तुम्हें तुरंत अपने छोटे-से अहंकारमेंसे बाहर ले आता है। तो यह लो।

मधुर मां, हम अपने निश्चयको बहुत दृढ़ कैसे बना सकते हैं?

यह चाहनेसे कि वह बहुत दृढ़ हो! (हंसी)

नहीं, यह मजाक-सा लगता है . . . पर है एकदम सत्य। आदमी सचमुच चाहता नहीं। हमेशा ही, अगर तुम . . . । यह सचाईका, निष्कपटता-का अभाव है। अगर तुम सचाईसे देखो, तो यही पाओगे कि तुमने निश्चय कर लिया है कि यह ऐसा होगा, और तब, नीचे ही एक चीज है जिसने यह निश्चय बिलकुल नहीं किया है और वह ऊपर उछल आनेके लिये क्षण-भरकी हिचकिचाहटकी प्रतीक्षा कर रही है। अगर तुम सच्चे हो, अगर तुम निष्कपट हो और उस भागको पकड़ लो जो छिपा हुआ है, प्रतीक्षामें है, जो अपने-आपको दिखाता नहीं, जो यह जानता है कि अनिश्चयका एक ऐसा क्षण होगा जब वह बाहर झपट सकेगा और तुम-से वही चीज करवा लेगा जिसे न करनेका तुमने निश्चय किया है . . .

लेकिन अगर **सचमुच** तुम उसे चाहते हो, तो **दुनियाकी कोई चीज** तुम्हें उस चीजको करनेसे नहीं रोक सकती जिसे तुम करना चाहते हो। यह इसलिये होता है कि तुम जानते नहीं संकल्प कैसे करना चाहिये। यह इसलिये होता है क्योंकि तुम अपनी इच्छामें **बंटे हुए** होते हो। अगर तुम अपनी इच्छामें बंटे हुए न हो तो मैं कहती हूं, दुनिया-भरमें कोई चीज, कोई व्यक्ति तुमसे अपनी इच्छा नहीं बदलवा सकता।

लेकिन, तुम इच्छा या संकल्प करना ही नहीं जानते। तथ्य तो यह है कि तुम चाहते ही नहीं। ये छोटी-छोटी इच्छाएं हैं: "हां, तो ऐसा

है . . . । अगर मैं ऐसा होता तो अच्छा रहता . . . हां, अगर ऐसा होता तो ज्यादा अच्छा रहता . . . "हां, ऐसा होना ज्यादा अच्छा है . . . । " **यह** संकल्प करना नहीं है। और हमेशा इसके पीछे कहीं, दिमागके किसी कोनेमेंसे कोई चीज झांकती और कहती है: "मैं क्यों ऐसा चाहूं भला? आखिर, हम इसका उल्टा भी चाह सकते हैं।" और फिर, कोशिश करना . . . । इस तरह नहीं, बस, ठहरे रहो . . । तुम हमेशा इससे उल्टा करनेके लिये हजारों बहाने निकाल सकते हो। और हां, बस जरा-सी हिचकिचाहट काफी है . . . फट्ट . . . चीज नीचे झपट पड़ती है, और लो खत्म। लेकिन अगर तुम **संकल्प करो**, अगर तुम सचमुच **जानो** कि **यही** चीज है, और सचमुच उसीको चाहो और अगर तुम **स्वयं** पूरी तरहसे इस संकल्पपर एकाग्र हो, तो मैं कहती हूं, दुनियाकी **कोई चीज** तुम्हें उसे करनेसे न रोक सकेगी, उसे करनेसे या उसे करनेके लिये बाधित होनेसे। यह इस-पर निर्भर है कि वह क्या है।

आदमी चाहता है। हां, आदमी चाहता है, इस तरह (संकेत)। आदमी चाहता है: "हां, हां, अगर ऐसा हो तो ज्यादा अच्छा होगा। हां, यह ज्यादा सुन्दर होगा, ज्यादा शानदार होगा।" . . . लेकिन आखिर आदमी एक दुर्बल प्राणी है, है न? और तब तुम हमेशा किसी औरको दोष दे सकते हो: "हां, यह बाहरसे आनेवाला प्रभाव है, यह सब तरह-की परिस्थितियोंके कारण है।"

सांस गुजर गयी है। तुम नहीं जानते . . . कोई चीज . . . एक क्षण-भरकी निश्चेतना . . . "ओह, मैं सचेतन नहीं था।" तुम सचेतन नहीं हो क्योंकि तुम स्वीकार नहीं करते . . . । और यह सब इसलिये कि तुम संकल्प करना नहीं जानते।

संकल्प करना सीखना बहुत जरूरी चीज है। और सचमुच संकल्प करनेके लिये तुम्हें अपनी सत्ताको एक बनाना होगा। वास्तवमें, एक सत्ता होनेके लिये, पहले तुम्हें अपने-आपको एक करना चाहिये। अगर तुम एकदम विरोधी प्रवृत्तियोंके द्वारा विरोधी दिशाओंमें खींचे जाओ, अगर तुम अपने जीवनका तीन-चौथाई भाग अपने बारेमें सचेतन हुए बिना, जो तुम करते हो उसके कारण जाने बिना बिताओ तो क्या तुम एक वास्तविक सत्ता हो? तब तुम्हारा अस्तित्व नहीं होता। तुम प्रभावों, गतिविधियों, शक्तियों, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओंकी राशि होते हो, पर एक सत्ता नहीं होते। तुम सत्ता तब बनना शुरू करते हो जब तुम्हारे अंदर संकल्प होना शुरू हो। और संकल्प तबतक नहीं हो सकता जबतक कि तुम एक न हो।

और जब तुम्हारे अन्दर संकल्प हो, तो तुम कह सकोगे, तुम भगवान्‌से कह सकोगे : "मैं वही चाहता हूं जो तुम चाहो।" उससे पहले नहीं। क्योंकि वही चाहनेके लिये जो भगवान् चाहते हैं, तुम्हारे अन्दर संकल्प होना चाहिये, अन्यथा तुम किसी चीजके लिये संकल्प नहीं कर सकते। तुम चाहोगे। तुम बहुत अधिक चाहोगे। तुम बहुत अधिक चाहोगे कि वही चाहो जो भगवान् चाहते हैं। तुम्हारे पास संकल्प नहीं है जिसे तुम उन्हें दे सको, उनकी सेवामें लगा सको। कुछ इस तरहकी चीज, लिजलिजी-सी, जेलीफिशके जैसी... वहां...। शुभेच्छाओंका ढेर — और मैं ज्यादा अच्छे पक्षकी सोच रही हूं और दुर्भावनाओंको भुला रही हूं — सदिच्छाओंका अर्द्ध-चेतन, उतराता हुआ ढेर...

बस, इतना ही, मेरे बालको। आजके लिये यह काफी है। लो बस, अच्छा।

बस, इसे अभ्यासमें उतारो; मैंने जो कहा है, उसका जरा-सा अंश, पूरा नहीं, बस, जरा-सा। अच्छा, चलो।

६ अक्तूबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय एक : "स्थिरता — शांति — समता" के आधारपर है।)

"संपूर्ण श्रद्धा — यह श्रद्धा कि जो अच्छे-से-अच्छा होगा वही होगा, लेकिन साथ ही यह श्रद्धा भी कि अगर आदमी अपने-आपको सच्चा यंत्र बना ले तो वही फल आयेगा जिसे उसका संकल्प-बल, 'दिव्य ज्योति'के मार्गदर्शनमें, कर्तव्य कर्मके रूपमें देखे।"

— यह श्रद्धा कि हमेशा वही होता है जो अच्छे-से-अच्छेके लिये हो। हम तत्काल उसे अच्छे-से-अच्छा न भी मानें, क्योंकि हम अज्ञानी और अंधे हैं, क्योंकि हम चीजोंका परिणाम नहीं देखते, और यह नहीं देखते कि बादमें क्या होगा। लेकिन हमें यह श्रद्धा रखनी चाहिये कि अगर ऐसा है, अगर हम भगवान्‌पर भरोसा रखें, अगर हम अपना पूरा दायित्व उन्हें सौंप दें, अगर हम उन्हें अपने लिये हर चीजका फैसला करने दें, तो हमें

यह जानना चाहिये कि हमेशा वही होगा जो हमारे लिये अच्छे-से-अच्छा है। यह निरपेक्ष तथ्य है। तुम्हारे लिये उसी हदतक अच्छे-से-अच्छा होगा जिस हदतक तुम समर्पण करोगे। हो सकता है कि यह तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी पसंद या कामनाके अनुरूप न हो, क्योंकि ये चीजें अंधी हैं: यह आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे अच्छे-से-अच्छा है, तुम्हारी प्रगतिके लिये, तुम्हारे विकासके लिये, तुम्हारे आध्यात्मिक विकास और तुम्हारे सच्चे जीवनके लिये अच्छे-से-अच्छा है। हमेशा यही होता है। तुम्हें यह श्रद्धा रखनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धा भगवान्‌में विश्वासकी और भगवान्‌के प्रति तुम्हारे पूर्ण आत्म-समर्पणकी अभिव्यक्ति है। और जब तुम यह आत्म-दान करते हो, तो वह एक अद्‌भुत चीज होती है। यह तथ्य है। ये कोरे शब्द नहीं हैं, तुम समझ रहे हो न, यह एक तथ्य है। तुम पीछे-की ओर नजर डालो तो तुम अनुभव करोगे कि बहुत प्रकारकी चीजें, जिन्हें तुम उस समय नहीं समझ पाये थे जब वे हुई थीं, ठीक वही थीं जिनका होना जरूरी था ताकि वे तुम्हें प्रगति करनेके लिये बाधित कर सकें। हमेशा, बिना अपवादके। हमारा अंधापन हमें यह देखनेसे रोकता है।

क्या अपने-आपको बुरा-भला कहना प्रगति करनेका अच्छा उपाय है?

अपने-आपको बुरा-भला कहना? नहीं, जरूरी नहीं है। यह उपयोगी हो सकता है, और वास्तवमें कभी-कभी तुम्हारे अंदरसे पूर्णताकी भ्रांतिको निकाल बाहर करनेके लिये उपयोगी होता है। लेकिन तुम अपनी आलोचनामें बहुत शक्ति नष्ट करते हो। ज्यादा अच्छा यह होगा कि उसी शक्तिका उपयोग प्रगति करनेमें किया जाय, ठोस प्रगति, कुछ अधिक उपयोगी चीज की जाय। उदाहरणके लिये, अगर तुम्हारे अंदर अप्रिय, भद्दे, गंवारू और क्षुब्ध करनेवाले विचार हों, और तुम कहो: "आह, मैं भी कैसा असहाय व्यक्ति हूं, अभीतक मेरे अंदर ऐसे विचार हैं, ये भी क्या मुसीबत है!", तो ज्यादा अच्छा यह होगा कि इस शक्तिका उपयोग तुम उन विचारोंको (संकेत) भगा देनेमें करो।

यह तो सिर्फ पहला कदम है। दूसरा है कुछ और सोचनेकी कोशिश करना, किसी और चीजमें रस लेना: कुछ पढ़ना या मनन करना, बहर-हाल, अपने मनको किसी ज्यादा मजेदार चीजसे भरनेकी कोशिश करना, अपनी शक्तिका उपयोग विनाशकी जगह रचनामें करना।

हां, समय-समयपर अपने दोष स्वीकार करनेकी भी जरूरत होती है; यह बिलकुल अनिवार्य है। लेकिन उनपर बहुत ज्यादा जोर देना जरूरी नहीं है। जरूरी यह है कि अपनी समस्त शक्तिका उपयोग उन गुणोंका निर्माण करनेमें किया जाय जिन्हें तुम अपने अन्दर चाहते हो और जो करना चाहते हो वह करते चलो। यह बहुत ज्यादा जरूरी है।

"अभी तुम्हारी अनुभूतियां मानसिक स्तरपर हैं...।"

यह किसी व्यक्तिको श्रीअरविंदका उत्तर है, मुझे पता नहीं किसे। किसीने पत्र लिखा होगा और श्रीअरविंदने उत्तर दिया: "अभी तुम्हारी अनुभूतियां मानसिक स्तरपर हैं।" न मुझे इस व्यक्तिका पता है, न यह मालूम है कि उस चिट्ठीमें क्या था।

परंतु "केवल मानसिक स्तरपर" का अर्थ क्या है?

इसका अर्थ क्या है? ये अनुभूतियां विचार, मानसिक क्रिया-कलाप, चीजोंकी समझ, चीजोंके अवलोकन, विचार, अनुमान, तर्क, शिक्षा व ज्ञानके साथ संपर्क और इस ज्ञानका तुम्हारी समझपर जो परिणाम होता है — ये सब चीजें शुद्ध रूपसे मानसिक हैं। और वास्तवमें तुम्हें हमेशा वहींसे शुरू करना चाहिये।

अगर तुम्हें प्राणिक अनुभूतियां होती हैं — उदाहरणके लिये, अंतर्दृष्टि — पर्याप्त मानसिक तैयारीके बिना प्राणिक अनुभूतियां होती हैं, तो इनसे संतुलन बिगड़ सकता है, और हर हालतमें, जो हो रहा है उसके बारेमें तुम कुछ भी नहीं समझ सकते, और यह अगर हानिकर नहीं, तो कम-से-कम व्यावहारिक रूपसे बेकार तो है ही। दूसरी ओर, अगर पहले तुम अपनी समझको विकसित कर लो, तुमने अध्ययन किया हो, समझते हो और चीजोंका कारण जानते हो, उदाहरणके लिये, तुम्हें योगका लक्ष्य मालूम हो, और तुमने उसे प्राप्त करनेके साधनोंका अध्ययन किया हो — वास्तवमें, विषयके प्रति मानसिक पहुंच — तो उस समय, जब अनुभूति आये तो यह संभव रहता है कि तुम कुछ समझ सको, अन्यथा तुम कुछ नहीं समझ पाते। आनेवाली अनुभूतियोंको थोड़ा-बहुत समझनेके लिये पूरी न सही, काफी मानसिक तैयारी जरूरी है।

माताजी, अनुभूतियां किस बातपर निर्भर होती हैं?

आ, यह बहुत-सी बातोंपर निर्भर है...। कुछ लोगोंको बिलकुल सहज अनुभूतियां होती हैं। तब यह कहा जा सकता है कि वे उनके पूर्व जन्मों-पर या उनके निर्माणके ढंगपर, उनके वर्तमान भौतिक शरीरके निर्माणके समय जो शक्तियां प्रधान थीं उनपर, और जन्मसे भी पहले उनपर पड़ने-वाले प्रभावपर निर्भर हैं। इन लोगोंको सहज रूपसे अनुभूतियां होती हैं। ऐसे लोग बहुत नहीं होते, पर कुछ हैं जरूर। कुछ और लोगोंके लिये यह एक दीर्घ प्रयासका परिणाम होता है। वे अनुभूतियोंके लिये अभीप्सा करते हैं, और अपने ऊपर कोई अनुशासन आरोपित कर लेते हैं, या अनुभूतिको पानेके लिये कोई साधना अपना लेते हैं। कभी-कभी कुछ पानेमें बहुत अधिक समय लग जाता है। यह पूरी तरह इसपर निर्भर है कि तुम्हारा निर्माण किस तरह हुआ है। मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो अज्ञानी थे, हां, फिर भी जिन्हें सूक्ष्म दृष्टिके, आंतरिक बोधके बहुत विल-क्षण अनुभव हुए थे। वे बिलकुल न समझ पाते थे कि उन्हें क्या हो रहा है, या वे क्या देख रहे हैं। लेकिन उनमें यह प्रतिभा थी।

लेकिन क्या इसका उनके बाह्य जीवनपर कोई असर नहीं होता?

नहीं।

तब फिर अनुभूतियोंका लाभ क्या?

यह "लाभ" की बात नहीं है। दुनियामें सभी चीजें उपयोगितावादी नहीं हैं। बात ऐसी है क्योंकि वह ऐसी है। हां, जो ऐकांतिक रूपसे अनु-भूतियां पानेमें लगा रहे, जिसमें कोई आंतरिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक तैयारी न हो और जो किसी मौजके कारण अनुभूतियां पाना चाहता हो, उससे तुम कह सकते हो : "इससे क्या लाभ?" उसे तुम कह सकते हो : "हां, इससे क्या लाभ? यह तो तुम्हें आध्यात्मिक जीवनकी ओर नहीं ले जायेगा। यह तुम्हें तब सहायता दे सकता है जब तुमने मार्ग अपना लिया हो। और अगर तुमने पूरी सचाईके साथ यह मार्ग अपना लिया है तो अनुभूतियां, जितनी आवश्यकता है उसके अनुसार आती रहेंगी। लेकिन अनुभूतिके लिये अनुभूतिकी तलाश बिलकुल बेकार है।" और तुम लोगोंसे कह सकते हो : "इससे लाभ क्या? यह एक सनक है, किसी और स्तरपर सनक; यह एक और तरहकी कामना है, लेकिन है तो कामना ही।"

फिर भी, साधारण क्रममें, तुम जिस हदतक आंतरिक प्रगति करते हो,

सत्य चेतनाकी ओर तुम्हारे एक-एक कदमके साथ उसके अनुकूल अनुभूतियां आती रहती हैं जो तुम्हें उस स्थितिको समझनेमें सहायता देती हैं जिसमें तुम हो; यह साधारण है। ऐसा होना चाहिये।

लेकिन साधारणतः ये ऐसी सनसनीदार अनुभूतियां नहीं होतीं, जिनके बारेमें ढोल पीटा जा सके। लोगोंको अज्ञानक चेतनाका प्रकाश दीखता है, एक आंतरिक संकेत मिलता है, एक असाधारण बोध प्राप्त होता है। लेकिन जब वे ऐकांतिक रूपसे अनुभूति पानेकी कामनाकी ओर मुड़े न हों, तो वे इसे बहुत महत्त्व नहीं देते, कभी-कभी वे उसे काफी महत्त्व भी नहीं देते। संकेत आया, उन्हें कुछ दिखा गया, लेकिन उन्हें उसका भान भी न था। फिर भी, ये चीजें ऐसी नहीं हैं जो तुम्हें यह भान देती हों कि तुम एक अद्भुत जगत्में रह रहे हो। ये बिलकुल सामान्य चीजें हैं। अचानक हृदयका उद्घाटन होता है, एक प्रकाश होता है, तुम कुछ चीज समझ जाते हो जो पहले नहीं समझते थे। तुम उसे बिलकुल स्वाभाविक घटनाके रूपमें ले लेते हो। परंतु यह एक आध्यात्मिक अनुभूति है — स्थितिका स्पष्ट दर्शन है, तुम्हारे अंदर जो हो रहा है, तुम जिस स्थितिमें हो उसकी समझ है, तुम्हें जो प्रगति करनी चाहिये उसका यथार्थ संकेत है; उस चीजकी ओर इशारा है जिसे ठीक करना है। यह भी एक अनुभूति है और ऐसी अनुभूति जो अंदरसे आती है; यह तुम्हें चैत्य पुरुषका दिया हुआ संकेत है। लोग इसे भी एक सामान्य तथ्यके रूपमें ले लेते हैं। वे उसे कोई महत्त्व नहीं देते।

साधारणतः लोग "अनुभूति"का अर्थ करते हैं एकदम अजीब-सी अस्वाभाविक घटना, जैसे अणिमा आदि सिद्धियां या सनसनीदार अन्तर्दर्शन: भविष्य देख सकना, बहुत दूरतक देख सकना, या फिर, मामूली चीजें, जैसे यह बता सकना, खोई हुई चीज कहां मिलेगी, या इसी तरहकी छोटी-मोटी करामातें। लोग इन चीजोंको "अनुभूति" कहते हैं।

हां, तो साधारणतः जिन लोगोंमें ये क्षमताएं होती हैं वे सुशिक्षित नहीं होते, लेकिन किसी कारणसे वे प्रतिभा लेकर जन्म लेते हैं, जैसे कुछ जन्मसे संगीतकार, चित्रकार या वैज्ञानिक होते हैं, वैसे ये जन्मसे सूक्ष्म द्रष्टा होते हैं; तो, ऐसा हो सकता है कि आवश्यकता पड़नेपर वे अपनी इस क्षमताका उपयोग आजीविका कमानेके लिये करें और उसे पूरी तरह बिगाड़ लें। अगर वे आरामदेह परिस्थितियोंमें हों और उन्हें कमाई करनेकी जरूरत न हो, तो वे अपने मित्रोंमें प्रसिद्ध हो जाते हैं। बहरहाल, यह हमेशा एक प्रकारके व्यापारके लिये अच्छा अवसर होता है। ऐसे बहुत ही कम हैं जिनमें ये क्षमताएं तो हों पर वे नाम या धन कमाने-

के लिये इनका उपयोग न करें। परंतु यह प्रतिमाएं बहुत ऊंचे स्तरकी नहीं होतीं। बहुत आध्यात्मिक जीवनके बिना भी यह तुम्हारे अंदर हो सकती है। ये आंतरिक आध्यात्मिक ऊंचाईपर बिलकुल निर्भर नहीं रहतीं। इन्हें भूलसे प्रगतिका चिह्न न मान बैठना चाहिये।

इसके अतिरिक्त; एक बात निश्चित है: जिनमें ये क्षमताएं नहीं हैं और जो इन्हें पाना चाहते हैं, उदाहरणके लिये, पूर्व दृष्टिकी क्षमता, क्या होनेवाला है उसे पहलेसे देख लेना, यह भविष्यवाणीके समान है — घटनाओंके घटनेसे पहले उन्हें जान लेनेकी क्षमता — जैसा कि मैंने कहा, ऐसे लोग हैं जिनमें किसी जन्मजात विशेषताके कारण यह क्षमता होती है — और अगर कोई इसे प्राप्त करना चाहे, अर्थात्, उन लोकोंके साथ संपर्क करना चाहे जहां ये चीजें देखी जा सकती हैं — अचानक या संयोगवश या उसपर किसी अधिकारके बिना नहीं, बल्कि इसके विपरीत, उन्हें जब इच्छा हो तब देखना — तो इसके लिये **घोर** परिश्रमकी जरूरत होती है। इसीलिये, कुछ लोग इन चीजोंको बहुत महत्त्व देते हैं। लेकिन इनका मूल्य तभी है जब उनपर तुम्हारा कुछ अधिकार हो, अपनी इच्छाके अनुसार उन्हें कर सको और वे आंतरिक साधनाके परिणामस्वरूप हों। इस मामलेमें, हां, क्योंकि इससे यह प्रमाणित होता है कि तुमने किसी ऐसे लोकके साथ नाता जोड़ लिया है जहां इच्छाके अनुसार, स्थायी रूपसे सचेतन प्रवेश कठिन है। यह बहुत कठिन है। इसके लिये बहुत विकासकी जरूरत है। और फिर, तुमने जो देखा है उसके बारेमें निश्चित होनेके लिये . . . क्योंकि मैंने तुम्हें यह नहीं बताया कि ये लोग जो सूक्ष्मदर्शी होनेका पेशा बना लेते हैं, उनके लिये यह . . . मैंने "व्यापार" कहा था, लेकिन, यह उससे भी बुरा है, समझे, यह धोखेबाजी है! जब उन्हें कुछ नहीं दीखता तो वे आविष्कार कर लेते हैं। जब वे इसे पेशा बना लेते हैं और लोग उनसे अपने भविष्यके बारेमें पूछने आते हैं, और उन्हें कुछ भी नहीं दिखायी देता, तो वे कुछ-न-कुछ आविष्कार करनेके लिये बाधित हो जाते हैं, अन्यथा वे अपनी ख्याति और अपने ग्राहक खो बैठेंगे। तो, इस तरह, यह धोखेबाजी बन जाती है, मिथ्यात्व, छल-कपट या जालसाजी हो जाती है।

लेकिन जब तुम शुद्ध और ठीक-ठीक सूचना चाहो, वस्तुओंके सत्यके साथ संपर्कमें आना चाहो, पहलेसे देख लेना चाहो — अपनी तुच्छ मानसिक रचनाके अनुसार नहीं, बल्कि उस तरह जैसे चीजें निर्दिष्ट हैं, वे जिस स्थानमें निर्दिष्ट हैं और जिस समयमें निर्दिष्ट हैं — तो उसके लिये **बहुत अधिक** मानसिक शुद्धि, **बहुत अधिक** प्राणिक संतुलन; कामनाका अभाव,

पसंदका अभाव जरूरी होता है। तुम्हारे अंदर यह चाह बिलकुल न हो कि कोई चीज इस या उस तरह हो, क्योंकि इससे तुम्हारा अन्तर्दर्शन तुरंत मिथ्या हो जाता है।

वे सब लोग जिन्हें अंतर्दर्शन प्राप्त होते है, उन्हें विकृत कर देते हैं, लगभग **बिना अपवादके**, सभी। मुझे नहीं लगता कि लाखोंमें एक भी ऐसा है जो अपने अंतर्दर्शनको विकृत नहीं कर लेता। क्योंकि जैसे ही वह मस्तिष्कको छूता है उसी क्षण वह पसंदों, कामनाओं, आसक्तियोंके क्षेत्रको छू लेता है, और वास्तवमें, यह तुमने जो देखा है उसे कोई रंग, कोई विशेष रूप देनेके लिये काफी है। अगर तुमने ठीक-ठीक देखा भी है तो भी, तुम उसे अपनी चेतनामें गलत तरीकेसे अनूदित करते हो। इसके लिये सचमुच एक बहुत बड़ी पूर्णताकी आवश्यकता है। लेकिन तुम्हें अंतर्दर्शनकी प्रतिमाके बिना पूर्णता प्राप्त हो सकती है। और यह पूर्णता इस प्रतिमाके बिना भी इतनी महान् हो सकती है जितनी उसके साथ। अगर, तुम्हें इसमें विशेष रस हो तो तुम उसे पानेके लिये प्रयास कर सकते हो। लेकिन तभी, अगर तुम्हें इसमें विशेष रस हो। अगर तुम अमुक चीजें जाननेको बहुत महत्त्व देते हो तो तुम एक संयम अपना सकते हो; तुम अपनी इंद्रियोंकी क्रियाको बदलनेके लिये भी एक अनुशासन या संयम अपना सकते हो। मेरा ख्याल है कि मैं तुम्हें पहले ही बतला चुकी हूं कि तुम कैसे भौतिक रूपमें भी दूरीसे सुन सकते हो, दूरीसे देख सकते हो; लेकिन इसका मतलब है बहुत-सा परिश्रम जो हमेशा परिणामके अनुपातमें नहीं होता, क्योंकि ये केंद्रीय, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीजें नहीं, बल्कि गौण चीजें हैं। ये गौण चीजें हैं जो मजेदार हो सकती हैं, परंतु अपने-आपमें आध्यात्मिक जीवन नहीं हैं; इसके बिना भी आध्यात्मिक जीवन हो सकता है। शायद दोनों मिलकर तुम्हें ज्यादा क्षमता दे सकती हैं। लेकिन इसके लिये भी तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये: "अगर मेरे अंदर इस चीजकी जरूरत है — अगर मैं भगवान्‌के प्रति संपूर्ण समर्पणकी सच्ची वृत्ति अपनाऊं — अगर मेरे अंदर इसकी जरूरत होगी तो यह मिल जायगी। जैसे यदि मेरे अंदर बोलनेकी प्रतिभाकी जरूरत होगी तो वह मिल जायगी।" और वास्तवमें, अगर तुम सचमुच समर्पित हो, सच्चे ढंगसे और पूरी तरहसे समर्पित हो, तो हर मिनट तुम वही होगे जो होना चाहिये, वही करोगे जो करना चाहिये और वही जानोगे जो जानना चाहिये। यह... लेकिन स्वभावतः, इसके लिये तुम्हें अहंकारकी तुच्छ सीमाओंको लांघना होगा, और यह एक रातमें नहीं हो जाता। लेकिन यह हो सकता है।

और कोई प्रश्न ?

मधुर मां, "प्राणिक कामना-पुरुष" क्या है ?

वत्स, प्राणिक सत्ता वह है जो शरीरको अनुप्राणित करती है, वह जीवन जो शरीरको अनुप्राणित करता है। साधारण भाषामें कहा जाता है: "जब तुम्हारी अन्तरात्मा देह त्याग दे तो तुम मर जाते हो," या: "तुम्हारे मरणके समय तुम्हारी अन्तरात्मा तुम्हारा शरीर छोड़ देती है," एक या दूसरी तरहसे कहा जाता है; लेकिन यह अन्तरात्मा नहीं, यह केवल वह अन्तरात्मा नहीं — जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं, मेरा मतलब चैत्य पुरुषसे है — यह प्राणिक सत्ता है। जब प्राणिक सत्ता किसी कारण-से शरीर छोड़ देती है, शरीर मर जाता है या मृत्यु प्राण-पुरुषको शरीर-से अलग कर देती है...। तो यह अनुप्राणित करने या जीवन देनेके अर्थमें है।

मधुर मां, क्या यह "प्राण ही कामना-पुरुष" है ?

हां, प्राण-पुरुष कामनाओंसे भरा होता है। प्राणिक सत्ता कामनाओंसे भरी होती है, वह कामनाओंसे बनी होती है।

मधुर मां, यहां लिखा है : "बाहरी अवस्थाओंकी अपेक्षा आध्यात्मिक वातावरण ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। अगर तुम्हें वह मिल सके और तुम सांस लेने और जीनेके लिये अपनी आध्यात्मिक हवा उत्पन्न कर सको, तो वह प्रगतिकी सच्ची अवस्था होगी।" हम उसे कैसे पा सकते हैं ? और अपना सच्चा आध्यात्मिक वातावरण कैसे बना सकते हैं ?

क्या पा सकते हैं ? यह — यह तो... यथार्थमें, आंतरिक अनुशासनद्वारा; अपने विचारोंपर संयम रखकर, उन्हें ऐकांतिक रूपसे साधनाकी ओर मोड़-कर, अपनी क्रियाओंपर संयम करके और उन्हें ऐकांतिक रूपसे साधनाकी ओर मोड़कर, समस्त कामनाओं और व्यर्थके बाह्य साधारण क्रिया-कलाप-का उन्मूलन करके, अधिक तीव्र आंतरिक जीवन जीकर, सामान्य चीजोंसे, सामान्य विचारोंसे, सामान्य प्रतिक्रियाओंसे, सामान्य क्रियाओंसे अपने-आपको अलग करके तुम अपने चारों ओर एक प्रकारका वातावरण बना सकते हो।

उदाहरणके लिये, कोई भी ऊट-पटांग चीज पढ़ने, गप्पें लगाने और कुछ भी करनेकी जगह, अगर तुम केवल वही पढ़ो जो तुम्हें मार्गका अनुसरण करनेमें सहायता दे, अगर तुम केवल उसीके समर्थनमें कार्य करो जो तुम्हें भागवत उपलब्धिकी ओर ले जाय, अगर तुम अपने अंदरसे कामनाओं और बाहरकी ओर मुड़े हुए आवेगोंका उन्मूलन कर सको, अगर तुम अपने मनोमय पुरुषको शांत करो, अपनी प्राणिक सत्ताको शांत करो, अगर तुम बाहरसे आनेवाले सुझावोंकी ओरसे अपने-आपको बंद कर लो और अपने चारों तरफके लोगोंकी क्रियासे अपने-आपको अस्पृष्ट बना सको, तो तुम एक ऐसा आध्यात्मिक वातावरण बना लोगे कि उसे कुछ भी न छू सकेगा, वह इसके बाद परिस्थितियोंपर जरा भी निर्भर न होगा। तुम कहां, किसके साथ या किन परिस्थितियोंमें रहते हो इसका जरा भी असर न होगा, क्योंकि तुम अपने ही आध्यात्मिक वातावरणसे घिरे होगे। और उसे पानेका तरीका यह है: अपना ध्यान पूरी तरह आध्यात्मिक जीवनकी ओर मोड़ना, केवल वही पढ़ना जो आध्यात्मिक जीवनमें लाभ पहुंचा सके, केवल वही करना जो तुम्हें आध्यात्मिक जीवनकी ओर ले जाय आदि-आदि। तब तुम अपना निजी वातावरण पैदा कर लेते हो। लेकिन स्वभावतः, अगर तुम सभी दरवाजे खोल दो, लोग जो कुछ कहें वह सब सुनो, इसकी राय और उसकी प्रेरणाका अनुसरण करो और बाहरी चीजों-के लिये कामनाओंसे भरे रहो, तो तुम अपने लिये आध्यात्मिक वातावरण नहीं बना सकते। तुम्हारा वातावरण साधारण-सा होगा, जैसा औरोंका होता है।

मधुर मां, यहां लिखा है: "अपने इर्द-गिर्दकी चीजोंसे और उनके विरोधसे परेशान न हो। बहुधा ये परिस्थितियां पहले एक अग्नि-परीक्षाके रूपमें आरोपित की जाती हैं।" क्या भगवान् आरोपित करते हैं?

श्रीअरविंदने ऐसा नहीं लिखा, लिखा है क्या? तुम इसे उसी तरह समझ लो जिससे तुम्हें अधिक सहायता मिले। यह बहुत कठिन प्रश्न है।

ओह, मैं बहुत बार तुम्हें यह समझा चुकी हूं कि जब तुम साधारण चेतनामें रहते हो, तबतक तुम एक ऐसे जगत्में रहते हो जो अत्यंत भौतिक मन, प्राण और शरीरका संयोजन है, अर्थात्, साधारण जीवनके स्तरपर रहते हो, तबतक तुम इस लोककी नियतिके अधीन हो और इस लोककी नियति-की अधीनता ही तुम्हें ठीक इन परिस्थितियोंमें ला देती है, क्योंकि तुम्हारे

अंदर गहराईमें कोई चीज है जो एक और ही जीवनके लिये अभीप्सा करती है परंतु अभीतक यह नहीं जानती कि यह दूसरा जीवन कैसे जिया जाय। लेकिन वह दूसरे जीवनकी जरूरी परिस्थितियां पानेके लिये अंदरसे धक्का देती है। ये आंतरिक अवस्थाएं हैं, ये बाहरी अवस्थाएं नहीं हैं। लेकिन यह बाहरी बाधाओंका सहारा लेती है ताकि अपनी प्रगतिके संकल्पको दृढ़ बना सके; इसलिये, अगर तुम उसे अंदरसे देखो, तो तुम यह भी कह सकते हो, स्वयं तुम आगे बढ़नेमें अपनी सहायता करनेके लिये कठिनाइयां पैदा करते हो।

हां, अगर तुम एक और लोकमें प्रवेश कर जाओ और अपने-आपसे कहो (लेकिन यह बहुत-सी व्याख्याओं और वाद-विवादका विषय है), अगर तुम कहो कि सृष्टिमें ऐसी कोई चीज नहीं है जो भगवान्‌का कार्य न हो; और यह बात तत्त्वतः सच है, यद्यपि यहां सच नहीं है, तब तुम कहते हो: "अच्छा। भगवान् ही सब कुछ व्यवस्थित करते हैं; अतः, उन्होंने ही कठिनाइयोंका भी आयोजन किया है।" यह वास्तवमें चीजें कहनेका बहुत बचकाना ढंग है — चीजको बहुत सरल-साधारण बना देना है। लेकिन, जैसा कि मैंने शुरूमें कहा था: "अगर तुम्हें ऐसा सोचनेसे मदद मिलती है, तो ऐसा ही सोचो।" विचार एक मोटे अनुमान या सादृश्यकी चीज है, वह सत्यसे बहुत दूर होता है... वह केवल एक प्रकारका अस्पष्ट, अपूर्ण, अस्तव्यस्त चिंतन है जो अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमें भी मिथ्यात्वसे भरा होता है। तो, सचमुच, यह व्यावहारिक होने और अपने-आपसे यह कहनेका क्षण है: "अगर यह विचार प्रगति करनेमें मेरी सहायता करे तो मैं इसे अपनाऊंगा।" लेकिन अगर तुम समझते हो कि यह निरपेक्ष सत्य है, तो तुम निश्चय ही भूल करोगे क्योंकि एक भी विचार ऐसा नहीं है जो निरपेक्ष सत्य हो।

हां, हम विश्व विद्यालयके पुस्तकालयमें श्रीअरविंदके छोटे-छोटे चिंतनोंकी एक पुस्तक रखनेवाले हैं जो अद्‌भुत है — मैंने उसे आज ही छपवाया है। उसमें वे कहते हैं, कोई भी शिक्षा, वह चाहे कितनी भी महान्, कितनी भी शुद्ध, उदार, सत्य क्यों न हो, 'सत्य'का एक पहलू मात्र है, अपने-आपमें 'सत्य' नहीं (मैं सिर्फ भाष्य कर रही हूं। मूल पाठ[1] यह नहीं है), वह संपूर्ण 'सत्य' नहीं है। तो यह बात है। तुम्हारा विचार चाहे कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह बहुत ऊंचा, बहुत शुद्ध, बहुत उदार, बहुत सत्य क्यों न हो, फिर भी, वह 'सत्य'का एक बहुत छोटा, अति सूक्ष्म

---

[1] "विचार या शब्द शाश्वत सत्यको पकड़ नहीं सकते।" —श्रीअरविंद

पहलू है, अतः, वह पूर्ण सत्य नहीं है। इसलिये इस क्षेत्रमें तुम्हें व्यावहारिक होना चाहिये, जैसा कि मैंने कहा, किसी विचारको कुछ समयके लिये अपना लो, किसी ऐसे विचारको अपनाओ जो तुम्हें प्रगति करनेमें सहायता देगा। कभी-कभी वह प्रकाशके रूपमें आता है और प्रगतिमें तुम्हारी सहायता करता है। जबतक वह प्रगतिमें सहायता दे, उसे रखो; जब वह ढहने लगे, काम न करे तो उसे छोड़ दो और किसी और विचारको लेनेकी कोशिश करो जो तुम्हें जरा और आगेतक ले जाय।

अगर लोग ज्ञानकी सापेक्षता, श्रद्धाकी सापेक्षता, शिक्षाकी सापेक्षता और परिस्थितियोंकी सापेक्षताको जानें... यह जान लें कि चीज किस हदतक सापेक्ष रूपमें महत्त्वपूर्ण है तो दुनियाकी बहुत सारी दुर्दशा, बहुत-सी कठिनाइयां लुप्त हो जायेंगी! क्षणिक तौरपर वह बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकती है। वह जीवन या मरणकी ओर ले जा सकती है — मैं भौतिक जीवन-मरणकी बात नहीं, आत्माके जीवन-मरणकी बात कह रही हूं — लेकिन यह है क्षणिक; और जब तुम अमुक प्रगति कर लो, जब तुम आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे कुछ वर्ष बड़े हो जाओ, और लौटकर इस चीजकी ओर देखो, इस परिस्थिति या विचारको देखो जिसने शायद तुम्हारे जीवनका निर्णय किया था, तो वह इतनी सापेक्ष, इतनी नगण्य दीखेगी... और तुम्हें नयी प्रगति करनेके लिये किसी बहुत अधिक ऊंची चीजकी जरूरत पड़ेगी।

अगर तुम इसे हमेशा याद रख सको, तो तुम बहुत-से मतवाद, बहुत-सी असहिष्णुतासे बच सकोगे, और सभी झगड़ोंको तुरंत समाप्त कर सकोगे, क्योंकि झगड़ेका अर्थ आखिर यही तो है कि एक आदमी एक तरहसे सोचता है और दूसरा दूसरी तरहसे, कि एकने एक वृत्ति अपनायी है, दूसरेने दूसरी; और फिर उन्हें नजदीक लाकर यह देखनेकी जगह कि उनमें सामंजस्य कैसे पैदा किया जा सकता है, तुम उन्हें एक-दूसरेके विरुद्ध खड़ा कर देते हो, जैसे लोग घूंसेबाजी करते हैं। यह इसके सिवा कुछ नहीं है।

लेकिन अगर तुम अपने दृष्टिकोणकी, शुभके बारेमें अपने विश्वासकी, अपने विचारकी पूर्ण सापेक्षताको जान लो, यह जान लो कि वह सृष्टिके अभियानमें किस हदतक सापेक्ष है, तो तुम अपनी प्रतिक्रियाओंमें कम उग्र और अधिक सहिष्णु होगे। तो बस।

१३ अक्तूबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय एक : "स्थिरता — शांति — समता" के आधारपर है।)

मधुर मां, "मनोमय पुरुषको साक्षीकी स्थितिमें ले आने" का क्या मतलब है?

क्या तुमने कभी इसका अनुभव नहीं किया? मानों तुम चीजोंसे जरा पीछे या ऊपर हो, और जो कुछ हो रहा है उसमें स्वयं भाग न लेते हुए देख रहे हो? साक्षीका मतलब है देखनेवाला, कोई ऐसा व्यक्ति जो देखता है पर अपने-आप काम नहीं करता। तो, जब मन बहुत अचंचल हो, तो तुम अपने-आपको इस तरह परिस्थितियोंसे जरा अलग खींच सकते हो, और चीजोंको ऐसे देख सकते हो मानों तुम साक्षी या दर्शक हो, तुम अपने-आप क्रियामें भाग नहीं लेते। यह चीज तुम्हें बहुत अनासक्ति और बहुत स्थिरता देती है, और साथ ही, चीजोंके मूल्यका यथार्थ बोध होता है, क्योंकि क्रियाके साथ आसक्ति कट जाती है। जब तुम अपने साथ यह करना जान जाओ, जब तुम अपने-आपको पीछे खींचकर क्रिया करते हुए देख सको, तो तुम अपने बारेमें बहुत-सी चीजें सीख सकते हो। जब तुम क्रियाके साथ घुले-मिले हो और उसमें भाग ले रहे हो, तो तुम अपने-आपको क्रिया करते हुए नहीं देख सकते, तुम्हें पता नहीं होता कि तुम कैसे हो। लेकिन जब तुम जरा पीछे हटकर अपने-आपको देखो, तो तुम ऐसी बहुत-सी अपूर्णताएं देख सकते हो जो तुम्हें किसी और तरह न दिखायी देतीं।

(एक बालकसे) तुम्हें कोई प्रश्न पूछना है?

यहां लिखा है: "'ठोस कुन्दा' लगनेकी यह अनुभूति ठोस बल और शांतिका अवतरण बताती है...।"

हमेशा वही बात है: देखो, लोग चिट्ठियां लिखते हैं; वे अपने अनुभवोंका वर्णन करते हैं। तो श्रीअरविंद उत्तर देते हुए उन्हींके कुछ शब्दोंका उपयोग करते हैं। वे बतलाते हैं कि अपने अंदर "ठोस कुन्दे"

की अनुभूतिका क्या मतलब है : वे कहते हैं कि वह बलके अवतरणका सूचक है।

मधुर मां, "ठोस शांति" का क्या अर्थ है?

देखो, एक नकारात्मक शांति होती है, यानी, गड़बड़का अभाव, लेकिन ठोस शांति भावात्मक है। तुम्हें ऐसी शांतिका अनुभव हो सकता है जो पूरी तरह भावात्मक है, जो शांतिके अभावका निषेध नहीं है। एक ऐसी शांति जो ठोस, साकार, बहुत... लगभग सक्रिय है, यानी, उसमें संक्रमण-की, सारी सत्तामें फैलनेकी, ऐसे स्थानोंमें भी, जहां शांति नहीं है, शांति लानेकी क्षमता है। यह बहुत भावात्मक और मूर्त वस्तु बन जाती है ...मानों तुम किसी ठोस चीजको छू रहे हो। यह वास्तवमें सत्य शांति है। दूसरा — अशांतिका अभाव — तो केवल उससे पहलेका कदम है, यानी, तुम तकलीफसे बचे रहते हो, तुम्हारे अन्दर कोई ऐसा स्पंदन नहीं होता जो गड़बड़का सूचक हो।

(एक बालकसे) और फिर? तुम्हारा आजका प्रश्न?

माताजी, वह प्रश्न इस पुस्तकमेंसे नहीं है।

क्या? इस पुस्तकमेंसे नहीं है? ओह! लेकिन हमारे पास यहांपर एक पूरा पुस्तकालय नहीं है। (हंसी)

(दूसरेसे) क्या तुम्हारे पास कोई प्रश्न है?

"'नीरव आत्मा'की अनुभूति" का मतलब क्या है?

हर एकके अन्दर एक ऐसी सत्ता होती है जिसे वह "स्व" या "आत्मा" कहता है, जो पूरी तरह नीरव और निश्चल होती है। तो अगर तुम अपने अंदरकी इस सत्ताके बारेमें सचेतन हो जाओ, तो तुम्हें नीरव 'आत्मा'-की अनुभूति हो जाती है। वह एक निश्चल और नीरव सत्ता है जो अन्दर रहती है, जो सत्य सत्ताके एक पहलूकी तरह है, और साथ ही, उस साक्षीका पहलू है जिसकी हम बात कर रहे थे। यही नीरव सत्ता, जब चीजोंकी ओर मुड़ती है और उन्हें देखती है, तो साक्षी बन जाती है। लेकिन वह देखनेकी जगह अंदरकी ओर मुड़ सकती है और नीरव मनमें रह सकती है। यह इसपर निर्भर है कि वह किस ओर मुड़ती है। वह सत्तामें एक ठोस बिंदु है जिसमें सत्यका प्रकाश चमकता है।

अगर हम यह अनुभव करें कि वातावरणमें और हर जगह शांत-स्थिरता है, तो क्या इसका यह मतलब है कि स्वयं हमारे अंदर शांत-स्थिरता है?

क्या? हां। जो पहली चीज आती है वह... उदाहरणके लिये, अगर तुम्हें किसी विशेष प्रकारकी अनुभूति हो — जैसे तुम्हें शांतिकी अनुभूति हो सकती है। स्थिरताकी अनुभूति, पूर्ण सद्भावनाकी अनुभूति भी हो सकती है, और सहानुभूति या अनुकंपाकी अनुभूति हो सकती है। यह अनुभूति ऐसी होती है मानों चेतनापर इनमेंसे किसी गतिने अधिकार कर लिया है; तब यह चीज होती है जो बादमें अजीब-सी लगती है, परंतु उस समयके लिये बिलकुल स्वाभाविक होती है — तुम्हें लगता है कि वह चीज हर जगह, हर एकमें, सारे वातावरणमें, तुम्हारे चारों ओर है, और अगर चेतना काफी विशाल है, तो लगता है कि यह सारी पृथ्वीपर है, ठीक **वही** शांति, **वही** अनुकंपा, या **वही** सद्भावना सब जगह है। इस तरह आदमी पूरी सचाईके साथ कह सकता है, उस अनुभूतिमें पूरी तरह निवास करते हुए कह सकता है: "सृष्टि पूर्ण सद्भावना है।"

अगर तुम उस अनुभूतिमेंसे निकल आओ, तो फिर स्वभावतः, यह बात नहीं रहती। लेकिन जब तुम उसमें रहते हो, उस समय यह चीज बिलकुल ठीक रहती है। और फिर, अगर तुम इसे, इन अनुभूतियोंको आगे बढ़ाओ (और जो अपने-आपको सचेतन रूपसे भगवान्‌के साथ एक करनेका प्रयत्न करते हैं उनके साथ ठीक यही चीज होती है), जब तुम्हें यह तादात्म्य प्राप्त हो जाय और तुम्हारे अन्दर भगवान्‌की चेतना हो, तो तुरंत तुम यह अनुभव करते हो कि भगवान् सब कुछ हैं, सब जगह हैं, सब चीजोंमें हैं, और भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं। जिन लोगों-को यह अनुभूति हुई है, उन्होंने यह कहा है। उन्होंने कहा है: "लेकिन, केवल भगवान् ही हैं, सब कुछ भगवान् हैं, केवल भगवान्‌का ही अस्तित्व है।" फिर भी, उस अनुभूतिमेंसे निकल आनेके बाद भी, अगर आदमी यह कहता रहे तो वह लगभग झूठ बोलता है, इस अर्थमें कि अब यह बात उसकी चेतनाकी वर्तमान स्थितिके साथ मेल नहीं खाती।

जब आदमी साधारण बाहरी चेतनामें होता है, तो हर चीज भगवान् बिलकुल नहीं होती, उससे कहीं दूर होती है। जो आकर तुमसे कहते हैं कि इस बाह्य चेतनामें सब कुछ भगवान् है, वे गप्पी हैं! लेकिन जब वे इस अनुभूतिमें होते हैं और भगवान्‌को ही जीते हैं, जब वे भगवान् हो जाते हैं, तब उनके लिये सब कुछ भगवान् होता है। वे भगवान्‌के सिवाय

और कुछ नहीं देखते, वे कह सकते हैं: "सब कुछ भगवान् है," क्योंकि वे केवल भगवान्को देखते हैं। लेकिन जैसे ही वे इस अनुभूतिमेंसे बाहर आ जायं, वे यह नहीं कह सकते।

लेकिन आदमी कुछ भी कह सकता है। वह कह सकता है: "सब कुछ शांति है, सब कुछ समचित्तता है, सब कुछ अनुकंपा है, सब कुछ बोध है। सब कुछ प्रकाश है।"

हर बार जब तुम सचाईके साथ यह अनुभूति प्राप्त करते हो और पूरी तरह अनुभूतिमें रम जाते हो तो तुम जो कुछ देखते हो उसके साथ एक हो जाते हो, क्योंकि वास्तवमें वह हर जगह है, और जब तुम उसके बारेमें अपने अन्दर सचेतन होते हो, तो हर चीजमें उसके बारेमें सचेतन हो जाते हो। यह सच है।

लेकिन यह एकमात्र सत्य नहीं है, बाकी सब भी है: और इसके विपरीत भी सत्य है: जब तुम घृणाकी स्थितिमें प्रवेश करते हो और घृणाका अनुभव करते हो, तो तुम्हारे लिये सारा संसार घृणासे भरा होता है; उस समय घृणाके सिवाय लगभग किसी भी चीजका अस्तित्व नहीं होता।

तुम अपने अनुभवमें जितने अधिक तन्मय हो जाते हो, उतनी ही सभी चीजें उसके साथ एक हो जाती हैं।

तो, माताजी, क्या कोई सच्ची सद्वस्तु नहीं है, क्या सब कुछ हमारे अपने ऊपर निर्भर होता है?

नहीं, ठीक इसके विपरीत!

तुम सद्वस्तुके बारेमें सचेतन तभी हो सकते हो जब तुम अपने अंदर उसके बारे में सचेतन होओ। यह सब सत्य है। वास्तवमें, यह सत्य है: तुम यह नहीं कह सकते कि उसका अस्तित्व है जबतक कि स्वयं तुम उसका अनुभव न करो। अगर तुम इसे अनुभव न करो, और कहो: "यह ऐसा है," तो...। तुम कह सकते हो: "एक समय था जब यह मेरे लिये ऐसा था;" तो यह ठीक होगा। लेकिन अगर तुम कहो: "यह ऐसा है," और उस समय तुम उसे अनुभव न कर रहे हो, तो यह केवल एक मानसिक वक्तव्य होगा।

लेकिन हर चीज वही है! उसमें हर चीज है... वे सब चीजें जिन्हें तुम अनुभव कर सकते हो, और उनसे अनंतगुनी अधिक जिन्हें तुम अनुभव नहीं कर सकते, क्योंकि कोई सत्ता अपने-आपमें पूर्ण नहीं है। अगर कोई अपने-आपमें पूर्ण हो, तो वही, बिना अपवादके, संपूर्णका अनु-

भव कर सकता है। और तथ्य यह है कि शक्यताकी दृष्टिसे है भी ऐसा ही। हर एक अपनी दिशाके अनुसार विकसित होता है। कहनेका आशय यह है: तुम विश्वके बारेमें उसी हदतक सचेतन हो जिस हदतक विश्व तुम्हारी चेतनामें है। दूसरे चाहे जो कहें, तुम्हारे लिये तुम्हारी चेतनामें ही संसारका अंतिम छोर है। उदाहरणके लिये, तुम जो कुछ पढ़ते हो, तुम्हें जो भी वर्णन सुनाये जाते हैं, वे सभी वाक्य जो तुम सुनते हो, उन्हें तुम उसी हदतक समझ सकते हो जिस हदतक वे तुम्हारी चेतनाकी किसी चीजके साथ मेल खाते हैं, और अगर वे तुम्हारी चेतनामें नहीं हैं, तो तुम उन्हें नहीं समझते और परिणामस्वरूप तुम्हारे लिये उनका अस्तित्व नहीं है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारे बाहर भी उनका अस्तित्व नहीं है।

आपने उस अनुभूतिकी बात कही थी जिसमें आदमी हर जगह भगवान्‌को देखता है।

हां।

आदमी भगवान्‌को हर जगह देखता है का मतलब क्या है, क्या यह...?

चूंकि व्यक्ति अपने अंदर भगवान् बन गया है, इसलिये इस स्थितिमें भगवान् हर जगह हैं।

जी नहीं... जब आप कहती हैं: "आदमी भगवान्‌को हर जगह देखता है"...

हां।

इसका मतलब क्या हुआ? सचमुच वह क्या देखता है? क्या वह...

वह क्या देखता है? (हंसी) आदमीको बोध होता है, अगर तुम यूं कहना चाहो; वह देख सकता है, लेकिन किसी भौतिक बिम्बके साथ नहीं देखता। केवल भौतिक दृष्टि ही नहीं है, यह इनसे देखना नहीं है...। और

वास्तवमें, तुम अपनी आंखोंसे देख सकते हो, अगर आंखें इतनी नमनीया है कि वे उच्चतर 'चेतना'को, भागवत 'चेतना'को अपने अंदरसे गुजरने दें। तुम यह भी देख सकते हो, तुम यह भी देख सकते हो, लेकिन तब तुम चीजों-को उस तरह नहीं देखते जैसी वे भौतिक रूपमें हैं। यह स्वाभाविक है।

अगर तुम अपनी बाहरी चेतनाका एक छोटा-सा हिस्सा बनाये रखो, अगर तुम पूरी तरह अनुभूतिमें तन्मय नहीं हो, तो तुम दोनोंको एक-दूसरे-पर अध्यारोपित देख सकते हो। लेकिन तब बोध इतना स्पष्ट और समग्र नहीं रहता। फिर भी हो सकता है कि, उदाहरणके लिये, तुम्हारे अंदर कोई चीज है जो बाहरी भौतिक चेतनाको बनाये रखती है, और साथ-ही-साथ कोई ऐसी चीज है जो भगवान्‌की अनुभूतिमें काफी तन्मय है जिसके कारण तुम्हारे लिये बस भगवान्‌की ही गिनती है, बाकी सब ऐसा हो जाता है मानों, तुम एक बहुत महीन परदेमेंसे देख रहे हो जो बहुत पतले टिश्यू या पारदर्शक कागजका बना है। तो टिश्यू या कागज-का अस्तित्व है, लेकिन वह तुम्हें उस ओरकी चीजें देखनेसे नहीं रोकता।

तो मनुष्यको, मनुष्यको जगत्‌में और औरोंमें भगवान्‌का बोध हो सकता है, और साथ ही, वह इन चीजोंका एक धुंधला-सा रूप भी देख सकता है, उससे बाहरी रूपोंकी अवास्तविकताकी यह अनुभूति प्राप्त होती है, और वह तुम्हारी चेतनामें बहुत स्पष्ट रूपसे रह सकती है; किस हदतक? वह एक केवल... हां, वह पतले कागजके तावकी तरह है जिसमें कोई सुसंगति नहीं है, कोई शरीर नहीं है, यह बिलकुल ऊपरी और अवास्तविक है; जब कि भागवत 'उपस्थिति', पीछे स्थित भागवत 'महिमा' ही एकमात्र चीज है जिसका अस्तित्व है, जो सत्य, ठोस, टिकाऊ है। यह अनुभव तुम्हें हो सकता है।

माताजी, हमारे अंदर चैत्य पुरुष हमेशा भगवान्‌के संपर्कमें रहता है, इसलिये हमें हमेशा यह अनुभूति रहनी चाहिये...

अगर तुम हमेशा चैत्य पुरुषके संपर्कमें रहो तो, हां। और यह तथ्य है: जिस क्षणसे तुम हमेशा अपने चैत्य पुरुषके साथ संपर्कमें रहने लगो, उसी क्षणसे तुम सदा भागवत 'उपस्थिति'के संपर्कमें रहोगे। तुम इस वक्तव्य-को उलटकर कह सकते हो: "जब मैं सदा-सर्वदा, सब चीजोंमें भागवत 'उपस्थिति' संपर्कमें रहूंगा, तो मैं यह जान जाऊंगा कि मैं सदा अपने चैत्य पुरुषके संपर्कमें हूं। यह मेरे लिये इस बातका प्रमाण होगा कि मैं अपने चैत्य पुरुषके संपर्कमें हूं।"

इससे चेतनाकी अवस्था पूरी तरह, पूरी तरह बदल जाती है, फिर तुम . . .

कुछ लोग हैं जो आकर पूछते हैं: "क्या मैं अपने चैत्य पुरुषके बारेमें सचेतन हूं?" उनसे कहा जा सकता है: यह अपने-आपमें इस बातका प्रमाण है कि तुम सचेतन नहीं हो।" क्योंकि अगर तुम सचेतन होते तो ऐसा प्रश्न न पूछते। उससे तुम्हारी चेतनाकी अवस्था बिलकुल बदल जाती है।

बस यही? तो . . . (उस बच्चेकी ओर मुड़कर जो पाठसे बाहरका प्रश्न पूछना चाहता था), अगर उसके लिये पुस्तककी जरूरत न हो, तो तुम अपना प्रश्न पूछ सकते हो।

माताजी, हम जानते हैं कि कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें हर वर्ष एक ही बीमारी सताया करती है। अगर हम इस बीमारी-को देखें, तो पता चलता है कि वह वर्षके किसी खास समय-पर ही आया करती है, और यही क्रम अगले वर्ष भी चलता है; और इसी तरह चलता रहता है। लेकिन समय बंधा रहता है। इसका कारण क्या है और इससे कैसे छुटकारा-पाया जा सकता है?

क्या . . . ?

कारण . . .

कई कारण हो सकते हैं। यह इसपर निर्भर है कि तुम किससे पूछते हो। तुम किसी ज्योतिषीसे पूछो तो वह कहेगा: "यह ग्रहोंके कारण है; जब ग्रह उसी स्थितिमें आते हैं तो वही हालत फिरसे पैदा होती है।" हां, तो यह बात इतनी गलत भी नहीं है। ऐसा भी हो सकता है। इस-में व्यक्तिकी किसी खास तरहकी जलवायुके प्रति प्रतिक्रिया, या सूर्यकी स्थिति; या फिर केवल बुरी आदतके कारण भी हो सकता है। बस। (हंसी)

और अगर तुम . . .। अगर संयोगवश एक चीज तुम्हें दो बार हो गयी तो तुम रूप दे लेते हो . . . एक अच्छी रचना बन जाती है जो अवचेतना-में यूं (मुद्रा) रहती है, अगर तुम उसका अवलोकन न करो, तो वह अपने-आपको प्रकट नहीं करती! और फिर जब समय नजदीक आता

है, तो वह बड़े धीमे-से, नीचेसे ऊपर उभर आती है और तुमसे कहती है: "सावधान, समय आ रहा है, समय आ रहा है, समय आ रहा है!" तो स्वभावतः, वह भी आ जाती है। साधारणतः ये चीजें इसी तरह आती हैं।

लेकिन भौतिकमें होनेवाली सभी चीजें ऐसे ही होती हैं। पहली बार वह केवल परिस्थितियोंका सहयोग हो सकता है; फिर, मन हस्तक्षेप करता है और एक रचना बना लेता है। अगर तुम उस रचनाको स्वीकार कर लो तो निश्चय ही, वह घड़ीकी तरह यथार्थताके साथ काम करेगी। अगर तुम यह भी कह दो: "वाहियात बात है, यह केवल एक विचार है!" और इस तरह करो (संकेत), तो भी विचार जानेकी जगह अंदर घुस जाता है, अवचेतनामें, अवचेतन मनमें चला जाता है और वहां चुपचाप रहता है। और फिर, जब अपने-आपको प्रकट करनेका समय आता है तो वह अंदरसे यूं, एक प्रकारका... मानों, वह स्मृतिमें गुदगुदी-सी कर रहा है, उससे ज्यादा कुछ नहीं, बस, इतना ही। अगर वह स्मृतिको जरा, इस तरह घिस देता है तो अचानक एक दिन तुम याद करते हो: "आह, पिछले वर्ष इन दिनों मैं बीमार था।" और घब्ब! वह चीज घुस पड़ी। वह सक्रिय चेतनाके क्षेत्रमें घुस पड़ी और कुछ दिनोंमें घटना घट जाती है।

जब तुम्हें इस प्रकारका अनुभव हो चुका हो, या किसी प्रकारका आभास या कोई बीमारी (सबसे बढ़कर बीमारीके मामलेमें या किसी दुर्घटनाके बारेमें), शरीर बहुत लंबे समयतक याद रखता है। अगर तुम पूरी तरह रोगमुक्त होना चाहते हो, तो तुम्हें शरीरसे इस स्मृतिको भी हटाना होगा, यह एकदम अनिवार्य है। और तुम चाहे इस बातको जानो या न जानो, तुम शरीरको इस स्मृतिसे मुक्त करनेके लिये काम करते हो। जब याद मिट जाये, तभी शरीर सचमुच रोगमुक्त होता है।

दुर्भाग्यवश, तुम इस यादको मिटानेकी जगह, उसे पीछे धकेल देते हो। बहुधा तुम उसे नीचे, अवचेतनामें धकेल देते हो, और कभी-कभी और भी ज्यादा गहरी निश्चेतनामें। हां तो, उसे पूरी तरह मिटाया न जाय, सिर्फ पीछे धकेल दिया जाय, तो वह बहुत धीमे-से, बहुत ही धीमे-से, जरा भी दिखाये बिना ऊपरी सतहपर आ जाती है; तुम बरसों पहले जिस चीजसे मुक्त हो चुके थे, वह अगर यूं ही तुम्हारे मनमेंसे गुजर जाय, एक छोटे-से तीरकी तरह, उसी तेजीसे उड़ते हुए तीरकी तरह यह बात आ जाय: "इसी समय मुझे वह हुआ था," तो विश्वास रखो जल्दी या देरमें — कुछ सेकंड कुछ मिनट, कुछ घंटे या कुछ दिनों बाद वह चीज लौट आयेगी। तुम...

वह बहुत अधिक हल्के रूपमें आ सकती है, उसी तरह वापिस आ सकती है या फिर पहलेसे ज्यादा प्रबल रूपमें आ सकती है। यह तुम्हारी आंतरिक अवस्थापर निर्भर है। अगर तुम निराशा-भरी अवस्थामें हो, तो वह ज्यादा उग्र रूपमें आयेगी। अगर तुम आशा-भरी स्थितिमें हो, तो वह ज्यादा हल्के रूपमें आयेगी। लेकिन वह वापिस आयेगी जरूर, और अगर इस बार तुम ज्यादा ध्यान दो तो तुम्हें शरीरकी स्मृतिमेंसे इसे मिटानेके लिये फिरसे युद्ध शुरू करना पड़ेगा। अगर तुम उसे नष्ट कर सको, तो तुम रोगमुक्त हो जाओगे, लेकिन अगर तुम उसे नष्ट न करो, तो वह फिरसे आयेगी। वह कम या अधिक समय ले सकती है, वह कम या अधिक पूर्ण रूपसे आ सकती है, पर आयेगी अवश्य। वह एक निमिषमें आ सकती है। जब वह लौटे, उस समय अगर तुम पूर्णतः जाग्रत हो, अगर तुम्हारे अंदर काफी ज्ञान और स्पष्ट दृष्टि हो, और तुम अपने-आपसे कह सको : "यह लो, वह कमबख्त याद फिरसे अपनी चालाकियां करनेके लिये लौट आयी," फिर तुम उसपर जोरका प्रहार करो और उसकी वास्तविकताको सचमुच नष्ट कर दो। अगर तुम यह करना जानो तो उस चीजसे तुरंत पिंड छुड़ानेका यह एक अच्छा अवसर है। लेकिन यह करना बहुत आसान नहीं है।

(पवित्र) : इसे कैसे किया जाय?

इसे कैसे किया जाय? (माताजी हंसती हैं।) इसे कैसे किया जाय? यह वही चीज़ है, वही प्रक्रिया है जैसे यह जानना कि किसी रचनाको कैसे नष्ट किया जाय, समझे?

यह एक प्रकारका बल है जो चीजोंको लुप्त कर देता है, जो रचनाओंको नष्ट कर देता है। यह रचनाकी प्रकृतिपर निर्भर है। अगर वह ऐसी है, विरोधी प्रकारकी रचना है तो तुम्हें पूर्णतः शुद्ध रचनात्मक प्रकाशकी शक्ति-की जरूरत होती है। अगर यह तुम्हारे हाथमें है, तो बस, तुम्हें इतना ही करना होगा कि उस चीजपर इससे गोलाबारी करो, और तुम उसे लुप्त कर सकोगे। लेकिन यह एक ऐसी क्रिया है जो आंतरिक शक्तियोंके द्वारा की जानी चाहिये; तुम उसे भौतिक रूपमें नहीं कर सकते।

इसीलिये सभी भौतिक उपचार प्रश्नात्मक होते हैं; वे रोगमुक्त नहीं कर सकते, क्योंकि वे इतने सशक्त नहीं होते कि चीजके सजीव केंद्रको छू सकें।

(मौन)

यही बात नैतिक कठिनाइयोंके साथ भी होती है। अगर तुम उनकी स्मृतिको नष्ट करनेमें सफल हो सको, अपने अंदरसे उस स्थितिकी यादको नष्ट कर सको जो कठिनाईके समय थी, अगर तुम सच्चे और निष्कपट हो तो तुम्हारी कठिनाइयोंका सदाके लिये अंत हो जायगा।

(लंबा मौन)

माताजी, उदाहरणके लिये, जब हम कुछ करनेका निश्चय करते हैं, तो हमें लगता है कि हम औरोंकी भावनाओंके साथ टकराते हैं। ऐसी हालतमें क्या करना चाहिये?

कब...?

जब हमने कुछ करनेका निश्चय कर लिया हो तो...

हां।

...तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि हम किसी औरकी भावनाके साथ टकरा रहे हैं।

टकरा रहे हैं?

मतलब...

हां, हां, मैं बहुत अच्छी तरह समझ रही हूं।

हां, तो क्या करना चाहिये?

यह पूरी तरह अवस्थापर निर्भर है। कहना मुश्किल है...। पहले-पहल...। (मौन) अगर वह केवल एक बाहरी और ऊपरी निश्चय है जो तुम्हारे थोड़े-से ज्ञानपर निर्भर है, और तुम्हारे थोड़े-थोड़े गुणों और थोड़े-थोड़े दोषों-पर निर्भर है, तो स्वभावतः, अगर तुम्हारी समान गुणोंवाली इच्छा-शक्तिसे टक्कर हो — अगर इच्छाएं भिन्न हों पर समान गुणवाली हों, तो तुम्हें अपने वांछित आंतरिक परिणामके अनुसार और परिस्थितियोंके अनुसार

निश्चय करना चाहिये। यह कहना बहुत मुश्किल है। हर मामलेमें निश्चय अलग होना चाहिये।

लेकिन अगर तुम उन लोगोंमेंसे हो जो तभी काम करते हैं जब उन्हें अपने अंदर यह लगे कि यह सत्य चेतनाकी आज्ञा है: "मैंने यह करनेका निश्चय किया है क्योंकि यही करना चाहिये, परिणाम चाहे कुछ क्यों न हो," तब यदि तुम्हारी पसंदों, इच्छाओं और दूसरोंके विरोधके साथ टक्कर हो तो तुम्हें केवल यही करना चाहिये (माताजी मुंह मोड़कर चलनेकी मुद्रा करती हैं), और अपनी राहपर चलते रहना चाहिये। लेकिन इसी हालतमें तुम्हें यह करनेका अधिकार है।

जब यह केवल एक व्यक्तिगत क्रिया हो जो निजी पसंद, निजी कामनाओं या निजी धारणाओंसे भी परिचालित हो, तो जैसे ही तुम्हें विरोध दिखायी दें तुम्हें समस्याको तोलना चाहिये, तथ्य देखने चाहिये और... (मौन) अपनी अधिक-से-अधिक सद्भावना, अपने अच्छे-से-अच्छे बोधके अनुसार कार्य करना चाहिये। और यह सब पूरी तरह इसपर निर्भर है कि विरोध कैसा था, कि तुम क्या करना चाहते थे। इसलिये एक सामान्य नियम बनाना असंभव है।

केवल एक ही चीज है जो तुम्हें **किसी चीज**की परवाह किये बिना अपने मार्गपर सीधा जानेका अधिकार देती है: और वह है ऐसी स्थिति जिसमें तुम्हें उच्चतर सत्यने आगे बढ़ाया हो, गति दी हो। लेकिन तुम्हें उसका **विश्वास** होना चाहिये। तुम्हें अपनी कामनाको उच्चतर सत्य न मान बैठना चाहिये, समझे, क्योंकि यह भूल बहुत आसानीसे हो सकती है। तुम्हें उसे जानना चाहिये, उसकी पुष्टि करनेके लिये तुम्हारे पास ठोस प्रमाण होने चाहिये। और यह जानना चाहिये कि सामान्यतः यह ऐसी चीज है जो व्यक्तिगत रूपसे तुम्हें नहीं छूती। अगर तुम्हें उसमें जरा भी, इस ओर या उस ओर, रस है तो सावधान, यह विश्वास करनेसे पहले कि यह उच्चतर संकल्प और सत्यकी अभिव्यक्ति है, फिरसे सोच लो।

फिर भी, ऐसे अवसर होते हैं जब ऐसी अवस्था आती है। "**यही** वह चीज है जो करनी चाहिये; वास्तवमें यही सत्य है।" और तब, चाहे जितना विरोध हो, तुम सीधे अपनी राहपर चलते चले जाओ, परिस्थितियों या परिणामोंकी चिंता न करो। लेकिन यह अधिकार तुम्हें उसी अवस्थामें है, यानी, उस समय जब भगवान् **तुम्हारे** द्वारा काम करते हैं, तब तुम्हें भगवान्‌की इच्छाके सिवाय **किसी भी चीज**की परवाह न करनी चाहिये। परंतु यदि वह भगवान्‌की 'इच्छा' नहीं है, तो प्रत्येक समस्याका समाधान करनेके लिये परिस्थितियों और...

उदाहरणके लिये, हमने गप्पें न लगानेका निश्चय किया, फिर...

कोई ऐसा आदमी मिल जाता है जो गप्पें लगाता है?

नहीं...

तुम बस वहांसे मुंह मोड़ लो और चल पड़ो! (हंसी) बहुत आसान है!

तो वह आदमी बहुत नाराज होगा।

क्या?

वह आदमी बहुत नाराज होगा।

यह उसीके लिये बुरा है! (हंसी) उसीके लिये बुरा है। यह ठीक ऐसा उदाहरण है, ऐसे उदाहरणोंमेंसे एक है जिनके बारेमें मैंने कहा था: परवाह न करो। अगर तुम उस व्यक्तिको बहुत चाहते हो और उसे बहुत नाराज नहीं करना चाहते, तो बड़ी सभ्यताके साथ उससे कह सकते हो: "जी नहीं, हम लोग व्यर्थकी बातें न करें। यह सबके लिये बुरा है।" बस। अगर वह ऐसा व्यक्ति है जिसकी तुम परवाह नहीं करते या जो तुम्हारे लिये महत्वपूर्ण नहीं है, तो बस, उसकी ओरसे मुंह मोड़ लो और चल पड़ो।

विशेष रूपसे, अगर वह तुम्हारा मित्र है, ऐसा व्यक्ति है जिसे तुम्हारी तरह जानना चाहिये कि यह नहीं करना चाहिये...। इस तरहके मामलेमें तुम्हें ज्यादा सुस्पष्ट होना चाहिये। अगर वह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे किन्हीं परिस्थितियोंके कारण, तुम्हारी तरह यह जानना चाहिये कि यह एक ऐसी चीज है जो नहीं करनी चाहिये, फिर भी अगर वह उसे करना शुरू करता है तो वह **बेईमान** है। क्योंकि जब कोई ऐसी चीज करता है जिसके बारेमें उसे मालूम है कि यह नहीं करनी चाहिये तो उस क्षणसे वह बेईमान हो जाता है; और ऐसे व्यक्तिके लिये तुम्हें कोई लिहाज न होना चाहिये। तुम्हें केवल मुंह मोड़कर चल देना चाहिये; और अगर वह गुस्सा होता है तो इसमें उसीका बुरा होगा। उसे केवल... परिणाम यह होगा कि उसे अपने गुस्सेपर विजय प्राप्त करनी होगी। बस। शायद इससे उसका कुछ भला हो।

सामाजिक संबंधोंमें एक बड़ी कमजोरी होती है, एक **बहुत** बड़ी कमजोरी; और इसीलिये, वास्तवमें, आदमी गुस्सा करता है, उसमें बह जाता है और ऐसी चीजें कहता है जो नहीं कहनी चाहिये। अगर आदमी कमजोर न हो तो वह कभी उग्र न होगा। कमजोरी और उग्रता या हिंसा ऐसी चीजें हैं जो हमेशा साथ जाती हैं। जो सचमुच बलवान् है वह कभी उग्र नहीं होता। यह ऐसी बात है जिसे हमेशा याद रखना चाहिये। उग्रता या हिंसा **हमेशा** कहींपर कमजोरीका लक्षण है। हां, तुम देखते हो कि निकली हुई मांसपेशियोंवाला एक आदमी जो बहुत मजबूत है, एक दूसरे आदमीको अपनी पूरी शक्तिसे गिरा देता है और लोग कहते हैं: "वह मजबूत है! यह सच नहीं है। उसमें मांसपेशियां हैं पर नैतिक दृष्टिसे वह बहुत कमजोर है। वह एक जगह मजबूत और दूसरी जगह कमजोर हो सकता है। साधारणतः ऐसा ही होता है।

लेकिन मैं कहती हूं, और जिन लोगोंने जानवरोंका अवलोकन किया है वे भी कहते हैं कि, उदाहरणके लिये, जो जानवर बहुत मजबूत होते हैं, वे बड़े शांत होते हैं। स्वभावतः, जब वे शिकारका पीछा करते हैं तो अपनी सारी ऊर्जा लगा देते हैं; परंतु यह उग्रता या हिंसा नहीं, ऊर्जा है। लेकिन अगर तुमने कभी सिंहको ऐसी अवस्थामें देखा है — जब उसे कुछ भी न करना हो, तब वह जरा भी नहीं चुलबुलाता। अगर वह बीमार हो तो वह बेचैन होता है। लेकिन अगर वह भला-चंगा हो, स्वस्थ हो, अगर उसे कुछ करना न हो तो वह हिलेगा भी नहीं, वह बिलकुल अचंचल होगा। वह एक सन्त जैसा दीखेगा। (हंसी)

बेचैनी, उग्रता, क्रोध, यह सब चीजें हमेशा, बिना अपवादके, दुर्बलताकी सूचक हैं। और विशेष रूपसे, जब आदमी अपनी भाषामें बह जाता है और ऐसी चीजें कहता है जो न कहनी चाहिये तो **यह** निश्चय ही भयंकर मानसिक दुर्बलताका चिह्न है — मानसिक और प्राणिक — भयंकर। अन्यथा, तुम दुनिया-भरकी गाली-गलौज सुन सकते हो, लोग तुमसे सब तरहकी बेवकूफी-भरी बातें कह सकते हैं; अगर तुम कमजोर नहीं हो तो शायद तुम बाहरसे न भी मुस्कराओ, क्योंकि मुस्कराना हमेशा सुरुचिपूर्ण नहीं होता, लेकिन अपने अंदरकी गहराईमें तुम मुस्कराते रहोगे, और उसे गुजर जाने दोगे। वह तुम्हें छूतक न पायेगी...। अगर तुम्हारे मनने, जैसा यहां कहा गया है वैसा शांत-स्थिर होनेकी आदत डाल ली है, और तुम्हें अपने अंदर सत्यका बोध प्राप्त है, तो तुम कुछ भी सुन सकते हो। उससे स्पंदन जैसी कोई भी चीज नहीं पैदा होती — तुम्हारे अंदर सब कुछ अचंचल, स्थिर, शांत रहता है। और तब अगर वह साक्षी

वहां हो, जिसकी हम थोड़ी देर पहले बातें कर रहे थे, और इस हास्य-जनक स्थितिको देख रहा हो तो वह निश्चय ही मुस्कराता है।

लेकिन अगर तुम उस दूसरे व्यक्तिसे आते हुए स्पंदनोंका अनुभव करो जो तुम्हारे ऊपर अपना समस्त क्रोध और उग्रता फेंक रहा है, अगर तुम उसे अनुभव करो... शुरूमें ऐसा होता है... और फिर, तुम्हारे अंदर-से अचानक प्रत्युत्तर उठता है; और फिर, तुम स्वयं क्रुद्ध हो उठते हो तो विश्वास रखो, तुम भी उसीकी तरह कमजोर हो।

तो ऐसी बात है, मेरे बच्चो।

मेरा ख्याल है आजके लिये इतना काफी है।

२० अक्तूबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय एक: "स्थिरता — शांति — समता"के आधारपर है।)

मधुर मां, "आत्म-स्वाधीनता" का क्या मतलब है?

इसका मतलब है कि अपनी सच्ची आंतरिक सत्तामें तुम पूरी तरहसे मुक्त अनुभव करते हो, और हर चीजसे मुक्त हो। तुम्हें पूर्ण स्वाधीनताका अनुभव होता है — सभी बाहरी प्रभावोंसे मुक्त, सभी निम्न आवेगोंसे मुक्त, सभी विचारों, आदतोंके बंधनसे मुक्त...। (मौन) तो फिर?

(एक बालकसे) तुम्हें कुछ पूछना है?

मैं यह नहीं समझ पाया: "किसी भी कारणसे उनकी शुभ चितासे (माताजीकी) पीछे न हटो।"

क्या? किसी भी कारणसे उनकी शुभ चितासे पीछे न हटो? यह तुम्हारी समझमें नहीं आया! क्यों? क्यों समझमें नहीं आया? तुम इसका अ नहीं समझ पाये या क्या? "पीछे हटना" का क्या मतलब है, यह समझ हो?

जी, नहीं।

ओ, ठीक है। पीछे हटनेका मतलब होगा, अपने-आपको खींच लेना, दूर चले जाना, भाग निकलना, इंकार करना, अस्वीकार करना — यह सब। "सोलिसित्यूद" का मतलब जानते हो?

बहुत अच्छी तरह नहीं।

बहुत अच्छी तरह नहीं? इसका... हां, अंगरेजीमें इसका मतलब होगा "चिंता", यानी, ध्यान, सहायता, दिलचस्पी, ठीक-ठीक कहें तो सहायता करने और भला करनेमें दिलचस्पी या उत्कंठा, यह "शुभ चिन्ता" है। जब तुम्हें किसीका ध्यान होता है तो तुम... तुम उसकी आवश्यकताओं का पता लगाते हो और उन्हें पूरा करनेकी कोशिश करते हो; तुम्हारे अन्दर अच्छे विचार होते हैं, अच्छी भावनाएं होती हैं, तुम उसकी सहायता करना, उसे सहारा देना और उसे खुश करना चाहते हो। यह है शुभ चिंता। तो शुभ चिंतासे दूर रहनेका मतलब हुआ इन सब चीजोंसे इंकार करना या जब वे आयें तो उन्हें अस्वीकार करना, या तो उनकी अवहेलना करना या उन्हें अस्वीकार करना।

फिर भी, बहुधा आदमी बिना जाने यह करता है। उदाहरणके लिये, हर स्वाधीनताकी भावना, यह भावना कि हम अपनी देखभाल अपने-आप करेंगे, हमें किसी अनुशासनके, किसी नियमके आगे झुकनेकी जरूरत नहीं, हम अपने पैरोंपर खड़े रहेंगे, अपने सिवाय किसीका सहारा न लेंगे, हम स्वतंत्र हैं, अपनी गतिविधिमें स्वतंत्र हैं: इसका अर्थ है भागवत शुभ चिंतासे दूर हट जाना। जो मरजी हो वह करना, अपनी इच्छाके अनुसार, बिलकुल स्वतंत्र और स्वच्छंद रूपसे — "जो मेरी मरजी होगी वही करूंगा" — यह भागवत शुभ चिंतासे दूर होना है।

आदमी बहुत बार ऐसा करता है!

(एक बालकसे) तुम?

कभी-कभी जब हम आपसे कुछ प्रश्न पूछते हैं तो आप उसे समझ नहीं पातीं। यह हमारी भाषाके दोषके कारण होता है या चेतनाके?

साधारणतः चेतनाके।

इस प्रकारका एक अनुभव है : कुछ लोग मेरे साथ आधे घंटेतक बोल सकते हैं, परंतु मैं उनकी बातका दसवां हिस्सा भी नहीं समझ पाती; जब कि दूसरे बहुत मधुर आवाजमें धीरे-धीरे हल्के-से बोलते हैं, और मैं एक-एक शब्द समझ लेती हूं। एक अवस्थामें, यह...यह वाक्पटुतापर निर्भर नहीं है, यह उनकी अभिव्यक्तिपर भी निर्भर नहीं है, क्योंकि मैं तब भी समझ लेती हूं जब वे अपनी बात अच्छी तरह नहीं कहते। मुझे इसके लिये वर्षोंका अभ्यास है, यह बात नहीं है। बात यह है कि या तो वे स्पष्ट रूपमें नहीं सोचते, यानी, निश्चयात्मक रूपसे नहीं सोचते; जो लोग बिलकुल निश्चित रूपसे सोचते हैं, वे जो भी कहें या जैसे भी कहें, मैं उसे भली-भांति समझ लेती हूं; लेकिन जो स्पष्टतासे नहीं सोचते उनके साथ कठिनाई होती है। और फिर, ऐसे लोग हैं जो अपने विचारको छिपानेके अभ्यस्त हैं, जो स्पष्टवादी नहीं हैं, जो ठीक वही बात नहीं कहते जो वे सोचते या अनुभव करते हैं, जो बातोंको एक खास ढंगसे पेश करनेकी कोशिश करते हैं, वे मुझे लंबे-लंबे भाषण दे सकते हैं, पर मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ता। मैं जानती हूं कि वे क्या सोच रहे हैं, पर यह नहीं जानती कि वे क्या कह रहे हैं। यह बहुत बार होता है। लोग मेरे साथ बोलते हैं और मैं कुछ भी नहीं सुनती। हां, तो यूं है, मैं कुछ नहीं सुनती....। "क्या, क्या, क्या?" और जब दो-तीन बार यूं होता है तो मुझे निश्चय हो जाता है कि ऐसी बात है, वे जो सोचते हैं वह नहीं कर रहे, वे किसी प्रकारका प्रभाव डालनेके इरादेसे कुछ और ही कह रहे हैं। वे इसलिये कहते हैं ताकि मैं ऐसा सोचूं। इस तरह यह बेकार होता है, मैं उनकी बात सुनती ही नहीं। इसकी अलग-अलग श्रेणियां होती हैं।

बस, हो गया? (एक बालकसे) और तुम? कुछ नहीं? किसीको कुछ नहीं पूछना? यहां तो वर्षा नहीं हो रही![1] (हंसी)

(धीमी आवाजमें) **मधुर मां, क्या आवेग एक कमजोरी है..?**

आह, देखो! मुझे कुछ नहीं सुनायी दे रहा!

क्या आवेग हृदयकी कमजोरी है?

मैं अब भी नहीं समझ पायी, मैंने सिर्फ "पांसे" शब्द सुना है। (बालक

---

[1] वर्षाके कारण कक्षा खेलके मैदानमें होनेकी जगह 'जिमनेजियम' में हुई थी।

सकुचाता है) क्या? बोलो, बोलो, जो कह रहे हो उसके बारेमें सोचो।

(ऊंची आवाजमें) "पासियों"। (बच्चा हंसता है)

आह!

(एक और बालक:) "पासियों"।
(पवित्र:) "पासियों"!

"पासियों"! ओह, "आवेग", मैंने "पांसे" (विचार) सुना! हां तो, आवेगके बारेमें क्या?

क्या वह हृदयकी कमजोरी है?

कमजोरी? नहीं यह प्राणिक विकार है। (मौन) हृदयसे भाव आता है, प्राण उसे पकड़ लेता है और आवेगमें बदल देता है। (मौन) एक कदम और, और यह पागलपन बन जाता है। (मौन) तो?

मधुर मां, जब हम बहुत उत्तेजित हों तो स्थिरताको कैसे नीचे बुला सकते हैं?

(मौन) फिरसे कहो। कैसे....?

हम स्थिरताको कैसे बुला सकते हैं...?

ओ; "बुलाना"? हुं, हुं। स्थिरताको अपने पास कैसे बुला सकते हैं वही तो है तुम्हारा मतलब? कैसे? आसान है, जब तुम किसीको बुलाना चाहते हो तो उसे आवाज देते हो, है न? (हंसी) वही चीज है। तुम जितने स्थिर रह सकते हो रहो, और स्थिरताके लिये इच्छा करो, स्थिरताके लिये अभीप्सा करो, स्थिरताको पुकारो, इस तरह। उस समय जितने स्थिर रह सकते हो उतने स्थिर रहते हुए। और अधिक स्थिर होनेके लिये मांग करो। स्थिरता चाहो। लेकिन यह सब स्थिरताके साथ करो, अगर तुम उत्तेजनाके साथ चाहोगे तो स्थिरता कभी न आयेगी।

कभी-कभी जब हम एकाग्र होना चाहते हैं, तो साधारणतः बाधक विचार आते हैं, लेकिन वहांपर किसी प्रकारके बिंब सामने...

क्या ध्यान करते समय तुम बिंब देखते हो?

कभी-कभी।

जब आंखें खुली हों या बंद?

बंद।

बंद। और कैसे बिंब? रंग या बिंब?

कभी रंग, और कभी बिंब।

हुं। हमेशा या कभी-कदास?

हमेशा नहीं।

हां तो? तुम पूछ रहे हो कि यह क्या है? बहुतेरी, बहुतेरी चीजें हो सकती हैं। सिर्फ यह भी हो सकता है कि तुम्हारी भौतिक आंखें बंद होनेके कारण आंतरिक आंखें खुल जाती हैं और अपने क्षेत्रमें देखना शुरू कर देती हैं या सूक्ष्म भौतिकमें, अत्यंत भौतिक प्राणमें देखती हैं। यह हो सकता है।

यह तुम्हारे अपने विचारोंका प्रक्षेपण हो सकता है, यानी, जब तुम किसी विषयमें सोचना शुरू करते हो, तो यूं ही तुम्हारे आगे कुछ बिंब घूम जाते हैं; वे तुम्हारी आंखोंके आगे नहीं, मनके आगेसे गुजरते हैं। और यह तुम्हारे विचारोंका मूर्त भौतिक रूप होता है। या तुम्हारे विचार, विचारकी अवस्था या चेतनाकी अवस्थाका मूर्त रूप होता है। लेकिन तब, ये बहुत स्पष्ट, सुसंगत और मजेदार होते हैं। ये निर्देशनका काम भी दे सकते हैं।

कुछ और भी हो सकता है। अगर तुम सचमुच स्थिर-शांत हो और तुम्हार मन स्थिर-शांत है तो... कैसे बताऊं?... और लोगोंसे या और लोकोंसे या और शक्तियोंसे आये संदेश भी हो सकते हैं जो तुमसे कुछ कहनेके लिये, तुम्हें कुछ बतानेके लिये आते हैं; साधारणतः, यदि... स्पंदित होते हुए रंग देखो, और फिर अचानक ऐसा लगे मानों तुम उन्हें आत्मसात् कर रहे हो, तो इसका मतलब होता है कोई ऐसी शक्ति, जिसे किसी व्यक्ति या किसी सत्ताने भेजा है जो किसी प्रकारकी शक्ति लेकर

आयी है। वे किसी तरहके संदेश होते हैं। इसलिये, अगर तुम मनमें बहुत शांत-स्थिर हो, तो कभी-कभी वे इस बातका संकेत भी लाते हैं कि उनका क्या अर्थ है।

बहुत-सी चीजें संभव हैं, और तुम्हें बहुत ध्यानसे देखना चाहिये, बिलकुल चुपचाप, बिना किसी मानसिक क्रिया-कलापके देखना चाहिये। उस समय समझनेकी कोशिश भी न करनी चाहिये; क्योंकि जैसे ही तुम्हारा मन सक्रिय होगा और समझनेकी कोशिश करेगा वैसे ही वह हर चीजमें गड़बड़ कर देगा और शायद उसके बाद तुम और कुछ न देखोगे।

लेकिन अगर तुम बहुत शांत-स्थिर रहो, और केवल देखते चलो — मानों तुम किसी चीजपर चुपचाप नजर डाल रहे हो, समझे — तो तुम ज्यादा ठीक-ठीक देखना शुरू करोगे, और शनैः-शनैः चीजोंकी विभिन्न श्रेणियोंमें भेद कर पाओगे। तुम यह जान पाओगे कि यह क्या है और वह क्या, आदि, कि वह तुम्हारे अंदरसे आ रही है या बाहरसे, कि वह इस भौतिक लोककी चीज है या किसी अन्य लोककी। यह सब बहुत शांत-स्थिर अवलोकनके द्वारा सीखा जाता है, शांत लेकिन तेज भी, समझे; क्योंकि इनमें बहुत सूक्ष्म भेद होते हैं, विभिन्न चीजोंके बीच बहुत सूक्ष्म अर्थ-छटाएं होती हैं, और जब तुम इन अर्थ-छटाओंके भेदको समझने लग जाते हो, तो तुम ठीक-ठीक समझ सकते हो कि वे क्या हैं।

हमेशा वही बात। तुम्हें बहुत शांत-स्थिर होना चाहिये, बहुत सावधान होना चाहिये, जहांतक हो सके मनको शांत रखो, जैसे ही वह हिलना-डुलना शुरू करे कि सारी चीज विकृत हो जाती है।

बहरहाल, यह इस बातको — एकदम साधारण रूपसे — प्रमाणित करता है कि अंतर्दृष्टि विकसित होनी शुरू हो रही है या हो गयी है।

(मौन)

और कुछ नहीं? और कोई प्रश्न है?

हमने जो फिल्म देखी थी उसके बारेमें कलात्मक सृजनमें दुःखका क्या स्थान है?

फिल्म?

हमने देखा कि दुःखके द्वारा...

ओहो, हो, हो, हो! बैरलिओज़के बारेमें फिल्म?

उसका संगीत दुःखके द्वारा परिपक्व हुआ...

हां, हां, तो कौन-सी जगह...? वह कहांसे आता है?

दुःख कलात्मक सृजनमें कैसे सहायता पहुंचाता है?

कैसे सहायता पहुंचाता है? यह लोगोंपर निर्भर है। कुछ लोगोंको उससे बहुत सशक्त सहयता मिलती है। मैं इस आदमी ('बैरलिओज़') को संगीतकी शुद्धतम अभिव्यक्तियोंमेंसे एक मानती हूं। यह बिलकुल... मैं कह सकती हूं कि वह संगीतका, संगीतकी आत्माका अवतार है। दुर्भाग्यवश उसका शरीर जरा दुर्बल था; यानी, उदाहरणके लिये, उसके पास वह ठोस आधार न था जो योगसे आता है। इससे वह बहुत ज्यादा डांवाडोल और बहुत ज्यादा भावुक हो गया था, व्यग्र, उत्तेजित और संवेगात्मक हो गया था। यह एक गंभीर दुर्बलता थी। लेकिन मैंने हमेशा अनुभव किया है — और उस दिन यह भाव बहुत प्रबल था — कि सृजनकी दृष्टिसे वह संगीतकी आत्माके संपर्कमें था। संगीतके सार-तत्त्वका समस्त आशय उसके अंदर इस जोरसे प्रवेश कर गया था कि उसने उसे पूरी तरह झंझोड़ दिया; परंतु सचमुच, वह संगीतके अवतारकी नाईं था।

यह शुद्ध रूपसे मानवीय धारणा है कि दुःखने उससे सृजन करवाया; यह सच नहीं है। इसके विपरीत, अगर हम उलटकर कहें तो यह बहुत ही विलक्षण बात है कि ऐसा कोई शारीरिक कष्ट न था जो उसके अंदर जाकर तुरंत संगीतमें नहीं बदल गया; यानी, संगीतकी आत्मा मानव पीड़ासे बहुत ज्यादा मजबूत थी। उसपर पड़नेवाला जीवनका प्रत्येक प्रहार उसे डांवाडोल कर देता था क्योंकि बहुत ज्यादा सुक्षोभ्य होनेके कारण उसमें प्रतिरोधकी शक्ति न थी। फिर भी, हर प्रहार तुरंत संगीतमें अनूदित हो जाता था। यह बहुत ही विरल चीज है।

लोगोंको — सभी स्रष्टाओंको — सामान्यतः... कैसे कहा जाय?... सृजन फिरसे शुरू करनेके लिये समय और शांत-स्थिरताकी जरूरत होती है, जब कि उसके लिये यह सहज बात थी। दुःखमय प्रहार तुरंत संगीतमय अभिव्यक्ति ले आता था। सचमुच उसके लिये उसका सारा जीवन संगीतके साथ शुरू होता था और संगीतके ही साथ समाप्त हुआ था। वह संगीत था और वह.. उसमें इतनी सचाई थी, संगीतके साथ आसक्तिमें इतनी सचाई और तीव्रता

थी कि मुझे लगता है कि संगीतकी आत्मा अपने-आपको उसके द्वारा प्रकट करती थी। शायद हम यहां जिसे आधारकी कमजोरी कहते हैं उसके कारण उसने जो लिखा है वह उसका सुन्दरतम संगीत न था। वह... उसका शारीरिक गठन बहुत कमजोर था। लेकिन संगीतकी दृष्टिसे देखें तो, वह बहुत ही सुन्दर था, बहुत ही सुन्दर। (मौन) और अपनी शक्तिके साथ भी उसमें बहुत अधिक सरलता थी। उसने जो कुछ लिखा है उसमें निश्चय ही, बहुत अधिक तकनीकी ज्ञानके साथ एक प्रकारकी रेखाकी स्वच्छता है। उसकी वृन्दवाद्यकी क्षमता बहुत, बहुत विलक्षण है। जब कोई छः सौ वृन्दवादकोंके लिये संगीत लिख सकता है, तो उसका यह विज्ञान कठिन-से-कठिन, जटिल गणितकी तरह जटिल होता है। वास्तवमें ये एक-दूसरेके बहुत निकट हैं।

मैं एक संगीतकारको जानती थी जो उसकी बराबरीका तो हरगिज न था, फिर भी बहुत अच्छा संगीतकार था, और वह संगीत तैयार किया करता था। वह आपेरा, संगीत प्रहसन (म्यूजिकल कॉमेडी) आदि के लिये संगीत बनाया करता था... सामूहिक संगीत नहीं। एक कागजके तावपर — वह बड़ा-सा ताव रखता था — वह विभिन्न यंत्रोंके नाम लिख लेता था और हर नामके साथ बड़े सरल भावसे लिखता जाता था कि उसे क्या बजाना है। वह मेरा मित्र था, मैं उसे काम करते देखा करती थी। वह ऐसे काम करता था मानों समीकरण लिख रहा हो। जब लिखना खत्म हो जाता, तो बस, उसे ऑरकेस्ट्रावालेको देना ही बाकी रहता था। वह बड़ा सुन्दर संगीत होता था। कभी-कभी तो...। तुमने देखा है, बैरलिओज अपनी धुन पियानोपर कैसे बजाता था? वह कुछ स्वर बजाता था, कुछ नहींके बराबर, ऐसा लगता था बस, दो-चार सुर, यह भी यूं ही, वही उसकी धुन होती थी। और इस धुनको लेकर वह अचानक लिखने लगता था। लेकिन यह आदमी तो साधारणतः पियानोपर धुनतक न बजाता था। वह सीधा लिखता जाता था। यह एक विशेष प्रकारकी मस्तिष्ककी रचना होती है। कुछ ऐसे होते हैं जो पियानोपर ही संगीत बना सकते हैं, उनके लिये किसी और को लिखना होता है। किसी व्यक्तिको सुर देने और रचित सामंजस्यको पैदा करनेके लिये सुरोंकी ठीक व्यवस्था करनी होती है। मैं उस आदमीकी बात कर रही हूं, उसे उस जमानेके बड़े-बड़े संगीतकार, जैसे सेंट-सीन (Saint-Saëns), अपनी-अपनी रचनाएं ऑरकेस्ट्राका संगीत बनानेके लिये दिया करते थे। वे उसे इस तरह लिख देते थे, जैसे पियानोपर दो हाथोंसे बजानेके लिये लिखा जाता है, और वह उसे ऑरकेस्ट्राके संगीतमें बदल देता था। और

वह इसी तरह करता था जैसे मैंने बताया, विभिन्न यंत्रोंके दल बनाकर उनके नीचे लिख देता था कि किसको क्या बजाना है।

(मौन)

माताजी, संगीत सुनते समय ठीक तरह कैसे सुनना चाहिये ?

इसके लिये — अगर तुम बिलकुल मौन हो सको, मौन और एकाग्र, ऐसे मानों तुम एक यंत्र हो जो ध्वन्यांकित कर रहा है — बिना हिले-डुले, केवल सुनते रहो — अगर तुम एकदम मौन, बिलकुल मौन हो सको, तो इस तरह चीज अंदर प्रवेश करती है। और बादमें, कुछ समय बाद, तुम्हें असरका पता लगता है, तुम्हें पता लगता है कि उसका क्या अर्थ था, या तुमपर क्या असर पड़ा।

लेकिन सुननेका सबसे अच्छा तरीका यह है। एक स्थिर आईनेकी तरह बहुत एकाग्र, बहुत नीरव हो जाओ। वास्तवमें, हम देखते हैं कि जो लोग सचमुच संगीत-प्रेमी हैं... मैंने बहुत-से संगीतकारोंको, संगीतज्ञोंको, वादकोंको संगीत सुनते देखा है, जो सचमुच संगीत-प्रेमी थे... वे एकदम चुपचाप बैठते हैं, वे ऐसे ही रहते हैं, जरा भी नहीं हिलते-डुलते। हर चीज, हर एक चीज इसी तरह रहती है। और अगर तुम सोचना भी बंद कर सको तो बहुत अच्छा, तब तुम पूरा लाभ उठाते हो...। यह आंतरिक उद्घाटनके तरीकोंमें और बहुत अधिक सशक्त तरीकोंमेंसे एक है।

(लंबा मौन)

तो बस खत्म ?

माताजी, जब हमें कोई आघात लगता है, किसी प्रकारकी पीड़ा होती है, तो क्या हमें उसे संगीत या काव्यमें प्रकट करनेकी कोशिश करनी चाहिये ? वह सहज-रूपमें न आये तो भी ?

प्रकट करनेकी ? अगर तुम्हारे अंदर प्रतिभा है; वरना यह बेकार है। लेकिन अगर प्रतिभा हो तो यह अच्छा है।

इन आघातोंमें अलग-अलग गहराइयां होती हैं। सब आघात एक ही स्तरके नहीं होते। साधारणतः लोगोंको बहुत उथले संवेगात्मक या संवेदनात्मक

आघात लगते हैं, इसलिये वे रोते हैं, चिल्लाते हैं और . . . कभी-कभी हाथ-पांव मारते हैं। बहरहाल, ये ऊपरी तहपर आघात होते हैं। लेकिन एक अधिक गहराई है जहां तुम साधारणतः, चुपचाप आघात ले लेते हो, लेकिन वह तुम्हारे अंदर सृजनके स्पंदन और रूप देनेकी आवश्यकता जगा देता है। तब, अगर तुम कवि हो तो कविता लिखते हो, अगर तुम संगीतकार हो तो संगीत बनाते हो, अगर लेखक हो तो कहानी लिखते हो, दार्शनिक हो तो अपनी स्थितिको अभिव्यक्त करते हो, उसका वर्णन करते हो।

पीड़ाकी एक और बड़ी गहराई है, जो तुम्हें एकदम नीरव स्थितिमें ले जाती है, और ज्यादा गहराइयोंके लिये द्वार खोल देती है, जो तुम्हें तुरंत भगवान्‌के संपर्कमें ला सकती है। लेकिन निश्चय ही इसे शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता। इससे तुम्हारी चेतना बदल जाती है; लेकिन इसके बारेमें कुछ कह सकनेसे पहले साधारणतः बहुत समय लग जाता है।

हां, बैरलिओज़ दूसरी श्रेणीमें था।

(लंबा मौन)

हां तो, बस खतम?

माताजी, हर रविवारको आप ऑर्गन बजाती हैं, और आप हमेशा अच्छा बजाती हैं। लेकिन कभी-कभी हमें लगता है कि आप ज्यादा अच्छा बजा रही हैं!

क्या?

निःसंदेह, आप हर बार अच्छा बजाती हैं, लेकिन कभी-कभी हमें लगता है कि आप ज्यादा अच्छा बजा रही हैं।

कभी-कभी तुम्हें अनुभव होता है, कभी-कभी नहीं। कभी-कभी तुम्हें अच्छा लगता है, कभी-कभी नहीं; कभी-कभी तुम समझ पाते हो, कभी-कभी नहीं समझ पाते; कभी-कभी मैं अच्छा बजाती हूं, कभी-कभी बुरा। (हंसी)

यह बहुत-सी बातोंपर निर्भर है, और सबसे बढ़कर तुम्हारी अपनी स्थिति पर। यह बहुत हदतक उस क्षेत्रपर भी निर्भर हो सकता है जो संगीतके

द्वारा अभिव्यक्त होना चाहता है। इनमेंसे कुछ तक आसानीसे पहुंचा जा सकता है, और कुछ ऐसे हैं जो समझने या ग्रहण करनेके लिये ज्यादा कठिन हैं। लेकिन सामान्यतः, यह पूरी तरहसे तुम्हारी अपनी स्थितिपर निर्भर रहता है। जिस दिन तुम्हारी तबीयत अनुकूल हो उस दिन तुम उसे पसंद करते हो और जिस दिन अनुकूल न हो उस दिन तुम उसे नहीं समझते। ऐसे दिन होते हैं जब वह तुम्हें सुला देता है और ऐसे दिन होते हैं जब तुम उससे खुश हो जाते हो; कुछ ऐसे दिन होते हैं जब तुम्हें लगता है कि वह तुम्हारे लिये नये क्षितिज खोल देता है और कभी तुम कहते हो: "पता नहीं, कुछ समझमें नहीं आता"! तो, यह बात है। यह पूरी तरह तुम्हारी तबीयतपर निर्भर है।

माताजी, जब आप बजाती हैं तो क्या आप पहलेसे ही निश्चय कर लेती हैं कि संगीत किस लोकसे आयेगा?

क्या?

आप जब रविवारको बजाती हैं, तो क्या पहलेसे निश्चय कर लेती हैं कि संगीत किस लोकसे आयेगा?

मैं?

वह कहांसे आता है?

बैठनेसे पहले मैं यह भी नहीं जानती कि मैं कौन-से स्वर बजाऊंगी। लोक? यह सदा उसी स्थानसे आता है। इसीलिये, मैं बैरलिओज़के संगीतके स्रोतके बारेमें कुछ अनुभवके साथ कह सकती हूं, क्योंकि वह लोक मेरे लिये बहुत सुपरिचित है। मैं वहां मनोयोगसे जाया करती हूं। लेकिन मैं यह बिलकुल नहीं जानती कि क्या आयेगा। बिलकुल नहीं, जरा भी नहीं। मैं यह भी ठीक नहीं करती कि कौन-से भाव, कौन-से विचार, चेतनाकी कौन-सी स्थिति अभिव्यक्त हो, कुछ भी नहीं। मैं एक कोरे कागजकी तरह होती हूं। मैं आकर बैठ जाती हूं, क्षण-भरके लिये एकाग्र होकर उसे आने देती हूं। बादमें, कभी-कभी मुझे पता लगता है, हमेशा नहीं। लेकिन जब मैं उसे यहां, दोपहरको या शामको दोबारा सुनती हूं तो मुझे पता लगता है, क्योंकि वह मैं नहीं होती, वह कोई बाहरसे आनेवाली चीज होती

है। तो तब मैं भली-भांति जानती हूं कि वह कैसी चीज है।

लेकिन मधुर मां, एक दिन आपने सबको बताया था कि आप क्या बजायेंगी।

हां, उस दिन मुझे पता था कि मैं क्या बजानेवाली हूं। यह हो सकता है।

ऐसे समय होते हैं, जब मुझे पता होता है, और ऐसे समय भी होते हैं जब मुझे पता नहीं होता। हां, ऐसे दिन होते हैं जब, अगर मेरे पास दो सौ वादकोंका ऑरकेस्ट्रा होता तो बड़ा मजा आता। साधन कमजोर है, यानी, मैं जिस संगीतको अनुभव करती हूं, जो मेरे पास आता है, वह उस प्रकार बड़ी अच्छी तरह अभिव्यक्त हो सकता... जैसा कि तुमने उस दिन फिल्ममें देखा था। पूरी तरह अभिव्यक्त होनेके लिये उसे उस तरहकी अभिव्यक्तिकी जरूरत होगी। तो उसे ड्रॉपरमें इकट्ठा करना पड़ता है, और फिर, बूंद-बूंद करके देना पड़ता है, कुछ-कुछ ऐसा ही। तो स्वभावतः यह बहुत अशक्त हो जाता है। बहुत कुछ नहीं होने पाता। अधिकांश बच निकलता है।

हां तो, मैं समझती हूं कि खत्म। कोई जरूरी बात तो नहीं है, कोई मजेदार, बहुत जरूरी बात? (एक बच्चीकी ओर देखते हुए जो किताबमें कुछ खोज रही थी) ओहो! वह अभीतक अपनी नाक किताबमें गड़ाये है।

मैं यह नहीं समझ पायी...

नहीं समझ पायी! बहुतेरी चीजें हैं जो तुम नहीं समझ पायीं। (हंसी)

"तुम्हारे अंबर जो हो रहा है वह यह है कि चेतना अपने-आपको इस मुक्तिमें स्थिर कर रही है।"

तो, तुम क्या नहीं समझीं?

"तुम्हारे अंबर जो हो रहा है वह यह कि चेतना

हमेशा वही बात होती है। वे किसी ऐसी बातका उत्तर दे रहे हैं जो पत्र

जिसने पूछी है...। उसे कोई अनुभव हुआ होगा या उसने किसी चीजका वर्णन किया होगा। वे उसका उत्तर देते हुए कहते हैं: "यह..." जो हुआ है उसकी व्याख्या है। तो इसका मतलब ठीक यही है जो कहा गया है, उसके सिवा कुछ नहीं। यह एक व्याख्या है। वह क्या अनुभूति थी यह नहीं कहा गया। नहीं समझीं?

माताजी, हमारी चेतनामें ऐसे बहुत-से तत्त्व हैं जिनके बारेमें हम सचेतन नहीं हैं। है न ऐसा?

हां, बहुत-से।

क्या कुछ ऐसे भाग हो सकते हैं जो हमारे जाने बिना भगवान्‌की सेवा करते हैं?

हां, हां। वास्तवमें, कुछ ऐसे भाग हैं जिन्हें हमेशा न केवल भगवान्‌की खोज रहती है, बल्कि जिनमें तीव्र अभीप्सा होती है, और तुम्हें उसका पता भी नहीं होता। चैत्य पुरुष ऐसा ही है, और वह हमेशा रहता है। लेकिन तुम्हें कभी-कदास ही उसका पता होता है। वह बहुत ज्यादा छिपा रहता है। मैंने कुछ समय पहले बाहरी पपड़ीकी बात की थी। वह पपड़ीके जैसी ही चीज है, वह बहुत कड़ी, मोटी, अपारदर्शक चीज है जिसमेंसे कोई स्पंदन पार नहीं हो सकते और आदमी हमेशा इसके अन्दर ही रहता है, इसलिये उसे पता भी नहीं होता कि कोई और चीज भी है। लेकिन सत्ताकी गहराईके बीचोंबीच — और यह तो सीधी-सी बात है कि उन लोगोंके अंदर विशेष रूपसे जो पूर्व निश्चित हैं — एक ऐसी सत्ता होती है जो केवल उनकी नियतिकी अभ्यक्षता ही नहीं करती, केवल भगवान्‌के साथ तादात्म्यके लिये अभीप्सा ही नहीं करती, उसमें जीवनकी समस्त परिस्थितियोंपर नियंत्रण रखनेकी क्षमता भी होती है। वास्तवमें, प्रायः विद्रोह करनेवाली बाहरी इच्छाके बावजूद जो इस आंतरिक चेतनाके अनुसार परिस्थितियोंकी व्यवस्था नहीं चाहती, वह सत्ता चीजोंको संगठित करती है। इसकी दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट होती है। बहुत आगे चलकर जब आदमीको भान होता है और वह पीछे अपने जीवनको देखता है, तो मालूम होता है कि सब कुछ निर्दिष्ट स्थानतक जानेके लिये जो कुछ जरूरी था उसे नजरमें रखते हुए बहुत स्पष्ट दृष्टिके साथ विलक्षण रूपसे व्यवस्थित किया गया था।

बहुधा जिन बातोंको तुमने संयोग मान लिया था, दुःखद घटनाएं, दुर्भाग्य या नियतिके प्रहार या फिर, विरोधी शक्तियोंके आक्रमण समझ लिया था, वे सब, बिना अपवादके, अद्भुत रूपसे कुशाग्र योजना थी जिसे प्रशंसनीय ढंगसे कार्यान्वित किया गया था, ताकि तुम छोटे-से-छोटे मार्गसे ठीक अपने गंतव्य स्थानतक जा पहुंचो।

हां, यह हमेशा निरपेक्ष बात नहीं होती, क्योंकि यह आस-पासकी परिस्थितियोंके महत्त्वके संबन्धमें व्यक्तिके महत्त्वपर निर्भर है। इसलिये, मैंने शुरूमें ही कहा था: हर पूर्वनिश्चित सत्ता। "पूर्वनिश्चित" से मेरा मतलब है जो धरतीपर कोई यथार्थ उद्देश्य पूरा करनेके लिये आयी है, जिसकी स्वभावतः, इस उद्देश्यको पूरा करनेमें सहायताकी जायगी। वह बहुत ही सामान्य-सा उद्देश्य हो सकता है, लेकिन वह एक यथार्थ उद्देश्य होगा जिसे उसे धरतीपर पूरा करना है। तो, इन सभी सत्ताओंका... जीवन इस तरह व्यवस्थित होता है; लेकिन उनमेंसे साढ़े निन्यानवे प्रतिशतको इसका पता नहीं होता। वे विद्रोह करते हैं, रोते-कलपते हैं ...उससे भी बढ़कर, अपने ऊपर दया करते हैं, और अपनी कठिनाइयों, अपनी मुसीबतों, अपने दुःखोंके लिये विलाप करते और अपने-आपसे मृदु दुलार करते हुए कहते हैं: "आह, बेचारा मैं, मैं कितना दुःखी हूं!" लेकिन यह सब उनकी आंतरिक सत्ताका काम होता है।

तो बात ऐसी है।

अच्छा, बच्चो, फिर मिलेंगे।

३ नवंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार' के अध्याय दो: "श्रद्धा — अभीप्सा — समर्पण" के आधारपर है।)

"इस योगमें सब कुछ इसपर निर्भर है कि व्यक्ति प्रभावको ओर खुल सकता है या नहीं। अगर अभीप्सामें सचाई हो और सब विघ्न-बाधाओंके बावजूद उच्चतर चेतनातक पहुंचनेके लिये पूर्ण संकल्प हो तो एक-न-एक रूपमें उद्घाटन अवश्य होगा।"

"एक-न-एक रूपमें उद्घाटन अवश्य होगा'''। क्या कई प्रकारके उद्घाटन होते हैं?

हां, अवश्य! सत्ताके बहुत-से भिन्न-भिन्न भाग होते हैं, उनमेंसे हर एक अपने ढंगसे खुल सकता है; मानसिक उद्घाटन और प्राणिक उद्घाटन अपने स्वभावमें बहुत भिन्न हैं और भौतिक उद्घाटन और ही तरहका होता है।

भौतिक उद्घाटन क्या है?

जब भौतिक शरीर दिव्य प्रभावके प्रति खुलता है और दिव्य शक्तियोंको ग्रहण करता है।

उदाहरणके लिये, एक ऐसा मुहूर्त होता है जब दिव्य शक्तियां आकर सभी कोषाणुओंमें प्रवेश करती हैं। आरंभके लिये, भौतिक चेतना, शारीरिक चेतना पहले भागवत प्रभावकी ओर खुलती है और समझती है और उसके सिवाय और कुछ नहीं चाहती, वह चाहती है भागवत 'उपस्थिति', भागवत प्रभाव। शरीरके अपने संवेदन होते हैं, शरीरके कोषाणुतक शक्तिको ग्रहण करनेके लिये खुल सकते हैं। उदाहरणके लिये, जब किसी विशेष मुहूर्तमें सारे शरीरमें बहुत तीव्र स्पंदन फैलते हुए लगें, उस समय तुम्हें लगे कि तुम बलसे, असाधारण शक्तिसे और चेतनासे भर गये हो, सब चीजें स्पष्ट और बोधगम्य लगें तो यह शरीरका उद्घाटन है; तब शरीर जानता है और दिव्य प्रभावकी ओर खुलनेमें सफल हो जाता है।

माताजी, हृदयमें एकाग्र होना क्यों ज्यादा अच्छा है?[1]

श्रीअरविंद यहां कहते हैं कि यह ज्यादा आसान है। कुछ लोगोंके लिये यह ज्यादा कठिन है, यह अपने-अपने स्वभावपर निर्भर है। लेकिन यह ज्यादा अच्छा है क्योंकि अगर तुम वहां काफी गहराईमें एकाग्र होओ, तो

---

[1] "इस योगमें एकाग्र होनेके सिवाय कोई और पद्धति नहीं है, ज्यादा अच्छा है हृदयमें एकाग्र होकर माताजीकी सत्ता और शक्तिको पुकारो कि तुम्हारी सत्ताको ले लें और अपनी शक्तिकी क्रियासे चेतनाका रूपांतर कर दें; तुम चाहो तो सिरमें या भौंहोंके बीचमें भी एकाग्र हो सकते हो, परंतु बहुतोंके लिये यह उद्घाटन बहुत कठिन है।"

तुम यहां पहली ही बार चैत्य पुरुषके संपर्कमें आओगे, जब कि सिरमें एकाग्र होनेसे तुम्हें बादमें सिरमेंसे हृदयमें प्रवेश करना होगा ताकि चैत्य पुरुषके साथ तादात्म्य प्राप्त कर सको। और अगर तुम शक्तियोंको इकट्ठा करके एकाग्र करो तो यहां इकट्ठा करना ज्यादा अच्छा है क्योंकि इसी चक्रमें, सत्ताके इसी क्षेत्रमें तुम प्रगतिके संकल्प, शुद्धिकी शक्ति और अधिक-से-अधिक तीव्र और समर्थ अभीप्सा पाओगे। जो अभीप्सा हृदयसे आती है वह सिरसे आनेवाली अभीप्सासे ज्यादा प्रबल होती है।

"दिव्य 'शक्ति'की सहायताको नीचे उतारने और निम्न शक्तियोंके साथ उसके व्यवहारमें सत्ताको उसके (दिव्य शक्ति) पक्षमें रखनेके लिये संकल्प और अभीप्साकी जरूरत होती है।"

"सत्ताको उसके पक्षमें रखने"का क्या मतलब है?

"उसके पक्षमें रखने" — यह, उदाहरणके लिये... एक ओर — कैसे कहूं? — चलो, सेनाकी बात लें, एक ओर भागवत शक्तियोंकी सेना, दूसरी ओर, साधारण प्रकृतिकी शक्तियोंकी सेना; तो इसका मतलब हुआ, इस सेनाके पक्षमें रहना या उस सेनाके।

नहीं समझे? इसका मतलब है, इस ओर जाना, इसके साथ जा मिलना या उस ओर जाना। अगर मैं भागवत शक्तियोंके पक्षमें रहूं, तो मैं उनके साथ मिल जाऊंगी जो सेनाकी तरह दिव्य शक्तियोंके लिये लड़ रही हैं। अगर मैं अपने-आपको जीवनकी सामान्य प्राणिक शक्तियोंके पक्षमें रखूं, तो मैं औरोंको छोड़कर उस दिशामें चली जाऊंगी। मैं उस दिशामें चली जाऊंगी।

मधुर मां, "अहंकी गांठ" का क्या मतलब है?

गांठ? ओह! यह एक रूपक है। यह एक ऐसी चीज है जो तुमसे चिपट जाती है और एक अच्छी तरह बंधी हुई रस्सीकी गांठकी तरह कसकर तुम्हें बांधे रखती है। इसलिये, हमेशा कहा जाता है कि सचमुच प्रगति करनेके लिये पहली चीज है अहंकी गांठको काटना। यह बहुत अर्थपूर्ण है और एक अच्छा चित्र बनाता है, है न? — व्यक्ति बंधा हुआ है, अपने अन्दर बंद है। जैसे जेलमें होता है उस तरह बंधा हुआ है, ऐसी गांठोंसे बंधा है जो सत्ताके सभी भागोंको साथ बांधे रखती है;

यही चीज उन्हें संबद्ध रखती है, साथ ही यह एक सीमा है जो सीमित करती है। तुम उन सब शक्तियोंको ग्रहण नहीं कर सकते जिन्हें तुम पाना चाहते हो, क्योंकि तुम अपने-आपको बांधनेवाली रस्सीके गांठोंके ढेरसे बने खोलमें बन्द हो।

मधुर मां, हम अहंकारकी गांठको कैसे काट सकते हैं?

उसे कैसे काटा जाय? तलवार उठाओ और लगाओ हाथ (हंसी), जब तुम उसके बारेमें सचेतन हो जाओ। क्योंकि साधारणतः, ऐसा नहीं होता; हम इसे बिलकुल सामान्य समझते हैं, जो हमारे साथ होता है; और वास्तवमें यह है भी सामान्य, साथ ही हम इसे काफी अच्छा भी समझते हैं। हां, तो शुरूमें तुम्हारे अन्दर बहुत स्पष्ट दृष्टि होनी चाहिये जो यह जान सके कि तुम इन सब गांठोंमें बन्द हो जो तुम्हें जकड़े हुए हैं। और फिर, जब तुम्हें इस बातका भान हो जाय कि कोई चीज वहां-पर बहुत सख्तीसे बंद है — इतनी सख्तीसे कि उसे हिलानेके प्रयास भी व्यर्थ गये — तब तुम कल्पना करते हो कि तुम्हारा संकल्प एक बहुत तेज धारवाली तलवार है, फिर, अपनी सारी शक्ति लगाकर तुम इस गांठ-पर एक वार करते हो (निश्चय ही, कल्पनामें, तुम सचमुच तलवार नहीं उठा लेते), और इससे परिणाम आता है। निश्चय ही तुम यह काम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे कर सकते हो, इस गांठको बनानेवाले सभी तत्वों-की खोज कर सकते हो, प्रतिरोधों, आदतों, पसंदोंके उस पूरे समूहको खोज सकते हो जो तुम्हें अन्दर सख्तीसे बंद रखता है। जब तुम्हें इस-का भान होता है, तो तुम एकाग्र होकर भागवत शक्ति और कृपाका आवाहन करके इस रचनापर, इन चीजोंपर जो आपसमें इतनी जकड़ी हुई हैं कि कोई चीज उन्हें अलग नहीं कर सकती, एक अच्छा वार कर सकते हो। और उस समय तुम्हें यह निश्चय करना चाहिये कि अबसे तुम इन चीजोंकी बातपर कभी कान न दोगे, कि तुम केवल भागवत चेतना-की ही बात सुनोगे और भागवत कार्यको छोड़कर और कोई काम न करोगे। व्यक्तिगत परिणामोंकी परवाह किये बिना, सब आसक्तिसे मुक्त, सब तरहकी पसंदसे मुक्त, सफलताकी इच्छा, शक्ति, संतोष, दर्प आदि सै मुक्त होकर भागवत कार्य करोगे। यह सब... यह सब लुप्त हो जाना चाहिये, और तुम्हें केवल भागवत इच्छाको अपनी इच्छामें अवतरित होते और तुमसे काम करवाते हुए देखना चाहिये। तब, इस भांति, तुम उस-से मुक्त हो जाओगे।

माताजी, हम अपने संकल्पको कैसे मजबूत बना सकते हैं?

ओह, जैसे तुम मांसपेशियोंको मजबूत बनाते हो, विधिपूर्वक व्यायाम-द्वारा। किसी एक छोटी-सी चीजको ले लो जिसे तुम करना चाहते हो या नहीं करना चाहते, किसी छोटी-सी चीजसे शुरू करो, ऐसी चीज नहीं जो सत्ताके लिये जरूरी हो, छोटी-सी गौण चीज। और तब, उदाहरण-के लिये, वह कोई ऐसी चीज हो जिसे करनेकी तुम्हें आदत हो, तुम उसी नियमितताके साथ आग्रह करो — या तो उसे न करनेका या उसे करने-का — तुम उसपर आग्रह करो और अपने-आपको वह करनेके लिये बाध्य करो जैसे तुम भार उठानेके लिये अपने-आपको बाध्य करते हो। दोनों एक ही हैं। तुम उसी प्रकारका प्रयास करते हो, पर यह आंतरिक प्रयास अधिक है। इस तरह छोटी-छोटी चीजें लेनेके बाद, जो अपेक्षाकृत आसान हों, उन्हें लेकर उनमें सफल होनेके बाद, तुम एक ज्यादा बड़ी शक्तिके साथ मिलकर, ज्यादा जटिल परीक्षण कर सकते हो। और धीरे-धीरे, यदि तुम नियमित रूपसे करते रहो तो अंतमें तुम एक स्वतंत्र और बहुत सशक्त संकल्प प्राप्त कर लोगे।

मधुर मां, क्या अभीप्साके भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, जैसे मानसिक अभीप्सा या प्राणिक अभीप्सा?

हां, सत्ताके हर भागकी अपनी अभीप्सा होती है जिसकी प्रकृति अभीप्सा-करनेवाले भाग जैसी होती है। एक भौतिक अभीप्सा भी होती है; शरीर ... शरीरके कोषाणु समझते हैं कि रूपांतर क्या होगा, और अपने पूरे बलके साथ, उनके अंदर जितनी चेतना है उसके साथ वे इस रूपांतरके लिये अभीप्सा करते हैं। इस भांति, शरीरके कोषाणुतक — केंद्रीय संकल्प, विचार या भाव नहीं — स्वयं शरीरके कोषाणु, इस तरह भागवत शक्ति पानेके लिये खुलते हैं।

क्या चैत्य पुरुष हृदयमें होता है?

भौतिक हृदयमें नहीं, शरीरके अंगमें नहीं है। वह चतुर्थ आयाममें है, आंतरिक आयाममें। वह उस क्षेत्रमें है और चक्रके ठीक पीछेके क्षेत्रमें। तुम उसे वहां सबसे अधिक आसानीसे पा सकते हो। भौतिक, उसके हिसाबसे चैत्य पुरुष चतुर्थ आयाममें है।

"अभावात्मक निर्वाण" का क्या अर्थ है?

अभावात्मक निर्वाण? यह तो आजके पाठमें नहीं है।

अभावात्मक निर्वाणका मतलब है ऐसा निर्वाण जिसमें कोई भी भावात्मक चीज नहीं है। इसका मतलब है शून्य जिसके अंदर कोई भावात्मक चीज नहीं है, निरपेक्ष शून्य।

तो लो, बच्चो। बस खतम।

(विश्वनाथ ध्वन्यांकन यंत्रके साथ व्यस्त हैं; उनकी तरफ मुड़कर माताजी उनसे पूछती हैं:) तुम्हें कुछ पूछना है? (हंसी) तुम कोई प्रश्न करना चाहते हो? पूछो, पूछो, अपना प्रश्न करो! (हंसी) क्या प्रश्न है? नहीं? तो बस।

१० नवंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविन्दकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय दो: "श्रद्धा — अभीप्सा — समर्पण" के आधारपर है।)

इसका ठीक-ठीक क्या मतलब है: "योगमें आंतरिक विजयसे बाहरी विजय आती है।"

हां, पहले तुम्हें सत्य चेतना प्राप्त करनी चाहिये, भगवान्‌के साथ संपर्क रखना चाहिये और उन्हें अपनी क्रियाओंका नियंत्रण करने देना चाहिये; तब तुम बाहरी परिस्थितियोंपर क्रिया कर सकोगे, बाहरी क्रियाओंपर भी, और तभी बाहरी कठिनाइयोंपर विजय पा सकोगे। किसी बाहरी (...[1]) की आशा करनेसे पहले तुम्हें आंतरिक अनुभूति होनी चाहिये। वास्तवमें हर चीज दिव्य चेतनाकी अभिज्ञतापर आधारित है, और जबतक यह न हो, बाकी सब अतिरिक्त है। कोई भी चीज स्थायी रूपसे स्थापित नहीं की जा सकती। केवल सचेतन होनेके बाद ही तुम बिना भयके अपने मार्गका

---

[1] यहां कोई शब्द नहीं सुनायी दिया।

तेजीसे अनुसरण कर सकते हो। नहीं तो हमेशा हमेशा भूल करनेका, गलत रास्तेपर जानेका खतरा रहता है।

मधुर मां, "चैत्य संतुलन" का क्या मतलब है?

चैत्य संतुलनका मतलब है सत्ताका संतुलन, जो इस तथ्यसे आता है कि चैत्य पुरुष, जो सत्ताकी सब गतिविधियोंका साक्षक है, वही चेतनाकी सभी गतिविधियोंका स्वामी है। चैत्य हमेशा भली-भांति संतुलित रहता है। इसलिये जब वह सक्रिय हो और सत्तापर शासन करता हो तो वह अनिवार्य रूपसे संतुलन ले आता है।

माताजी, पिछली बार हमने पढ़ा था: "इसकी परवाह नहीं कि तुम्हारी प्रकृतिमें क्या त्रुटियां हैं। तुम्हारा अपने-आपको 'शक्ति'के प्रति खुला रखना ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है।" माताजी, अगर हमारे अंदर त्रुटियां हों तो हम 'शक्ति'के प्रति कैसे खुल सकते हैं?

मेरा ख्याल है कि सभीके अंदर त्रुटियां हैं। इसलिये अगर खुलनेके लिये यह जरूरी होता कि कोई भी त्रुटि न हो, तो कोई भी न खुल पाता। शुरूमें, व्यक्तिके अंदर हमेशा दोष होते हैं। तुम एक टुकड़ेसे नहीं बने हो। यही मुख्य कारण है। सत्तामें बहुत-से अलग-अलग हिस्से हैं जो कभी-कभी एक-दूसरेसे बिलकुल स्वतंत्र होते हैं और लगभग बारी-बारीसे चेतनापर कब्जा करते हैं, और कभी-कभी तो नियमित क्रममें कब्जा करते हैं। तो, जब सत्ताके एक भागमें सद्भावना हो और उसे एक प्रकारका बोध हो कि दिव्य शक्ति क्या है, तो यह सत्ताको खोलकर उसे इस शक्तिके संपर्कमें रख देता है। लेकिन वह भाग हमेशा नहीं रहता। अन्य भाग सामने आते हैं, उनमें दोष होते हैं, बुरी आदतें होती हैं। ये चेतनाको पूरी तरह ढंक सकते हैं। लेकिन अगर तुम खुले हुए भागकी स्मृति बनाये रख सको, तो तुम उद्घाटनको बनाये रख सकोगे, भले ही बाहरी दृष्टिका जो भाग सक्रिय है उसे कोई विशेष रस न हो और वह समझनेकी क्षमता भी न रखता हो। लेकिन दूसरा भाग खुला रह सकता है और शक्ति पा सकता है।

क्या हम प्रतीकोंके द्वारा भक्ति पा सकते हैं?

क्या? अभीप्सासहित श्रद्धा? मेरा ख्याल है, क्योंकि उसे सहज रूपमें श्रद्धा लेकर पैदा होना विरल है। बहुत ही कम लोगोंको सहज श्रद्धाका सौभाग्य प्राप्त होता है, लेकिन अगर तुम अपनी अभीप्सामें बहुत सच्चे और निष्कपट हो, तो उसे पा लोगे। अभीप्सासे, यदि वह सच्ची और निरंतर हो, सब कुछ मिल सकता है। तुम्हारे अंदर हमेशा श्रद्धाका एक छोटा-सा तत्त्व होता है, चाहे वह उन बातोंपर श्रद्धा हो जो तुम्हारे मा-बापने बतायी है, या पढ़ी हुई किताबमें कही गयी बातोंपर हो। आखिर तुम्हारी सारी शिक्षा इस प्रकारकी श्रद्धापर आश्रित है। जिन लोगोंने तुम्हें पढ़ाया या उन्होंने तुम्हें कुछ बातें बतायी थीं। तुम्हारे पास उन्हें जाँचनेके कोई साधन नहीं थे, क्योंकि तुम बहुत छोटे थे और तुम्हें कोई अनुभव न था। लेकिन उन्होंने जो कहा उसपर तुम्हें श्रद्धा थी और तुम उस श्रद्धाको लेकर चलते रहे। तो हर एकके अंदर थोड़ी-बहुत श्रद्धा होती है और उसे बढ़ानेके लिये तुम अपनी अभीप्साका प्रयोग कर सकते हो।

मातृजी, आपके प्रतीकमें बारह पंखुड़ियाँ हैं; क्या वे बारह आंतरिक लोकोंके प्रतीक हैं?

तुम जो चाहो वे उसका सूचन करती हैं। बारह अदितिकी, 'महाशक्ति'की संख्या है। तो वह हर चीजपर लागू हो सकती है; उसकी हर क्रियाके बारह पहलू होते हैं, उनके बारह गुण भी हैं, उनकी बारह शक्तियाँ, बारह रूप और फिर, उनकी अभिव्यक्तिके बारह लोक, और बहुत-सी और चीजें जो बारह हैं; और प्रतीक, बारहकी संख्या अपने-आपमें प्रतीक है। वह अभिव्यक्तिका, सृष्टिमें दोहरी पूर्णता, सार-तत्त्व और अभिव्यक्तिमें पूर्णताका प्रतीक है।

मधुर मां, वे बारह रूप कौन-से हैं?

आह, वत्स, मैंने कहींपर इनका वर्णन किया है, लेकिन अब मुझे याद नहीं। क्योंकि इसमें हमेशा चुनाव होता है समझे; तुम जो कहना चाहते हो उसके अनुसार यह बारह रूप या कोई और बारह चुन सकते हो, या उन्हें अलग-अलग नाम दे सकते हो। एक ही रूपको अलग-अलग नाम दिये जा सकते हैं। इसमें मानसिक सिद्धांतोंकी स्थिरता नहीं होती। (मौन)

सृष्टिको किस कोणसे देखा जा रहा है उसके अनुसार एक दिन मैं बारह रूपोंका वर्णन कर सकती हूं; और किसी और दिन, चूंकि मैंने अपने

अवलोकनका केंद्र बदल दिया है, इसलिये मैं किन्हीं और बारहका वर्णन कर सकती हूं, और वह भी उतना ही सत्य होगा।

(विश्वनाथसे) क्या हवा यह तूफान ला रही है? यह मंचपर नाटकीय प्रभावके लिये बहुत अच्छा है...। विश्वासघाती रातके समय आ रहा है हां? हम किसी भयंकर कार्यकी प्रतीक्षा कर रहे हैं...।

मधुर मां, चैत्य पुरुष अपना संतुलन कब खोता है?

क्या?... कभी नहीं।

तब फिर यह क्यों कहा गया है: "चैत्य संतुलनको जरूरत है"?

हां। इसका मतलब है कि चैत्य संतुलनकी सहायता जरूरी है। यह नहीं कि चैत्य पुरुषके संतुलित होनेकी जरूरत है, बल्कि यह कि व्यक्तिको चैत्य संतुलनके प्रभावमें रहना चाहिये। चैत्य हमेशा संतुलित होता है। लेकिन सत्ता हमेशा संतुलन लानेवाले चैत्य प्रभावके अधीन नहीं होती। चैत्य का प्रभाव ही संतुलन लाता है। (मौन)

हम कैसे जानें कि चैत्य सामने है?

वत्स, जब ऐसा होता है तो पता लग जाता है। ठीक तबतक जबतक तुम इसे नहीं समझते, यही मानो कि वह सामने नहीं आया है। यह ऐसा ही है जैसे कोई तुमसे पूछे: "मैं यह कैसे जानूं कि मेरा भगवान्‌के साथ संपर्क है या नहीं?" यह अपने-आपमें इस बातका काफी प्रमाण है कि यह संपर्क-में नहीं है। क्योंकि अगर संपर्क होता तो वह यह प्रश्न ही न करता। यह जानी बात है। चैत्यके बारेमें भी यही बात है। जब चैत्य सामने होता है तो तुम्हें पता होता है और वहां संदेहकी कोई संभावना ही नहीं रहती। परिणामस्वरूप तुम फिर प्रश्न नहीं करते।

हम मन और प्राणको "स्वच्छ क्षेत्र" कैसे बना सकते हैं?

क्या बना सकते हैं?... हां, यह कठिन है। (हंसी) यह बड़ा काम है। हां, तो हमेशा वही बात है; सबसे पहले तुम्हें यह समझना चाहिये कि

स्वच्छता मतलब क्या है। फिर, तुम्हें अभीप्सा करनी चाहिये और वह भी आग्रहके साथ; और हर बार जब कोई चीज़ रुकावट डालने आये तो तुम्हें उसे बुहार देना चाहिये, वापिस धकेल देना चाहिये, स्वीकार न करना चाहिये।

मन और प्राणकी एक बहुत बुरी आदत होती है : जब आदमी अभीप्सा द्वारा कोई अनुभूति पानेमें सफल हो जाता है, दिव्य शक्तिके संपर्कमें आता है, तो वे तुरंत उससे अपनी संपत्ति बनानेके लिये इस तरहसे झपटते हैं (संकेत), जैसे बिल्ली चूहेपर झपटती है। तब वे उसे पकड़कर कहते हैं: "यह हमारे लिये है।" फिर, मन उसे नाना प्रकारके अनुमानों, उक्तियों और रचनाओंमें बदल डालता है और उसमें बड़ा गर्व अनुभव करता है, और प्राण शक्तिका उपयोग अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये करता है।

तो, इन चीजोंसे बचनेके लिये कहा जाता है कि उन्हें स्वच्छ, स्थिर, शांत रहना चाहिये, और जो शक्ति उतर रही है उसपर झपटकर उसे अपने निजी उपयोगोंका यंत्र न बनाना चाहिये। मनके स्वच्छ होनेके लिये उसे कम-से-कम एक हदतक नीरव रहना चाहिये, और प्राणके स्वच्छ होनेके लिये उसे कामनाएं त्याग देनी चाहिये, उसमें कामनाएं, आवेश या आवेग न होने चाहिये। यह वास्तवमें एक आवश्यक शर्त है। बादमें, अगर तुम विस्तारमें जाओ, तो उन दोनोंमेंसे किसीमें भी पसंदें या आसक्तियां न होनी चाहिये, जीनेकी कोई विशेष पद्धति या कोई विशेष विचार-समूह न होना चाहिये।

मधुर मां, "सचाई" का सच्चा अर्थ क्या है?

सचाईके कई स्तर होते हैं।

सबसे प्राथमिक स्तर यह है कि ऐसा न हो कि तुम एक बात कहो और सोचो कुछ और, मांग एककी करो और चाहो कुछ और। उदाहरणके लिये, प्रायः ऐसा होता है कि तुम कहते हो: "मैं प्रगति करना चाहता हूं और अपने दोषोंसे छुटकारा पाना चाहता हूं" और, साथ-ही-साथ, उन्हें अपनी चेतनामें पोसते रहो, उन्हें बड़ी सावधानीसे छिपाये रहो ताकि कोई बीचमें पड़कर उन्हें भगा न दे। यह वास्तवमें बहुत आम बात है। यह दूसरा स्तर हो गया। पहला स्तर तो तब है जब कोई, उदाहरणके लिये, यह दावा करता है कि उसके अंदर बहुत अभीप्सा है और वह आध्यात्मिक जीवन चाहता है, परंतु साथ ही पूरी तरह... कैसे कहा जाय?

...निर्लज्ज होकर ऐसी चीजें करता है जो आध्यात्मिक जीवनसे एकदम उल्टी हैं। यह सचाईका नहीं, कपटका ही एक स्तर है जो बिलकुल स्पष्ट है।

लेकिन एक दूसरी अवस्था है जिसके बारेमें मैंने तुम्हें अभी बतलाया है, जो यूं है: सत्ताका एक भाग है जो अभीप्सा करता है और कहता है और सोचता भी है और अनुभव भी करता है कि वह बहुत ज्यादा चाहेगा कि अपने दोषों और त्रुटियोंसे पिंड छुड़ा ले; साथ ही, दूसरे भाग हैं जो इन दोषों और त्रुटियोंको बहुत सावधानीसे छिपाते हैं ताकि उन्हें उघाड़ने और उनपर विजय पानेके लिये बाधित न होना पड़े। यह बहुत आम बात है।

और अंतमें, अगर हम काफी आगे निकल जायं, अगर हम इस वर्णन को काफी आगे बढ़ा सकें, तो जबतक सत्ताका कोई भाग ऐसा है जो भगवान्‌के लिये केंद्रीय अभीप्साका विरोध करता है, तबतक तुम पूरी तरह सच्चे नहीं हो। यानी, पूरी सचाई या निष्कपटता एक बहुत ही विरल चीज है। और बहुत ही सामान्य तौरपर, बहुधा, जब आदमी की प्रकृतिमें ऐसी चीजें होती हैं जिन्हें वह पसंद नहीं करता, तो वह बहुत सावधानीसे उन्हें अपने-आपसे छिपाता है, उनके लिये अनुकूल सफाई दे लेता है या फिर बस, जरा-सी गति करता है, यूं (संकेत)। तुमने देखा है कि जब चीजें इस तरह गति करती हैं तो तुम उन्हें स्पष्ट नहीं देख सकते। जहां दोष दुबका होता है वहां एक प्रकारका स्पंदन होता है जो यह करता है और तुम्हारी दृष्टि स्पष्ट नहीं रहती। फिर तुम अपने दोष नहीं देख पाते। और यह अपने-आप होता है। ये सब कपट हैं।

पूर्ण सचाई और निष्कपटता तब आती है जब सत्ताके केंद्रमें भगवान्‌की उपस्थितिकी चेतना रहती है, भागवत इच्छाकी चेतना रहती है, और जब सारी सत्ता अपने सभी व्योरोंमें प्रकाशमान, स्पष्ट, पारदर्शक समग्रके रूपमें इस बातको प्रकट करती है। वास्तवमें यही सच्ची निष्कपटता है।

जब, किसी भी समय, चाहे कुछ भी हो, सत्ता अपने-आपको पूरी तरह भगवान्‌के अर्पित रखे और केवल भागवत इच्छाको ही चाहे, जब अंतमें चाहे कुछ भी क्यों न हो रहा हो, किसी भी क्षण क्यों न हो, हमेशा, समग्र सत्ता पूर्ण ऐक्यके साथ भगवान्‌से कह सके और अनुभव करे: "तेरी इच्छा पूरी हो," जब यह सहज समग्र पूर्ण हो तब तुम निष्कपट हो। लेकिन जबतक यह प्रतिष्ठित न हो जाय तबतक यह मिश्रित सचाई रहती है, कम या अधिक मिश्रित, उस हदतक मिश्रित रहती है जहां तुम बिलकुल सच्चे नहीं रहते।

मधुर मां, यहां लिखा है: "व्यक्तिगत प्रयासको उत्तरोत्तर भागवत शक्तिकी गतिमें रूपांतरित करना चाहिये, अगर तुम अपने-आपको भागवत शक्तिके बारेमें सचेतन अनुभव करते हो, तो उसे अपने प्रयासका अधिकाधिक परिचालन करने, उसे अपनाकर ऐसी चीजमें बदलनेके लिये आवाहन करो जो तुम्हारी नहीं, सत्ताओंकी है।" लेकिन अगर कोई भागवत शक्तिके बारेमें सचेतन न हो तो?

तुम्हें सचेतन होना चाहिये। अभीप्सा करो, मांगो, सचाईसे अभीप्सा करो।

देखो, साधारण दृष्टिसे कहा जाय, तो तुम यहां हो, हमारी कक्षा हो रही है, हमने अभी कुछ पढ़ा है, तुम्हें कुछ प्रश्न पूछने हैं; जब तुम यहां होते हो तो तुम प्रश्न पूछते हो और विषयके बारेमें सोचते हो, लेकिन जैसे ही तुम बाहर जाते हो या घर जाते हो, तुम अन्य हजारों बातें सोचते हो, सोचते हो न? तो, तुम यह आशा कैसे कर सकते हो कि तुम भागवत शक्तिके बारेमें सचेतन हो जाओगे? हमें यहां मुश्किलसे आध घंटा मिलता है, भागवत शक्तिके बारेमें सचेतन होनेके लिये यह बहुत लंबा समय नहीं है।

लेकिन अगर यह तुम्हारी एकमात्र तल्लीनता है, अगर सचमुच, अपनी पूरी सत्ताके साथ, तुम भागवत शक्तिके बारेमें सचेतन होना चाहते हो, तो, तुम सचेतन हो सकोगे। तुम सचेतन नहीं हो पाते, क्योंकि तुम समय-समयपर उसके बारेमें सोचा करते हो; जब विषय उठता है तो, तुम अपने-आपसे पूछते हो: 'अरे, यह सच है, मैं कैसे कर सकता हूं?" और फिर, अगले ही क्षण तुम उसके बारेमें बिलकुल नहीं सोचते। तो, तुम उसके होनेकी आशा कैसे कर सकते हो? तुम्हें बहुत एकाग्र होना चाहिये, तुम्हें बहुत नीरव होना चाहिये, और बहुत स्पष्ट रूपसे अपना अवलोकन करना चाहिये। और तुम्हें बहुत विनम्र होना चाहिये; यानी, इस कहानीमें कोई बड़ी भूमिका न पानेके लिये भी तैयार रहना चाहिये। दुर्भाग्य यह है कि साधारणतः प्राणिक सत्ता या मानसिक सत्ता या यहां-तक कि भौतिक सत्ता भी भाग लेनेके लिये बहुत आतुर रहती है, बहुत आतुर। इसलिये वह फूल उठती है, बहुत-सा स्थान घेर लेती है और बाकीको ढक देती है; वह उसे इतनी अच्छी तरह ढक देती है कि तुम्हें भगवान्‌की शक्तिकी उपस्थितिका भानतक नहीं हो पाता, क्योंकि भौतिक-की, शरीर, प्राण, मनकी निजी गतिविधि, हर चीजको अपने महत्त्वसे ढक देती है।

सुनो : अगर तुम हर रोज सोनेसे पहले केवल एक छोटा-सा मिनट निकालकर, इस तरहसे, और इस छोटे-से मिनटमें अपनी क्षमताके अनुसार पूरी एकाग्रताके साथ यह याचना करो कि तुम दिव्य शक्तिके बारेमें सचेतन हो सको, बस, इसी तरह, इससे बढ़कर कुछ नहीं, और सवेरे जागनेपर, अपना दिन शुरू करनेसे पहले अगर तुम यही करो, मिनट-भर निकालकर जितनी एकाग्रता कर सकते हो करो, और यह मांगो कि तुम दिव्य शक्तिके बारेमें सचेतन हो सको, तो तुम देखोगे कि कुछ समयके बाद ऐसा ही होगा। और कुछ नहीं, यही छोटी-सी बातें जो कुछ भी नहीं हैं, और जिनमें समय भी नहीं लगता।

एक दिन यह होगा। हां, तुम्हें उसे एकाग्रता, तीव्रता और सचाईके साथ करना चाहिये; मानो, यह नहीं होना चाहिये कि जब तुम यह मांग रहे हो, उसी समय तुम्हारा कोई दूसरा हिस्सा अपने-आपसे कह रहा हो: "आखिर, इसका कोई महत्त्व नहीं है।" या तुम किसी और चीजके बारेमें सोचो, जैसे तुम क्या पहनोगे, किससे मिलोगे, कोई भी चीज, हजारों कामनाएं। तुम्हें एक मिनटके लिये पूरी तरह वहां होना चाहिये। निश्चय ही अगर तुम मिनटोंको बढ़ाते जाओ, तो काम और भी जल्दी होगा। लेकिन जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूं, अगर तुम इस योग्य हो कि पिछले क्षण-की अभीप्साका अगले ही क्षण विरोध न करो, तो काम ज्यादा आसान हो जाता है; अगर ऐसा न कर पाओ, तो वह सचाईको दूर धकेल देता है।

१७ नवंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय दो : "श्रद्धा — अभीप्सा — समर्पण" के आधारपर है।)

मधुर मां, यहां लिखा है : "तुम्हारे लिये 'सत्य' यह है कि अपने अंदर भगवान्‌को अनुभव करो, माताजीके प्रति खुले और भगवान्‌के लिये काम करो, यहांतक कि तुम अपने सभी कार्योंमें उन्हें अनुभव कर सको।" उन्होंने एक जगह "भगवान्" और दूसरी जगह "माताजी" क्यों कहा है?

शायद वे इन्हें एक ही समस्याके दो पहलू मानते हैं। सच तो यह है कि कुछ ऐसे लोग हैं जो व्यक्तिगत भगवान्‌की अपेक्षा निर्वैयक्तिक भगवान्‌के साथ ज्यादा आसानीसे संपर्कमें आ सकते हैं। उनके लिये, कुछ मनोंके लिये, अमुक प्रकारकी बुद्धिके लिये, यह ज्यादा आसान है; वे इसे ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं या वे समझते हैं कि वे ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं।

भगवान्‌के अमुक प्रकारके गुण हैं जिनके बारेमें वे समझते हैं कि ये व्यक्तिगत सत्तामें हो ही नहीं सकते। इसलिये वे भगवान्‌की निर्वैयक्तिक धारणाके साथ संबन्ध जोड़ना ज्यादा पसंद करते हैं। तो, उनके लिये श्रीअरविंदने यूं कहा है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो एक ही साथ दोनोंको ले सकते हैं, उनके लिये एक दूसरेका पूरक होता है; लेकिन दूसरोंके लिये यह विरोध परस्पर-विरोध होता है। इसलिये वे एक या दूसरेको पसंद करते हैं। मेरा ख्याल है कि श्रीअरविंदने इसीलिये इस तरह कहा है ताकि हर एक अपना रास्ता चुन ले, ऐसा मार्ग जो उसके लिये ज्यादा सुगम हो और अधिक-से-अधिक सार्थक हो। तत्त्वतः यह एक ही चीज है; मनुष्यके मनमें भेद हो जाता है। और फिर, मनुष्यका मन मानव चेतनाको रूप देता है; और मानव चेतना आंतरिक वृत्ति और अपनी रुचिपर निर्भर रहती है। मनको हमेशा भाग करनेकी जरूरत होती है, अन्यथा वह सोचता है कि इसके बिना वह समझ ही नहीं सकता। शायद उसे अपने काममें मदद देनेके लिये, ताकि कोई यह न कह सके: "नहीं, नहीं, मैं व्यक्तिगत भगवान्‌को नहीं चाहता।" — श्रीअरविंदने कह दिया: "ठीक है, तुम निर्वैयक्तिक भगवान्‌की ओर मुड़ सकते हो।"

माताजी, जब हम प्रयास करते हैं तो हमारे अन्दर कोई चीज बहुत ज्यादा आत्मन्तुष्ट हो जाती है, गर्वके साथ अपने प्रयाससे संतुष्ट हो जाती है और इससे सब कुछ बिगड़ जाता है। तो हम इससे कैसे पिंड छुड़ा सकते हैं?

आह, यह वह है जो देखा करता है कि तुम क्या कर रहे हो! जब तुम कुछ करते हो तो हमेशा कोई उसे देखता रहता है। तो कभी-कभी, वह गर्वसे फूल उठता है। स्पष्ट है कि गर्व प्रयासमेंसे बहुत सारे बलको खींच लेता है। मेरा ख्याल है कि यह वही चीज है: यह अपने-आपको कार्य करते हुए, अपने-आपको जीते हुए देखनेकी आदत है। अपने-आप-

का निरीक्षण जरूरी है, लेकिन मेरा ख्याल है कि पूरी तरह सच्चा और सहज होना उससे भी ज्यादा जरूरी है, तुम जो कुछ करो उसमें बहुत ज्यादा सहज-स्वाभाविक होओ: हमेशा अपने-आपको काम करते हुए न देखते रहो और अपने-आपकी परख — कमी-कमी कड़ाईके साथ परख — न करते रहो। वास्तवमें, यह लगभग उतना ही बुरा है जितना संतोषके साथ अपने-आपको शाबाशी देना। दोनों चीजें समान रूपसे बुरी हैं। तुम्हें अपनी अभीप्सामें इतना सच्चा होना चाहिये कि तुम्हें पता भी न चले कि तुम अभीप्सा कर रहे हो, तुम स्वयं अभीप्सा बन जाओ। जब वास्तवमें इतनी प्राप्ति हो जाय, तो तुम एक असाधारण शक्ति पा लोगे।

एक मिनटके लिये, तुम इसे बस, एक मिनटके लिये पा लो, तुम बरसों-की सिद्धिके लिये तैयारी कर लोगे। जब तुम अपनी ही ओर निहारने-वाली सत्ता नहीं रहते, एक ऐसे अहंकार नहीं रहते जो अपने-आपको क्रिया करते हुए देखता रहता है, जब तुम स्वयं क्रिया बन जाते हो, और सबसे बढ़कर, स्वयं अभीप्सा बन जाते हो, तो यह सचमुच अच्छा है। जब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह जाता जो अभीप्सा करता है, जब स्वयं अभीप्सा पूर्णतर एकाग्र आवेगके साथ ऊपरको उठती है, तब सचमुच चीज बहुत दूर-तक जाती है। अन्यथा उसमें हमेशा जरा-सा दंभ, जरा-सा आत्म-संतोष, जरा-सी आत्म-दया भी — ऐसी सब प्रकारकी चीजें मिली रहती हैं जो सब कुछ बिगाड़ देती हैं। लेकिन यह है कठिन।

मधुर मां, यहां लिखा है: "इस योगमें सारा मूल-तत्त्व यही है कि अपने-आपको भागवत प्रभावके प्रति खोलो।" "अपने-आपको भागवत 'प्रभाव'के प्रति खोलने" का क्या मतलब है?

मैं कितनी बार यह बात समझा चुकी हूं! कम-से-कम तीस बार। समझानेका लाभ क्या? तुम्हें कोशिश करनी चाहिये, तुम्हें अपने-आप प्रयास करना चाहिये। समझानेका मतलब है मनको एक ऐसा सूत्र देनेकी कोशिश करना जो चीजको बिना किसी प्रयासके होने दे। तुम्हारे मस्तिष्कमें एक बढ़िया-सी व्याख्या रहती है, और तुम मानते हो कि चीज-की उपलब्धिके लिये बस, इतना काफी है। लेकिन अगर तुम जरा-सा प्रयास करो — चाहे बहुत भद्दे ढंगसे ही क्यों न हो — तो तुम धीरे-धीरे प्रगति करने लगते हो, और फिर, अधिकाधिक अच्छा करने लगते हो। जब तुम सचमुच अच्छी तरह करो तो यह समझ सकते हो कि तुम क्या कर

रहे हो, और यह भी जान जाते हो कि तुमने प्रयास करके एक-एक कदम कर यह करना कैसे सीखा।

श्रद्धाका अवतरण होनेके लिये कौन-सी शर्तें हैं?

सबसे आवश्यक शर्त है बच्चे-जैसा विश्वास, बच्चेका-सा निश्छल विश्वास, कि वह आयेगी। बच्चा अपने-आपसे इसके बारेमें पूछता तक नहीं; जब उसे किसी चीजकी जरूरत होती है तो उसे विश्वास होता है कि वह अवश्य आयेगी। तो यह है, इस प्रकारका विश्वास — निश्चय ही यह सबसे जरूरी शर्त है।

अभीप्सा करना अनिवार्य है। लेकिन कुछ लोग बड़े आंतरिक संघर्ष-के साथ अभीप्सा करते हैं, श्रद्धा और श्रद्धाके अभावमें, विश्वास और अविश्वासमें, विजयके बारेमें निश्चित आशावाद और अपने-आपसे "संकट कब आयेगा?" पूछते हुए निराशावादके बीच संघर्ष। अगर सत्तामें यह चल रहा हो तो तुम अभीप्सा भले करते रहो, पर तुम्हें कुछ भी नहीं मिलता और तुम कहते हो: "मैंने अभीप्सा की पर कुछ हाथ न आया।" इसका कारण यह है कि तुम सारे समय विश्वासके अभावसे अपनी अभीप्साको ढाते रहे हो। लेकिन अगर सचमुच तुम्हारे अन्दर विश्वास है...। अगर बच्चोंको अपने ऊपर छोड़ दिया जाय, बड़े उन्हें बिगाड़ें नहीं तो उनके अन्दर कितना बड़ा विश्वास होता है कि सब कुछ ठीक होगा! उदाहरणके लिये, अगर उनके साथ कोई दुर्घटना हो जाय, तो वे यह कभी नहीं सोचते कि यह कोई गंभीर चीज होनेवाली है: उन्हें सहज रूपसे यह विश्वास होता है कि जल्दी ही यह किस्सा खत्म हो जायगा और यह बड़े सबल रूपसे उसे खत्म करनेमें सहायक होता है।

हां तो, जब तुम दिव्य शक्तिके लिये अभीप्सा करो, जब तुम भगवान्-से सहायता मांगो और इस अटल विश्वासके साथ मांगो कि वह आयेगी, कि यह असंभव है कि वह न आये, तो वह निश्चय ही आयेगी। वह इस प्रकार... हां, यह विश्वास सचमुच आंतरिक उद्घाटन है। कुछ लोग हमेशा इस स्थितिमें रहते हैं। जब कोई चीज ग्रहण करनी होती है, तो वे हमेशा ग्रहण करनेके लिये मौजूद रहते हैं। कुछ और लोग ऐसे होते हैं कि जब कुछ पाना हो, कोई शक्ति उतर रही हो, तो वे हमेशा अनुपस्थित रहते हैं; उस समय वे हमेशा बंद रहते हैं, जब कि वे, जिनमें बच्चोंका-सा विश्वास होता है, हमेशा ठीक समयपर मौजूद होते हैं।

और यह आश्चर्यकी बात है, है न, कि बाहरसे दोनोंमें कोई फर्क नहीं होता।

उनमें एक जैसी सद्भावना हो सकती है, एक ही अभीप्सा, भला करनेकी एक-सी भावना हो सकती है। लेकिन जिन लोगोंमें यह मुस्कराता विश्वास होता है, वे अपने-आपसे यह नहीं पूछते कि उन्हें वह मिलेगा या नहीं, भगवान् उत्तर देंगे या नहीं — यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो मानी हुई बात है...। "मुझे जिस चीजकी जरूरत होगी, वह मुझे दी जायगी; अगर मैं प्रार्थना करूं तो उत्तर मिलेगा ही; अगर मैं कठिनाईमें हूं और सहायता मांगूं तो सहायता मिलेगी — केवल इतना ही नहीं कि वह आयेगी, बल्कि वह सब कुछ व्यवस्थित कर लेगी।" अगर सहज, निष्कपट, बिना ननुनच करनेवाला विश्वास है, तो वह सबसे अच्छा कार्य करता है, और अद्भुत परिणाम आते हैं। तुम अपने मनके विरोध और संदेहोंके कारण सब कुछ बिगाड़ देते हो। कठिनाईके समय इस प्रकारकी धारणाओंसे: "ओह, यह तो असंभव है! मैं यह कभी न कर पाऊंगा। मैं जिस अवस्थामें हूं उसे बिलकुल नहीं पसंद करता, लेकिन अगर यह बिगड़ जाय, अगर मैं ज्यादा-ज्यादा नीचे खिसकता जाऊं, अगर, अगर, अगर, अगर..." इसी प्रकार तुम अपने और जिस शक्तिको ग्रहण करना चाहते हो उसके बीच दीवार खड़ी कर लेते हो। चैत्य पुरुषमें यह विश्वास होता है, उसमें यह बिना किसी छाया, बिना किसी बहसके, बिना किसी विरोधके आश्चर्यजनक रूपसे होता है। और जब ऐसा हो, तो ऐसी कोई प्रार्थना नहीं होती जिसका उत्तर न मिले, ऐसी कोई अभीप्सा नहीं होती जो सिद्ध न हो।

हम अभिमान[1] से कैसे पीछा छुड़ा सकते हैं?

हे भगवान्! पहले, यह देखो कि वह कितना अनर्थकारी है: वह बहुत तुच्छ है, वह विनाशक है; फिर, एक कदम आगे बढ़ो और अपने-आपको व्यंग्यके लिये आगे रखो, देखो तुम किस हदतक हास्यास्पद हो। इस तरह, तुम उससे पिंड छुड़ा सकते हो। लेकिन जबतक तुम उसे गंभीरताके साथ लो, जबतक तुम उसकी गतिको न्यायसंगत समझो, जबतक तुम अपने मनमें कहींपर यह सोचो: "आखर यह बिलकुल स्वाभाविक है, मेरे साथ बुरा व्यवहार किया गया और मैं उस बुरे व्यवहारके कारण दुःखी हूं," तो बस खत्म। वह कभी न जायगा। लेकिन अगर तुम समझो कि यह

---

[1] यहां "अभिमान" बंगला अर्थमें, "आहत अभिमान" या "रूठने" के अर्थमें है। — अनु०

कमजोरीकी, हीनताकी निशानी है — स्वभावतः; काफी बड़े अहंकारकी, मनकी संकीर्णताकी, और सबसे बढ़कर, भावनाओंकी तुच्छता और छोटे दिलकी निशानी है — अगर तुम यह समझ लो, तो उसके विरुद्ध लड़ सकते हो। लेकिन तुम्हारे विचार सहमत होने चाहिये। अगर यह वृत्ति हो: "मुझे चोट पहुंची है, मैं कष्ट पा रहा हूं, मैं दिखा दूंगा कि मुझे कष्ट हो रहा है।" ऐसी बात है, मैं इतनी दूरतक नहीं जाती कि उन लोगोंकी बात करूं जो बदलेकी भावना छिपाये रखते हैं। और कहते हैं: "आह, मुझे कष्ट दिया गया है, मैं भी उन्हें मजा चखाऊंगा।" यह सचमुच इतना गंदा होता है और लोग देख सकते हैं कि इसे न रहना चाहिये — यद्यपि इसका प्रतिरोध करना हमेशा सरल नहीं होता। यह प्रकृतिमें किसी बहुत ही ओछी चीजका सूचक है। यह बहुत तुनकमिजाज हो सकती है, यह बहुत भावुक हो सकती है, इसमें तीव्रता हो सकती है, परंतु यह बहुत तुच्छ और आत्म-केंद्रित होती है, बहुत ही तुच्छ।

निश्चय ही, तुम अपनी तर्क-बुद्धिका उपयोग कर सकते हो, बशर्ते कि वह काम कर सके। तुम अपनी तर्क-बुद्धिका उपयोग करके अपने-आपसे कह सकते हो — और बात बिलकुल सच्ची है: हमारी सत्तामें केवल अहंकारको ही कष्ट होता है, अगर अहंकार न हो तो कोई दुःख न होगा, और अगर व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन चाहता है तो उसे अहंपर विजय पानी होगी। तो करने लायक सबसे पहली चीज यह है कि अपने दुःखपर सीधी नजर डालो, यह देखो कि वह किस हदतक अति तुच्छ अहंकारकी अभिव्यक्ति है और झाड़-बुहारकर जगहको साफ कर दो, मैदान साफ कर दो और कहो: "मैं यह गंदगी नहीं चाहता, मैं अपने अंतरके कमरेकी सफाई करूंगा।"

क्या शारीरिक कष्ट भी अहंके कारण कहे जा सकते हैं?

शारीरिक कष्ट? नहीं, वह[1] शारीरिक कष्टोंकी बात नहीं कर रही। शारीरिक कष्ट? एक बात निश्चित है; मेरा ख्याल है, यह बात शरीरमें; प्रकृतिमें थी। कष्टका आविष्कार सूचकके रूपमें किया गया था; क्योंकि, उदाहरणके लिये, अगर शरीर किसी-न-किसी तरह अव्यवस्थित हो और उससे कोई कष्ट न हो, तो आदमी कभी उस अव्यवस्थाको रोकनेके बारेमें न सोचेगा। कष्टके कारण ही आदमी बीमारीका उपचार करनेकी

---

[1] वह बालिका जिसने प्रश्न पूछा था।

सोचता है। अगर उसके कारण कोई अप्रिय संवेदन न आता तो तुम कभी उससे छुटकारा पानेकी न सोचते। मेरा ख्याल है कि प्रकृतिकी मित-व्ययतामें शारीरिक कष्टका पहला प्रयोजन है चेतावनी देना।

दुर्भाग्यवश, प्राण इसमें अपनी टांग अड़ाता है और कष्टको बढ़ाने, मरोड़ने और तेज करनेमें एक बहुत विकृत आनंद लेता है। यह सारी बातको बिगाड़ देता है। यह एक सूचक होनेकी जगह बीमारीमें रस लेनेका, अपने-आपको दिलचस्प बनानेका, अपने ऊपर दया करनेका अवसर बन जाता है। प्राणसे आनेवाली एक-से-एक बढ़कर घृणास्पद चीजोंके लिये अवसर बन जाता है। मेरा ख्याल है कि सामान्य रूपमें वह "साव-धान! सावधान, कोई चीज बिगड़ गयी है" का खतरा-संकेत था।

अगर आदमी लाड़-प्यारसे बहुत ज्यादा बिगड़ा हुआ न हो, उसमें थोड़ी-सी सहन-शक्ति हो और वह अपने अंदर यह निश्चय कर ले कि वह बहुत ज्यादा ध्यान न देगा, तो दर्द आश्चर्यजनक रूपसे कम हो जाता है। ऐसे बहुत-से रोग या शरीरके असंतुलनकी अवस्थाएं हैं जो बड़ी सरलतासे प्रभावको दूर करनेसे, यानी, दुःख-कष्टको रोकनेसे ठीक हो सकती हैं। साधारणतः, कष्ट वापस आ जाता है, क्योंकि कारण बना रहता है। अगर रोगका कारण मालूम हो जाय और तुम कारणपर सीधी क्रिया कर सको तो आमूल उपचार हो सकता है। लेकिन अगर तुम यह न कर सको तो तुम इस प्रभावका उपयोग कर सकते हो। रोगपर क्रिया करनेके लिये पीड़ाको दूर करके या उसे निकालकर या उसपर प्रभुत्व पाकर उस प्रभाव-के द्वारा रोगपर क्रिया कर सकते हो। तो यह प्रभाव है, या यूं कहें, बाहरसे अंदरकी ओर क्रिया है; जब कि दूसरी अंदरसे बाहरकी ओर क्रिया है, वह बहुत ज्यादा पूर्ण और स्थायी होती है। लेकिन दूसरी भी लाभ-दायक है।

उदाहरणके लिये, कुछ लोगोंको दांतका असह्य दर्द होता है। यह निर्भर है... कुछ लोग कम या ज्यादा, बहुत लाड़में पले होते हैं, यानी, वे किसी पीड़ाका प्रतिरोध नहीं कर सकते, उसे सह नहीं सकते; वे तुरंत कह उठते हैं: "नहीं, नहीं, और नहीं, यह असह्य है! मैं और नहीं सह सकता!" इससे परिस्थितियोंमें कोई फर्क नहीं आता; इससे उनका कष्ट कम नहीं होता, क्योंकि कष्ट यह कहने-भरसे नहीं चला जाता कि मैं तुझे नहीं चाहता। लेकिन अगर तुम दो चीजें कर सको: सभी प्रकारकी स्नायविक पीड़ाओंके लिये, अगर तुम अपने अंदर पीड़ाके स्थानपर एक प्रकार-की यथासंभव अधिक-से-अधिक पूर्ण निश्चलता ला सको तो इसका संवेदन-हारीका-सा असर होता है। अगर तुम अपने अंदर आंतरिक निश्चलता,

जहां कष्ट है वहां आंतरिक स्पंदनोंकी निश्चलता ला सको तो इसका ठीक वही प्रभाव होता है जो किसी संवेदनहारी औषधका। यह पीड़ाके स्थानका मस्तिष्कके साथ संबंध काट देता है, और अगर एक बार यह संबंध काट दो, अगर तुम इस अवस्थाको काफी समय रख सको तो पीड़ा गायब हो जाती है। तुम्हें यह करनेकी आदत डालनी चाहिये। तुम्हें यह करनेका मौका हमेशा मिलता रहता है। कहीं कुछ कट जाता है, कहीं चोट लगती है, खास तौरपर ऐथलेटिक्स, जिम्नास्टिक्स आदि करनेवालोंको तो हमेशा कहीं-न-कहीं छोटी-मोटी चोटें आती ही रहती हैं — यह तुम्हें मिलनेवाले अवसर हैं। तो बैठकर पीड़ाका निरीक्षण करने, उसका विश्लेषण करने, या उसपर एकाग्र होनेकी जगह — इनसे वह बेतहाशा बढ़ती है...। ऐसे लोग हैं जो कुछ और सोचते हैं पर यह स्थायी उपाय नहीं है; वे अचानक उस जगह खिंचे चले आते हैं जहां दर्द हो रहा हो। लेकिन अगर तुम यह कर सको...। चूंकि दर्द है, तो वह इस बातका प्रमाण है कि तुम्हारा उस स्नायुके साथ संपर्क है जो दर्दका संचारण करती है, वरना तुम्हें दर्दका अनुभव न होता। एक बार तुम्हें यह पता लग जाय कि तुम्हारा संपर्क है तो तुम उस बिंदुपर यथासंभव, अधिक-से-अधिक निश्चलता इकट्ठी करो और पीड़ाके स्पंदनको रोको; तुम देखोगे कि इसका असर वैसा ही होता है जैसे कोई अंग गलत अवस्थामें रहनेके कारण सो जाता है। और तब, अचानक क्या होता है... तुम जानते हो न?... वह रुक जाता है और फिर अचानक तेजीसे स्पंदित होने लगता है। तुम पीड़ावाली स्नायुमें जान-बूझकर जितनी हो सके उतनी निश्चलता एकाग्र करनेकी कोशिश करो। तुम देखोगे कि उसका असर होता है। जैसा कि मैंने कहा, उसका असर संवेदनहारीके जैसा होता है: वह उस अंगको सुला देती है, और अगर तुम एक प्रकारकी आंतरिक शांति और यह विश्वास ला सको कि दर्द चला जायगा, तो, मैं कहती हूं, दर्द चला जायगा।

योगकी दृष्टिसे दांतके दर्दको सबसे ज्यादा कठिन माना जाता है, क्योंकि वह मस्तिष्कके बहुत नजदीक है। मैं जानती हूं कि इसे इस हदतक किया जा सकता है कि दर्दका जरा भी अनुभव न हो; इससे बिगड़े हुए दांतका उपचार नहीं हो जाता, लेकिन ऐसे उदाहरण हैं जिनमें लोग दर्द करनेवाली स्नायुको मारनेमें सफल हुए हैं। साधारणतः दांतमें स्नायुके ऊपर अस्थिक्षय रोगका असर होता है, और वह पूरी ताकतसे विरोध करना शुरू करती है। तो, अगर तुम यह निश्चलता स्थापित करनेमें सफल हो जाओ, तो तुम उसे स्पंदित होनेसे रोक दोगे, उसे विरोध करनेसे रोक दोगे। और देखने लायक बात यह है कि अगर तुम इसे काफी निरंतर रूपसे, काफी

अध्यवसायके साथ कर सको, तो रुग्ण स्नायु मर जायगी और फिर तुम्हें कोई पीड़ा न होगी। क्योंकि उस स्नायुको कष्ट हो रहा था, एक बार वह मर गयी तो फिर, और पीड़ा नहीं होती। कोशिश कर देखो। मैं आशा करती हूं तुम्हें कभी दांतका दर्द न होगा। (हंसी)

२४ नवंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविन्दकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय दो: "श्रद्धा — अभीप्सा — समर्पण" के आधारपर है।)

"चैत्य पुरुषको जाग्रत और सामने रखो": "सामने" का क्या मतलब है, मधुर मां?

इसका मतलब है कि उसे चेतनाके सामने रखो, पीछे धकेलने और पृष्ठभूमिमें रखनेकी जगह, जहांसे वह कभी-कदास ही दिखायी दे; उसे चेतनाके ठीक सामने रखो, सक्रिय चेतनामें रखो। हर हालतमें, तुम्हें यह चाहना चाहिये और यह करनेकी कोशिश करनी चाहिये।

"कामना... शक्तिको नीचे खींचनेकी ओर ले जाती है।" इसका क्या मतलब है?

तुम्हारे अंदर दिव्य 'ज्योति', दिव्य 'ज्ञान' और सब तरहकी चीजोंके लिये अभीप्सा है। अब, अगर तुम्हारी अभीप्साके साथ कामना मिल जाय तो केवल अभीप्सा करने और उत्तरके लिये प्रतीक्षा करनेकी जगह, तुम खींचना शुरू करोगे, तुम उन्हें अपनी ओर उस तरह खींचोगे जैसे आदमी अपनी कामनाकी चीजोंको खींचता है। तो दिव्य 'शक्ति', दिव्य 'प्रकाश', दिव्य 'चेतना' और दिव्य 'सत्य'के लिये अपनी अभीप्साके उत्तरकी प्रतीक्षा करनेकी जगह, तुम उन्हें यूं, अपनी ओर बड़ी अहंकारमय गतिके साथ खींचते हो, मानों कोई रस्सी या कोई और चीज खींच रहे हो। इस तरह उत्तरमें कोई भी चीज आ सकती है। उदाहरणके लिये, सच्चा

प्रकाश होनेकी जगह, झूठा प्रकाश आ सकता है जो तुम्हें धोखा देनेके लिये चमकदार रूप धारण कर लेगा; सच्ची शक्तिकी जगह, विरोधी प्राणमय शक्ति आ सकती है जो तुमपर अधिकार करना चाहती है। मतलब यह कि जब तुम्हारे अंदर अभीप्सा हो तो अच्छा यही है कि उसमें कोई कामना न मिलने पाये, क्योंकि कामनाएं हमेशा सारी चीजको बिगाड़ देती हैं।

"आंतरिक तपस्या" का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

आंतरिक तपस्या? इसका मतलब है चरित्रके लिये, सत्ताकी मनोवैज्ञानिक गतिविधिको बदलनेके लिये, यथार्थतः कामनाओंको जीतनेके लिये, आवेगोंको जीतनेके लिये, अहंकारपर विजय पानेके लिये, भयोंसे पिंड छुड़ानेके लिये की गयी तपस्या। यही आंतरिक तपस्या है।

बाह्य तपस्या है संन्यासियों या हठयोगियोंकी तपस्या; योगके लिये बाह्य साधनोंका उपयोग करना बाह्य तपस्या है। लेकिन आंतरिक तपस्यामें अपने चरित्रपर ध्यान दिया जाता है और उसे बदलनेकी कोशिश की जाती है।

मधुर मां, इच्छा करने (willing) और कामना करने (desiring) में क्या फर्क है?

वे दोनों एक ही चीज बिलकुल नहीं हैं। जब तुम देखते हो कि कोई चीज की जानी चाहिये, उदाहरणके लिये, तुम्हें लगे कि यह करना अच्छा है — अपनी बुद्धिकी बात लो: तुम्हारी बुद्धि निश्चय करती है कि यह करना चाहिये, तो तुम्हारी इच्छा काम करना शुरू करती है, और तुमसे वह सब करवाती है जो इसके लिये जरूरी है। तुम्हारी इच्छा एक कार्यकारी शक्ति है जिसे बुद्धि या किसी उच्चतर शक्तिकी सेवामें रहना चाहिये। यह एक समन्वित और व्यवस्थित चीज है जो एक योजनाके अनुसार पूर्णतः नियंत्रित ढंगसे यथार्थ रूपमें काम करती है।

कामना एक आवेग है। वह तुम्हें पकड़ लेती है... यह जरूरी नहीं है कि वह तुम्हें किसी सचेतन विचारके साथ पकड़ती हो। यह एक ऐसा आवेग है जो तुम्हें किसी चीजपर अधिकार करनेके लिये धकेलता है। तुम अपनी इच्छाको कामनाकी सेवामें लगा सकते हो, पर कामना इच्छा नहीं है। कामना एक आवेग है। ऐसे लोग होते हैं जो कामनासे भरे होते हैं पर उनमें इच्छा नहीं होती। तो हम कह सकते हैं कि कामनाएं उन्हें खा डालती हैं; पर इससे कुछ नहीं होता, क्योंकि उनमें कामनाओं-

को पूरा करनेकी इच्छातक नहीं होती। अधिकतर लोग उनके पास जो थोड़ी-बहुत इच्छा-शक्ति होती है उसे अपनी कामनाकी सेवामें लगा देते हैं। लेकिन इच्छा एक शक्ति है जिसमें व्यवस्था करनेकी क्षमता होती है और उसे जिस किसी उद्देश्यके लिये काममें लाया जा सकता है। जब तुम्हारे अंदर इच्छा-शक्ति हो तो (...)[1] किसी निश्चित उद्देश्यके लिये। यह है इच्छा।

तुम्हें कामनाको इच्छा न समझ लेना चाहिये। कामना एक आवेग है: वह तुम्हें पकड़ लेती है, जकड़ लेती है, तुमसे चिपक जाती है। और फिर, अगर तुम कामनाको अपनी मरजीके अनुसार करने दो, तो वह तुमसे कुछ भी करवा लेती है, और वह तुम्हारी इच्छाका उपयोग करती है। लेकिन कामना, साधारणतः, उग्र, आवेगमय और कुछ समयके लिये होती है। ऐसा बहुत कम होता है कि वह लंबे समयतक रहे; उसके अंदर सतत प्रयासके लिये न तो उपादान होता है, न व्यवस्था। जब कोई कामना तुम्हें आ पकड़ती है, तो वह तुमसे कुछ भी करवा सकती है — लेकिन करवायेगी आवेगमें, किसी पद्धतिके अनुसार नहीं।

मधुर मां, कुछ बच्चोंकी हमेशा मांगनेकी आदत क्यों होती है?

क्या मांगनेकी?

भौतिक चीजें, जैसे मिठाई या जो कुछ बीच जाय...

ओह, क्योंकि वे कामनासे भरे होते हैं। शायद वे कामनाके स्पंदनोंसे निर्मित हुए थे, और चूंकि उन्हें अपने ऊपर अधिकार नहीं होता, इसलिये यह खुलकर प्रकट होती है। बड़ी आयुके लोग भी इच्छासे भरे होते हैं, लेकिन उनमें एक प्रकारका... कैसे कहा जाय?... वे अपनी कामना दिखानेमें सकुचाते हैं, उन्हें जरा शरम-सी आती है, या फिर, उन्हें डर लगता है कि लोग उनपर हंसेंगे; इसलिये वे प्रकट नहीं करते। लेकिन वे भी कामनाओंसे भरे होते हैं। हां, बच्चे ज्यादा सरल होते हैं। जब वे कोई चीज चाहते हैं तो कह देते हैं। वे अपने-आपसे यह नहीं कहते कि शायद इसे न दिखानेमें ज्यादा अकलमंदी है, क्योंकि अभीतक उनके अंदर इस प्रकारकी बुद्धि नहीं आयी। लेकिन मेरा ख्याल है कि, साधारणतः, कुछ अपवादोंको छोड़कर, लोग सतत कामनाओंमें ही निवास करते हैं। वे उसे

---

[1] यहां कुछ शब्द सुनायी नहीं दिये।

बस, प्रकट नहीं करते, और कभी-कभी तो वे उसे स्वयं अपने सामने भी स्वीकार करनेसे शर्माते हैं। लेकिन वह होती तो है, कुछ पानेकी अपेक्षा होती है... व्यक्ति कोई सुन्दर चीज देखता है और वह तुरंत प्राप्त करनेकी इच्छाका रूप ले लेती है; और यह बहुत-सी चीजोंमें एक है... यह बिलकुल बचकानी है। यह बिलकुल बचकानी और हास्यास्पद चीज है, क्योंकि सौमेंसे कम-से-कम नब्बे बार कामना करनेवालेको जब वह चीज मिलती है, तो वह उसे देखता भी नहीं। यह बहुत ही कम होता है कि चीज भले कैसी भी क्यों न हो, पानेके बाद भी उसमें रस बना रहे।

मधुर मां, हम बच्चेकी हमेशा मांगते रहनेकी आदत छुड़ानेमें कैसे सहायता कर सकते हैं?

इसके कई तरीके हैं। लेकिन सबसे पहले तुम्हें यह जानना चाहिये कि कहीं तुम उसे अपने विचार या अपनी भावना प्रकट करनेसे तो नहीं रोक रहे, क्योंकि अधिकतर लोग यही करते हैं। वे डांटते और कभी-कभी दंड भी देते हैं; और इससे बच्चेको अपनी कामनाएं छिपानेकी आदत पड़ जाती है। लेकिन इससे वह उनसे छुटकारा नहीं पाता। अगर उससे हमेशा यही कहा जाय: "नहीं, तुम्हें यह चीज नहीं मिलेगी," तो उसके अंदर मनकी यह अवस्था जम जाती है: "जबतक मैं छोटा हूं तबतक लोग मुझे कुछ भी नहीं देंगे! मुझे बड़े होनेकी राह देखनी होगी। जब मैं बड़ा हो जाऊंगा तो मैं जो चाहूंगा पा लूंगा।" बात ऐसी है। लेकिन इससे बच्चे उस चीजसे छुटकारा नहीं पाते। बच्चेको पालना बड़ा मुश्किल काम है। एक तरीका यह है कि बच्चा जो मांगे देते चलो; और स्वभावतः, दूसरे ही क्षण वह कुछ और मांगेगा, क्योंकि यही तो नियम है, कामनाका नियम यही है: कभी संतुष्ट न हुआ जाय। अतः, अगर बच्चा समझदार है, तो तुम उससे कह सकते हो: "तुम इस चीजके लिये इतना आग्रह कर रहे थे, अब तुम्हें इसकी परवाह भी नहीं रही। अब तुम कुछ और ही मांग रहे हो।" लेकिन अगर बच्चा बहुत होशियार हुआ तो कहेगा: "मुझे छुटकारा दिलानेका सबसे अच्छा उपाय यही है कि मैं जो भी मांगूं मुझे देते चलो।"

कुछ लोग सारे जीवन यह विचार बनाये रखते हैं। अगर उनसे अपनी कामनाओंको जीतनेके लिये कहा जाय तो वे कहते हैं: "इसका सबसे सुगम उपाय है उन्हें संतुष्ट करना।" इस तरहका तर्क त्रुटिहीन मालूम होता है। लेकिन तथ्य यह है कि कामनाके विषयको नहीं, कामनाके

आवेगको, उसकी गतिविधिको बदलनेकी जरूरत है। और इसके लिये बहुत-से ज्ञानकी जरूरत है, और यह बहुत छोटे बच्चेके लिये मुश्किल है।

यह कठिन है। वास्तवमें, उनमें तर्ककी क्षमता नहीं होती; वे कारण नहीं समझ पाते; तुम उन्हें बात समझा नहीं सकते। तो, जब ऐसी स्थिति होती है तो मां-बाप उनसे कहते हैं: "चुप रहो, तुम एक मुसीबत हो!" इस तरह वे मुश्किलमेंसे निकल आते हैं, पर यह कोई समाधान तो न हुआ। यह बहुत कठिन है। इसके लिये लगातार प्रयास और अटल धीरजकी जरूरत होती है। कुछ लोग जीवन-भर ऐसे होते हैं; वे अपने सारे जीवन बच्चों जैसे बने रहते हैं और उन्हें कोई युक्ति-युक्त बात बताना असंभव होता है। जैसे ही तुम उनसे कहो कि वे समझदार नहीं हैं, और उनकी कामनाओंको संतुष्ट करनेके लिये उन्हें चीजें नहीं दी जा सकतीं, तो वे बस, यही समझते हैं: "ये लोग अच्छे नहीं हैं, यह व्यक्ति अच्छा नहीं है।" बस।

वास्तवमें, तुम्हें आरंभमें इस गतिको उन चीजोंकी ओर मोड़ना चाहिये जिन्हें सच्चे दृष्टिकोणसे पाना ज्यादा अच्छा है और जिन्हें पाना ज्यादा कठिन है। अगर तुम कामनाके इस आवेगको उस ओर मोड़ सको... । उदाहरणके लिये, जब बच्चा कामनाओंसे भरा हो, तो तुम उसे ज्यादा ऊंचे प्रकारकी कामना दे सको — बिलकुल क्षणिक संतोष देनेवाली विशुद्ध भौतिक चीजोंके लिये कामनाकी जगह — अगर तुम उसके अन्दर जाननेकी कामना, सीखनेकी कामना, एक विलक्षण व्यक्ति बननेकी कामना जगा सको... इस तरह शुरू कर सकते हो। चूंकि ये चीजें करना मुश्किल है, तो, धीरे-धीरे वह इन चीजोंके लिये अपने अंदर इच्छा विकसित कर लेगा। या फिर, भौतिक दृष्टिसे ही कोई ऐसी चीज करनेकी कामना दो जो ज्यादा मुश्किल हो, उदाहरणके लिये, कोई ऐसा खिलौना बनानेके लिये दो जिसे बनाना मुश्किल हो, या उसे कोई खेल दो जिसमें धीरजकी जरूरत हो, जिसमें बहुत अध्यवसायकी जरूरत हो।

अगर तुम उन्हें दिशा दे सको — इसके लिये बहुत विवेक और धीरजकी जरूरत है, फिर भी, यह संभव है — अगर तुम उन्हें किसी ऐसे काममें लगा सको, तुम उन्हें कठिन खेलोंमें सफल होने या किसी ऐसे काममें लगा दो जिसमें बहुत ध्यान और एकाग्रताकी जरूरत है या किसी ऐसी दिशामें चला दो जिसमें अध्यवसायपूर्ण इच्छाका काम हो, तो इसके परिणाम आ सकते हैं: इससे उनका ध्यान अमुक चीजोंकी ओरसे हटकर और चीजोंकी ओर चला जायगा। इसके लिये सतत सावधानीकी जरूरत है — मैं नहीं कह सकती कि यह सबसे आसान तरीका है, क्योंकि

यह निश्चय ही आसान नहीं है — पर है सबसे अधिक प्रभावशाली। "ना" कहना कोई इलाज नहीं और "हां" कर देना भी कोई इलाज नहीं है; और कभी-कभी यह, स्वभावतः, बहुत कठिन हो जाता है।

उदाहरणके लिये, मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिनके बच्चे जो नजर आ जाय उस सबको खा जाना चाहते थे। उन्हें ऐसा करने दिया जाता था। इससे वे बहुत बीमार हो जाते थे। और फिर, उस चीजसे घृणा करते थे। लेकिन यह जरा खतरनाक है। क्यों, है न? कुछ ऐसे बच्चे होते हैं जो हर चीजको लेकर बेचैन हो उठते हैं। एक दिन एक बच्चेको दियासलाई मिल गयी। उन्होंने यह कहनेकी जगह कि "मत छुओ", उसे अपनी मरजीके मुताबिक करने दिया और उसने अपने-आपको जला लिया। इसके बाद उसने कभी दियासलाई नहीं छुई।

लेकिन यह जरा खतरनाक है। कुछ बच्चे एकदम अचेतन होते हैं और अपनी कामनाओंमें बहुत साहसी होते हैं: उदाहरणके लिये, वे दीवारकी मुंडेरपर या छतपर चलना चाहते हैं या पानी देखते ही उसमें डुबकी लगाना चाहते हैं या नदीमें गोता मारना चाहते हैं... कभी-कभी यह बहुत कठिन हो जाता है... या फिर, कुछ बच्चोंको सड़क पार करनेका पागलपन होता है: हर बार मोटर आती देखकर... उसका रास्ता काटनेकी कोशिश करते हैं। अगर उन्हें यह करने दिया जाय, तो किसी दिन यह परीक्षण घातक हो सकता है।

हां, मैं ऐसे लोगोंको जानती थी जिन्होंने ऐसे परीक्षण किये थे। पता नहीं वे सफल हुए या नहीं। लेकिन, जैसा कि मैंने कहा, बच्चा झुलस गया, यह एक गड़बड़ हो गयी क्योंकि बच्चेके शरीरमें जलेके निशान रह गये। और फिर, एक लड़का था जो बिना सोचे-समझे एक जीनेकी रेलिंगपर खेलता हुआ गिर पड़ा और अपना सिर लगभग तोड़ लिया...। तो तुम देखते हो कि इसके अपने परिणाम होते हैं। लेकिन ऐसोंको "ना" करनेसे भी कोई लाभ नहीं होता, उल्टा ही होता है। अगर तुम उनसे कहो: "खास तौरपर यह मत लेना, इससे नुकसान होगा" — तो वे न मानेंगे; वे यही समझेंगे कि यह उनकी कामनासे पिंड छुड़ानेके लिये कहा गया है।

यह बहुत कठिन समस्या है। एक आदमी था जिसके शिक्षामें स्वाधीनताके बारेमें कुछ ऐसे ही विचार थे, उसने मुझे बतानेके लिये सिद्धांत बनाये कि व्यक्तिगत स्वाधीनताका मान करना चाहिये, यहांतक कि नये लोगोंके लिये पिछले अनुभवोंका कभी उपयोग न करना चाहिये, हमें उन्हें अपने सब परीक्षण अपने-आप करनेके लिये छोड़ देना चाहिये। यह चीज बहुत दूरतक जा पहुंची। उन लोगोंने मेरी बड़ी समालोचना की,

क्योंकि मैं दुर्घटनाओंको रोकनेकी कोशिश कर रही थी। उन्होंने मुझसे कहा: "आप इन्हें रोकनेमें बड़ी गलती कर रही हैं।" तो मैंने कहा: "अगर कोई मर जाय तो?"—"तो इसका मतलब होगा उसे मरना था, आपको उनकी नियति और उनके विकासकी आजादीमें दखल देनेका कोई अधिकार नहीं है। वे बेवकूफियां करना चाहते हैं, तो उन्हें बेवकूफियां करने दो। जब उन्हें पता लग जायगा कि ये बेवकूफियां हैं, तो वे नहीं करेंगे।" और ऐसे उदाहरण हैं जब आदमी निश्चय ही उन्हें फिरसे नहीं करता, क्योंकि वह सीमासे पार निकल जाता है।

अगर तुम इसका कोई सिद्धांत बनाना चाहो तो यह एक बहुत ही कठिन समस्या है। हर मामला एकदम अलग होता है और अलग पद्धतिकी मांग करता है। और सचमुच, अगर तुम बच्चेको अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देना चाहते हो, तो तुम्हें अपना सारा समय उसीमें लगा देना होगा। तुम और कुछ भी न कर सकोगे। यह मानते हुए कि तुम्हें प्रकट रूपसे उसपर निगरानी नहीं रखनी चाहिये, ठीक समयपर ठीक क्रिया करनेके लिये, उसके जाने बिना भी उसके ऊपर नजर रखनी चाहिये। तब तुम और कुछ न कर सकोगे।

तो, शायद, हमें एक बीचकी अवस्था खोज निकालनी चाहिये जो इन दोनों छोरोंके बीच हो: पहली, जिसमें हमेशा उसपर निगरानी रखी जाय, और दूसरी, जिसमें उसे अपनी मरजीके मुताबिक करनेके लिये पूरी छूट हो, उसे हो सकनेवाली दुर्घटनाओंके बारेमें भी सचेत न किया जाय। हर क्षण समायोजन! कठिन है।

यहां लिखा है: "किसीका असमयमें ही यह कहना कि उसे अतिमन या उसका स्वाद मिल गया है बहुत बेवकूफीका काम है।" इसमें अतिमनके पूर्वास्वादका क्या मतलब है?

यह कल्पना करना और भी बेवकूफी-भरा है कि वह तुम्हें मिल गया है। बस, यही। क्योंकि जैसे ही कुछ लोग किसी पुस्तकमें, किसी शिक्षामें कोई वाक्य पाते हैं कि तुरत यह कल्पना कर लेते हैं कि उन्होंने उसे पा लिया है। इसलिये, जैसे ही श्रीअरविंदने अपने लेखोंमें अतिमानसके बारेमें कहना शुरू किया कि तुरत हर एकने उन्हें लिखा: "मैंने अतिमानसकी 'ज्योति' देखी है, मुझे अतिमानसका अनुभव हुआ है!" तो ज्यादा अच्छा यह है कि हम "अतिमानस" शब्दको बादके लिये रखें। अभी हम उसके बारेमें बात न करें।

कहींपर श्रीअरविंदने उन सब मानसिक क्रियाओंके बारेमें विस्तारसे लिखा है जो मनुष्यकी पहुंचमें हैं। हां तो, इसे पढ़नेपर हम देखते हैं कि केवल मानसिक क्षेत्रकी उच्चतम सीमाओंतक पहुंचनेके लिये ही इतनी अवस्थाएं हैं जिन्हें हम अभीतक पार नहीं कर पाये हैं, कि अभी हमें अतिमानसके बारेमें बात करनेकी जरूरत नहीं।

जब वे मनकी उच्चतर श्रेणियोंकी बात करते हैं, तो हमें पता लगता है कि हम कभी-कदास ही उन स्थानोंपर रहते हैं। चेतनाकी उस अवस्थामें रहना बहुत ही विरल है। उसके विपरीत, हम साधारण मनुष्यके मनमें, जिसे वे बिलकुल सामान्य मन कहते हैं, उसमें निवास करते हैं। और सामान्य चेतनाको लगता है कि तर्क-बुद्धि बहुत ऊंचे क्षेत्रकी चीज है; और उनकी दृष्टिसे तर्क-बुद्धि मानव मनकी एक औसत क्षमता है। इससे बहुत ऊंचे-ऊंचे मनके क्षेत्र हैं जिनका उन्होंने विस्तारसे वर्णन किया है। यह बिलकुल निश्चित है कि इन पत्र-लेखकोंको यदि अनुभूतियां हुई हैं... । वे एकाएक कह उठें कि उन्हें आश्चर्यजनक अतिमानसिक अनुभूतियां हो रही हैं, क्योंकि विरल रूपसे ही आदमी तर्क-बुद्धिके परेके क्षेत्रोंमें जाता है, वे प्रत्यक्ष बोध, अंतर्भास और इसी तरहकी अन्तर्भासकी अन्य क्षमताओंके क्षेत्र हैं जो तर्क-बुद्धिसे बहुत परे होते हुए भी हैं मन ही के क्षेत्र, उनका अतिमनसे कोई संबन्ध नहीं।

माताजी, आपने कहा है कि मन और अतिमनके बीच बहुत-सी अवस्थाएं हैं। यहां लिखा है कि प्रकृतिके विकासका अगला न्यायसंगत कदम है अतिमानस। तो ऐसी जाति क्यों नहीं जो...

(बीचमें) मध्यवर्ती? हम पीछे देखेंगे।

क्या इसका मतलब यह है कि हम मध्यवर्ती अवस्थाओंसे गुजरे बिना मनसे सीधे अतिमनमें जा सकते हैं?

मैंने यह नहीं कहा कि ये मन और अतिमानसके बीचमें हैं। मैंने कहा था कि ये मनके बाहर निकले बिना स्वयं मनके ही क्षेत्र हैं, और ये क्षेत्र अधिकतर मनुष्योंकी पहुंचके बाहर हैं। मैंने मन और अतिमानसके बीच नहीं कहा। तुम्हारा मतलब है आज या किसी और दिन? तुम कबकी बात कर रहे हो, मैंने आज कहा था या किसी और दिन कहा था?

आज ही, आप कह रही थीं...

नहीं, तुमने सुना नहीं। मैंने कहा था स्वयं मनके अन्दर। मनकी अंतिम सीमातक पहुंचनेसे पहले बहुत सारे क्षेत्र हैं, मानसिक क्रिया-कलाप हैं जो अधिकतर मनुष्योंकी पहुंचसे बाहर हैं। और जो वहांतक पहुंच भी पाते हैं वे हमेशा उन क्षेत्रोंमें निवास नहीं करते। उन्हें वहां पहुंचनेके लिये एकाग्रताका प्रयास करना पड़ता है, और फिर भी, हमेशा नहीं पहुंच पाते। श्रीअरविंदने ऐसे क्षेत्रोंका वर्णन किया है जहां विरले व्यक्ति ही पहुंच पाते हैं, फिर भी वे उन्हें मनके क्षेत्र ही कहते हैं। वे उनके लिये "अतिमन" शब्दका प्रयोग नहीं करते।

यह जरूर हो सकता है — इसके अलावा, जब उन्होंने अतिमानसकी बात की है तो उन्होंने कहा है कि स्वयं अतिमानसकी बहुत-सी श्रेणियां हैं। और, स्वभावतः, आरंभमें पहली, सबसे निचली श्रेणियां ही अभिव्यक्त होंगी — ऐसा हो सकता है कि बीचमें सत्ताकी ही और भी कई मध्यवर्ती अवस्थाएं हों, यह संभव है — मध्यवर्ती चरण हों।

निश्चय ही, पूर्ण जाति एकदम सहज रूपसे नहीं आ जायगी। बहुत संभव है कि ऐसा न होगा। लेकिन वर्तमान मानवकी तुलनामें पहले प्रयासमें ही... बहुत ज्यादा अंतर होगा, इतना अधिक कि वह चमत्कार मालूम हो।

ऐसा अवश्य हो सकता है कि पहली अतिमानसिक अभिव्यक्तियां एकदम अपूर्ण हों। लेकिन इनमें भी, आजका मनुष्य बिलकुल स्थूल और घटिया लगेगा। विश्व विकासमें कहीं विराम नहीं है, और जो चीज एक समय बिलकुल पूर्ण और परिष्कृत मालूम होती है वह भी भावी अभिव्यक्तियोंके लिये एक चरणमात्र होती है। लेकिन बहुधा मनुष्य बैठकर कहना चाहते हैं: "बस, मुझे जो करना था सो कर लिया।"

लेकिन विश्व ऐसा नहीं है; वह बैठ नहीं जाता, वह आराम नहीं लेता, वह चलता चला जाता है। तुम कभी नहीं कह सकते: "बस, खत्म, अब मैं द्वार बंद किये देता हूं, बस, हो लिया।" तुम दरवाजा बंद कर सकते हो पर तब तुम अपने-आपको वैश्व गतिसे काट लेते हो। अभिव्यक्तियां हमेशा सापेक्ष होती हैं। ऐसी पहली सत्ता जो मानव-पशु न होकर दिव्य मानव या दिव्य मनुष्य होना शुरू करेगी, वह नयी जातिके पूरे नमूनेकी दृष्टिसे चाहे कितनी भी अधूरी क्यों न हो, एकदमसे अद्भुत चीज मालूम होगी। तुम्हें सतत गतिमें निवास करनेका अभ्यस्त होना चाहिये। शायद क्रियाको आसान बनानेकी दृष्टिसे यह जरूरी हो,

कोई चीज ऐसी होती है जो एक लक्ष्य निश्चित करके कहती है: "यह सचमुच अंत है," यह बिलकुल नहीं। "यह पूर्णता है" लेकिन — निरपेक्ष पूर्णता है ही नहीं। सभी चीजें सदा सापेक्ष होती हैं और सदा ही बदलती रहती हैं।

तो, ऐसी बात है। मेरा ख्याल है कि इतना काफी है। कोई जरूरी प्रश्न तो नहीं है? ठीक है।

८ दिसंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय दो: "श्रद्धा — अभीप्सा — समर्पण" के आधारपर है।)

मधुर मां, "भौतिकमें चैत्य समर्पण" का मतलब क्या है?

लेकिन पिछली बार हमने इसकी बात की थी, नहीं? मुझे लगता है कि की थी। यह भौतिक चेतनामें प्रकट होनेवाला चैत्य समर्पण है; यानी, भौतिक चेतना चैत्य समर्पणकी वृत्ति अपनाती है। भौतिक चेतना चैत्य प्रभावमें आती है — चैत्य प्रभाव ग्रहण करती है और वह वृत्ति अपनाती है जो चैत्य समर्पणसे आती है। हमने कुछ ऐसी बात की थी; मुझे विश्वास है कि मैंने ठीक ऐसी ही कोई बात कही थी।

(एक बालकसे) तुमने कहा था कि तुम्हें कुछ पूछना है?

जी, यहां उन्होंने कहा है: "वैश्व चेतना विकसित करो।" यह कैसे की जाय?

वैश्व? वाह, यह तो मुझसे पहले ही पूछा जा चुका है। किसीने पूछा था: "बच्चोंको चैत्य चेतनाको विकसित करना कैसे सिखाया जाय?" तो मैंने उत्तर दिया था: "पहले अपने अंदर इसे विकसित करो।"

यह कैसे विकसित की जाय? तुम जानते हो कि वैश्व चेतना क्या होती है? पहले इसे जाननेसे शुरू करना चाहिये। वैश्व चेतनाका मतलब है

—यह अनुभव करनेकी जगह कि तुम एक बिलकुल ही अलग सत्ता हो, एकदम अलग-थलग, औरोंसे भिन्न, इसकी जगह यह अनुभव करो कि तुम एक विशाल समष्टिके एक ऐसे अंग हो, जिसका समस्त समग्रताके साथ संबन्ध है, जिसके अन्दर अन्य सभीकी गतिविधि और सभीके स्पंदन आते हैं, जो इन स्पंदनोंको सबमें संचारित करता है। यह अनुभव करो कि चेतनाकी सभी गतियां, सारे मनोवैज्ञानिक स्पंदन एक छोटे-से व्यक्तित्वमें ही नहीं रुक जाते जो अपने-आपमें बंद है, जो कछुएकी पीठकी तरह है, जिसका और किसीसे कोई संबन्ध नहीं; शक्तियां उसके आर-पार गुजरती हैं, एकसे दूसरेमें जाती हैं, एकको छूती हैं, दूसरेको छूती हैं। ये शक्तियां इतनी जटिल और बहुविध होती हैं कि यह पता ही नहीं लगता कि कौन-सी कहां शुरू होती है, और कहां खत्म होती है। बिलकुल ऐसा लगता है मानों एक महान् समष्टि स्वयं अपने अंदर गति कर रही है। तो, यह वैश्व चेतना कुछ ऐसी चीज है।

हां, तो, पहले यह सोचना चाहिये; पहले यह अनुभव करना चाहिये कि मैं वैश्व विशालतामें एक बिंदु मात्र हूं, और वह भी अलग-थलग नहीं, सबके साथ मिला हुआ। फिर, अपना अध्ययन करना चाहिये, अवलोकन करना चाहिये। तब तुम्हें शीघ्र ही यह देखनेका अवसर मिलेगा कि स्पंदन बाहरसे आते हैं, तुम्हारे अन्दरसे गुजरते हैं, वे तुम्हारे अन्दर पैदा नहीं होते, तुम उन्हें ग्रहण करते और प्रकट करते हो। तो धीरे-धीरे, अध्ययन करते हुए, देखते-देखते, अवलोकन करते-करते तुम्हें उस चीजका भान हो जाता है जो सीमित नहीं है। तुम इस तरह वैश्व या सार्वभौम चेतना प्राप्त करना शुरू करते हो। वैश्व और सार्वभौमका अर्थ एक ही है।

यहां लिखा है: "उपलब्धिके लिये छीना-झपटी या पकड़-जकड़ नहीं।" मधुर मां, यहां "उपलब्धिके लिये छीना-झपटी और पकड़-जकड़"का क्या अर्थ है?

छीना-झपटी नहीं, नहीं...?

पकड़-जकड़...

तुम जानते हो कि "पकड़-जकड़" किसे कहते हैं? (बालकों संकेतसे उसका मतलब बताता है। माताजी हंसती हैं।)

अच्छा तो, इसका मतलब हुआ . . । वे क्या कहते हैं, नहीं करना चाहिये या नहीं कर सकते?

नहीं करना चाहिये, मधुर मां।

इसका मतलब यह हुआ कि यह करनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह इस प्रकारकी गतिका हुकुम नहीं मानती। ये लोग उग्रता-द्वारा प्रगति करनेका प्रयास करते हैं। उनमें धीरज नहीं होता, उनमें अध्यवसाय नहीं होता; जब उनके अंदर कोई कामना उठती है तो वे तुरंत उसकी पूर्ति चाहते हैं। वे कोई चीज चाहते हैं, मान लो चरित्रमें परिवर्तन या परिस्थितियोंमें परिवर्तन, या इकट्ठी कई चीजें; और वे तुरंत चाहते हैं; और चूंकि, प्रायः ऐसा एकदम नहीं हुआ करता, तो वे उसे नीचे खींचते हैं। इसी चीजको श्रीअरविंद "पकड़ना-जकड़ना" कहते हैं। वे उसे पकड़ते और अपनी ओर खींचते हैं। लेकिन इस तरह तुम्हें न तो सच्ची चीज मिलती है, न सच्ची गति; तुम अपनी अभीप्साके साथ उग्रताको मिला देते हो और इससे कहीं-न-कहीं गड़बड़ पैदा हो जाती है। इस व्यापारमें तुम्हें सच्ची चीज नहीं मिल सकती, सच्ची चीजकी नकल मिल सकती है; क्योंकि सच्ची चीज इस तरह नहीं आती, वह मानों पूंछ पकड़कर खींचनेसे नहीं आती; वह नहीं आयेगी। पकड़ना-जकड़ना! जब तुम ऊपर चढ़ना चाहो तो रस्सीको पकड़ते हो, खींचते समय ऐसा ही होता है! रस्सी पकड़ते समय ठीक यही गति नहीं होनी चाहिये। बस।

मां, सत्ताकी केंद्रीय इच्छा किसपर निर्भर होती है?

क्या? वह किसपर निर्भर होती है? क्या मतलब? तुम ठीक-ठीक कहना क्या चाहते हो? उसकी अभिव्यक्ति किसपर निर्भर होती है, या वह अपने अस्तित्वके लिये किसपर निर्भर है?

वह अपने-आप किसपर निर्भर है।

केंद्रीय इच्छा? वह भागवत 'इच्छा' पर निर्भर होती है।

वह भागवत 'इच्छा' की वैयक्तिक अभिव्यक्ति है; और भागवत 'इच्छा' अपने-आपको अभिव्यक्त करने, अपने-आपको उपलब्ध करनेकी तलाशमें भागवत 'चेतना' पर निर्भर है।

हमें केंद्रीय इच्छाका भान कैसे हो सकता है?

आह, यह समस्याका एक और पहलू है। सबसे पहले तुम्हें अपनी चेतनामें उच्चतम, सत्यतम, सबसे बढ़कर सार्वभौम और शाश्वतका भान होना चाहिये।

यह धीरे-धीरे सीखा जाता है। तुम अपनी सामान्य, बाह्य गतिविधियों और अपनी आंतरिक चेतनाकी गतियोंके विभिन्न स्तरोंको पहचानना शुरू करते हो। और अगर तुम काफी अध्यवसायके साथ यह करते चले जाओ तो तुम्हें पता लगता है कि कौन-सी चीज इस उच्चतम भागको क्रियाशील बनाती है जो सत्ताके आदर्शका प्रतिनिधि है। और कोई रास्ता नहीं है। यह चीज कभी कुछ पढ़नेसे, कभी किसी बातचीतके द्वारा, कभी न्यूनाधिक नाटकीय रूपसे, तुम्हें जगा देती है, यानी, किसी धक्का देनेवाली, अप्रत्याशित घटनाके द्वारा झकझोर डालती है और तुम्हें अपनी छोटी-सी लीकपरसे हटा देती है। कभी जब तुम बहुत संकटमें होते हो तो अचानक तुम्हें ऐसा लगता है मानों तुम अपने-आपसे ऊपर और अपनी छोटी अभ्यासगत कमजोरियोंसे परे हो, और तुम्हारे अंदर कोई ऐसी उच्चतर चीज है जो परिस्थितियोंका सामना कर सकती है।

ऐसे अवसरोंपर तुम उसके साथ पहला संपर्क पाते हो। उसके बाद, विधिवत् साधनाके द्वारा तुम उस संपर्कको जारी रख सकते हो, लेकिन सामान्यतः, इसमें समय लगता है। लेकिन तुम्हें पहला संपर्क इसी तरह, अचानक, किसी-न-किसी कारणसे मिलता है।

(लंबा मौन)

यह किसी बहुत प्रबल भावनाके साथ, बहुत बड़े दुःखके साथ, या बहुत अधिक उत्साहके साथ आ सकता है। जब तुम्हें कोई अपवादिक काम करना हो, जब परिस्थितियां काफी अपवादिक हों, तो सहसा ऐसा लगता है मानों अंदर कोई चीज टूट रही है या खुल रही है, मानों तुम अपने ऊपर छा गये हो, मानों तुम अपनेसे ऊपरकी सीढ़ीपर चढ़ गये हो और वहांसे अपनी सत्ताको सामान्य इंद्रियोंसे देख रहे हो। एक बार तुम्हें यह अनुभव हो जाय, तो तुम उसे नहीं भूलते; चाहे सिर्फ एक ही बार क्यों न हुआ हो, तुम उसे भूल नहीं सकते। और बादमें, तुम इस स्थितिको एकाग्रताके द्वारा अपनी इच्छासे फिरसे पैदा कर सकते हो, उसे पोसनेके लिये यह पहला कदम है।

उसके बाद, जब कभी तुम्हें कोई निर्णय करना हो तो तुम इस स्थिति-को बुला सकते हो और तब, फैसला समस्त कारणोंको जानते हुए और जो कुछ होनेवाला है उसकी पूरी जानकारीके साथ होगा। मुझे नहीं लगता कि सारे संसारमें एक भी आदमी ऐसा है — कम-से-कम कोई संस्कृत आदमी — जिसने जीवनमें कम-से-कम एक बार यह अनुभव न किया हो, कोई ऐसी वस्तु जो टूटती और खुलती है... और वह समझता है। लगता है कि तुम्हें इससे बहुत आश्चर्य हो रहा है!... (एक बालकसे) तुमने कभी इसका अनुभव नहीं किया? क्यों?

मुझे नहीं मालूम।

तुम्हें विश्वास नहीं है! (लंबा मौन)

जब तुम्हें यह अनुभव होता है तो तुम्हें लगता है कि अब तुमने जीना शुरू किया है, उससे पहले तुम्हें पता ही न था कि जीवन होता क्या है। अचानक तुम पूरी तरह जीवनमें प्रवेश करते हो। इसे नहीं भूला जा सकता।

(एक बालकसे) तो फिर?

मधुर मां, अंतर्भास किस स्तरकी चीज है?

यह उनमेंसे एक स्तर है, उन लोकोंमेंसे है जिनकी बात हम पिछली बार कर रहे थे, जो उच्चतर मन और 'अधिमन'के बीच है।

मधुर मां, यह अंतर्भास कैसे अभिव्यक्त होता है?

हुं! यह कैसे अभिव्यक्त होता है? यह एक ऐसी चीज है जो बिना तर्क, बिना विश्लेषण, बिना निगमनके पैदा होती है। सहसा तुम एक चीज जान जाते हो, तुमने उसके लिये तर्क नहीं किया, कोई विश्लेषण नहीं किया निगमन नहीं किया, सोच-विचार नहीं किया, अपने मस्तिष्कका उपयोग किये बिना, समस्याके सभी सूत्रोंको इकट्ठा करके सुलझानेकी कोशिश किये बिना — यह इस तरह नहीं होता। सहसा यह चेतनामें प्रकाशकी तरह आता है; यह सिरमें हो सकता है या कहीं नीचे हो सकता है; यह चेतना-में एक प्रकाश होता है जो किसी बिंदु-विशेषपर यथार्थ ज्ञान लेकर आता है और यह तर्क या विश्लेषणका परिणाम बिलकुल नहीं होता। वास्तवमें,

यह तादात्म्यके द्वारा ज्ञानकी पहली अभिव्यक्ति है। तादात्म्यके द्वारा ज्ञान — तुम स्पष्ट रूपमें इसका मतलब समझते हो?

अगर तुम किसी चीजके साथ तादात्म्य सिद्ध कर लो तो कुछ समयके लिये तुम वही चीज बन जाते हो और वह चीज बनकर तुम अनुमान करने या कुछ गढ़नेकी जरूरतके बिना उसके अंदर जो कुछ है वह सब जान लेते हो। (लंबा मौन) लो, बस अब।

स्वभावतः, पूर्व दृष्टिका भी एक रूप होता है, लेकिन उसकी ठीक ऐसी ही प्रकृति नहीं होती। साधारणतः, पूर्वदृष्टि तादात्म्यद्वारा जाननेकी क्षमता से आती है। अगर तुम अपनी चेतनाको किसी चीजमें — किसी परिस्थिति या किसी घटनामें या किसी व्यक्तिमें प्रक्षिप्त करो — अगर तुम अपनी चेतनाको प्रक्षिप्त कर सको, तो उसके बाद तुम उस चीजके ठीक-ठीक लक्षण या संकेत प्राप्त करोगे जिसके साथ चेतना मिली है। और आगे चलकर इससे पूर्ण और निरपेक्ष ज्ञान आता है। वास्तवमें, जाननेका यही एकमात्र उपाय है, और अगर तुम इस चीजको काफी आगे बढ़ा सको और भगवान्‌के साथ तादात्म्य कर सको, तो तुम्हें भागवत ज्ञान प्राप्त हो जायगा। यह असंभव नहीं है। यह चीज संभव है, क्योंकि विश्व इसी तरह, इसीके लिये बना है। केवल वह ठीक मार्गसे हट गया है; किन कारणोंसे, यह पता नहीं। आह! हम कैसी अजीब चीजें देखते हैं! यह विश्वास करना कि हम जानते हैं, और साथ ही, यह पूछना कि यह कैसे होता है।

तुमने कभी जाननेके लिये कि वहां क्या हो रहा है किसीकी चेतनामें प्रवेश करनेका प्रयास नहीं किया? अपनी चेतनाको दूसरेमें प्रक्षिप्त करके नहीं, क्योंकि तब तुम अपने-आपको उसके अंदर पाते हो और यह मजेदार नहीं होता। इस तरह नहीं, बल्कि उसके अंदरकी चेतनाके साथ संबंध जोड़कर, उदाहरणके लिये, ऐसे समय जब किसी कारण तुम किसीके साथ पूरी तरह सहमत नहीं होते; वह चीजको एक दृष्टिसे देखता है और तुम किसी और दृष्टिसे। अगर तुम समझदार हो तो झगड़ा नहीं करते, लेकिन अगर समझदार नहीं हो तो झगड़ने लग जाते हो। झगड़नेकी जगह ज्यादा अच्छा यह है कि तुम दूसरेकी चेतनामें प्रवेश करो और अपने-आपसे पूछो कि वह ऐसी बातें क्यों करता है, कौन-सी चीज उसे ऐसा कहने या करनेके लिये बाधित करती है? आंतरिक कारण क्या है, चीजोंके बारेमें उसकी क्या दृष्टि है जिसके कारण वह यह वृत्ति अपनाता है? यह बहुत मजेदार है। अगर तुम यह करो तो तुम तुरंत गुस्सा करना बन्द कर दोगे। पहली चीज: तुम गुस्सा नहीं कर सकते। वह अपने-आपमें बहुत बड़ा

लाभ है। और यह भी, कि अगर दूसरा आदमी नाराज बना रहे तो भी तुमपर असर नहीं होता।

उसके बाद, तुम ज्यादा पूर्ण रूपसे तादात्म्यके लिये प्रयास कर सको हो और विभाजन और विकारकी गतियोंको रोक सकते हो और [illegible] बंद कर सकते हो। यह बहुत उपयोगी है।

(एक बालकसे) मेरा ख्याल है मैंने तुम्हें कई बार यह क्रिया अपनानेकी सलाह दी है। मुझे याद है। तुमने प्रयास किया? तुम, हां तुम, मैं तुमसे कह रही हूं! तुमने प्रयास किया? नहीं? आह, तुम हठी हो। नहीं? (बालक कुछ नहीं कहता) कुछ नहीं निकल रहा...। चलो, हम लोग इस विषयमें और बात नहीं करेंगे।

तो, खतम, मेरे बच्चो? और कुछ? और प्रश्न नहीं हैं? उस तरफ, नहीं?

माताजी, क्या केंद्रीय पुरुष चैत्य पुरुष है?

मनुष्योंकी बहुत बड़ी संख्याके लिये चैत्य पुरुष ही केंद्रीय पुरुष है। लेकिन केंद्रीय पुरुष किसी और चेतना या किसी और अवस्थाके साथ एक हो सकता है जो अधिक केंद्रीय हो और शुद्ध रूपसे मानवीय न हो। और यह — मैं यह तो न कहूंगी कि यह बहुत ही विरल है, पर हां, बहुत सामान्य नहीं है।

बस, हो गया?

अब नौ बजे हैं, बस, खतम?

अच्छा। बस खतम।

१५ दिसंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय तीन : "कठिनाईमें" के आधारपर है।)

"मानसिक साक्षी" का क्या मतलब है?

हम साक्षीके बारेमें कई बार बात कर चुके हैं, यहां वह मनमें है।

साक्षी सब जगह होते हैं। यह सत्ताकी वह क्षमता है जिसमें वह अपने-आपको पृथक् कर सकती है, पीछे हटकर जो हो रहा है उसे देखती है, जैसे तुम सड़कपर होनेवाली किसी चीजको देखते हो या तुम अपने-आप खेलमें भाग लिये बिना औरोंको खेलते हुए देखते हो, अपने-आप बैठकर, हिले-डुले बिना औरोंको गति करते हुए देखते हो। यह ऐसे ही है।

सत्ताके सभी भागोंमें एक भाग ऐसा होता है जो यह कर सकता है: अपने-आपको पीछे रखता है और शांत रहकर भाग लिये बिना देखता है। इसीको साक्षी कहते हैं। हमारे अंदर बहुत सारे साक्षी होते हैं, और प्रायः, तुम जाने बिना भी साक्षी होते हो। अगर तुम इस चीजको विकसित करो, इससे हमेशा यह संभावना पैदा होती है कि तुम शांत रह सको और चीजोंसे प्रभावित न होओ। तुम अपने-आपको उनसे अलग कर लेते हो, और ऐसे देखते हो मानों नाटकका कोई दृश्य देख रहे हो जिसमें स्वयं तुम भाग नहीं ले रहे। इससे चीजें बहुत बदलती नहीं।

मधुर मां, यहां हमें बहुत-सी चीजें सीखनेका अवसर प्राप्त है, फिर भी, हम उससे बहुत लाभ नहीं उठाते।

नहीं, क्योंकि यह सब तुम्हें बहुत आसानीसे मिल गया है, सब कुछ। तुम उन चीजोंको सराहते हो जिनके लिये तुमने बहुत प्रयास किया हो। लेकिन ये चीजें तुम्हें इतनी आसानीसे मिल गयीं, क्योंकि तुम्हारे मां-बापने यहां आनेका चुनाव किया था; स्वयं तुमने यहां आनेका चुनाव नहीं किया था। तुममेंसे कइयोंको बहुत छोटी अवस्थामें ही यहां लाया और इस वातावरणमें रखा गया था...। तुम्हें इसका अभ्यास हो गया, तुम्हें यह सब अपेक्षया स्वाभाविक मालूम होता है, क्योंकि तुम हमेशा इसीमें रहे हो। तुम्हें हम यहां जिन परिस्थितियोंमें रहते हैं उनमें, और अन्यत्र, बाहरकी परिस्थितियोंका भेद भी नहीं मालूम। तुममेंसे बहुतोंको अगर सहसा यहांसे हटाकर कहीं बाहर रोप दिया जाय तो वे पूरी तरहसे खो जायेंगे। उनकी सभी आदतें और जीवन-पद्धतियां एकदम भिन्न हैं। यहां तुम चीजोंके इतने अधिक अभ्यस्त हो कि वे तुम्हें एकदम स्वाभाविक मालूम होती हैं और निश्चय ही, तुम अवसरोंका उतना लाभ नहीं उठाते जितना उठाया जा सकता है। देखो, चीजोंसे लाभ उठानेके लिये यह जरूरी है कि तुम उनका मूल्य जानो। लेकिन यह तुम्हें इतना अधिक स्वाभाविक लगता

है कि तुम उसका मूल्य नहीं समझ पाते। बात ऐसी है। चूंकि मानव प्रकृति कभी हमेशा संतुष्ट नहीं रहती, इसलिये तुम्हें असंतुष्ट होनेके बहुत-से अवसर भी मिल जाते हैं। तुम्हें यह अनुभव नहीं होता कि अगर तुम किन्हीं और परिस्थितियोंमें होते तो वे और ज्यादा गंभीर और (...)[1] अवसर। तुम्हारे पास, तुममेंसे अधिकतरके पास इनकी तुलना करनेके साधन भी नहीं हैं। ऐसी बात नहीं है कि मैं चाहती हूं कि तुम्हें वे साधन प्राप्त हों। मैं किसीके लिये यह नहीं चाहती। फिर भी, यह कारण तो है ही। तुमने मुझसे पूछा कि ऐसा क्यों है: यह ऐसा ही है, यही कारण है। क्योंकि यह सब तुम्हें बहुत स्वाभाविक रूपमें, उसके बारेमें सोचे बिना ही मिल गया है।

यह नहीं समझा: "हानि यह है कि समाधि अनिवार्य बन जाती है और जाग्रत अवस्थाकी समस्याका कोई हल नहीं होता, क्योंकि वह अपूर्ण बनी रहती है।" "जाग्रत अवस्थाकी समस्या कोई हल नहीं होता?"

स्वभावतः! क्योंकि अगर, ध्यान करनेके लिये या आंतरिक जगत्से संबंध बनानेके लिये तुम्हें समाधिमें जाना पड़े तो तुम्हारी जाग्रत् चेतना हमेशा, बदले बिना वह-की-वही बनी रहेगी। मैंने यही बात और शब्दोंमें कही थी, जब मैंने कहा था, लोगोंको उच्चतर चेतना केवल तभी प्राप्त होती है जब वे बहुत गहरे ध्यानमें हों। जब वे ध्यानसे बाहर आते हैं तो जैसे पहले थे उससे ज्यादा अच्छे नहीं होते। उनके सभी दोष बने रहते हैं और जैसे ही वे अपनी जाग्रत् चेतनामें लौटते हैं कि वे दोष वापिस आ जाते हैं; वे कभी कोई प्रगति नहीं करते, क्योंकि वे अपनी गहरी चेतना, अपनी सत्ताके सत्य और अपनी बाहरी सत्ताके बीच संबंध स्थापित नहीं करते। वे अपनी बाहरी सत्ताको लबादेकी तरह उतारकर एक कोनेमें रख देते हैं, और कहते हैं: "तुम भी एक मुसीबत हो, बस, चुप रहो, मुझे तंग न करो।" तब वे मनन करते हैं, अपने ध्यान या गहरी अनुभूतिमें जाते हैं, फिर, उसमेंसे वापिस आकर उसी लबादेको पहन लेते हैं जो, निश्चय ही, बदला नहीं है — जो शायद अब पहलेसे ज्यादा गंदा है — वे ठीक वैसे ही बने रहते हैं जैसे ध्यानके बिना थे।

---

[1] (इससे आगेके शब्द पकड़में नहीं आये)

अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारी बाहरी सत्ता भी बदले, तो तुम्हें उसके बारेमें सचेतन रहते हुए वह दूसरी अनुभूतियां प्राप्त करनी चाहिये; और अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारी सामान्य बाहरी चेतनाको अनुभूतियोंसे लाभ हो तो उसके साथ संपर्क बनाये रखना चाहिये। बहुत-से लोग हैं... मैं ऐसे लोगोंको जानती थी, जो घंटों ध्यान किया करते थे, बल्कि यूं कहें, सारे समय ही... वे अपना सारा समय ध्यानमें लगाते थे, और तब अचानक... अगर कोई उनके ध्यानमें खलल डाल देता, अगर उन्हें कुछ करना पड़ जाता, तो वे एकदम कुपित हो उठते, आपेसे बाहर हो जाते और हर एकको गालियां देते, वे अगर कभी ध्यान न करते तो इतने असह्य न होते, साधारण आदमीसे ज्यादा असह्य। यह इसलिये हुआ क्योंकि उन्होंने अपनी बाहरी सत्ताको अपने गहरे जीवनका साझीदार बनानेमें अवहेलना की। उन्होंने अपने-आपको दो हिस्सोंमें काट लिया, एक अंदरका हिस्सा जो प्रगति करता है, दूसरा बाहरका हिस्सा जो ज्यादा-ज्यादा बिगड़ता जाता है, क्योंकि उसकी पूरी तरहसे अवहेलना की गयी है।

माताजी, क्या आत्म-संयमके लिये कभी-कभी तपस्वियोंके तरीके उपयोगी नहीं होते?

नहीं! उनसे कोई लाभ नहीं होता। तुम बस, अपने-आपको यह धोखा देते हो कि तुमने प्रगति कर ली है, परंतु उससे लाभ कुछ नहीं होता। इसका प्रमाण यह है कि अगर तुम अपने तपस्याके उपाय बंद कर दो, तो चीज पहलेसे भी ज्यादा मजबूत होकर बड़े वेगके साथ, मानों बदला चुकाने आ जाती है। यह इसपर निर्भर है कि तुम किन चीजोंको तपस्याके तरीके कहते हो। अगर इसका मतलब हो अपनी सभी कामनाओंको तुष्ट करनेमें न लगे रहना, तो यह वास्तवमें तपस्या नहीं, सामान्य बुद्धि है। यह और चीज है। तपस्याके उपायोंका मतलब है बार-बार उपवास करना, अपने-आपको शीत सहनेके लिये बाधित करना... वस्तुतः, अपने शरीरको कुछ यंत्रणा देना। वास्तवमें, इससे तुम्हारे अंदर आध्यात्मिक अभिमान पैदा होता है, इससे बढ़कर कुछ नहीं। इससे किसी चीजपर अधिकार नहीं होता। यह बहुत अधिक आसान है। लोग यह इसलिये करते हैं क्योंकि यह बहुत आसान है, सीधा-सादा है। चूंकि इससे अभिमानको संतोष मिलता है, सिर दर्पसे फूल उठता है, इसलिये यह बहुत सरल हो जाता है। तुम अपने तपस्वीमय गुणोंका बड़ा प्रदर्शन करते हो,

और इस तरह अपने-आपको महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मान बैठते हो, और इससे बहुतसी चीजें सहनेमें सहायता मिलती है।

अपने आवेगोंको चुपचाप प्रकृतिस्थ होकर वशमें करना और बिना तपस्याके उपाय अपनाये उन्हें प्रकट होनेसे रोकना बहुत अधिक कठिन है — बहुत अधिक! अपने पास कुछ भी न रखनेकी अपेक्षा जो चीजें तुम्हारे पास हैं उनके साथ आसक्त न होना बहुत अधिक कठिन है। यह बात सदियोंसे ज्ञात है। संपत्तिके बिना रहने या अपनी चीजोंको कम-से-कम कर देनेकी अपेक्षा, तुम्हारे पास जो कुछ है उससे आसक्त न होनेके लिये बहुत ज्यादा क्षमताकी जरूरत है। यह बहुत अधिक कठिन है। यह नैतिक मूल्यकी दृष्टिसे ज्यादा श्रेष्ठ स्तरकी चीज है। बस, यही वृत्ति हो: जब कोई चीज तुम्हारे पास आये तो ले लो, उसका उपयोग करो; जब किसी कारणसे वह चली जाय तो खेद मत करो, जाने दो। जब वह आये तो मना मत करो, अपने-आपको अनुकूल बनाना सीखो और वह चली जाय तो खेद मत करो।

अगर दोष आयें तो भी?

यहां दोषोंका प्रश्न नहीं है, मैं भौतिक चीजोंकी बात कर रही हूं। दोष ऐसी चीज नहीं है जो आती हो, उन्हें आदमी अपने अंदर लिये फिरता है। मैं भौतिक चीजोंकी बात कर रही हूं, तपस्याकी बात कर रही हूं, समझे?

तपस्या एकदम भौतिक अनुशासन है। दोष — यह न समझो कि वे बाहरसे आते हैं, वे पहले ही अपने अंदर काफी होते हैं, कहीं औरसे उधार लानेकी जरूरत नहीं होती। वास्तवमें, अगर तुम्हारे अन्दर दोष न हों, तो तुम्हें दूसरोंके अन्दर उनके होनेका भान ही नहीं हो सकता। चूंकि इस सबका बीज तुम्हारे अन्दर है इसलिये तुम्हारा उनके साथ संपर्क होता है। जब हम कहते हैं कि लोगोंके अन्दरसे आवेगकी बड़ी-बड़ी लहरें गुजरती हैं, आवेग उनके अन्दर नहीं पैदा होता, बल्कि उनमेंसे गुजरता है, तो यह बात पूरी तरह सच्ची है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति आवेगकी संभावनासे बिलकुल उन्मुक्त हो, तो ये लहरें सदियोंतक गुजरती रहें, वह उन्हें अनुभवतक न करेगा। वह उन्हें देख सकेगा, गुजरते हुए देख सकेगा, जैसे आदमी आकाशमें तूफानको गुजरते हुए देखता है, लेकिन उसे कुछ भी अनुभव न होगा। जब अपने अंदरके स्पंदन बाहरके स्पंदनोंको उत्तर देते हैं, तो इसका अर्थ होता है कि वे मौजूद हैं;

अन्यथा कोई स्पंदन प्रवेश न कर पाता।

ऐसे दृष्टांत हैं। उदाहरणके लिये, भीड़में तहलका मच गया है। दो-एक आदमी ऐसे हैं जो इस तहलकेका सामना करते हैं, जिन्हें यह छू भी नहीं जाता, वे इसके बाहर रहते हैं: वे स्थितिको संभाल सकते हैं। यह कई बार हुआ है। किसी आंदोलन, किसी स्पंदन, किसी जोरदार आंदोलनके संक्रामक होनेका कारण यह है कि संक्रमणके लिये भूमि तैयार है।

आपने कहा था कि चूंकि हम यहां हैं और सब कुछ पाते हैं, इसलिये यह हमें बहुत स्वाभाविक लगता है। तो फिर, प्रयास भी स्वाभाविक रूपसे क्यों नहीं आता?

क्योंकि, जैसा श्रीअरविंदने कहा है, साधारण मनुष्यकी भौतिक प्रकृति तामसिक-सी है। स्वभावतः वह प्रयास नहीं करती। लेकिन प्राण प्रयास करता है। लेकिन वह, साधारणतः, स्वयं अपने संतोषके लिये प्रयास करता है। लेकिन वह प्रयास करनेके लिये पूरी तरहसे सक्षम है, क्योंकि यह उसके स्वभावमें है। वास्तवमें, मैं यह नहीं कह सकती कि तुम कोई भी प्रयास नहीं करते, तुम बहुत-सी चीजोंके लिये बहुतेरा प्रयास करते हो बशर्ते कि तुम्हारी मरजी हो, या किसी-न-किसी कारणसे तुम्हें लगे कि यह जरूरी है। तुम्हारा मतलब योगके लिये सतत प्रयाससे है। ऐसे लोग भी हैं जो यहां योग करने आये हैं या कम-से-कम यह सोचकर आये हैं कि वे योगके लिये आये हैं, और फिर भी, बहुत प्रयास नहीं करते, चीजें जैसे आयें, जिस तरह आयें उसी तरह स्वीकार कर लेते हैं। मुझे नहीं लगता कि स्वयं अपने ऊपर छोड़ देनेसे भौतिक प्रकृति सहज रूपसे किसी प्रयासकी ओर बढ़ती है। उसे कुछ क्रिया-कलापकी जरूरत तो होती है, लेकिन बहुत कम। यहां बड़ी बात तो यह है कि शिक्षाका सिद्धांत स्वाधीनताका सिद्धांत है, संक्षेपमें कहें तो, समस्त जीवन गतिविधिकी यथासंभव अधिक-से-अधिक स्वाधीनतापर आधारित है; यहां नियम, नियंत्रण, प्रतिबंध आदि घटाकर कम-से-कम कर दिये गये हैं। अगर तुम इसकी तुलना उस तरीकेसे करो जिससे माता-पिता साधारणतः अपने बच्चोंको प्रशिक्षित करते हैं, वे हमेशा कहते रहते हैं: "यह मत करो", "तुम यह नहीं कर सकते", "यह करो", "जाओ, वह करो", इस तरहके हुकुम और नियम होते हैं, तो इन दोनोंमें बहुत फर्क है।

स्कूलों और कालेजोंमें हमारे यहांकी अपेक्षा कहीं अधिक कठोर नियम होते हैं। चूंकि यहां तुमपर प्रगति करनेकी निरपेक्ष शर्त नहीं लादी जाती,

तो जब तुम्हारी मरजी होती है, तब तुम प्रगति करते हो, जब नहीं होती तो नहीं करते, और तुम चीजोंको अधिक-से-अधिक आसानीसे लेते हो। कुछ लोग हैं — मैं यह बात निरपेक्ष-भावसे नहीं कहती — कुछ लोग हैं जो कोशिश करते हैं, लेकिन वे सहज रूपसे कोशिश करते हैं। निश्चय ही, आध्यात्मिक दृष्टिसे यह कहीं अधिक मूल्यवान् है। तुम जो प्रगति इसलिये करते हो क्योंकि तुम्हें अपने अन्दर उसके लिये आवश्यकता मालूम होती है, क्योंकि यह एक प्रेरणा है जो तुम्हें सहज रूपसे आगे बढ़ाती है, वह तुम्हारे ऊपर नियमके रूपमें लादी नहीं गयी है — यह प्रगति, आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, कहीं अधिक श्रेष्ठ है। तुम्हारे अंदर जो कुछ चीजोंको अच्छी तरह करना चाहता है, सहज रूपसे, सचाईके साथ करना चाहता है; वह कोई ऐसी चीज है जो तुम्हारे अंदर से आती है। वह इसलिये नहीं है कि तुम्हें अच्छा करनेपर पुरस्कार और बुरा करनेपर दंड देनेका वचन दिया गया है। हमारी पद्धति इसपर आधारित नहीं है।

हो सकता है कि किसी समय कोई ऐसी चीज आ जाय जो तुम्हें यह संकेत दे कि तुम्हारे प्रयासकी सराहना की गयी है, लेकिन प्रयास इसे दृष्टिमें रखकर नहीं किया गया था; यानी, पहलेसे ऐसे वचन नहीं दिये जाते और न उन्हें संतुलित करनेके लिये कोई दंडका विधान रखा जाता है। यहांका यह रिवाज नहीं है। साधारणतः, चीजें ऐसी हैं, इस तरह-से व्यवस्थित होती हैं कि काम अच्छी तरह करनेका संतोष ही सबसे अच्छा इनाम होता है और बुरी तरह करनेपर आदमी अपने-आपको दंड दे लेता है, इस तरह कि वह अपने-आपको अभागा, दुःखी और बेचैन अनुभव करता है, और सचमुच उसके लिये यह सबसे ज्यादा ठोस दंड है। और इस तरह आंतरिक आध्यात्मिक विकासकी दृष्टिसे इन गति-विधियोंका उनकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य है जो बाहरी नियमका परि-णाम हों।

आप आध्यात्मिक अनुभूतिकी बात कहती हैं। अनुभूति क्या है और उसे कैसे पाया जा सकता है?

वह कोई ऐसी चीज है जो तुम्हें तुम्हारी वर्तमान चेतनासे ज्यादा ऊंची चेतनाके संपर्कमें ला देती है। तुम्हें अपने बारेमें एक प्रकारकी अनुभूति होती है, तुम्हें उसका भान भी नहीं होता, तुम्हारे लिये यह तुम्हारी साधारण अवस्था है। अगर सहसा तुम्हें अपने अंदर किसी बहुत ही भिन्न और

बहुत श्रेष्ठ चीजकी अनुभूति हो, वह चाहे कुछ क्यों न हो, तो यह आध्यात्मिक अनुभूति होगी। तुम उसे मानसिक विचारका रूप दे भी सकते हो और नहीं भी दे सकते, तुम उसे अपने-आपको समझा सकते हो और नहीं भी समझा सकते, यह टिक भी सकती है और नहीं भी टिक सकती, क्षणिक हो सकती है। लेकिन जब चेतनामें यह तात्त्विक भेद हो और, स्वभावतः, उसका जो स्वरूप आये अगर वह तुम्हारी सामान्य चेतनासे बहुत... उच्चतर, स्पष्टतर और अधिक पवित्र हो, तो कहा जा सकता है कि यह आध्यात्मिक अनुभूति है; इसका मतलब यह है कि अलग-अलग हजारों चीजें हैं जिन्हें आध्यात्मिक अनुभूति कहा जा सकता है।

क्या हमें आध्यात्मिक अनुभूति पानेके लिये अभीप्सा करनी चाहिये?

मेरा ख्याल है कि आध्यात्मिक अनुभूतिके लिये अभीप्सा करनेकी अपेक्षा ज्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण है प्रगतिके लिये या अधिक सचेतन होनेके लिये या ज्यादा अच्छा बनने या ज्यादा अच्छा करनेके लिये अभीप्सा करना; क्योंकि हो सकता है कि वह (आध्यात्मिक अनुभूतियोंके लिये अभीप्सा) न्यूनाधिक काल्पनिक और ऐसी मिथ्या अनुभूतियोंके लिये या प्राणिक गति-विधियोंके लिये द्वार खोल दे जो उच्चतर चीजोंका रूप धरकर आती हैं। तुम अनुभूतिके लिये अभीप्साके द्वारा अपने-आपको धोखा दे सकते हो। वास्तवमें, अनुभूतिको सहज रूपमें आंतरिक प्रगतिके परिणामस्वरूप आना चाहिये, लेकिन अपने ही लिये या अपने-आप नहीं।

इतिहासमें कुछ ऐसे लोग हो गये हैं जो विकासशील सत्ता नहीं थे...

जो क्या नहीं थे...?

...विकासशील सत्ता... जो आये...

तुम उन्हें जानते थे क्या?

जी नहीं, किसीने...

किसने? तुमसे किसने कहा?

हमारे अंग्रेजीके अध्यापकने कहा था।

(संकेतोंके साथ) मैं कुछ नहीं कह सकती। मैं अभी कुछ नहीं कहती। अगर यह किसी अध्यापकने कहा है तो मैं कुछ नहीं कहती। (हंसी)

उन्होंने श्रीअरविंदके बारेमें कहा था... श्रीअरविंदके बारेमें कहते हुए...

तुम्हारे अध्यापकोंने तुमसे जो कहा है उसके बारेमें मुझसे कुछ न कहो, क्योंकि मैं उनकी बात न काटूंगी, उन्होंने जो कहा है उसपर टिप्पणी करनेसे मैं इंकार करती हूं। अध्यापक ऐसे व्यक्ति हैं जिनका मान करना चाहिये। और इसके अतिरिक्त, तुम्हारी सूचनाके लिये, मैं कह सकती हूं कि तुमने प्रश्न बुरी तरहसे किया है।

अगर तुम मेरा उत्तर पाना चाहते थे तो तुम प्रश्न बिलकुल और तरह-से कर सकते थे। अब मैं उत्तर न दूंगी। (हंसी) अगर तुमने पूछा होता: "क्या ऐसी सत्ताएं हैं जो...:" तो बिलकुल स्वाभाविक रूपसे मैं उत्तर दे देती। मैं कुछ तो कहती ही, शायद वह नहीं जो तुम सुनना चाहते थे। लेकिन तुमने प्रश्न बुरी तरह किया। तुमने शुरू करनेके लिये एक वक्तव्य दे दिया, अतः...

अच्छा। तो बस अब?

२२ दिसंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविंदकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय तीन: "कठिनाईमें" के आधारपर है।)

जब किसी सत्तापर किसी विरोधी शक्तिका अधिकार हो तो उसके चैत्य पुरुषका क्या होता है?

यह अधिकारकी अवस्थापर निर्भर है। साधारणतः, यह एक क्रमशः बढ़नेवाली चीज होती है। पहले एक प्रभाव होता है जिसके आगे आदमी झुक जाता है, लेकिन थोड़ा-थोड़ा करके झुकता है, अपनी सत्तामें पूरी तरह भी नहीं, कुछ हिस्सोंमें और कुछ समयके लिये। यह पहली स्थिति है। दूसरी स्थितिमें प्रभाव स्थायी हो जाता है और सत्ताका एक भाग भ्रष्ट हो जाता है और वह हमेशा इस प्रभावके आगे झुकता रहता है और उसे अभिव्यक्त करता है। उसके बाद जिस सत्ताने यह प्रभाव डाला है वह इस भागमें प्रवेश करनेकी कोशिश करती है। साधारणतः, इससे संघर्ष पैदा होता है, एक प्रकारका आंतरिक युद्ध होता है। आदमीपर संकट आते हैं, अभी-कभी स्नायविक वीभत्स दौरे आते हैं। प्रतिरोधके प्रयास-में दोनों भागोंमें सदा संघर्ष चलता है जिससे बड़ा असंतुलन, यहांतक कि शारीरिक असंतुलन भी पैदा हो जाता है। लेकिन अगर व्यक्ति प्रतिरोध करना न जानता हो, उस पकड़को हटा देनेमें सफल न हो, तो धीरे-धीरे वह सत्ता, जिसने व्यक्तिके एक भागपर कब्जा कर लिया है, शोषक भुजाओं-वाले अष्टभुज जंतुकी तरह अपनी भुजाओंको धीरे-धीरे सब जगह फैला देता है और अंतमें पूरा-पूरा अधिकार कर लेता है। पूरे अधिकारके समय या तो शक्तिग्रस्त व्यक्ति पूरी तरह असंतुलित हो जाता है या वह एक प्रकारका पिशाच बन जाता है और चैत्य पुरुष उसे छोड़ जाता है।

सौभाग्यवश, ऐसे उदाहरण विरल ही होते हैं। साधारणतः, मनुष्यमें अंतरात्मा प्रतिरोध करनेके लिये काफी मजबूत होती है और बहुधा हमें ऐसे उदाहरण ही मिलते हैं कि जिनमें अगर चैत्य काफी मजबूत न हो और अपनेसे अधिक बड़ी शक्तिका सहारा लेना न जानता हो, इस प्रभाव-को निकाल देने और अपने-आपको मुक्त करनेमें समर्थ न हो जाय, तब-तक दोनों भागोंमें सतत संघर्ष चलता रहता है। पूर्ण मूत-बाधाके चरम उदाहरणोंमें ही चैत्य व्यक्तिको छोड़कर चला जाता है। ऐसे उदाहरण बहुत ही विरल होते हैं, बहुत ही विरल। कभी-कभी मृत भ्रूण जन्म लेता है, यानी, ठीक जन्मके समय या उसके कुछ मिनटों बाद बच्चा मर जाता या फिर दो-एक घंटेमें, बस, उसी समय। ऐसे उदाहरणोंमें होता यह है कि चैत्य पुरुष इस शरीरका उपयोग न करनेका निश्चय कर लेता है। लेकिन, उदाहरणके लिये, अगर जच्चे-बच्चेकी देख-रेख करनेवाला डाक्टर होशियार हो या नर्स होशियार हो और कृत्रिम श्वास या ऐसे उपायों द्वारा जान वापिस ले आये तो बहुधा विरोधी सत्ता शरीरपर अधिकार कर लेती है। ऐसे उदाहरण हैं, जो बच्चे मरे हुए मालूम होते थे, यानी, जिनका चैत्य शरीर छोड़ गया था, उनके पूरी तरह मरनेसे

पहले, कोई प्राणिक सत्ता उस शरीरमें घुस गयी और उसका स्थान ले लिया। ऐसे उदाहरण ज्ञात हैं। और ये सत्ताएं शैतान होती हैं। जीवनमें वे सचमुच शैतान बन जाते हैं। ऐसे बहुत नहीं हैं।

प्राण-जगत्की कुछ सत्ताएं हैं जो जरा उच्चतर स्तरकी हैं, उदाहरणके लिये, जो असुरका अंश हैं, जिन्होंने किसी-न-किसी कारण परिवर्तित होनेके लिये प्रयत्न करनेका, भगवान्का विरोधी न रहनेका, भगवान्के साथ संपर्क पैदा करनेका निश्चय किया है। वह सत्ताएं जानती हैं कि इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि वे किसी मानव शरीरके साथ तादात्म्य साध लें, ताकि किसी चैत्य पुरुषके अधिकारमें रह सकें। वे मानव शरीरमें अवतार लेती हैं, परंतु चैत्यको भगानेके उद्देश्यसे नहीं, बल्कि उसके विपरीत, चैत्य पुरुषके प्रभावकी अधीनता स्वीकार करके उसके द्वारा परिवर्तित होनेके लिये। ऐसे उदाहरण भी बहुत नहीं होते, फिर भी पाये जाते हैं। ऐसे उदाहरणोंमें इन लोगोंमें विलक्षण क्षमताएं होती हैं, लेकिन सामान्यतः उनमें अपवादिक कठिनाइयां भी होती हैं, क्योंकि उनके अंदर जिस शक्तिने अवतार लिया है वह अब भले वैसी न हो, पर कम-से-कम अमीतक तो विरोधी शक्ति रही है; और विद्रोहकी गतिविधियोंसे तुरंत पिंड छुड़ाना कठिन होता है समझे; कभी-कभी इसमें सफलता पानेमें पूरा जीवन लग जाता है।

इनमेंसे कुछ आसुरिक शक्तियोंने अपने-आपको बदलनेकी कोशिश की, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्हें अपने चुने हुए शरीरको छोड़ देना चाहिये था, क्योंकि वे अपने-आपको बदल नहीं सकीं। यह काम उनके लिये बहुत अधिक कठिन था, वह बहुत अधिक प्रयासकी मांग करता था।

लेकिन ये सब उदाहरण, जिनके बारेमें मैंने अभी कहा है, बहुत विरल होते हैं समझे। हम यह नहीं कह सकते कि ऐसी बातें होती हैं और हर मोड़पर मिल जाती हैं: यह सज्जन असुरका अवतार है या वह दूसरा भूत-बाधाग्रस्त है। ऐसे उदाहरण बहुत, बहुत विरल होते हैं।

लेकिन, दुर्भाग्यवश, विरोधी शक्तियोंका प्रभाव बहुत होता है, उनके प्रभावमें आने और उसे अभिव्यक्त करनेकी घटनाएं बहुत होती हैं और विशेष रूपसे उन लोगोंमें जो पहलेसे काफी शुद्धि किये बिना योग शुरू कर देते हैं; या अहंकारपूर्ण इरादोंसे योग आरंभ करते हैं। जो लोग महत्त्वाकांक्षा या घमंडके कारणोंसे योग शुरू करते हैं उनके साथ यह बहुत बार होता है कि वे अपने-आपको कुछ विरोधी शक्तियोंके प्रभावके अधीन कर देते हैं।

और ऐसे लोग भी हैं जो एक तरहसे... इसे कैसे कहा जाय?... किसी प्रभावके अधीन होते हैं, उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता, लेकिन ...उदाहरणके लिये, कुछ अंतरात्माएं होती हैं जो जन्म लेनेके लिये अमुक प्रकारका वातावरण चुनती हैं, क्योंकि उनके ख्यालसे वहां उन्हें वे अनुभव मिल सकेंगे जो वे चाहती हैं। किन्हीं परिस्थितियोंके कारण उस वातावरणमें कोई विरोधी प्रभाव क्रियाशील होता है; अब वे जिस शरीरको अपनाती हैं वह किसी हदतक विरोधी प्रभावमें होता है और उन्हें सारे जीवन घोर संघर्ष करना पड़ता है। वे किसी समय-विशेषपर, जैसा कि मैंने कहा — अगर वे अपनेसे ज्यादा बड़ी शक्तिपर निर्भर रहना जानें — तो वे जीत सकती और बहुत बड़ी विजय पा सकती हैं। विरोधी शक्तियोंके प्रभावसे पिंड छुड़ा सकना बहुत बड़ी विजय है। यह सचमुच एक ऐसी विजय है जो आदमीके अपने व्यक्तित्वके पार जाती है और उसका समस्त धरतीके वातावरणपर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार अपने ऊपर प्रभाव डालनेवाली विरोधी शक्तिपर व्यक्तिकी विजय उस दिनकी ओर एक बड़ा कदम है जब धरती पूरी तरहसे विरोधी शक्तियोंके अस्तित्वसे मुक्त होगी। यह धरतीके लिये एक बड़ी प्रगतिका प्रतीक है।

मधुर मां, विरोधी शक्तियोंको कैसे परिवर्तित किया जा सकता है?

अगर वे चाहें तो क्यों नहीं बदल सकतीं? सारे विश्वमें ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका एकमात्र वही स्रोत न हो, यानी, वही परम स्रोत, और सभी चीजोंकी तरह विरोधी शक्तियोंका भी वही स्रोत है। अगर वे अपना विद्रोह छोड़ दें, अपना अलगाव छोड़ दें, और अपने मूल स्रोतकी ओर वापिस जानेकी अभीप्सा करें तो वे भी निश्चय ही बदल सकती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्यको अपने दोषोंको बदलनेके लिये जितने प्रयासकी जरूरत होती है उससे उन शक्तियोंको बहुत ज्यादा प्रयासकी जरूरत हो सकती है। बहुत ज्यादा प्रयासकी जरूरत होगी, साथ ही बहुत गहरे प्रयासकी, क्योंकि उनके विद्रोहकी जड़ें ऊपरी नहीं, गहरी होती हैं। पर, फिर भी, वे बदल सकती हैं। उनमें शक्ति भी होती है। वह बहुत शक्तिशाली सत्ताएं होती हैं जो अगर बदलनेका निश्चय कर लें तो बदल सकती हैं और भगवान्‌के कामके लिये अद्भुत यंत्र बन सकती हैं। वही सत्ताएं जो बहुत अधिक विरोधी थीं, वही अद्भुत यंत्र बन सकती हैं।

मैं किसीको तलाश कर रही हूं जिसने कहा था कि उसे कोई प्रश्न पूछना है। वह सुजाता है। कहां बैठी है वह? दुनियाके उस छोरपर! मैं उसकी आवाज कभी न सुन पाऊंगी। तुम्हें क्या पूछना था?

मधुर मां, क्या मैं आपसे एक और प्रश्न पूछ सकती हूं? क्या मानसिक असंतुलनका भी यही कारण होता है?
(पवित्र दोहराते हैं:) क्या मानसिक असंतुलनका भी यही कारण होता है?

बहुत बार, पर हमेशा नहीं। मानसिक असंतुलन और भी बहुत-से कारणोंसे हो सकता है। उनमेंसे एक यह भी हो सकता है कि दिमागकी बनावट-में कुछ दोष हो, मस्तिष्कमें अपर्याप्तता हो। यह भी कहा जा सकता है कि मस्तिष्ककी यह अपर्याप्तता किसी आंतरिक प्राणिक असंतुलनकी अभिव्यक्ति हो सकती है। मस्तिष्ककी अपर्याप्तता साधारणतः, आनुवंशिक होती है या अवयवकी खराबी होती है, फिर भी... यानी, ऐसी चीज जो गर्भ-धारणके समय ही पैदा होती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसी अतिरिक्त प्रभावके कारण है: यह कोई ऐसा प्रभाव था जिसने जन्मसे पहले ही क्रिया की थी और यह जरूरी नहीं है कि जो इस मानसिक असंतुलनका शिकार है वह किसी विरोधी प्रभाव-की सीधी अधीनतामें है। यह किसी कुरचनाका परिणाम हो सकता है।

जब लोग अपने मनमें विभक्त होते हैं, अपने मनके एक भागमें सत्य और रूपांतरके लिये अभीप्सा करते हैं और एक दूसरे भागमें इन चीजों-को नहीं चाहते, केवल प्रतिरोध ही नहीं, बल्कि विद्रोह करते हैं — और यह बहुधा होता है — तो इससे दिमागमें भयंकर आंतरिक संघर्ष पैदा हो जाता है। यह पहले मानसिक होता है, फिर मस्तिष्कीय। इसकी वजह-से गंभीर मानसिक असंतुलन हो सकता है।

ऐसे उदाहरण हैं जिनमें निश्चित रूपसे किसी गलत सुझाव, विरोधी प्रभावकी ओर उद्घाटनके कारण, जो उद्घाटन किसी गलत गतिविधि — विद्रोह, घृणा या किसी तीव्र कामनाकी गतिविधिके परिणामस्वरूप होता है। किसी गलत गतिके कारण — उदाहरणके लिये, क्रोधके कारण — आदमी किसी विरोधी शक्तिके प्रति खुल सकता है और अपने अंदर एक ऐसा प्रभाव ला सकता है जिसका परिणाम हो मूल-बाधा। अगर सत्तामें एक भाग सचेतन हो और गलत गति और प्रभावसे पिंड छुड़ानेकी प्रबल इच्छा हो तो, आरंभमें इन चीजोंको ठीक करना अपेक्षया अधिक सरल होता है।

अगर अभीप्सा सच्ची और निष्कपट हो तो अपेक्षया सफलता ज्यादा आसान होती है, लेकिन अगर तुम उसपर आत्म-संतोषभरी नजर डालो और अपने-आपसे कहो: "आह, चीज ऐसी ही है, यह और तरह हो ही नहीं सकती," तो बात खतरनाक हो जाती है। तुम्हें शत्रुको अपने अंदर कभी न बरदाश्त करना चाहिये। जैसे ही उसकी उपस्थितिका पता लगे, उसे उठाकर बहुत दूर, जितनी हो सके उतनी दूर, निर्ममताके साथ फेंक दो।

मधुर मां, शुद्ध होनेका मतलब क्या है?

शुद्ध होनेका मतलब क्या है? तुम सच्चे अर्थोंमें पूरी तरह तभी शुद्ध होते हो जब सारी सत्ता अपनी सभी गतियों और सभी तत्त्वोंके साथ, ऐकांतिक रूपसे भागवत इच्छाके साथ जुड़ी हो। वस्तुतः, यही संपूर्ण शुद्धि है। यह किसी नैतिक या सामाजिक नियमपर या किसी प्रकारकी मानसिक परिपाटीपर निर्भर नहीं होती। वह ऐकांतिक रूपसे इसपर निर्भर है: जब समस्त सत्ताके समस्त तत्त्व और उसकी सभी गतिविधियां पूरी तरह ऐकांतिक रूपसे भागवत इच्छाके साथ जुड़ी हों।

इसमें अवस्थाएं होती हैं, श्रेणियां होती हैं। उदाहरणके लिये, कपट, जो सबसे बड़ी अशुद्धियोंमेंसे एक है, हमेशा इस तथ्यसे पैदा होता है कि कोई गति या कुछ गतियां, सत्ताका कोई एक या अनेक तत्त्व भगवान्‌की इच्छाकी अभिव्यक्ति नहीं बनना चाहते, वे अपनी ही इच्छाके अनुसार चलना चाहते हैं। इससे सत्तामें या तो विद्रोह पैदा होता है या मिथ्यात्व। मैं यह नहीं कहती कि आदमी झूठ बोलता है, मेरा मतलब है कि वह मिथ्यात्वकी, कपटकी स्थितिमें होता है। और तब, परिणाम स्वयं गतिकी गंभीरता या उसके महत्त्वके अनुपातमें कम या ज्यादा गंभीर और व्यापक होते हैं। लेकिन अगर शुद्धिकी दृष्टिसे देखा जाय तो यही वास्तविक अशुद्धियां हैं।

उदाहरणके लिये, यदि तुम भौतिक दृष्टिकोणको अपनी नींव बनाओ — जो अपने-आपमें आध्यात्मिक दृष्टिसे बिलकुल गलत है — तो ऐसे लोग हैं जो ऊपरसे देखनेमें ऐसा जीवन बिताते हैं जो पूरी तरह नैतिक मालूम होता है, जो सभी सामाजिक नियमों, सभी रिवाजों, नैतिक परिपाटियोंके अनुसार चलते हैं और जो अशुद्धियोंका ढेर होते हैं — आध्यात्मिक दृष्टिसे वे बहुत गंभीर अपवित्र सत्ताएं हैं। इसके विपरीत, कुछ बेचारे हैं जो चीजें करते हैं... जो, उदाहरणके लिये, आजादीका भाव लेकर पैदा हुए हैं और ऐसी चीजें करते हैं जो सामाजिक या नैतिक दृष्टिसे बहुत

आदरणीय नहीं मानी जाती, लेकिन हो सकता है कि वे आंतरिक अभीप्सा और आंतरिक सचाईकी अवस्थामें हों और इस कारण वे औरोंकी अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध हों। यह बहुत बड़ी कठिनाइयोंमेंसे एक है। जैसे ही इन चीजोंकी बात की जाय कि तुरंत चेतनामें सभी सामाजिक और नैतिक परिपाटियोंके द्वारा पैदा किया गया विकार आ जाता है। जैसे ही तुम शुद्धिकी बात करो तुम्हारे आगे एक नैतिक कीर्ति-स्तंभ-सा आ खड़ा होता है जो तुम्हारी धारणाको पूरी तरह मिथ्या बना देता है। ध्यान रखो कि आध्यात्मिक दृष्टिसे नैतिक होनेकी अपेक्षा सामाजिक दृष्टिसे नैतिक होना कहीं अधिक सरल है। सामाजिक दृष्टिसे नैतिक होनेके लिये केवल इतना ध्यान रखना काफी है कि तुम कोई ऐसी चीज न करो जिसे दूसरे पसंद न करते हों। यह कुछ कठिन हो सकता है, पर असंभव नहीं है; और, जैसा कि मैंने कहा, यह करते हुए भी आदमी कपट और अशुद्धिका पुतला हो सकता है। जब कि आध्यात्मिक दृष्टिसे शुद्ध होनेका मतलब है एक ऐसी जागरूकता, ऐसी चेतना, ऐसी निष्कपटता जो हर कसौटीपर खरी उतरे।

यहां मैं तुम्हें एक चीजके बारेमें सावधान कर दूं — मेरा ख्याल है श्रीअरविंदने इसी पुस्तकमें उसके बारेमें लिखा है — ऐसे लोगोंके बारेमें जो अपनी प्राणिक चेतनामें रहते हैं और कहते हैं: "मैं नैतिक नियमोंसे ऊपर हूं, मैं एक उच्चतर नियमका अनुसरण करता हूं, मैं समस्त नैतिक नियमोंसे मुक्त हूं।" वे ऐसी बात इसलिये कहते हैं क्योंकि वे सब प्रकारकी अवैधतामें रस लेना चाहते हैं। तो, इन लोगोंमें दोहरी अशुद्धि होती है; उनमें आध्यात्मिक अशुद्धि तो होती ही है, साथमें सामाजिक अशुद्धि भी होती है। और साधारणतः इन लोगोंकी अपने बारेमें बहुत अच्छी राय होती है। यह लोग बेजोड़ ढिठाईके साथ अपने ढंगसे अपनी इच्छाके अनुसार अपना जीवन बितानेका दावा करते हैं। हमें ऐसे लोगोंकी जरूरत नहीं।

लेकिन सामान्यतः जिन लोगोंको बदलना मुझे बहुत कठिन लगा है वह बहुत माननीय लोग थे। मुझे कहते खेद होता है, लेकिन औरोंकी अपेक्षा माननीय व्यक्तियोंमें बहुत ज्यादा कठिनाईका सामना करना पड़ा है। क्योंकि उनकी अपने बारेमें इतनी अच्छी राय थी कि उन्हें खोलना असंभव था। लेकिन सच्ची चीज कठिन है। यानी, तुम्हें बहुत जागरूक, बहुत आत्म-संयत और बहुत धीर होना चाहिये और तुम्हारे अंदर अखूट सद्भावना भरी होनी चाहिये। तुम्हें कभी नम्रताकी एक छोटी लेकिन पर्याप्त मात्रा लेनेमें लापरवाही न करनी चाहिये और तुम्हें अपनी सचाई

और निष्कपटतासे कभी संतुष्ट न होना चाहिये। इसकी चाह हमेशा अधिक, और अधिक होती रहनी चाहिये।

(एक बालकसे) तुम क्या कहना चाहते हो? कुछ नहीं? किसीको कुछ नहीं पूछना? वह दूसरा लड़का कहां है? वह अपनी जगहपर नहीं है, वह अपनी जगहपर नहीं है, वह नहीं है। उसे डर था कि मैं उससे प्रश्न पूछूंगी। तो, और कुछ नहीं? किसीको कुछ नहीं कहना?

"हमेशा दोष और गलत गतियोंको देखते रहना उदासी लाता है और उससे श्रद्धाका उत्साह भंग होता है।" वह श्रद्धाका उत्साह भंग कैसे करता है?

यहां जिस श्रद्धाकी बात की गयी है वह भागवत कृपा और उद्यमकी सुनिश्चित सफलतामें श्रद्धा है। तुमने योग शुरू किया है और तुम्हें श्रद्धा है कि तुम योगके लक्ष्यतक जा पहुंचोगे। लेकिन अगर तुम अपना सारा समय उन चीजोंको देखते रहनेमें लगाओ जो तुम्हें आगे बढ़नेसे रोकती हैं, तो आखिर तुम कहोगे: "हाय, मैं कभी सफल न होऊंगा। यह संभव नहीं है। अगर इस तरह चलता रहा तो मैं कभी वहांतक न पहुंच पाऊंगा।" यह है श्रद्धा खोना। तुम्हें हमेशा यह श्रद्धा रखनी चाहिये कि तुम निश्चित रूपसे सफल होओगे।

बहुत-से लोग शुरू करते हैं, और फिर कुछ समयके बाद आकर कहते हैं: "मैं कभी पार न लग सकूंगा। मेरे आगे बहुत ज्यादा कठिनाइयां हैं।" इसका अर्थ है श्रद्धाका अभाव। अगर तुम शुरू करते हो तो इस श्रद्धाके साथ शुरू करते हो कि तुम लक्ष्यतक जा पहुंचोगे। यह श्रद्धा अन्ततक बनाये रखनी चाहिये। श्रद्धा रखनेसे तुम लक्ष्य पा लेते हो। लेकिन अगर बीच रास्तेसे ही तुम लौट पड़ो और कहो: "नहीं, नहीं, यह मुझसे न होगा," तो स्पष्ट है कि तुम लक्ष्यतक न पहुंचोगे। कुछ लोग मार्गपर चलना शुरू करते हैं और फिर, कुछ समय बाद, उन्हें यह मारी, थकानेवाला, कठिन लगने लगता है। उन्हें लगता है कि स्वयं वे और उनके पांव ठीक नहीं चल पाते, उनके पैरोंमें दर्द होने लगता है आदि-आदि। वे कहते हैं: "ओह, आगे बढ़ना बहुत कठिन है।" तो यह कहनेकी जगह कि "मैं चल पड़ा हूं और पूरा करके रहूंगा," — कहने लायक बात तो यही है — वे वहीं ठिठक जाते हैं, खड़े हो जाते हैं और झींकते हुए कहते हैं: "आह, मैं कभी सफल न होऊंगा।" और फिर वे मार्ग छोड़ देते हैं। तो, स्पष्ट ही है कि अगर वे मार्ग छोड़

देंगे, तो उन्हें कभी सफलता न मिलेगी। यह श्रद्धा जो बैठता है।

श्रद्धा बनाये रखनेका मतलब है यूं कहना: "अच्छा, मेरी राहमें कठिनाइयां हैं, पर मैं चला चलूंगा।" निराशा — वही है जो तुम्हारे पांव काट देती है, तुम्हें रोक देती है और तुम्हें यह कहनेकी स्थितिमें छोड़ती है: "सब कुछ खत्म, मैं अब और नहीं बढ़ सकता।" और तब वह सचमुच खत्म हो जाता है। यह ऐसी चीज है जिसे कभी न होने देना चाहिये।

जब तुमने शुरू किया है तो तुम्हें ठीक अंततक जाना चाहिये। कभी-कभी जब लोग मेरे पास बड़े उत्साहके साथ आते हैं तो मैं उनसे कहती हूं: "जरा सोच लो, यह सरल मार्ग नहीं है, तुम्हें समयकी जरूरत होगी, तुम्हें धीरजकी जरूरत होगी। तुम्हें बहुत ज्यादा सहन-शक्तिकी, बहुत अध्यवसायकी, साहसकी और अनथक सद्भावनाकी जरूरत होगी। पहले देख लो, सोच लो, क्या तुम इन सबको करनेके योग्य हो; उसके बाद शुरू करो। लेकिन एक बार शुरू कर दो, तो बस, खत्म, उसके बाद वापिस जानेका सवाल नहीं रहता; तुम्हें एकदम अंततक जाना ही होगा।"

कभी-कभी मैं उनसे कहती हूं, मैं उनसे कहती हूं कि मैं कुछ दिन या कुछ महीने देती हूं, कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें मैंने सोच-विचारके लिये कुछ वर्ष दिये हैं, मैंने उनसे कहा: "अच्छी तरह देख लो, पूरा निश्चय कर लो।" जब वे आकर कहते हैं: "मैंने फैसला कर लिया है, मैं शुरू करना चाहता हूं," यह ठीक है। तो अब, अंतिम छोरतक जाना चाहिये, चाहे उसके लिये कितनी भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। चाहे वह बहुत मुश्किल क्यों न हो, तुम्हें अंतिम छोरतक जाना ही चाहिये।

जब कोई मार्गसे हट जाता है तो यह केवल इस जन्मके लिये होता है या...

इसके लिये अलग-अलग बातें हो सकती हैं, और वे पीछे हटनेके तरीके पर निर्भर हैं। अगर कोई जरा-सा हटा है या जरा-सा रुका है तो वह फिरसे आगे बढ़ सकता है। लेकिन यह पहलेसे दस गुना ज्यादा कठिन होता है।

क्यों ?

क्यों ? क्योंकि ऐसा है। क्योंकि तुमने अपनी भीरुता और दुर्बलतासे अपने अंदर बाधाएं इकट्ठी कर ली हैं। यह सब कठिनाइयां, जिन्हें तुम्हें

जीतना होता है, छोटी-मोटी आध्यात्मिक परीक्षाएं होती हैं जिन्हें तुम्हें पास करना होता है। अगर तुम एक परीक्षामें रह जाओ तो अगली उससे ज्यादा कठिन होती है। तुम उससे बच नहीं सकते, यह सामान्य गुह्य विधान है। अगर तुम्हारे आगे प्रयास करने और प्रगति करनेका अवसर आता है और तुम असफल हो जाते हो तो...। और ध्यान रखो, वर्तमान परिस्थितियोंमें पहलेसे चेतावनी भी नहीं दी जाती, इससे परीक्षामें सफल होना और भी कठिन हो जाता है। पहले जमानेमें, प्राचीन कालमें, प्रवेशार्थियोंसे कहा जाता था: "अब अपने-आपको तैयार करो, तुम्हें कड़ी परीक्षाओंमेंसे गुजरना होगा। तुम्हें कफनमें बंद कर कर दिया जायगा, तुम्हें भयंकर संकटोंका सामना करना होगा। लेकिन ये यह जाननेकी कसौटियां हैं कि तुम्हारे अंदर आवश्यक गुण हैं या नहीं नहीं।" कहा जाता है कि जिस आदमीको, पहलेसे चेतावनी दे दी जाय, वह दसके बराबर होता है, समझो। जब उन्हें यह चेतावनी दे दी जाती थी कि यह केवल परीक्षा है तो वे उसे बहुत गंभीरतासे न लेते थे और चीज ज्यादा आसान हो जाती थी।

परंतु अब यह रिवाज नहीं है। अब यह नहीं किया जाता। अब स्वयं जीवन और हर रोजकी परिस्थितियां ही वे परीक्षाएं हैं जिनमें तुम्हें सफल होना पड़ता है। कुछ लोग सहज रूपसे अनुभव करते हैं कि वे ऐसी स्थितिमें हैं जिसमें कोई निर्णय करना होगा, या कोई विशेष प्रयास करना होगा। वे अपने अंदर ही वह प्रयास करते हैं और देहली पार कर जाते हैं। इससे अगला कदम भरनेके लिये बहुत ज्यादा शक्ति आ जाती है। जब तुम अपनी निम्न सत्तापर एक छोटी-सी विजय पा लेते हो तो अगली बार अगला कदम बढ़ानेके लिये तुम्हारे अंदर बहुत ज्यादा शक्ति आ जाती है। इसके विपरीत, अगर तुम अंधे, अज्ञानी, मूर्ख या दुर्भावनावाले हो, तुम्हारे आगे जो परीक्षा आ रही है उसे स्वीकारनेकी जगह, तुम विद्रोह करो या उससे इंकार कर दो, तो कहा जायगा कि तुमने परीक्षा पास नहीं की, तुम उसमें असफल हो गये। लेकिन अगली बार केवल इतना ही नहीं कि तुम इसे पार करनेका प्रयत्न करनेके लिये बाधित होगे, बल्कि तुमने जो भूल कर दी है उसे ठीक करनेके लिये बहुत अधिक प्रयास करनेके लिये बाधित किये जाओगे। इसलिये वह परीक्षा पहलेसे बहुत अधिक कठिन होती है।

लेकिन ये बातें सभीके साथ होती हैं, हमेशा होती हैं, शायद रोज-रोज होती हैं। कुछ छोटी चीजें होती हैं, कुछ जरा बड़ी। छोटी-मोटी परीक्षाओंके लिये तुम अचानक ठीक दिशामें मुड़ सकते हो। लेकिन बड़ी

परीक्षाओंके लिये एक प्रकारका सहज-बोध पाना जरूरी होता है। तुम्हें ध्यान देकर ठीक चीज ठीक तरह करनी चाहिये। लेकिन इनके अतिरिक्त और चीजें भी हैं। जब तुम अपने विकासके नाजुक क्षणमें होते हो, जब आगे बढ़नेके लिये यह अनिवार्य होता है कि तुम अगली सीढ़ीको पार करो — ऐसे समय हमेशा दो संभावनाएं होती हैं: सीढ़ी पार करनेकी, और तब तुम तुरंत बहुत बड़ी प्रगति कर लेते हो; या फिर, ढीले पड़ जानेकी, और यह वस्तुतः रुक जानेसे, पीछे हटनेसे भी बढ़कर है। यह एक बड़ी खाईमें गिरना हो सकता है। ऐसी खाइयां हैं जिनमेंसे आदमी बाहर नहीं निकल पाता; और इसीलिये इसका मतलब होता है सारे जीवनकी बरबादी।

लेकिन अगर आदमीके अंदर, जो भाग फिसलकर गिर पड़ा है उसके अतिरिक्त, कहीं पर एक उद्दीप्त ज्वाला है, अगर वह सब कुछ करनेके लिये, सभी संभव दुःख सहनेके लिये और सभी संभव प्रयास और त्याग करनेके लिये तैयार हो, ताकि अपने कियेको ठीक किया जा सके, ताकि खाईकी तलीमेंसे फिर ऊपर उठा जा सके, फिरसे मार्गको अपनाया जा सके, तो यह किया जा सकता है। इस ज्वालामें भागवत कृपाको बुलानेकी शक्ति होती है। और कृपाके लिये कोई चीज असंभव नहीं है। लेकिन वह सच्ची ज्वाला होनी चाहिये जो बहुत सशक्त हो, क्योंकि जब कोई खाईकी तलीमें जा पहुंचा हो तो वहांसे निकलना आसान नहीं होता। पहले प्रकारमें जो मार्गमें जरा-सा रुकना-भर है, जो अगले कदमको जरा ज्यादा कठिन बना देता है, और इस अंतिम प्रकारमें जिसकी मैंने अभी बात की, इन दोनोंके बीच बहुत-सी अवस्थाएं हैं; इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अगर कोई मार्ग छोड़ दे तो वह सारे जीवनके लिये है। यह चरम सीमाका उदाहरण है।

लेकिन अगर कोई मार्ग छोड़ दे तो उसे फिरसे पाना भी बहुत कठिन होता है। अजीब बात यह है कि उसे छोड़नेके साथ ही तुम उसे खो बैठते हो। सभी देशोंमें इस तरहकी कहानियां चलती हैं जिनमें लोगोंने मार्ग छोड़ तो दिया, लेकिन बादमें बहुत खोजनेपर भी पा न सके, मानों वह लुप्त हो गया। वे उसे खो बैठे और यह सचमुच बहुत दुःखद चीज है।

लेकिन जब तुम मार्गपर हो, मैं कह रही थी — मैं अभी यही कह रही थी — जब तुम मार्गपर हो तो उसे कभी न छोड़ो। जरा ठहरो, तुम यह पथ अपनानेसे पहले जितना चाहो ठिठक लो; लेकिन जैसे ही तुम उसपर पांव रखो, उसी क्षण यह सब समाप्त, फिर न छोड़ो। क्योंकि इसके परिणाम कई जन्मोंतक दिखायी दे सकते हैं। यह बहुत गंभीर चीज है।

इसलिये, यह भी एक कारण है, मैं किसीको यह पथ लेनेके लिये नहीं धकेलती। यहांपर तुम बच्चे काफी संख्यामें हो: पर मैंने कभी किसीसे यह पथ अपनानेके लिये नहीं कहा। सिर्फ उन्हींसे बात की है जिन्होंने आकर मुझसे कहा है: "हम इसे चाहते हैं।" उनसे भी, जबतक कि मुझे यह विश्वास न हो कि यह उनकी नियतिमें लिखा है, वे यहां आये ही इसलिये हैं, मैं हमेशा यही कहती हूं: "इसके बारेमें सोच लो, सोच लो, पूरा-पूरा निश्चय कर लो कि तुम यही चाहते हो, कुछ और नहीं।" और जब वे सोच-विचार लेते हैं और निश्चय कर लेते हैं तो बस, समाप्त। उसके बाद उन्हें इधर-उधर न भटकना चाहिये, उन्हें सीधा अंततक जाना चाहिये। मेरा मतलब है कि फिर तुम्हें कभी पथ न छोड़ना चाहिये। तुम्हें हर कीमतपर आगे बढ़ना चाहिये। और यह कोशिश करनी चाहिये कि बार-बार रुके नहीं। क्योंकि चलते रहना, चाहे कठिन क्यों न हो, फिर भी रुककर नये सिरेसे चलनेकी अपेक्षा ज्यादा आसान है। मार्गपर चलते रहनेकी अपेक्षा, फिरसे चलनेके लिये बहुत ज्यादा प्रयासकी जरूरत होती है। और फिर, तर्कसंगत दृष्टिसे मुझे यह कहना तो न चाहिये, जो लोग यहां हैं उन सबको मैं पहले ही चेतावनी दे चुकी हूं: "अपनी दैनिक समस्त परिस्थितियोंको कभी लापरवाहीसे न लो; जीवनकी सभी छोटी-मोटी चीजों और सभी छोटी-मोटी घटनाओंको लापरवाहीसे न लो।" कभी अपनी निम्न प्रकृतिसे प्रतिक्रिया न करो। जब कभी तुमसे कुछ करने या न करनेके लिये कहा जाय, और यह तुमसे बहुत बार नहीं कहा जाता, लेकिन जब कभी कहा जाय, तो उसपर प्रतिक्रिया करनेसे पहले जरा सोच लो, अपने अंदर उस भागको खोजनेकी कोशिश करो जिसमें प्रतिक्रिया होती है। तुम्हारे अंदर जो बहुत ही सामान्य चीज है, उसे लेकर प्रतिक्रिया न करो। अपने अंदर पैठो, अपने अंदरके सर्वोत्तम भागको पानेकी कोशिश करो और उसके अनुसार प्रतिक्रिया करो। **यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।**

कुछ लोग हैं जो बरसोंतक एड़ियां घसीटते रहते हैं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं किया। दूसरे हैं जो उड़ते प्रतीत होते हैं, वे इतने तेज जाते हैं, क्योंकि वे इस ओर ध्यान देते हैं। और जो यह नहीं करते, वे सारा दोष भगवान्‌के मत्थे मढ़ते हैं। वे भागवत कृपाको दोष देते हैं। वे कृपासे कहते हैं: "तुम्हींने मुझे ठगा है, तुमने ही मुझे कठिनाईमें डाल दिया है, तुम्हारी वजहसे ही मुझे ठोकर लगी है, तुम ही दानव हो।" वे ठीक इन शब्दोंमें नहीं कहते परंतु उनके विचार कुछ इसी तरहके होते हैं। और फिर, स्वभावतः, वे अपने मामलेको और भी बिगाड़ लेते हैं, क्योंकि उन्हें

अपनी कठिनाईमें जो सहायता मिल सकती थी, वे उसे भी धकेल देते हैं। तो ऐसी बात है।

मैं तुमसे और भी बहुत-सी चीजें कह सकती हूं, लेकिन वे धीरे-धीरे आयेंगी। बहरहाल, अगर तुम अपने अंदर एक विश्वास, यह सरल और निर्विवाद भरोसा रख सको जो तर्क नहीं करता, और यह भाव कि हां, सचमुच यह भाव रखो कि तुम्हारे लिये जो कुछ किया जा रहा है — चाहे वह कैसा भी क्यों न दीखता हो — वह तुम्हें अपने लक्ष्यकी ओर ले जाने और कठिनाइयोंमेंसे जल्दी-से-जल्दी बाहर निकालनेके लिये सबसे अच्छा है... अगर तुम इसे अपने अंदर मजबूत बनाये रख सको तो तुम्हारा मार्ग बहुत अधिक सरल हो जायगा।

तुम मुझसे कहोगी कि इसे रखना बहुत कठिन है, लेकिन बच्चे इसे भली-भांति रखते हैं। अगर वे इसे खो देते हैं तो इसका मतलब यह है कि उन्हें सचमुच बहुत ही घृणित मां-बाप मिले हैं; लेकिन अगर उनके मां-बाप काफी अच्छे हैं तो वे इसे भली-भांति रख सकते हैं। हां तो, यही वृत्ति है। अगर तुम अपने-आपसे कह सको: "ठीक है, शायद भागवत कृपा हमारे विश्वासकी अधिकारी है," बस, इतना ही, और कुछ नहीं, तो तुम बहुत-सी, बहुत-सी कठिनाइयोंसे बच सकते हो। वस्तुतः, यह चीज साधारण जीवनमें भी बहुतेरी कठिनाइयों और चिंताओंसे बचा सकती है। और विशेष रूपसे यहां, अगर तुम यह करो तो देखोगे कि जो चीजें बहुत अधिक कठिन मालूम होती थीं, वे बादलोंकी तरह छिन्न-भिन्न हो जायंगी।

तो यह लो, बस।

फिर मिलेंगे, बच्चो।

२९ दिसंबर, १९५४

(यह वार्ता श्रीअरविन्दकी पुस्तक 'योगके आधार', अध्याय तीन : "कठिनाईमें"के आधारपर है।)

हां तो, (एक बालकसे) कुछ नहीं पूछना? (एक औरसे) तुम्हें कुछ पूछना है?

मधुर मां, यहां क्यों कहा गया है कि "जिनमें योगके लिये सबसे अधिक शक्ति होती है... बहुधा उन्हींमें ... सबसे अधिक अपूर्णताएं भी होती हैं"?

ऐसा क्यों है? (मौन) क्योंकि योगकी प्रबल क्षमता होनेके लिये तुम्हारी प्रकृति बहुत प्रबल, बहुत शक्तिशाली होनी चाहिये जिसमें बहुत आंतरिक बल हो; और बहुत प्रबल प्रकृतिमें बहुत प्रबल कठिनाइयां भी होती हैं।

जो लोग मध्यम, मंद, महत्त्वहीन होते हैं, वे साधारणतः बहुत अधिक गड़बड़के बिना अपने छोटे-से रास्तेपर चलते रहते हैं। लेकिन वे कुछ अधिक नहीं कर सकते, उनका रास्ता बहुत छोटा, बहुत संकरा होता है और वे जल्दी ही अपने छोरतक जा पहुंचते हैं। वे बहुत कुछ नहीं कर सकते। लेकिन जिन लोगोंकी प्रकृति मजबूत होती है उनकी कठिनाइयां भी मजबूत होती हैं। क्योंकि इस संसारमें कठिनाइयोंके बिना रहना एकदम असंभव है। जबतक संसार वैसा बना रहेगा जैसा कि वह है और आदमी संसारमें भाग लेता रहेगा तबतक उसे आवश्यक रूपसे उसकी कठिनाइयोंमें भी भाग लेना होगा।

बहुत अधिक आग्रहपूर्ण और निरंतर प्रयासके द्वारा ही आदमी अपनी कठिनाइयोंपर विजय पानेमें सफल हो सकता है; फिर भी अपने-आपको बाकी जगत्‌के साथ एकात्मतासे बिलकुल काटकर अलग कर लेना असंभव मालूम होता है। अतः जबतक संसार पूर्णताके अमुक स्तरतक न पहुंच जाय तबतक पूर्ण शुद्धि, संपूर्ण पूर्णता असंभव मालूम होती है। एकांतवासी तपस्वी भी जो किसी गुफामें या जंगलमें या पेड़के नीचे जा बैठता है, वह भी अपने-आपको बाकी जगत्‌के साथ एकात्मतासे अलग नहीं कर सकता। वह जो सांस लेता है वह जगत्‌के समस्त स्पंदनोंसे भरी है, वह जो खाना खाता है, वह चाहे कुछ क्यों न हो, चाहे उसे कम-से-कम मात्रामें लिया जाय, उसमें भी संसारके स्पंदन भरे होते हैं। अतः, उसके अस्तित्वका बना रहना ही जगत्-भरकी कठिनाइयोंके साथ एकात्मता बनाये रखनेके लिये काफी है।

वस्तुतः, इसी कारण रास्ता इतना लंबा है। अगर हम और किसी चीजको न भी देखें, केवल उन्हीं चीजोंको देखें जिन्हें आदमी हमेशा सांस लेते हुए या खाते हुए आत्मसात् करता है तो उसे इन सब चीजोंको हमेशा आत्मसात् करनेके साथ-साथ बदलते चलना पड़ेगा। यह एक निरंतर कीमिया है जिसमें आदमी एक खास तरहके स्पन्दन आत्मसात् करता है जिसमें सब प्रकारके विकार होते हैं और उसे किसी ऐसी चीजमें बदलना होता है जो ऊपरसे आनेवाली ज्योतिको ग्रहण करनेके लिये तैयार

हो। और यह कार्य सतत रूपसे चलता रहता है, और इसे हमेशा नया करते रहना पड़ता है। अतः यह असंभव है कि जबतक स्वयं संसार ही बहुत बड़ी प्रगति न कर ले तबतक आदमी इस संसारमें — जैसा कि वह अभी है — रहते हुए पूर्ण हो सके।

(लंबा मौन)

हां, तो? आज और प्रश्न नहीं है?

मधुर मां, क्या व्यक्तिका जीवन इस बातपर निर्भर होता है कि उसका चैत्य पुरुष कैसे अनुभव प्राप्त करना चाहता है?

बहुत अधिक!

मैं आज ही किसीसे इस विषयमें बात कर रही थी, और मैंने कहा कि अगर तुम अपने चैत्यके बारेमें पूरी तरह सचेतन हो सको, तो साथ-ही-साथ आवश्यक रूपसे अपने वर्तमान जीवन और इसमें चैत्य जो अनुभूति प्राप्त करना चाहता है उसको जान लोगे और उसे आधे सचेतन रूपमें और आधेसे अधिक कुछ-कुछ अचेतन रूपमें पानेकी जगह, तुम उस अनुभूतिको छोटा कर सकते हो और इस तरह सामान्य रूपमें चैत्य जिस अनुभूतिको पानेमें कई जीवन लगा देता उसे कुछ ही वर्षोंमें पानेमें उसकी मदद कर सकते हो। मतलब यह कि यह सहायता पारस्परिक है। अब बाहरी जीवनपर चैत्यका प्रभाव हो तो वह उसमें प्रकाश, सुव्यवस्था, स्थिर शांति और भागवत संपर्कका आनन्द लाता है। साथ ही, अगर भौतिक सत्ता, यानी, शरीर चेतनाका यदि चैत्यके साथ तादात्म्य हो तो वह जानती है कि चैत्य सत्ता किसी प्रकारकी अनुभूति चाहती है, तो वह इस अनुभूतिको बहुत कम समयमें लानेमें सहायता कर सकती है, और इससे न केवल समयकी बचत होती है, बल्कि चैत्य इसके लिये कई जन्म लेनेसे बच जाता है। यह पारस्परिक सहायता है।

संक्षेपमें, योगका यही मतलब है। योग तुम्हें अपनी नियतिके बारेमें पूरी तरह सचेतन होनेमें सहायता देता है, यानी, इस जगत्‌में तुम्हारे जीवनके लक्ष्यके बारेमें, केवल वर्तमान मुहूर्तमें नहीं, भूतकालमें जो था और भविष्यमें जो होगा उस सबके बारेमें पूरी तरह सचेतन होनेमें सहायता करता है। और इस ज्ञानके कारण तुम चेतनाकी एकाग्रताद्वारा इन सब अनुभूतियोंको बहुत कम समयमें पाकर कई जन्मोंकी बचत कर

सकते हो, यानी, कुछ ही वर्षोंमें वह कर सकते हो जिसे प्राप्त करनेमें कई जीवन लग सकते थे। इन सब अनुभूतियोंके द्वारा चैत्य पुरुष अपनी पूर्ण परिपक्वता और पूर्ण स्वाधीनता, अपनी मुक्तिकी ओर उत्तरोत्तर बढ़ता है — जिसका मतलब यह है कि फिर उसे और जन्म लेनेकी जरूरत नहीं रहती। अगर वह भौतिक जगत्‌में वापिस आना चाहे तो लौट आता है, क्योंकि उसे वहां कुछ काम करना होता है और वह स्वतंत्र रूपसे वहां लौटनेका निश्चय करता है। लेकिन तबतक, मुक्ति पानेतक, अपने लिये आवश्यक सभी अनुभूतियां पानेके लिये वह लौटनेको बाधित होता है। अगर ऐसा हो कि भौतिक सत्ता इतनी विकसित हो जाय, इतनी सचेतन हो, उसमें इतनी सद्‌भावना हो कि वह चैत्य सत्ताके बारेमें पूरी तरह अभिज्ञ हो जाय, तो वह ऐसी परिस्थितियां पैदा कर सकती है कि चैत्य पुरुषकी परिपक्वता-प्राप्तिके लिये जरूरी सभी बाहरी अनुभूतियोंको इसी जीवनमें प्राप्त कर ले।

(लंबा मौन)

क्या जो लोग रातोंको निम्न प्राणके लोकमें घूमा करते हैं उन्हें मृत्युके बाद बहुत कष्ट झेलना पड़ता है?

यह जरूरी नहीं है कि उन्हें वहां न घूमनेवालोंसे ज्यादा कष्ट सहना पड़े। इस तथ्यके कारण ही कि वे वहां घूमा करते हैं, वे जरा ज्यादा तैयार, उस जगत्‌के लिये जरा ज्यादा अभ्यस्त होते हैं। उनके लिये यह एकदम अपरिचित क्षेत्र नहीं होता; क्योंकि वे वहां हो आये हैं। उदाहरणके लिये, हो सकता है कि उन्हें काफी सारे अप्रिय अनुभव हो चुके हों और वे उनसे अपने-आपको बचानेकी तरकीब सीख गये हों। यह सच है कि साधारणतः इन अवस्थाओंमें बचावका एक ही तरीका होता है और वह है शरीरमें एकदम लौट आना, और यह ऐसी चीज है जिसे अब (मृत्युके बाद) नहीं किया जा सकता। फिर भी, उन्हें थोड़ा-बहुत अनुभव होता है, जब कि जो लोग वहां कुछ भी जाने बिना जाते हैं, जिन्हें यह चेतना कभी नहीं मिली, जब वे उस जगत्‌में फेंके जाते हैं तो ऐसा लगता है मानों उन्हें सर्वथा अप्रिय और अज्ञात जगत्‌में फेंक दिया गया है और वे आत्म-रक्षाके उपायसे पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। मेरा ख्याल है कि जो स्वप्न देखते हैं, जिन्हें वे स्वप्न कहते हैं, और जो उनके बारेमें सचेतन हैं, वे ज्यादा अच्छी स्थितिमें होते हैं, चाहे उनके स्वप्न बहुत सुन्दर

न भी हों, जो बिलकुल ही अचेतन हों उनकी अपेक्षा वे ज्यादा अच्छी स्थितिमें होते हैं। क्योंकि एक बार शरीर छोड़नेके बाद, आदमी चाहे सचेतन हो या अचेतन, चाहे विकसित हो या अविकसित, वह आरंभमें हमेशा उसी क्षेत्रमें जा पड़ता है। हां, कोई योगी हो जो अपने साथ अपनी मरजीके मुताबिक कर सके तो और बात है। लेकिन ये इतने विरल होते हैं कि उनके बारेमें विचार करनेकी जरूरत नहीं। शरीर छोड़नेपर सभी मनुष्य निम्न प्राणके क्षेत्रमें फेंक दिये जाते हैं जिसमें कोई विशेष रूपसे सुखकर चीज नहीं होती। फिर भी, जरा ठहरो, यह एक अजीब बात है, कोई ऐसी चीज है जिसके बारेमें मैं आज ही कह रही थी।

इस अवस्थामें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है चेतनाकी वह अंतिम अवस्था जब दोनों मिले हुए थे, जब प्राणिक सत्ता और शरीर दोनों इकट्ठे थे। अतः कहा जा सकता है कि अदृश्य जगत्के साथ पहले संस्पर्शके लिये चेतनाकी अंतिम अवस्था, या यूं कहो, अंतिम कामना या अंतिम आशा या अंतिम अभीप्साका बहुत अधिक महत्त्व होता है। और इस बातमें मरते हुए आदमीके इर्द-गिर्दके लोगोंकी जिम्मेदारी जितनी वे सोचते हैं उससे बहुत ज्यादा होती है। अगर वे उसे अपनी उच्चतम चेतनामें प्रवेश करने-में सहायता दें तो वे उसकी अधिकतम सेवा करेंगे। लेकिन वे करते क्या हैं? उसके साथ अधिक-से-अधिक चिपके रहते हैं, और उसे भयंकर स्वार्थ-के साथ अपनी ओर खींचते हैं; परिणाम क्या होता है? बजाय इसके कि वह अपनी उच्चतर चेतनामें जा सके जो उसके प्रयाणकी रक्षा करे, वह भौतिक वस्तुओंमें जकड़ जाता है और तब अपने शरीर तथा अपनी आसक्तियोंसे छुटकारा पानेके लिये भीषण युद्ध होता है।

वस्तुतः, बहुत ही कम अपवादोंको छोड़कर — इतने कम जिनके बारे-में मुश्किलसे कुछ कहा जा सकता है — सभी मनुष्य पूर्ण अज्ञानमें निवास करते हैं, जीनेकी पद्धतिके बारेमें पूर्ण अज्ञानमें, संसारकी चीजोंके बारेमें ही नहीं, जीनेकी अति सामान्य प्रारंभिक जानकारीके बारेमें भी अनभिज्ञ। वे जानते ही नहीं कि कैसे जिया जाय। वे सारे समय ऐसी चीजें करते रहते हैं जो न करनी चाहिये और मैं इच्छाओंके पूर्ति वगैरहकी बात नहीं कर रही, मैं सिर्फ हर क्षणके जीवनकी बात कर रही हूं, हर क्षणकी गति-विधिकी, चूंकि मनुष्य पूर्ण अज्ञानमें रहता है। इसलिये वह अपना अभीष्ट परिणाम पानेके लिये जो करना चाहिये उससे ठीक उल्टा करता है। आदमी किसी लक्ष्यका अनुसरण करनेकी कोशिश करता है, वह कोई स्वार्थ-मय लक्ष्य हो सकता है या कोई निष्काम लक्ष्य, कोई भौतिक लक्ष्य हो सकता है या आध्यात्मिक लक्ष्य, कुछ भी क्यों न हो, आदमी कहीं पहुंचना

चाहता है, परंतु सारे समय, वहां पहुंचनेके लिये जो करना चाहिये उससे ठीक उल्टा करता है। और अगर तुम जरा भी सावधान हो और किसी क्षण अपने-आपको देख सको, तुम चाहे कुछ भी कर रहे हो, आधे सेकेंडके लिये रुको और अपने ऊपर नजर डालकर पूछो: "क्या मैं जानता हूं कि मुझे क्या करना चाहिये?" अगर तुम सच्चे और निष्कपट हो तो तुम देखोगे कि तुम बिलकुल नहीं जानते। तुम जो करते हो यंत्रवत् सहज-वृत्तिसे, आदतके कारण या किसी आवेगके कारण करते हो; परंतु यह जानना: "क्या यही वह चीज है जो करनी चाहिये? क्या उसे इसी तरह करना चाहिये?" — मुझे नहीं लगता कि हजारमें एक बार भी तुम उत्तर दे सकोगे।

और फिर, जब किसीकी सहायता करनेका प्रश्न आता है... । अगर तुम्हारे अंदर सद्भावना है और तुम किसीकी मदद करना चाहते हो... । पहले तो तुम यह भी नहीं जानते कि स्वयं अपनी सहायता कैसे की जाय, फिर भी, तुम स्वार्थी नहीं हो; किसी विशेष क्षणमें किसीकी सहायता करना चाहते हो, तब यह प्रश्न उठता है: "मैं क्या करूं?" तुम उसके बारेमें कुछ भी तो नहीं जानते। "उसे किस चीजकी आवश्यकता है?" मेरा मतलब केवल भौतिक चीजोंसे नहीं है, बल्कि तुम्हारे अन्दर क्या भाव होना चाहिये, तुम्हारे अन्दर क्या विचार आना चाहिये, तुम्हें क्या शब्द बोलना चाहिये।' तुम कुछ भी नहीं जानते। अगर तुम बस एक कदम पीछे हटो, तुम अपने ऊपर नजर डालो, लेकिन तुम उसके बारेमें कुछ भी नहीं जानते; तुम उसे यूं ही बिना जाने, जैसे-तैसे कर देते हो, इस आशाके साथ कर देते हो कि यह सफल होगा, परंतु तुम्हें ज्ञान नहीं होता। स्वभावतः, उनके बारेमें बोले बिना... मैं उन लोगोंके बारेमें नहीं कह रही जो कुछ भी नहीं जानते, जब उनके एक बच्चा भी हो जाय तो वे यहां तक नहीं जानते कि उसे ठीक तरह उठाया कैसे जाय और स्वस्थ कैसे रखा जाय। मैं इस तरहके अज्ञानकी बात भी नहीं कह रही, क्योंकि इसे हर एक जानता है। मैं ऐसी अनगिनत नारियोंको जानती थी जिन्हें इस बातका जरा भी ख्याल न था कि बच्चोंको स्वस्थ रखनेके लिये क्या करना चाहिये। मैं इसकी बात भी नहीं कर रही। क्योंकि अगर कोई एक किताब पढ़ ले, जरा-सी मेहनत कर ले, अध्ययन करे तो तो थोड़ा-सा ज्ञान पा ही सकता है।

मैं बस जरा ऊंचे स्तरकी बात कह रही हूं: नैतिक दृष्टिसे, तुम्हारे आचारकी, लोगोंके साथ मनोवैज्ञानिक संबन्धकी। तुम किसी ऐसे आदमीके साथ हो जो मुसीबतमें है। क्या तुम जानते हो कि तुम्हें उससे क्या कहना

चाहिये? क्या तुम उसकी कठिनाईके कारण और स्रोतको जानते हो? उसके अन्दर क्या चल रहा है? तुम उसका अंदाज लगा सकते हो, तुम उसकी कल्पना कर सकते हो, तुम अनुमान कर सकते हो, तर्क कर सकते हो, पर तुम उसे जानते नहीं!

तुम्हारे अंदर वह निश्चिति नहीं है, वह ज्ञान नहीं है जो कहे: "यह वह है।" "क्या यह वह है? क्या यह ऐसा है? अगर मैं ऐसा करूं तो क्या ऐसा होगा? अगर मैं वह करूं तो क्या वैसा होगा?" और तुम चलते चले जाते हो, तुम घंटों चलते रह सकते हो, संकोच करते, टटोलते, अपने-आपसे पूछते रह सकते हो... । श्रीअरविंदने यही बात 'बुलेटिन'में छपे अपने अंतिम लेखोंमें लिखी थी। वे कहते हैं कि अगर तुम अतिमनके अवतरणके लिये अपने-आपको तैयार करना चाहते हो, तो सबसे पहले तुम्हारे अज्ञान और अक्षमताके मनके स्थानपर प्रकाशका मन आना चाहिये जो देखता और जानता है। और यह पहला कदम है! इस सीढ़ीको पार किये बिना तुम आगे नहीं बढ़ सकते। मैं यह बात तुम्हें हतोत्साह करनेके लिये नहीं कह रही, यह उन लोगोंके लिये है जो मानते हैं कि उन्हें बस इतना कहना चाहिये: "मैं अतिमानसिक प्रकाश चाहता हूं," और वह चट-से आ जायगा, वैसे ही जैसे तुम कहते हो: "मैं एक गिलास पानी पीना चाहता हूं," और पी आते हो। इतना आसान नहीं है! तो ऐसी बात है।

हां, तो अब किसीको कुछ पूछना है? नहीं?

अच्छा, शुक्रवार मेरे पढ़नेका दिन है। उस दिन ३१ तारीख है। ३१ पहलीकी पूर्वसन्ध्या है। साधारणतः, पहलीसे पहले आधी रातको मैं प्रार्थना पढ़ा करती थी, ठीक उस समय जब हम एक वर्षसे दूसरेमें प्रवेश करते हैं। इसे बहुत समय बीत चुका, तब तुम बहुत छोटे थे, शायद यहां थे भी नहीं। अब बहुत देर हो गयी है। हम लोग सारे दिन अपने-आपको बहुत थका लेते हैं और शांतिसे सोनेकी जरूरत होती है। (सभी बच्चे माताजीसे आधी रातको पढ़नेके लिये कहते हैं) नहीं, नहीं, मैं नहीं पढ़ूंगी। (हंसी) उस दिन, इस समय, और कुछ पढ़नेकी जगह, मैं तुम्हारे आगे १९५५ की प्रार्थना पढ़ूंगी, और तुम सुनोगे, और अगर तुममेंसे कोई कुछ पूछना चाहे तो मैं उत्तर दूंगी, और इस तरह हम अपना वर्ष समाप्त करेंगे... आधी राततक नहीं! (हंसी) हम अपना वर्ष इस तरह समाप्त करेंगे। तो बस।

तो, बच्चो, अब समाप्त?

फिर मिलेंगे।

३१ दिसंबर, १९५४

(नये वर्षकी पूर्वसंध्या। ध्यानके बाद
माताजीने नये वर्षका संदेश बांटा।)

मैं फ्रेंचमें तुम्हें प्रार्थना सुनाती हूं — यह एक संदेश है, प्रार्थना नहीं — फ्रेंच और अंग्रेजी, दोनोंमें। और साथ ही, मैं किसीको दिये गये श्रीअरविंद-के उत्तर भी लेती आयी हूं जो अप्रकाशित हैं। सबसे पहले तुम ही उन्हें सुनोगे। और फिर दो... कविताएं नहीं, कुछ पंक्तियां; एक छोटी-सी कविता और एक और कविताका केवल एक पद, जो हमारे अगले वर्षके संदेशको बहुत अच्छी तरह स्पष्ट करते हैं।

यह संदेश इसलिये लिखा गया था क्योंकि पूर्वदृष्टिसे यह देखा गया है कि अगला वर्ष बहुत कठिन वर्ष होगा जिसमें बहुत-से आंतरिक संघर्ष होंगे, शायद बाह्य भी हों। इसलिये मैं तुम सबको यह बताती हूं कि ऐसी परिस्थितियोंमें तुम्हें कौन-सी वृत्ति अपनानी चाहिये। ये कठिनाइयां शायद केवल बारह महीने, यानी, एक साल ही नहीं, बल्कि चौदह महीने-तक चलें; और तुम्हें कोशिश करनी चाहिये कि इन चौदह महीनोंमें उस वृत्तिको कभी न खोओ जिसके बारेमें मैं तुम्हें अभी बतानेवाली हूं।

वस्तुतः, मैं इस बातपर आग्रह करती हूं कि चीजें जितनी अधिक कठिन हों, तुम्हें उतना ही ज्यादा स्थिर-शांत होना चाहिये, और तुम्हारे अन्दर उतनी ही अधिक अटल श्रद्धा होनी चाहिये। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

साधारणतः, जैसे ही चीजें कठिन होने लगती हैं, मनुष्य उत्तेजित हो उठते हैं, घबरा जाते हैं और बहुत चिड़चिड़े हो जाते हैं, और इस तरह कठिनाइयोंको दस गुना कठिन बना लेते हैं। मैं तुम्हें पहलेसे ही साव-धान किये देती हूं कि यह सब नहीं करना चाहिये, इससे उल्टा करना चाहिये। जैसे ही तुम अपने अंदर जरा-सी चिंता या अशांतिका अनुभव करो तो तुरंत उसे दोहराओ जो मैं तुम्हें सुनानेवाली हूं। मैं तुम्हें आज जो बात बता रही हूं इसे सारे वर्ष याद रखो। तुम इसे सवेरे-सांझ दोहरा सकते हो, इससे लाभ होगा। तो, अब पहले फ्रेंचमें और फिर अंगरेजीमें सुनो:

"कोई भी मानव इच्छा अंततः 'भागवत इच्छा' के विरुद्ध सफल नहीं हो सकती। आओ, हम अपने-आपको जान-बूझकर ऐकांतिक

भावसे भगवान्‌के पक्षमें रखें, और अंततोगत्वा 'विजय' निश्चित है।"

अब मैं तुम्हें श्रीअरविंदसे पूछे गये दो प्रश्न और श्रीअरविंदके उत्तर सुनाऊंगी। ऐसी बात नहीं है कि ये प्रश्न मनकी कोई श्रेष्ठ स्थिति दर्शाते हैं, लेकिन मेरा ख्याल है कि बहुत-से लोग अपने-आपको इस प्रकार-की मनःस्थितिमें जा गिरने देते हैं। इसलिये मेरा ख्याल है कि ये उत्तर बहुत-से लोगोंके लिये बहुत उपयोगी होंगे।

यह रहा पहला प्रश्न :

"मुझे लगता है कि हमारे 'रूपांतर' के योगको स्वीकार करने-वालोंकी संख्या बौद्ध धर्म, वेदांत या ईसाइयतको स्वीकार करने वालोंके बराबर नहीं हो सकती।"

यह रहा श्रीअरविंदका उत्तर। उनका विनोद देखो। मैं उनके विनोदकी ओर तुम्हारा ध्यान खींचती हूं।

"संख्यापर कुछ भी निर्भर नहीं है। बौद्ध धर्म या ईसाइयत माननेवालोंकी संख्या इतनी अधिक इसलिये है क्योंकि अधिकतर लोग उसे केवल एक ऐसी मान्यताके रूपमें स्वीकार करते हैं जो उनके बाह्य जीवनमें जरा भी फर्क नहीं पैदा करती।

"अगर नयी चेतना इतनेसे ही संतुष्ट हो जाय तो वह उनकी अपेक्षा बहुत ज्यादा आसानीसे सारी धरतीकी मान्यता, स्वीकृति और श्रद्धांजलि पा सकती है। क्योंकि वह एक अधिक बड़ी चेतना — 'सत्य-चेतना' — है इसलिये वह वास्तविक परिवर्तनपर आग्रह करेगी।"

दूसरा प्रश्न :

"आपने कहा कि हमारे योगका उद्देश्य निर्वाणसे परे जाना है, लेकिन आश्रममें ऐसे लोग बहुत कम हैं जो निर्वाणतक भी पहुंचे हों या जिन्होंने वहांतक पहुंचनेकी कोशिश की हो। निर्वाणतक पहुंचनेके लिये भी अहं और कामनाका त्याग तो करना ही होगा। क्या यह कहा जा सकता है कि आश्रममें

कुछ थोड़े-से साधकोंने भी इसमें सफलता पायी है? निश्चय ही, हर एक इस दिशामें कुछ प्रयास कर रहा होगा। तब वे सफल क्यों नहीं होते? क्या थोड़े-से प्रयासके बाद वे अपने लक्ष्यको भूल जाते हैं और यहां सामान्य जीवन बिताने लगते हैं?"[१]

और अब उत्तर:

"मेरा ख्याल है कि अगर निर्वाणका लक्ष्य सामने रखा जाता तो बहुत-से उसके योग्य निकल आते। क्योंकि हमने जो लक्ष्य अपने आगे रखा है उसकी अपेक्षा निर्वाणका लक्ष्य अधिक सरल है — लोगोंको उस स्तरतक पहुंचना इतना कठिन न लगता। यहां सब तरहके और सब स्तरोंके साधक हैं। लेकिन जिन लोगोंने प्रगति कर ली है उनके लिये भी वास्तविक कठिनाई है बाहरी मनुष्यके साथ। उनमें भी जो प्राचीन आदर्शका अनुसरण करते हैं, कुछ पा लेनेके बाद भी, बाह्य मनुष्य प्रायः जैसा-का-वैसा बना रहता है। आंतरिक सत्ता मुक्त हो जाती है, लेकिन बाह्य सत्ता अपने बंधे हुए स्वभावका अनुसरण करती रहती है। हमारा योग तभी सफल हो सकता है जब बाह्य मानव भी बदले, पर यह सबसे कठिन चीज है। यह केवल उच्चतम प्रकाशके निम्नतम प्रकृतिमें अवतरणके द्वारा भौतिक प्रकृतिके परिवर्तनसे संभव है। इसी जगह संघर्ष हो रहा है। यहांके अधिकतर साधकोंकी आंतरिक सत्ता, वह अभीतक चाहे कितनी भी अपूर्ण क्यों न हो, अब भी साधारण मनुष्यसे काफी भिन्न है, लेकिन बाहरी सत्ता अपने पुराने तौर-तरीकों, आचार-व्यवहार और आदतोंसे चिपटी रहती है। ऐसा लगता है कि बहुतोंकी तो परिवर्तनकी आवश्यकताके बारेमें अभी आंख ही नहीं खुली है। जब यह चीज अनुभव और सिद्ध कर ली जाय तभी इस आश्रममें भी योग अपना पूरा परिणाम दिखायेगा, उससे पहले नहीं।"[२]

---

[१] २९ अप्रैल, १९३४ की चिट्ठी।
[२] ३० अप्रैल, १९३४ की चिट्ठी

वस्तुतः, यह अगले वर्षका कार्यक्रम है, मेरे बच्चो। आशा करती हूं कि अगले वर्ष मैं कह सकूंगी कि बहुतोंने अपने बाह्य जीवनको अपनी गहरी अभीप्साकी अभिव्यक्ति बनानेकी कोशिश की है। अभी तो ऐसे बहुत नहीं हैं।

अब चूंकि हमने कठिनाइयोंकी बात की है इसलिये मैं तुम्हें दो छोटी-छोटी चीजें पढ़कर सुनाऊंगी जो तुम्हें इसकी एक झलक देंगी कि सत्य चेतना क्या है, जो सभी कठिनाइयोंसे मुक्त है और सभी संघर्षोंसे परे है।

पहली यूं है — शायद तुमने यह पढ़ी हो, पर मुझे नहीं लगता कि तुम भली-भांति समझे हो। इसका शीर्षक है:

एक दिन
कुछ अधिक

एक दिवस जब सभी अधमरे खत्म किये जायेंगे,
एक दिवस, जब सभी अजन्मे व्यक्त बने आयेंगे;
एक रास्ता छोटा, लक्षावधि महानतम,
एक स्पर्श जो लाये दिव्य परम पूर्णोपम।

पर्वतसे पर्वतपर चढ़ते गये और अब,
सम्मुख है उत्तुंग खड़ी यह अंतिम चोटी,
यह शिखर जिसपर ना कोई चरण रख सका:
एक कदम, हो गया सकल नभ और देवता।

— श्रीअरविंद

और फिर यह:

"फटे हुए चिथड़े में भी मैं एक देवता;
भ्रष्ट पतित हूं, फिर भी मैं तो दिव्य पुरुष हूं;
मैं उदग्र विजयी हूं जब पद-दलित पराजित,
आयु दीर्घ होती जब मेरा वध होता है।"

— श्रीअरविंद

तो यह रही।

मैंने कहा था कि अगर कोई "समझदारी" के प्रश्न पूछे तो शायद मैं उत्तर दूंगी।

वर्तमान समयमें कौन-सी मानव इच्छा विशेष रूपसे भागवत 'इच्छा' के विरुद्ध है?

तुम किस दृष्टिकोणसे पूछ रहे हो?

समस्त मानव इच्छा जो भागवत 'इच्छा' के विरुद्ध है भगवान्-विरोधी इच्छा है। बस यही। वह कहां अभिव्यक्त होती है इसका महत्त्व नहीं, भले वह तुम्हारे अन्दर ही क्यों न हो!

जानते हो, भागवत जीवनमें राजनैतिक दलबंदी नहीं होती। (हंसी) वहां केवल चेतनाके स्तर हैं।

(एक बालकसे) तुम्हें कुछ पूछना है? तुम्हें?

जी, नहीं, माताजी, आप इन कविताओंको समझा देंगी?

समझाना? समझानेकी कोई बात नहीं है। वे स्वयं अपने लिये, बहुत स्पष्ट रूपसे बोलती हैं। कविता समझायी नहीं जा सकती। तुम्हें उसे अनुभव करना चाहिये, उसके बारेमें तर्क नहीं करना चाहिये। काव्य-की प्रेरणा तर्क-बुद्धिसे परे होती है। तुम्हें उसे तर्क-बुद्धिके क्षेत्रमें नहीं उतारना चाहिये, क्योंकि तब वह बिगड़ जाती है। वह ज्यादा अच्छी तरह अनुभव... उसे शब्दोंकी अपेक्षा आंतरिक संपर्कके द्वारा ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

माताजी, चौदह महीनोंकी जगह बारह क्यों नहीं?

ओहो, यह बात, मेरे बालक, यह तुम पूछ सकते हो...। हां तो, ऐसे लोग हैं जो ग्रहोंपर विश्वास करते हैं। वह कहेंगे: "ग्रहोंसे पूछो।" बात ऐसी है! तुम्हें विकसित होनेमें अमुक संख्यामें वर्ष क्यों लगते हैं? क्योंकि चीजोंकी प्रकृति ऐसी है। हां तो, इस संघर्षकी प्रकृति ऐसी ही है। यानी, परिणाम प्राप्त करनेके लिये शक्तियोंका अमुक विकास जरूरी है; और शक्तियोंके इस विकासमें लगभग इतने महीने लगते हैं।

मधुर मां, यहां लिखा है: अंतिम विजय निश्चित है।[1] अगर

---

[1]बच्चा फ्रेंच वाक्य गलत समझा था। "अंततोगत्वा" की जगह उसने समझा: "अंतिम 'विजय' निश्चित है।"

यह भागवत 'इच्छा' है तो हर एक विजय क्यों निश्चित नहीं है?

(माताजीको प्रश्न अच्छी तरह नहीं सुनायी दिया तो बालक ने फिरसे कहा।) **अगर यह भागवत 'इच्छा' है तो हर विजय निश्चित क्यों नहीं है, सिर्फ अंतिम 'विजय' ही क्यों?**

नहीं, उसका यह मतलब नहीं है। उसका मतलब यह है कि अंततोगत्वा 'विजय' निश्चित है। 'घटना-चक्र कैसा भी क्यों न हो, उतार-चढ़ाव, कठिनाइयां और विभिन्न संघर्षोंकी विभिन्न समस्याएं कैसी भी क्यों न हों, मोड़के अंतपर 'विजय' निश्चित ही है, क्योंकि यह निश्चित है कि भगवान् विजयी होंगे। उसमें अधिक या कम समय लग सकता है। मैंने कहा है — अंगरेजीमें मैंने "फाइनली" शब्दका प्रयोग किया है, यानी, अंतमें, अंततोगत्वा कोई मानव इच्छा भागवत 'इच्छा' के विरुद्ध नहीं टिक सकती। अंततोगत्वाका अर्थ है सब चीजोंके बावजूद... इसे हम भागवत धैर्य कह सकते हैं। समस्त भागवत धैर्यके बावजूद एक ऐसा समय आता है जब मानव इच्छा अपने-आपको निःशेष कर देती है और भागवत 'इच्छा' विजयी होती है।

हम हमेशा कालको अपनी छोटी-सी मानव अवधिसे नापते हैं; लेकिन स्वभावतः भागवत शक्तियां उसी मापका उपयोग नहीं करतीं जिसका हम उपयोग करते हैं। हमें जो मार्ग लंबा और अनिश्चित मालूम होता है, वह उनके लिये सभी बातोंके होते हुए, सबसे सीधा और निश्चित मार्ग हो सकता है, अपने लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये उस समयकी परिस्थितियोंमें सबसे सीधा मार्ग हो सकता है। और यह लक्ष्य है भागवत 'इच्छा' की अभिव्यक्ति, वह 'इच्छा' चाहे कुछ भी क्यों न हो। उदाहरणके लिये, हमें जो रास्ता लंबा, दुःखदायी और अनिश्चित मालूम होता है वह ऐसा इसीलिये लगता है क्योंकि हम पूरा चित्र नहीं देखते, हम एक बहुत ही छोटा-सा हिस्सा देखते हैं जो हमारे अनुपातमें होता है। हमारी दृष्टि बहुत ही तंग होती है, पीछेकी ओर भी बहुत तंग, आगेकी ओर भी बहुत तंग। मेरा मतलब सामान्य मानव दृष्टिसे है। उदाहरणके लिये, करोड़ोंमें एक आदमी ऐसा नहीं मिलेगा जो यह कह सके कि दस वर्ष बाद उसे क्या होगा, भले वह बहुत-सी योजनाएं, परियोजनाएं बनाता रहे और अपने जीवनको व्यवस्थित करनेकी कोशिश करे; लेकिन वह निश्चयके साथ नहीं कह सकता कि क्या होगा, क्योंकि उसकी दृष्टि बहुत तंग है। भगवान्‌की निगाह ऐसी नहीं है।

वह (मानव दृष्टि) बहुत तंग है, स्थानमें बहुत ही सीमित है, बहुत ही रेखाकार है; इसका मतलब है कि चीजें एकके बाद एक आती हैं; जब कि भगवान्‌की दृष्टि सार्वभौम है जो समस्याको उसकी पूर्ण समग्रतामें देखती है, केवल ऊपरी तलपर नहीं, गहराईमें भी। उसके अंदर समस्याके सभी तत्त्व समाये रहते हैं और वह किसी भी बिंदुकी उपेक्षा किये बिना उसका समाधान करती है। लेकिन मनुष्य सीधी लकीरमें चलता है और अगर उसे ही चीजोंका निर्णय करना होता तो वह सब जो उसकी सीधी लकीरसे इधर-उधर रह जाता है, जिसकी वह परवाह नहीं करता, बिना किया रह जाता। भगवान्‌की गति व्यापक है जो अपने अंदर समस्त विश्वको उसके पूर्ण रूपमें समो लेती है और इस विश्व और इन परिस्थितियोंके संबन्धमें सबसे सीधा मार्ग अपनाती है। और सबसे सीधा मार्ग गोलाकार हो सकता है, यह जरूरी नहीं है कि वह सीधी रेखा हो।

माताजी, आपने कहा है कि अगला वर्ष कठिन होगा। क्या यह...

ओह, हां! अगला वर्ष... अभी कुछ घंटोंमें! (हंसी) तो?

यह वर्ष आश्रमके लिये कठिन होगा या भारत और सारी दुनियाके लिये भी?

सामान्यतः संसार, भारत, आश्रम और व्यक्ति। हर एकके लिये उसके रूपके अनुसार; स्वभावतः, हर एकके लिये एक ही तरीकेसे नहीं। कुछ चीजें औरोंकी अपेक्षा ज्यादा सरल मालूम होंगी। तुम चाहो तो मैं तुम्हें बतला सकती हूं कि सामान्य रूपमें यह वर्तमान 'सिद्धि' और 'उपलब्धि' पर विजय पानेके लिये विरोधी शक्तियोंकी अंतिम आशा है। अगर इन महीनोंमें तुम डटे रह सको, तो इसके बाद वे बहुत कुछ न कर सकेंगी, फिर टूटकर टुकड़े-टुकड़े होता हुआ विरोध होगा। बात ऐसी है: यह मुख्य रूपसे विरोधी शक्तियोंका, भगवान्‌का विरोध करनेवाली शक्तियोंका संघर्ष है जो, जहांतक हो सके... उन्हें आशा है कि वे भागवत 'सिद्धि' को हजारों वर्षोंके लिये पीछे धकेल सकेंगी। और यह संघर्ष अपने चरम बिंदुपर आ गया है। यह उनके लिये अंतिम अवसर है; और जो इन बाह्य कार्योंके पीछे हैं वे पूरी तरह सचेतन सत्ताएं हैं। उन्हें भली-भांति मालूम है कि यह उनके लिये अंतिम अवसर है, और वे इसमें अपनी पूरी सामर्थ्य उंडेल देंगी, और वे बहुत कुछ कर सकती हैं। वे छोटी-मोटी

सामान्य मानव चेतनाएं नहीं हैं। वे मानव चेतना बिलकुल नहीं हैं। वे ऐसी चेतनाएं हैं जो मानव संभावनाओंकी तुलनामें, अपनी शक्ति, अपने बल और अपने ज्ञानमें भी भागवत मालूम होती हैं। इसलिये यह भीषण संघर्ष है और यह पूरी तरह धरतीपर केंद्रित है क्योंकि उन्हें मालूम है कि प्रथम विजय धरतीपर ही प्राप्त करनी होगी — वह निर्णायक विजय होगी, ऐसी विजय जो धरतीके भविष्यकी दिशाका निर्णय करेगी।

जो उदात्त हृदयवाले हैं और जो अपना सिर उस समय ऊंचा रख सकते हैं जब चीजें खतरनाक हो रही हों, वे प्रसन्न हो सकते हैं। यह स्वयं अपने-आपसे ऊपर उठनेका अवसर है। ऐसी बात है।

हम भागवत 'इच्छा' में कैसे बदल सकते हैं?

अपनी इच्छाको भागवत 'इच्छा' में बदल सकते हैं? मैं तुम्हारा प्रश्न नहीं समझ पायी।

(एक और बालक दोहराता है) **अपने-आपको भागवत 'इच्छा' में कैसे बदल सकते हैं?**

बात अच्छी तरहसे नहीं कही गयी इसलिये मैं नहीं समझ पायी। बदलना, मतलब — अपनी इच्छाको भागवत 'इच्छा' में रूपांतर करना। तो तुम यह कहना चाहते हो?

जी, हां।

पहले तो तुम्हें यह चाहना होगा। फिर तुम्हारे अंदर बड़ी अभीप्सा होनी चाहिये। और फिर तुम्हें लगातार चाहना चाहिये, और लगातार अभीप्सा करनी चाहिये और जब कठिनाइयां आयें तो तुम्हें झुकना न चाहिये, और तबतक चाहते रहना चाहिये जबतक तुम सफल न हो जाओ। बस। और फिर, कुछ और चीजें भी जरूरी हैं, जैसे स्वार्थी न होना, छोटा, संकीर्ण मानस न होना, पसंदोंके साथ न रहना, कामनाओंका न होना, मानसिक मतका न होना — बहुत-सी चीजें। यह एक काफी लंबी प्रक्रिया है क्योंकि तुम्हें अपनी सामान्य प्रकृतिको बदलना पड़ेगा। यह पहली शर्त है।

अपने मनकी सभी सीमाओंको तोड़कर, अपने प्राणकी सभी कामनाओं-को तोड़कर, अपने भौतिककी सभी अभिरुचियोंको तोड़कर, यह सब करने-

के बाद तुम भागवत 'इच्छा' के साथ संपर्ककी आशा कर सकते हो; और तब, उसके बाद, उसके साथ केवल संपर्क ही नहीं, तुम्हें पूरी तरह भागवत 'इच्छा' को ही जीवनमें उतारना चाहिये, मतलब यह कि अपनी सारी सत्तामें उसके साथ एक होना चाहिये। एक टुकड़ा भी ऐसा न होना चाहिये जो इस तरफ जाता हो जब कि दूसरा टुकड़ा उस तरफ जाता हो। तुम्हें पूरी तरह एक मनका होना चाहिये।

मधुर मां, जब हमें कठिनाईका सामना करना पड़े तो क्या इसका यह मतलब होता है कि भगवान् हमें अपनी प्रकृतिके दोषोंके बारेमें सचेतन करना चाहते हैं?

अगर तुम उसका सामना करो तो हां। यानी, अगर तुम कठिनाईके सामने आते ही भीरुकी तरह झुक जानेकी जगह, उसपर विजय पानेकी कोशिश करना शुरू करो तो तुम यह विश्वास कर सकते हो कि तुम्हारी पीठपर भगवान् हैं! लेकिन अगर तुम कायर हो तो भगवान् वहां न होंगे। यानी, तुम्हारी कायरता तुम्हें भगवान्से अलग कर देगी। लेकिन अगर तुम प्रतिरोध करो और विजय पाना चाहो तो विश्वास रखो तुम्हारी सहायताके लिये भगवान् मौजूद होंगे। इसमें नामको भी संदेह नहीं है।

लेकिन मैं यह जानना चाहता हूं कि — जब कोई कठिनाई आये तो — क्या भगवान् हमें इस बारेमें सचेतन करना चाहते हैं कि हमारे अंदर दोष हैं?

क्या वे जान-बूझकर तुम्हारे मार्गमें कठिनाइयां लाते हैं? नहीं। यह उनका तरीका नहीं है।

जी नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है। अगर कोई कठिनाई आये तो क्या इसका मतलब यह है कि भगवान् हमारी प्रकृतिके दोषोंके बारेमें हमें सचेतन करनेकी कोशिश कर रहे हैं, हमारे दोष दिखा रहे हैं?

नहीं, जरा सोचो तुम क्या कह रहे हो। अगर कठिनाई आनेकी वजहसे तुम सचेतन होते हो, तो इसका मतलब यह नहीं है कि भगवान्ने

तुम्हें सचेतन करनेके लिये कठिनाई पैदा की है; ऐसा लगता है कि तुम्हारा प्रश्न यही कहता है।

जी हां।

लेकिन यह सच नहीं है। बिलकुल निर्वैयक्तिक रूपसे यह कहा जा सकता है कि विरोधी शक्तियां — जो निश्चय ही सब कठिनाइयोंके लिये जिम्मेदार हैं — ये विरोधी शक्तियां संसारमें उसी हदतक सही जाती हैं जिस हदतक वे संसारको पूरी तरह सचेतन बनानेका काम करती हैं। यह निश्चय ही सच है। लेकिन मुझे लगता है कि यह बात कहनेका बहुत ही मानवीय तरीका है, क्योंकि यह कहा जा सकता है कि जबतक संसार पूरी तरह सचेतन नहीं हो जाता तबतक उसमें इन विरोधी शक्तियोंका अस्तित्व रह सकता है, यानी, वह उनके अनुकूल होता है। संसारकी अचेतना इन शक्तियोंके अस्तित्वके अनुकूल होती है। तो तुम यह भी उसी तरह कह सकते हो जैसे यह कि जबतक संसार अचेतन है तबतक इन शक्तियोंको सहन किया जाता है। पता नहीं तुम समझ रहे हो या नहीं। यह एक ही बात कहनेके दो विरोधी तरीके हैं और दोनोंमेंसे कोई भी पूर्ण सत्य नहीं है। लेकिन दोनोंमें कुछ-कुछ सत्य है, पर साथ ही कुछ ऐसा भी जो एकदम भिन्न है। और तथ्य तो यह है कि अगर तुम इस बातको एकदम ठीक-ठीक कहना चाहो तो कहना होगा: "चीजें ऐसी हैं क्योंकि वे ऐसी हैं।"

भूल न करनेका बस यही तरीका है। अगर तुम कहो: "संसार ऐसा है क्योंकि वह ऐसा है," तो निश्चय ही तुम ऐसी बात कहते हो जो लगभग ठीक है — लगभग। लेकिन अगर तुम व्याख्या करनेकी कोशिश करो तो तुम जगत्में एक परमाणु देखोगे और इस परमाणुको ही व्याख्या समझ लोगे। तुम्हें सद्वस्तुके पासतक पहुंचनेके लिये सब व्याख्याएं और अन्य भी बहुत-सी बातें कहनी होंगी।

मैंने अभी यही कहा था: मनुष्यका मन अपनी क्रियामें रेखाकार है। वह विचारोंको एकके बाद एक देखता है। स्वभावतः जब तुम उसके बारेमें बोलते हो तो स्थिति उससे भी दस गुनी ज्यादा खराब होती है। तुम्हें एक शब्दके बाद दूसरा शब्द बोलना पड़ता है और यह भयंकर हो जाता है। लेकिन अधिकतर लोग, लगभग सभी मनुष्य रेखाकारमें सोचते हैं। वे एकके बाद दूसरी चीज सोचते हैं। वे एक साथ बहुत-सी चीजें नहीं सोच सकते। बहुत ही कम लोग एक साथ, यूं कह लें, बीस बातें

सोच सकते हैं। तुम कोशिश करके देख लो। तुम एकके बाद एक, एकके बाद एक चीजें सोचते हो...। उनका अनुक्रम बहुत तेज हो सकता है, लेकिन वह है अनुक्रम ही। यह बहुत भिन्न प्रकारकी दृष्टि और भिन्न प्रकारकी क्रियाशीलता है; मनकी नहीं, बौद्धिक शक्तियोंकी क्रियाशीलता जो चीजोंको उनकी समग्रतामें और एक ही समयमें देख सकती हैं। लेकिन जब तुम उन्हें इस तरह देख लो और फिर, उनका लिखकर या बोलकर वर्णन करनेकी कोशिश करो तो तुम सारी चीज एक साथ, एक ही समयमें नहीं लिख सकते, सब कुछ एक साथ नहीं बोल सकते; तुम्हें एक शब्दके बाद दूसरेका उपयोग करना पड़ता है और तब आवश्यक रूपसे... इससे चीजका सत्य नष्ट हो जाता है, वह रेखाकार हो जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि सत्यतम वस्तुएं कही नहीं जा सकतीं। तुम जो कुछ कहते हो वह सब सत्यका घटिया या अल्प-रूप है।

मधुर मां, अगर यह वर्ष हमारे लिये कठिन है तो हमें क्या करना चाहिये?

तुम्हें क्या करना चाहिये? बहुत अच्छे बनो (हंसी), बहुत अच्छे, बहुत स्थिर-शांत, अच्छी तरह काम करो, बहुत आज्ञाकारी बनो, तुमसे जो कहा जाय वह करो और विद्यालयमें नियमित बनो। (हंसी) यह सब — यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

माताजी, अगर हम इन चौदह महीनोंमें सफल हो जायं तो क्या बादमें सब कुछ आसान हो जायगा या आजकलके जैसा ही रहेगा? क्या तब कठिनाइयोंको जीतना ज्यादा आसान होगा?

वत्स, यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है। अगर तुम इन चौदह महीनोंमें बहुत प्रगति कर लो, तुम बहुत अच्छे और बहुत समझदार बन जाओ, बहुत सचेतन, बहुत नियमित हो जाओ तो इसके बाद ज्यादा आसान होगा। लेकिन अगर तुम अपने दिन यूं ही, समय बितानेमें खर्च करो और कोई प्रगति न करो तो तुम अपने-आपको उसी स्थितिमें पाओगे जहां आज हो, इससे अच्छी हालत न होगी।

यथार्थ रूपमें, हर एकको यह प्रगति करनेका अवसर दिया गया है।

अगर कोई इसका उपयोग नहीं करता तो उसीका बुरा होगा, वह जहां है वहीं बना रहेगा। और जगत्में एक सचेतन तत्त्व होनेकी जगह, वह पानीपर उतराता हुआ काग होगा जिसे परिस्थितियां इधरसे उधर फेंकती रहेंगी। घटनाओंपर जरा भी अधिकार पाये बिना वह जो कुछ हो रहा हो उसके द्वारा इधर-उधर बहाया जायगा। क्योंकि घटनाओंपर अधिकार पानेके लिये पहली आवश्यक चीज है पूरी तरह सचेतन और अपना स्वामी होना; और मेरा ख्याल है कि तुम इस उपलब्धिसे काफी दूर हो — जिसका मतलब है कि तुम्हें इस कालमें जरा अधिक सचेतन और जरा अधिक आत्म-संयत होनेके लिये बहुत प्रयास करना चाहिये। तुम्हें यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि अचानक एक आनन्दमय स्वर्ग बन जायगा जहां तुम्हारे दोष मानों जादूसे गायब हो जायेंगे। बात ऐसी नहीं है।

तुम्हारे दोष गायब होंगे अगर तुम उन्हें गायब करनेके लिये जो करना जरूरी है वह करो, अन्यथा नहीं।

अन्यथा तुम ज्यादा सरल वर्षोंमें इन्हीं दोषोंके साथ चलते रहोगे और वही छोटे-से मधुसूदन[1] बने रहोगे जो जरा भी न बदला होगा।

तो यह बात है, मेरे बच्चो। मेरा ख्याल है इतना काफी है।

किसीको कुछ नहीं कहना है?

चलो, एक, दो, तीन, गया![2]

फिर मिलेंगे।

---

[1]प्रश्न करनेवाले एक लड़केका नाम।

[2]नीलाममें बोली खत्म करनेकी तरह।

विषयानुक्रमणिका

अंतरात्मा ११९
  सामने है कैसे जानें? ६-८
  में सीधा देख सकनेकी शक्ति ८-९
  से संपर्क : और उसका फिरसे छूप जाना २५, ३३-४; दूसरी बार आसानीसे २५; ३४; और अवसाद ३३, ३४; जब अभीप्सा करते ही ३४; जब स्थायी, फल ३४, १३०
  की व्याख्या २८
  का मूल स्रोत २८-९
  से सचेतन व्यक्ति, कम ५६
  की आवाज ७४
  (दे० 'चैत्यपुरुष' तथा 'जानना', 'बालक', 'मृत्यु', 'समय' भी)
अंतर्दर्शन (की प्रतिभा) ३४६-४८
  'सूक्ष्मदर्शी होनेका पेशा ३४६-४७
  के बिना भी पूर्णता ३४८

सूचना :

ऐसे पढ़ें :

कठिनाई	दूसरे	इंद्रियां	खेल	प्रभाव
यां	-सें	-ंका	-ंमें	हर, के
कठिनाइयां	दूसरोंसे	इंद्रियोंका	खेलोंमें	हर प्रभावके

(२) जिन वाक्योंमें केवल शुरूमें (') है, वह अपने-आपमें पूरा वाक्य है। उन्हें मूल शब्दके साथ मिलाकर न पढ़ें। उदाहरण के नीचेके सभी वाक्य स्वतंत्र वाक्य हैं।

(३) जहां (") का आरंभ नहीं दिखाया गया, वहां मूल शब्दसे पहले (") कल्पना कर लें।

(४) कहीं-कहीं अधिक स्पष्टताके लिये लिखा है :

(दे० 'दोष' -ंको भी या 'संकल्प' कि भी) इसका मतलब है कि दोष के नीचेका वह वाक्य जो -ंको से और 'संकल्प' के नीचेका वह वाक्य जो कि से शुरू होता है।

(५) पृष्ठसंख्याके बाद अ का मतलब है कि वह प्रसंग उस पृष्ठके अंतसे शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठके आरंभतक ही गया है।

(६) जहां वाक्य रचना मूल शब्दके साथ संगत न जान पड़े, वहां मूल शब्दके आगे कोष्ठकमें जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़नेसे वह संगत बन जायगी।

अंतर्दृष्टि ३७१
अंतर्भास ४०६, ४१२-१३
अंधकार [छाया] १२५, १७९, २०१, २०२
(दे० 'काला तत्त्व' तथा 'जगत्', 'प्रकाश', 'स्पंदन' भी)
अंधविश्वास १९१, १९३, १९५, २३२
अचेतना २०८, २१०
और असत्यताका खेल १२५
(दे० 'अज्ञान', 'जगत्', 'मनुष्य' भी)
अच्छा और बुरा ३ (दे० 'चीज' भी)
अच्छे-से-अच्छा
होगा १२२, ३४२-४३
अज्ञान १००, २०४, २३६, २८३
व अचेतना कारण : भयका ४९-५१; क्रूरताका ६५
का त्रिविध जगत् २७०अ
(दे० 'जगत्', 'भूल', 'मनुष्य', 'लक्ष्य', 'संबन्ध', 'सहायता' भी)
अतिमानस [अतिमन]
विज्ञानमय क्षेत्र ९२
के पूर्वास्वादकी बात ४०५-६
की निचली श्रेणियां ही पहले अभिव्यक्त होंगी ४०७
(दे० 'मन' भी)
अतिमानसिक अवतरण
की ओर पहला कदम ४४०
(दे० 'भौतिक रूपांतर' भी)
अतिमानसिक उपस्थिति
भौतिकके केंद्रमें छिपी २०७
अतिमानसिक ज्ञान
और शक्तिकी सहायतासे प्रहार या दुर्घटना या भूल बड़ी प्रगतिके अवसर २८४-८५
अतिमानसिक शक्ति
ही नीचेसे उद्घाटन करते हुए भौतिक प्रकृतिपर सफलतापूर्वक कार्य..अर्थ २०५-६
(दे० 'नयी शक्ति', 'भागवत शक्ति' 'जगत्' भी)
अतिमानसिक सत्य
अचंचल मनमें ही ३२१
अतिमानसिक सृष्टि ३२१
अधिमानस
की सत्ताएं और चैत्यपुरुष १५९अ
अध्ययन
'बुरी पुस्तकें पढ़ना ७५, ३५०
के अतिरिक्त क्या हमें कुछ और काम भी करना..१५१-५२
-विशेषके लिये आकर्षण १७४
(दे० 'पुस्तक', 'प्रयास', 'मन', 'संवेदन', 'समझना' भी)
अध्यवसाय २७, ७७, १८५, २५१, ४१०, ४३० (दे० 'प्रयास', 'डटे रहना' भी)
अध्यापक की बात न काटूंगी ४२२
अनंतता का भाव ८०, ३३९-४०
अनुभव [अनुभूति]
अंतरात्माके सामने होनेका ६-८
अनोखी, दुःखके केंद्रमें..१४४
अतिमानसिक, पानेका दिखावा न करो २९५
कि हम कुछ नहीं हैं २९७, ३१६, ३२४, ३३२
अंदरसे कोई चीज पलट जानेकी ३२६
अपनेमें बंद होनेका ३२६, ३८२

दे० 'उदाहरण' पिंजरा भी
-यां मानसिक स्तरपर : अर्थ ३४४
मानसिक तैयारीके बिना ३४४
-यां किस बातपर निर्भर ३४४-४५
-यां और लामकी बात ३४५
-यां साधारण क्रममें ३४५-४६; ये सनसनीदार अंतर्दर्शन नहीं ३४६
ठोस कुन्देकी ३५३अ
शांति व अनुकंपाकी तथा भगवान्-की, सब जगह ३५५-५६
मेंसे जब निकल आते हो ३५५
बाहरी रूपोंकी अवास्तविकताकी ३५८
'भान, केंद्रीय इच्छाका ४११-१२
आध्यात्मिक, क्या है ? ४२०-२१
के लिये अमीप्साकी जगह प्रगति-लिये अमीप्सा . . ४२१
स्वप्नगत दे० 'स्वप्न'
(दे० 'जानना', 'ज्ञान', 'दुर्घटना', 'द्वार', 'नीरव आत्मा', 'भगवान्', 'वाणी', 'वृत्ति', 'सोचना' भी)

अनुशासन १३, ४१, ५७, ७७, ७८, ३४८, ३४९, ३६७
(दे० 'तपस्या' भी)

अपराधी २६०, ३१२

अपूर्णता ११६, १७६, ३५३
(दे० 'कमजोरी'-यां, 'योग' भी)

अभिमान [मिथ्याभिमान, घमंड, गर्व] २०, ११६, १९४, २२०, २३५, २६२, २९६, २९७, ३९२, ४२४

आध्यात्मिक १८१, ४१७अ
मानसिक : अर्थ २३८-३९
आहत, से छुटकारा कैसे ३९५-९६

अभिव्यक्ति
उत्तरोत्तर विकसनशील ३२
-यां हमेशा सापेक्ष ४०७
(दे० 'चेतना', 'नयी शक्ति', 'शक्ति' भी)

अभिव्यक्ति
से इंकार, निम्न गतियोंकी ३२३-२४

अभीप्सा [चाह] ३३, ३६, १९३, २०९, २५१, ३०७, ३२३, ३२४, ३३५, ३६९, ३७९, ३८८, ३९०, ४४८
की ज्वाला बन जाओ २९, १३७
महान्, से शक्ति-आहरण ८०
की नीरव वृत्ति जो स्वयं शब्द या ध्वनिमें अनूदित . . ९७-८
में सक्रियता : अर्थ ११०
और निष्क्रियता बारी-बारी ही नहीं, साथ-साथ भी १११-१२
की शक्ति सबमें समान, प्रभाव भिन्न ११३-१४
का प्रत्युत्तर ११४, ३९५
और श्रद्धा ११९, ३८६, ३९४
की तीव्रता : सब चीजें, परिस्थितियां सहायता करनेके लिये सुव्यवस्थित कर दी . . १७४-७५ दे० 'चैत्यपुरुष' भी
करो' – 'अभीप्सा दीजिये' २०७
व सहायताकी मांग एक अंशमें, दूसरेमें विरोध २३९-४०
सदियोंकी, तुम्हें यहां ले आयी है २६८, २९१

परम 'चेतना' की २८१
द्वारा उच्चतर क्षेत्रकी शक्तियोंको पुकारनेकी स्वतंत्रता २८१-८२
का तत्त्व और भागवत कृपा २८२
तीव्र, पर स्थिर ३२१, ३३१
राजसिक उत्कण्ठावाली ३२१, ३३०; और कामना ३३०-३१
उग्रताके साथ ३३०अ, ४१०
में कामनाका मिश्रण ३३१, ३९९-४००
शुद्ध, बहुत कम ३३१
प्रगतिकी, और कठिनाइयां ३५१
हृदयसे आनेवाली ज्यादा प्रबल सिरसे आनेवालीसे ३८१
क्या भिन्न-भिन्न प्रकारकी ? ३८३
मौतिक ३८३
से सब कुछ मिल सकता है ३८६
कर रहे हो यह पता भी न चले, स्वयं अभीप्सा बन जाओ ३९३
आंतरिक संघर्षके साथ ३९४
जब विश्वासके साथ ३९५
'उस ज्वालामें शक्ति, भागवत कृपाको बुलानेकी ४३२
(दे० 'अनुभव', 'आत्मसंतोष', 'उदाहरण', 'उद्घाटन', 'देवता', 'प्रगति', 'प्रयास', 'फूल', 'भगवान्', 'भागवत कृपा', 'वातावरण', 'शरीर' भी)
अमरता ५३
'अमर जीवन : शर्तें ४६-७
(दे० 'त्याग', 'मृत्यु' भी)
अलगाव [पृथक्ताकी भावना] २१८, ४२५
ही दुःख-कष्टोंका कारण ९९-१००
का आरंभ और अंत ९९-१००
(दे० 'विभाजन' भी)
अवचेतना ३३६, ३५९
का मतलब ३१३-१४
उन गोदामोंकी तरह.. ३१३अ
से चीजोंका निरंतर उत्थान, सचेतन बनाये जानेके लिये ३१४
(दे० 'व्यवस्था' भी)
अवसर
खो न बैठना २६६, २६९
ऊपर उठनेका ४४८
(दे० 'आश्रम', 'वृत्ति', 'सीखना' भी)
अवसाद दे० 'निराशा'
अशुद्धि ४२७
अशुभ १७०, २८३
अशुभ व्यक्ति १८टि०
असंतोष ३३, ३४, २१३, २६३, ४१६
असंभव १२३, २६३, ४३२
असफलता [हार]
और भागवत सहायता २३६अ
और भागवत कृपा २४३
असहिष्णुता ४०, ३५२
असुर २५५
से जब भगवान् लड़ते हैं तो असुरमें विद्यमान भगवान् क्या करते हैं? १६८-६९
-ोंकी स्थिति, सृष्टिमें १७०
चार; दो परिवर्तित १७०-७१
चार, का मूल १७१-७२
सचेतन सत्ता है, वह जानता है कि उसका अंत होगा १७१, २३७-३८, ४४७-४८

क्या आपसमें नहीं लड़ते? १७२
-के विरुद्ध 'शक्ति' किस प्रकार काम करती है? २३७
दो प्रकारके: जो मरेंगे और जो परिवर्तित होंगे २४३
(दे० 'विरोधी शक्ति', 'प्राणिक सत्ताएं', 'मिथ्यात्वका स्वामी' तथा 'धन', 'सफलता' भी)
अहं १४, २९, १०३, १८१, २००, २१७, २१८, ३९३, ४००
कार्यपर नहीं, वृत्तिपर निर्भर ३०
से बाहर निकलना होगा ४०, ४१ १३५, ३४८, ३९६
से मरा, अहंमें बंद, अपनेपर ही केंद्रित १३५,१३६, १८३, ४०९
दे० 'अनुभव', 'मनुष्य' भी
से बाहर निकलना: विधि १३५-३७, ३३९-४०
को भगवान्‌में कैसे मिला सकते हैं: कई स्तर २५१-५८; पहली चीज, स्वार्थपूर्ण न होना २५१-५३, ४४८
को भगवान्‌में मिला देनेसे पहले व्यष्टिकृत सत्ता बनो २५३-५८ दे० 'भागवत कृपा'द्वारा भी
की आवश्यकता व्यक्तित्व-निर्माण-के लिये २५७, २५८, ३२८
को चैत्य-केंद्रके चारों ओर संगठित.. २५७
को भगवान्‌में मिला देनेकी घड़ी आ गयी है इसका निर्णय भगवान् करते हैं २५७-५८
की विकृतियां: मतलब २६४
की, प्रयासमें निजी हेतुकी, जब-तक तुम्हें आवश्यकता.. ३२४-२५
से हम इतने आसक्त क्यों ३२८
की गांठ: मतलब ३८१-८२
की गांठको कैसे काटें? ३८२
(दे० 'अभिमान', 'आत्मदया', 'आत्मसंतोष', तथा 'गुण', 'ग्रहणशीलता', 'जीवन', 'दुःख-कष्ट', 'प्रतीक्षा', 'भगवान्', 'योग', 'शारीरिक कष्ट', 'समय', 'समर्पण' भी)

आ

आंतरात्मिक स्थिति ११९
आंत्र पुच्छ १७७
आंदोलन संक्रामक तमी ४१९
आघात दे० 'दुःख-कष्ट'
आज्ञापालन [आज्ञाकारिता] १२७, १२८, १३१, २०१, २०३, ४५१
आत्मदया १८२, ३७९, ३९३, ३९७
आत्मदान १०३, १८२
आत्म-निरीक्षण [अपना अवलोकन] २५९-६१, ३२९, ३९३, ४०९
(दे० 'निरीक्षण' भी)
आत्मनिवेदन
आत्मसमर्पण और समर्पण २२४-२६
आत्म-प्रभुत्व दे० 'स्वामित्व'
आत्म-प्रेम: मतलब २६२-६३
आत्म-संतोष [आत्मसंतुष्ट] ११५, ३३१, ३३२

और अहं ११६
और अभीप्सा कर सकना ११६
प्रयासमें : छुटकारा कैसे ? ३९२-९३
आत्मसंयम दे० 'संयम'
आत्मा दे० 'यंत्र'
आदत
-, पुरानी ४७, १६१
पेटकी १५७, १६१
सिरसे सोचनेकी ३०८-९
आंखोंसे देखनेकी ३०९
(दे० 'काम', 'शरीर' भी)
आदर्श
का विरोधी तत्त्व प्रत्येकमें १७
आध्यात्मिक दे० 'अभिमान', 'शुद्धि', 'सत्य'
आध्यात्मिक जीवन ३९६
और सूक्ष्म अंतर्दर्शन ३४७, ३४८
चाहना और उससे उलटी बातें करना ३८८अ
(दे० 'उदाहरण', 'नैतिकता', 'मानव जाति' भी)
आध्यात्मिक वातावरण
अपना, बाह्य परिस्थितिकी अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण ३४९-५०
अपना, बनानेका उपाय ३४९-५०
आनन्द ३४, ६४, ११६, १७२
निष्ठाका, जो अपना पुरस्कार अपने ही अंदर .. १८२
(दे० 'भागवत आनंद' भी)
आनन्द-सत्ता [आनंदका व्यक्तित्व भगवती माताका] २८७
धरतीपर आ चुकी है २८७
को ग्रहण करनेमें हम अबतक सफल नहीं हो पाये तो कोशिश कर सकते हैं? २८९
उतरी, क्योंकि एक संभावना थी २८९
कब उतरी बता सकोगे ? २८९
(दे० 'आश्रम', 'ग्रहणशीलता', 'भौतिक रूपांतर', 'मनुष्य', 'वातावरण', 'श्रीअरविंद', 'श्रीमाताजी' भी)
आलस्य ११०, २०७, २२४, २६३
(दे० 'तमस्' भी)
आलोचना
न करनेका एक अपवाद ९१
अपनी, और प्रगति ३४३-४४, ३९३ दे० 'दोष' -ोंको भी
(दे० 'शक्ति' भी)
आवेग [आवेश]
को जीतना ७८, ३१६, ३२३, ३५०, ४००, ४१८
-ोंपर मानसिक संयम ३११-१२
क्या हृदयकी कमजोरी है ? ३६९
की लहरोंका अनुभव तभी ४१८
(दे० 'चुनाव', 'विचार' भी)
आशावाद ३०
आश्रम २६७
में जब किसीकी मृत्यु .. ४६-७
में जो ऊर्जा, चेतना उंडेली जाती है वह यदि भागवत कार्यकी तैयारीके लिये प्रयुक्त की जाती तो हम मार्गपर बहुत आगे .. १५४-५५
का भोजन १५७, १६१-६२; और डाक्टर १६१

में जिन लोगोंने कुछ किया है वे उंगलियोंपर गिने .. तो क्या सब प्रयास बेकार १६१-६२
दे० 'श्रीमाताजी' आप आश्रम भी
में आना : चैत्य जब आगे और जब वह उतरने .. १६१
में पहले अंडे क्यों वर्जित १७९
से विद्रोह कर जो चले गये, क्या वे एक दिन लौट आयेंगे ? २४२अ; उनका जीवन सफल प्रतीत .. २४३
की परिस्थिति व अवसरका लाभ उठाना चाहो तो २६५-६६, २६८
में 'चेतना' मौजूद .. यहां प्रगति-की अनन्य संभावना २६५-६६
में तुम किस लिये २६६-६८, २९१
से वे भाग जानेको बाधित हुए इन सत्ताओंके कारण २७८
'अब जब कि आनंद-सत्ता आ गयी है हमें क्या करना चाहिये ? २९०, २९५
'तुम बस, आरामका छोटा-सा जीवन जीते जाते हो २९०, २९१-९२, २९४, २९५
में लोग : यह एक चयन है २९१
में पहले सख्ती, अब .. २९२-९५
में पहली शर्त थी : परिवारके साथ कोई संबंध नहीं २९२
में जबसे बच्चोंकी स्वीकृति २९२ ; इस परिस्थितिका फायदा २९३
'तुम्हारे लिये सब कुछ कर दिया गया है, शब्दोंमें ही नहीं, चैत्य सहायताके .. २९४
की परिस्थितिका लाभ न उठाने का कारण ४१५-१६
के साधक और योगके लिये प्रयास ४१९-२०, ४४२-४३
में शिक्षा व जीवनकी पद्धति स्वाधीनता पर आधारित ४१९
में अच्छे-बुरे कामका पुरस्कार या दंड अपने-आप ४२०
में यदि 'कृपा' पर सरल विश्वास-की वृत्ति अपनाओ ४३४
(दे० 'धन', 'प्रयास', 'बालक', 'भागवत कृपा' द्वारा, 'वातावरण', 'विकास' करना, 'श्रीमाताजी' भी)
आसक्ति [चिपक] ४७, १४५, १७६, ३८८, ४३८
से मुक्ति : उपाय ३३९-४०, ३५३
और पासमें चीजें न होना ४१८

इ

इंद्रियां
पांच नहीं, सात या बारह १०
-ोंका विकास १०-१, ३४८
आंतरिक, सूक्ष्म, भी हैं ३९
-ोंका प्रयोग आत्म-विकासमें कैसे ? ७७-९, ८१-८

'दृष्टि [आंख] साधारण और कलाकारकी ८१; प्रशिक्षित यदि ८१-२, ८४, ८७; मौतिक ही नहीं होती ३५७; से भगवान्‌को देखना ३५८ दे० 'आदत', 'रंग' भी
'घ्राणेंद्रिय [गंध] प्रशिक्षित यदि ८२-३
'स्वाद प्रशिक्षित यदि ८२-३
-के प्रशिक्षणके अभाव और प्रशिक्षणका फल ८६
कोई, असफल हो जाय तो ! ८७-८
(दे० 'उदाहरण', 'दुर्घटना' भी)
इच्छा २०९
करने (willing) और कामना करने (desiring)में फर्क ४००-१
'मानव इच्छा 'भागवत इच्छा'के विरुद्ध सफल नहीं..४४१अ, ४४५
अपनी, को 'भागवत इच्छा' में कैसे बदलें? ४४८-४९
(दे० 'संकल्प' तथा 'भागवत इच्छा' भी)
ईसाई धर्म ४०, ४४२
के अनुसार भयका कारण ५०अ
के भगवान् ११७

उ

उदारता ६, ७१, २०७, २५३
और उसका अंधेरा पक्ष २५९-६०
(दे० 'दूसरे' भी)
उदाहरण बुरा, अधिक संक्रामक १५४
उदाहरण [उपमा आदि पुस्तकके]
'पूर्वज चरित्र-निर्माणमें भागी १
देखकर किसी मनुष्य या चीजकी प्रकृतिके बारेमें कहना १, ८१
चुंबक २, १५३
बीमारोंके बीच रहना..और रोगीके साथ एक घंटा बिताना २
कवि व कलाकारका रोगी-सा दीखना फैशन था ३-४
दर्पणके समान ८, १३५, २५२
बच्चे एककी ओर ललककर जाते, दूसरेसे डरकर भागते ९
अपने कमरेमें लेटे रहकर दूर बगीचेके कमरेमें जो हो रहा है उसे देखना, सुनना १०-१
रेड इंडियन पृथ्वीके साथ कान लगाकर..११
कुत्ता घ्राण-शक्तिके सहारे..११
अंधे लोग दूरीसे स्पर्श..११
स्फटिक जैसा स्पष्ट रूप १२
पानीकी तरह तरल या जेलीफिश जैसा १२, २५५, ३२९, ३४२
मक्खन १२, २५३
बच्चे अपने कपड़े, खिलौने, कापी, कलम सब बिखरे..१३
पुस्तकोंकी लुगदी-सी १३
मेजका खाना, अलमारी सब कुछ अव्यवस्थित १४
बीमार व्यक्तियोंकी व्यवस्था १५
लहरोंपर कार्कके समान १६, ७८, ९५, २५४, ४५२
'मुझे पता नहीं', उत्तर सब प्रश्नोंका १६, ८६अ, ३२९

उदार व्यक्तिमें लोभ, साहसी कहीं कायर . . १७
अच्छा दार्शनिक, रसायन शास्त्री, टेनिस खिलाड़ी बनना . . १९
पढ़ने, लिखने या शोध-कार्यमें लग जाना २३अ
दर्शनका पारायण, धर्मका भक्त, जीवनपर ध्यान-चिंतन, पर विकास या प्राप्ति नहीं २७
मोचीको अनुभूति २७
पर्देपर जैसे चलचित्र २८
धनाढ्य स्त्री, जो समझ न पायी कि किसीको भरपेट खाना नहीं मिलता ३१
जैसे हलके साथ बैल ३५
जैसा मैं करता हूं वैसा करो ३५
लोग, जो पचासके होते ही मरने-की सोचने लगे, पर जिये सत्तासीतक . . जिसे लंबा जीनेकी इच्छा थी पर जल्दी मर गया ४८
लड़का, जिसे बताया गया था कि उसकी मृत्यु गोली लगने . . ४९
कब्र [कफन] में बंद ५०, ४३१
अदनके बागमें सेब खाना ५१
कुछको आगसे, कुछको पानीसे, कुछको जानवरसे भय ५१
हृदयमें कोई छुरा मार दे या सिर काट ले ५४
कांटोंका बिस्तर, टाट ६९
बच्चे, जो चोटके स्थानको दबाते थे ७०
स्वप्नमें शेर, चीते देखना या कहीं जल्दी जाना है, वस्त्र ही नहीं मिलते, जूता पैरमें . . ७३
फ्रांसमें मदिरा बनानेवाले ७४
बक्से या बोतलका माप आंखसे देखकर ८२
उंगलीपर अंगूठी पहनाना ८२
पकाना और गंध-ज्ञान ८२-३
फूलोंकी गंधें ८३
ऊपरी कपड़े और स्कर्टका मेल ८३
कमरा सजाना ८४-५
कमरेमें चीजोंसे टकराना ८५
स्वादवश अधिक खा जाना या अप्रिय पर उपकारी चीजका सेवन न कर सकना ८६
मेजपर रखी चीजोंको दिखाकर बादमें उनके बारेमें पूछना ८७
मित्रके घरसे आनेपर वहांकी चीजोंकी स्थितिको याद . . ८७
आंखें या कान खराब हैं, दोहराते रहना ८८
अछूता जंगल, सजा बगीचा ८८
भेड़ियेने बच्चेको पाला ८९अ
एक व्यक्तिके सोचेको दूसरा कर देता या उसका उत्तर दे देता है ९२-३
विज्ञान या अध्ययन या आध्यात्मिकतामें प्रगति पर मनुष्य रूपमें खेदजनक प्राणी ९४-५
एककी चाल तेज, दूसरेकी धीमी ९९
अभूतपूर्व वैभव और अपने बीच पर्दा डाल लेना १००, १३६

पशुकी चेतना है तो प्रेम भी पशु-के समान . . १०१
चट्टानोंसे झरता स्वच्छ जल गदले पात्रमें . . १०१
चीतेकी दूसरोंको खानेकी आवश्यकता प्रेमकी . . १०१, १०२
सागरके प्राणी, जिनके केवल पेट . . १०१
मातृभूमि या किसीकी रक्षाके लिये अपने प्राण न्योछावर . . १०२
हृदय व फेफड़ोंका स्थान शक्तियां किस तरह . . १०९
अभीप्सा करता हूं, पर प्रत्युत्तर नहीं . . ११४, १३६, ३९४
चक्कीकी तरह हर समय व्यस्त या क्रियाशील ११४
हठीले बच्चेकी भांति ११५
शुतुरमुर्गकी भांति ११५
फलमें कीड़ा १२०
पिंजरा या जेल या खोल व सीपमें बंद १२३, १३६, १५२, ३२६, ३३८, ३८१, ४०९
गर्म लाल लोहेसे दागना १२६, २०९, ३१८
टार्च, सचाईकी १३१
ओह! भागवत प्रेम मेरी ओर आया १३४
सूईकी नोक जितना खुला १३५
जैसे छोटा बच्चा अपनी मांको पुकारता है १३९
लड़ाई शांत करनेके लिये ज्यादा जोरसे चिल्लाना १४०, ३०४
प्रेमपात्रको खो देनेपर दुःखी १४३
चिपटी वस्तुको काटकर फेंक देनेके लिये तैयार १४५
जैसे गणित या पियानो या बैठना, चलना, खाना सीखा . . १५०
जैसे अनुशासनहीन बालकका कक्षापर बुरा प्रभाव, वैसे ही सच्चे विद्यार्थीकी उपस्थिति . . १५४
जहाज या रेलसे दुनियाके कई चक्कर लगाओ तो . . १५७
जेनरेटर, बत्ती और तार १५९
चोर बालूमें धंसनेके जैसा १६२
यह बात तो मैं आपको कभी नहीं बताऊंगा १६३
फिसलना, चढ़नेसे आसान १६७
कोई किताब दे जाता है १७४
आईसक्रीम १७९
मुझे कोई नहीं समझता, कोई प्रेम नहीं करता १८२
समुद्रमें या गरम पानीमें स्नान कुछ देर, और ज्यादा देरतक १८३
अंडेमें चूजा १८६
जीम निगल जाना या जीम काट लेना १८९
बिलमें घुसते चूहेकी तरह १९०
प्यालेमें ज्यादा डाल देनेसे वह छलक . . १९७
जैसे निर्जन वनमें पेड़ोंको काटकर रास्ता . . २०५
दोनों सिरे मिलते हैं २०७अ
घड़ी २१०, ३६०
छन्ना २११, २१२, २१३, ३२२
जानवरों या वनस्पतिमें रस लेने लगते . . २११

जैसे मुंहपर नकाब २१२
चीजें अनुकूल नहीं, खाना अच्छा नहीं २१३
बैरोमीटर २१३
तुम बुरे हो, मैं तुमसे संबन्ध न रखूंगी २१५
बंद दरवाजेपर शंका २२२-२३, ३१२
रत्नमें शक्ति भर सकते..२२७
सरकारके शीर्षपर यदि होते २३९
सृष्टिनिर्माणमें भगवान्‌की भूलें निकालना २३९
मानों बक्सेकी तलीमें २४०
सिपाही जिसने घुटनेमें चाकू रखा ताकि वह सो न सके, २४१
रक्तचूषण-यंत्रकी तरह २४४
कंजूस २४७
मनुष्यको पुरुष और स्त्री बनाते हैं वह भागवत कैसे? २४८
धनके बदले सीप, कंटियां २४९
रूई, शक्कर, गेहूं बेचना या खरीदना, पासमें कुछ भी नहीं, बस, कागजका टुकड़ा २५०
पिल्ला मालकिनकी गोदमें, अपने को विश्वका केंद्र..२५२
उपन्यास या नाटक पढ़ते हुए इनके चरित्रको जीने लगना २५३
"अंगूठा"..छाप २५३
बचपनकी फोटो और दस, बीस की फोटो: पहचानना २५७
अपराधीके प्रति उदारता और उसे सजा देनेका भाव २६०
'मैं हूं ही ऐसा' २६३
बच्चा जब किसी चीजका चित्र बनानेकी कोशिश..२७१
वे फरिश्ता या संत होनेका दिखावा कर तुम्हें धोखा नहीं..२७६
जैसा कि नाटकमें होता है २७९
कोई स्त्री यहां आनेकी स्वीकृति मांगती तो..२९२
कानेको काना कहना चाहिये २९४
अच्छा होने या शांत रहनेका निश्चय; कोई चीज दुष्ट होने या उत्तेजित होनेकी ओर धक्का..३०३
तंग करनेवालेसे जैसे मुंह फेर लेते हो ३०७
मानों मित्रको बुला रहे..३०८
मीनारकी चोटीपरसे बाजारको देख..३१०
बबंर, जंगली ३११, ३१२
सनक, एक-दो-तीन-चार गिनते जानेकी ३१३
जहर खा लो तो..३१९
पीठपर गिरनेवाले पत्थरकी तरह ३२०
पात्रको खाली करना..३२३टि०
दुकानमें चीज देखकर लेनेकी या कुछ खानेकी चाह ३३०
ओह! मेरी अभीप्सा कितनी अच्छी! ३३२
मेरे अंदर कैसे भद्दे विचार..३४३
पतला टिश्यू, पारदर्शक कागज ३५८
पिछले वर्ष इन दिनों मैं बीमार था ३६०
मांसपेशियोंसे मजबूत, पर नैतिक दृष्टिसे कमजोर ३६५

सिंह, संत-सा अचंचल ३६५
बाहरी पपड़ी कड़ी, मोटी ३७८
सेना ३८१
गांठ, रस्सीकी ३८१
तलवार ३८२
मांसपेशियोंकी तरह ३८३
जैसे बिल्ली चूहेपर झपटती ३८८
मेरे साथ बुरा व्यवहार, इससे मैं दुःखी हूं ३९५
दांतका दर्द ३९७, ३९८-९९
कहीं कट जाना या चोट लगना ३९८
रस्सी खींचना ३९९, ४१०
सच्चे प्रकाशकी जगह झूठा प्रकाश सच्ची शक्तिकी जगह . . ४००
मिठाई मांगना ४०१
सुंदर चीज देखकर पानेकी इच्छा ४०२
खिलौना या खेल देना जिसमें धीरज और अध्यवसायकी जरूरत . . ४०३
बच्चे, जो, जो नजर आ जाय, खा जाना चाहते थे ४०४
बच्चेको दियासलाई मिल गयी ४०४
बच्चे जो दीवारकी मुंडेरपर चलना, नदीमें गोता मारना, सड़क पार . . ४०४
छोटी-सी लीकपरसे हटा देती ४११
सड़कपर होनेवाली किसी चीज-को या औरोंको खेलते देखना या नाटकका दृश्य . . ४१५
बाहरी सत्ताको लबादेकी तरह . . ४१६
ध्यानमें खललसे कुपित ४१७
आकाशमें तूफानको गुजरते . . ४१८
भीड़में तहलकेका सामना एक-दो अछूते व्यक्तियोंद्वारा ४१९
शोषक अष्टभुज जंतु ४२३
मृत भ्रूणका जन्म ४२३
नैतिक, पर कपट और अशुद्धिके पुतले; अनैतिक, पर औरोंसे अधिक शुद्ध ४२७अ
बादलोंकी तरह छिन्न-भिन्न ४३४
एकांतवासीका सांस लेना और खाना भी संसारके स्पंदनोंसे भरा ४३५
बच्चेको उठाना या स्वस्थ रखना न जानना ४३९
दस वर्ष बाद व्यक्तिके साथ क्या होगा, कोई नहीं बता . . ४४६
(दे० 'कहानी', 'बालक', 'मनुष्य', 'श्रीअरविंद', 'श्रीमाताजी', 'सोचना' तथा 'नामानुक्रमणिका' भी)
उद्घाटन [खुला होना] ११०, १११, ११४, ११६, १३४, १३५, १५९, २०८, ३७४, ४११
के लिये अभीप्सा करते रहो ११५
भागवत शक्ति [प्रभाव] की ओर : अर्थ २११-१३, ३९३; कैसे संभव, त्रुटियोंके रहते ३८५
भागवत कृपाके प्रति ३१६
उच्चतर क्षेत्रोंकी ओर ३२२
एक-न-एक रूपमें अवश्य" ३७९
क्या कई प्रकारके? ३७९अ
भौतिक क्या है? ३८०

कोषाणुओंका ३८३
(दे० 'ग्रहणशीलता', 'जाना', 'द्वार', 'पूर्णयोग', 'भागवत प्रेम', 'मनुष्य', 'विरोधी शक्ति' भी)
उद्देश्य दे० 'लक्ष्य'
उपलब्धि के लिये पकड़-जकड़ ४०९-१०
उपवास १७६, ४१७
ऊब ६
: उपाय ३३९

ए

एकांतवास २११, ४३५
एकाग्रता ९, ३७
विशेषज्ञता पानेके लिये १९, २१
पूरी, अपेक्षित, भागवत शक्तिसे सचेतन होनेके लिये ३९०-९१
(दे० 'कल्पना', 'ध्यान', 'बालक' भी)

क

कक्षा ८१
(दे० 'प्रभाव', 'श्रीमाताजी' भी)
कठिनाई [बाधा] ३५, १४५, २९३, ३३३, ३७९, ४४८
हमारी मुख्य, और हमारी भूमिका १८
और भागवत कृपा १७५, ३१६
विलीन २११, ३१८, ३५२
-यां भागवत कृपाके संपर्कमें प्रगति के अवसर कैसे . . २३९
एक पाठ है २३९
का सामना करना पड़े तो वे कहते हैं : ओह, माताजी तो हैं ही . . २९२
और भागवत सहायता ३१६-१७, ३७९, ४३४
खत्म होते ही लोग कहते हैं : मैंने अपने-आप . . ३१७
की जरूरत, फिरसे ३१७
नैतिक, की स्मृतिको नष्ट . . ३६२
-योंपर विजय ३८४, ४३५
में गलत और ठीक वृत्ति ३९५, ४२९-३०, ४३३-३४, ४४१
-यां प्रबल, प्रबल प्रकृतिमें ४३५
में जब दूसरा हो तो नहीं जानते कि क्या शब्द बोलना ४३९अ
जितनी अधिक, स्थिर-शांति और श्रद्धा उतनी ही अधिक चाहिये ४४१
बाहरी मनुष्यके साथ ४४३
के चौदह महीनोंकी जगह बारह क्यों नहीं ? ४४५
क्या भगवान् हमें अपने-दोषोंसे सचेतन होनेके लिये भेजते हैं ? ४४९-५० दे० 'परिस्थिति' भी
का सामना करनेका संकल्प और भागवत सहायता ४४९
का कारण विरोधी शक्तियां ४५०
(दे० 'दुःख-कष्ट, 'परीक्षा' तथा 'अभीप्सा', 'कल्पना', 'चैत्य-पुरुष', 'जगत्', 'पुस्तक', 'वर्ष', 'श्रद्धा', 'संकल्प' भी)
कपट २१३, ३८९, ४२८
नहीं, दुष्टता है यह १२४, १२५; बेईमान है ३६४

क्या है ? २०२, ४२७
(दे० 'धोखा देना', 'सच्चाई' भी)
कमजोरी २६८, ३३७, ४११
-यां और आत्मविश्वासका अभाव २६३
और उग्रता या हिंसा ३६५
कर्म-न्याय थियोसोफीमें २
कला दे० 'दुःख-कष्ट'
कलाकार १८८, २७१
काममें और घरपर ७१
(दे० 'इंद्रियां' दृष्टि भी)
कल्पना १०५
न करो कि : सब कठिनाइयां, रोग दूर हो जायेंगे १०८; अचानक एक आनन्दमय स्वर्ग बन जायगा ४५२ दे० 'काम' भी
'रूप देना एकाग्रतामें सहायक ३०४
शांतिकी ३०७-८
(दे० 'सोचना' भी)
कहानी
विकलांग बच्चा, पहला कवि ४
डेनिश चित्रकारको स्वप्न : भयंकर बाघ छोटी-सी बिल्ली बन गया ४२; बाघ यहां किसका प्रतीक ? ४२
फ्रेंच वैज्ञानिकके सांपपर प्रयोगकी ४४-५
वीरमपट्टनम् मंदिरकी कालीकी ६५-७
रोदैंकी, दो स्त्रियोंकी परस्पर-ईर्ष्याकी ७१-२
बाइबलकी : इसाओ और जेकबकी १६०
स्वीडिश महिलाके मांसाहारकी १७७
कटे किनारेके सिक्केमें विश्वाससे सफल होनेवालेकी २३२-३३
(दे० 'श्रीअरविंद', 'श्रीमाताजी' भी)
काम [कार्य] २५६
जिसे हमने पूरा करना है उसकी विरोधी वस्तु या शक्ति हमारे साथ जुड़ी . . १८
या विकास [प्रयास या प्रगति] व्यक्तिगत कारणसे अथवा भगवान्‌का यंत्र बननेके लिये २९, १५२-५३, २६५-६६, ३२४-२५
नित्य-प्रतिका वही, फिर थकान क्यों ? ३६
जिसके लिये हम पृथ्वीपर आये हैं ५७
यह, ऐसे ही बिना प्रयासके, पलक झपकते या जादूकी छड़ी हिलानेसे नहीं हो जाता ५७, ७७, १०७, १८५, १९१, ४४० दे० 'कल्पना' भी
-ोंको अपने लिये बोलने दो, शेखी मत बघारो ९६
करने या न करनेका व्यक्ति बहाना खोज लेता है १२५, १३१
'कथनी और करनी १५६
करना निष्ठाके आनन्दके लिये, कर्तव्य या त्यागकी भावना या बदलेकी आशासे नहीं १८२
उसी, को बार-बार करनेकी जगह जरा-सी प्रगतिके साथ ३१४
करना, लिखना, बोलना नीरवतामें, मनके सक्रिय हुए बिना ३२३

करते हुए अपने-आपको देखनेकी आदत और सहजता ३९२-९३
'स्वयं क्रिया बन जाओ ३९३
अच्छी तरह करनेका संतोष ४२०
करना यंत्रवत्, आदत या आवेग-के कारण और यह जानना कि यही करणीय है ४३९
(दे० 'अध्ययन', 'आश्रम', 'धन', 'श्रीमाताजी', 'साधना' भी)
काम-केंद्र
'सर्जन-क्रिया ४७
का परिवर्तन . . प्रजननमें प्रयुक्त शक्तियां विकास और रूपांतरकी शक्तियोंमें बदल जायं : व्याख्या ७६-७
'कामवासना २७५-७६
कामना [अभिरुचि, पसंद, मांग] ७९ १७८, २०४, ४००, ४१०, ४१७
न होनी चाहिये, ४०, १३५, ३४७अ, ३५०, ३८८, ४४८
को जीतनेके लिये कामनाकी संतुष्टिका विचार १५६अ, ४०२
-एं, संदेह आदि एक व्यक्तिके दूसरे में . . १६६, १६७
'मानसिक पसंदें और प्राणिक आग्रह, कौन ज्यादा खतरनाक २६२
-एं मानसिक रचनाके साथ प्राणिक शक्ति जोड़ . . २७५
-ओं, लैंगिक, का वातावरण कुछ लोगोंके इर्द-गिर्द २७५-७६
-ओं, अपनी, का वातावरण प्रत्येकके इर्द-गिर्द २७६
-ओंका जब दूसरोंसे विरोध ३६३
शक्तिको नीचे खींचनेकी ओर ले जाती है" : मतलब ३९९-४००
से भरे सभी, बच्चे प्रकट कर देते हैं, बड़े सकुचाते . . ४०१
-ओंको जीतनेमें बच्चोंकी सहायता ४०२-४
(दे० 'अभीप्सा', 'इच्छा', 'चेतना', 'प्राण' भी)
कायरता ४४९
कार्यकर्ता २६२, २६४
काला जादू ४३, ६०-२
काला तत्त्व [छाया पक्ष]
से छुटकारा २५९-६१
काली
-यां पारिवारिक ६७अ, १९५, २७३
और महाकाली ६८, ६९
महाकाली-पूजाके दिनसे पहले या बादमें आती . . १९२
(दे० 'कहानी', 'श्रीमाताजी', 'पैरिस' भी)
काली-पूजा पर जो पैकेट . . २२८-२९
कुण्डलिनी ७७
क्रूरता ५, ६४-५, ७०
क्रोध ६, ७९, ४१३अ
के प्रति उचित भाव ३३३
कमजोर व्यक्तिको ३६५-६६

ख-ग-घ

खेल
-में उन्नति करना वैयक्तिक विकास ही होगा न? २९-३०

-ोंसे संवेदनोंका विकास ७८, ८४
-ना भगवान्‌के लिये २६५-६६
खोज २५
हृदयकी, क्या है? २१९अ
चैत्यपुरुषकी, की तीव्र अभीप्सा कितनोंमें? २९१, २९५ दे० 'विकास' करना भी
भगवान्‌की, पहली चीज ३३५
गिरजाघर
फ्रांसके एक, में मैंने एक दीर्घाकार काली प्राणिक मकड़ी देखी १९२-९३
वेनिसके, में चित्र बनानेका काम करते हुए मैंने पाप-स्वीकार-का भयावह दृश्य देखा १९३-९४ (दे० 'मंदिर', 'वातावरण' भी)
गुण ४१७
सब, अहंसे परे, एक बिंदुपर मिलते हैं १८२
गुह्यविद्या [गुह्यवाद] ३९-४३, १८७-९१, ३०१
का अभ्यास: शर्तें ३९, ४०, ४१ १९०-९१; खतरे ४१-२, १८९-९०; अपने ऊपर ही बात पड़नेका डर ४२-४
और योग १८७, १८८-९०
की क्षमता १८७अ, १८९
और रहस्यवाद: भेद १८८
की तुलना रसायन-विज्ञानसे १८८ (दे० 'भय', 'श्रीमाताजी' भी)
ग्रह -ोंकी स्थिति ३५९, ४४५
ग्रहणशीलता ३७अ, १०७, ११०, ११४, १३४, १३५, १७५, २०८, २१०, २९८
और उन्मीलन ११०-११, २११, २३४
निष्क्रियताका फल १११
का आधार: सचाई और नम्रता ११५-१६
और अहं ११६
न पाकर आनन्द-सत्ता लौट जाने-की सोचती है २८७-८८, २८९
के अभावके लिये निश्चेतना उत्तर-दायी निश्चेतनाके साथ संघर्ष २९०
और विश्वास एवं संदेह ३९४-९५ (दे० 'पत्थर, 'फूल', 'भगवान्' भी)
घटना
को बाहरी रूपमें न लो ३०
अप्रिय, दुःखद ८९, ३७९
-ोंपर अधिकार: शर्त ४५२ (दे० 'परिस्थिति', 'श्रीअरविंद' भी)
घृणा ३५६

च

चक्र (शरीरस्थ) ७६
चमत्कार १२०, १३५, २८१, ४०७
चरित्र १६, ४००
और सच्ची सत्ता १
बच्चेका और वयस्कका १२ (दे० 'प्रकाश', 'शरीर' भी)
चिंता ९५, २४५, ४३४, ४४१
चित्रकार ३४६
चीज [वस्तु] ४५०

पानेके वे अधिकारी नहीं जो उन्हें संभालकर नहीं.. १३अ
अपने-आपमें न भली हैं, न बुरी, जैसे हम होते हैं वैसी वे दिखायी देती हैं १२२
को भगवान्‌की देन या नियतिकी ठोकरके रूपमें.. १२२
-ोंको उनके वास्तविक रूपमें देखना चाहो तो.. १३५-३६
कोई बुरी नहीं, वह अपने स्थान-पर नहीं १७०
(दे० 'अभीप्सा', 'चेतना', 'जानना', 'प्रगति', 'भगवान्', 'व्यवस्था', 'वृत्ति', 'श्रीमाताजी', 'सीखना' भी)
चुनाव
सही वस्तुका, समर्पणवृत्तिसे १३१
निर्णायक, का क्षण १४५अ
जब कई निर्णयोंमेंसे ३३४-३५, ४१२
का क्षण 'हां' या 'ना' करनेका: बीमार होने या न होने, मरने या न मरने, आवेगके आगे झुकने या उसे अस्वीकार करने का ३३६-३७
चेतना ५०, १०३, १२७, १७२
का शिखर पा लेनेपर अगली अभिव्यक्तिसे संपर्क ३२; यह शिखर कभी अंतिम नहीं होता ३२
[संकल्प, परम सद्‌भावना] विद्यमान है जो तुम्हारे चारों ओर-की चीजोंको संगठित करती है १७४-७५ दे० 'भागवत प्रेम' भी
आच्छादित: सज्ञान मूलसे २३४; वांछित कामनाकी पूर्ति या बाहरी सफलतासे २३६
को बदलनेका प्रयास करो २९०
का आसन जहां कहीं हो, वहींसे समझ सकते हो ३०८
का स्वभाव: व्यवस्था करना ३१४
अवचेतनाकी चीजोंको व्यवस्थित रूपमें.. ३१४
को ऊंचा रखनेका मतलब क्या उच्चतर विचार.. ३२१-२२
विचारहीन भी ३२२
को मिश्रित चीजोंसे खाली कैसे करें? ३२३-२४, ३३१
को विशाल कैसे बनायें? ३३८-३९
अपनी, को यदि परिस्थिति, घटना या व्यक्तिमें प्रक्षिप्त.. ४१३
(दे० 'भागवत चेतना', 'भौतिक चेतना' 'वैश्व चेतना' तथा 'आश्रम', 'धन', 'प्रकाश', 'सृष्टि', 'स्मृति' भी)
चैत्य आंसू १४३टि०
चैत्य दुःख १४३टि०
चैत्य वृष्टि: अर्थ १३३
चैत्य पुरुष २४३, ३२४, ३३५, ३८१
और कठिनाई ३४, ३३४
का काम: जड़तत्त्व और भगवान्‌के बीच सीधा संपर्क बनाना १५९
धरतीकी विशेषता १५९-६०
के बिना भी जीवित १६९
पहले ही भगवान्‌को समर्पित २५७

के साथ संपर्क [तादात्म्य] : फल २६८, ३२६, ३२७, ३२८, ३३४, ४३६
से तादात्म्य और चैत्यका सामने आना क्या एक ही बात है? ३२७अ
के सामनें आनेका मतलब ३२७अ
सदा भगवान्‌के संपर्कमें, तो हमें भगवान्‌की अनुभूति सदा रहनी चाहिये.. ३५८-५९
से सचेतन हूं या नहीं? ३५८-५९
का तुम्हें पता नहीं होता ३७८
ही पूर्वनिश्चित लोगोंकी नियति-की अध्यक्षता [परिस्थितियों-की व्यवस्था] करता है ३७८-७९; 'पूर्वनिश्चित' से मतलब ३७९ दे० 'अभीप्सा' की तीव्रता भी
क्या हृदयमें होता है? ३८३
सामने है कैसे जानें? ३८७
में विश्वास बिना छायाके ३९५
को सामने रखो": मतलब ३९९
और केंद्रीय पुरुष ४१४
का जन्म और वातावरणमें यदि विरोधी प्रभाव ४२५
से सचेतन हो सको तो कई जन्मोंकी बचत:. ४३६-३७
और बाहरी सत्ता : सहायता पारस्परिक ४३६-३७
की जन्म-मरणसे मुक्ति कब ४३७
(दे० 'अंतरात्मा' तथा 'अधि-मानस', 'अहं', 'आश्रम', 'खोज', 'दुःख-कष्ट', 'दुर्घटना', 'देवता', 'प्रयास', 'प्राण', 'भागवत कृपा', 'भौतिक चेतना', 'मनुष्य', 'विरोधी शक्ति', 'श्रीमाताजी' भी)
चैत्य संतुलन ३८५, ३८७

ज-झ-ड

जगत् [संसार]
में प्रकाश-छाया मिश्रित १७
भौतिक, पीछे स्थित सत्यको व्यक्त करनेमें फूहड़ है ३०
से भागनेकी वृत्ति ३४-५ दे० 'मानव-जाति' भी
में अस्तव्यस्तताका कारण ५७
कुछके लिये मोहक ८९
भगवान्‌का विकृत रूप १०३अ
हमेशा बदलता रहता है १६६
भौतिक, के प्रतिरोधों और कठिनाइयोंको उच्चतम अति-मानसिक शक्ति द्वारा ही पार.. २०५-६, २०७
अज्ञान और मिथ्यात्वसे भरा २६४
हर क्षण पुनः सर्जित.. २८९
की दुर्दशाका उपाय ३५२
में कठिनाइयोंके बिना रहना असंभव, उनमें भाग लेना होगा ४३५
के साथ एकात्मता काट लेना ४३५
की अचेतना और विरोधी शक्तियों-का अस्तित्व ४५०

ऐसा है क्योंकि वह ऐसा है ४५०
(दे० 'प्राणिक जगत्', 'विश्व', 'सृष्टि' तथा 'पूर्णता', 'प्रेम', 'लक्ष्य' भी)
जड़तत्त्व [जड़-पदार्थ] दे० 'चैत्य पुरुष', 'प्रेम', 'शब्द'
जड़वादी [प्रत्यक्षवादी] २५, २८, ३०२
जप १९१
जागरूकता [सावधानता, जाग्रत चेतना] ९४, ९५, ३१४, ३३७, ४२८
जानना ११७
अपने-आपको १६-७, १६६
का कार्य छोटी अवस्थासे १६
जीवनको जीना ३७, १५०-५१
दे० 'मनुष्य' अज्ञान भी
न खुले भागको ११५
भगवान्‌से आयी वस्तु, स्पंदन व प्रभावको १२८-३२; यह अंतरात्मा या भगवान्‌की अनुभूतिके बिना संभव नहीं १३०
दूसरोंको, आघात लगनेपर १५२
कि तुम कुछ नहीं जानते २९६
दे० 'अनुभव' भी
का एकमात्र उपाय ४१३
(दे० 'समझना', 'सीखना' तथा 'शरीर', 'श्रीमाताजी' भी)
जीवन १७२
तब रोचक . . १६, ७७, ८६
सारा, एक शिक्षा है १६-७ दे० 'शिक्षा', 'सीखना' भी
से भागने और अव्यक्तके साथ तादात्म्य स्थापित करनेकी इच्छा स्वार्थ है, सबसे बड़ा अहं है ३४-५
के नियम १२३
साधारण आदमीका १७८, २५४
बाह्य दे० 'सत्ता' बाह्य
(दे० 'आश्रम', 'जानना', 'मनुष्य', 'लक्ष्य' भी)
ज्ञान ५०, १३१
मानसिक पर्याप्त नहीं, अनुभव होना चाहिये २२४, २९७
तादात्म्यद्वारा ४१३
(दे० 'जानना', तथा 'दुःख-कष्ट', 'प्रकाश', 'प्राणिक जगत्', 'भोजन', 'संवेदन' भी)
झूठ १६२, ३५५, ४२७
डटे रहना [लगे रहना, आग्रही] २०९, २८५, ३०७, ३२४, ४४७

त

तपस्वी [साधु] ६३, ६९अ, १८०अ, ४१७
तपस्या १७, ११०, २८८
'तापसिक अनुशासन २९६, २९७
आंतरिक : अर्थ ४००
बाहरी ४००, ४१७-१८
तमस् १५७, २६३, ३२१
(दे० 'भौतिक प्रकृति', 'समर्पण' भी)
तम्बाकू व शराब ७३-५
तर्क १८१, ३१२, ३१३, ४१२
तर्क-बुद्धि [बुद्धि] ३३, ४०६, ४५१

का स्व-चालित क्रियाओंपर प्रभाव किस हदतक ४४
तादात्म्य [एकात्मता]
सक्रिय : अर्थ २६३
समुद्र, आकाश, पृथ्वीके साथ ३३८
दूसरेके विचारोंके साथ ३३८-३९
(दे० 'चैत्यपुरुष', 'जीवन', 'ज्ञान', 'भगवान्' भी)
तैयार करना (अपने-आपको) दे० 'भगवान्' का यंत्र, 'काम' या, 'विकास', 'वृत्ति'
त्याग [अस्वीकार] ४०, १०३, ३८८
सुखका २९, २८८, २९६
जिन चीजोंका अमरताके लिये ४६-७
साधना-विरोधी चीजोंका ११०, १४५ दे० 'परिवर्तन' भी
संदेहके विचारोंका १२०
निम्न गतियोंका : विधि ३२३-२४
में तीन क्रम-संगत चीजें ३३३
'छुटकारा या मुक्ति कैसे दे० 'अभिमान', 'आत्मसंतोष', 'काला तत्त्व', 'विचार'
(दे० 'अहं' से बाहर, 'चुनाव', 'भगवान्', 'शत्रु'को, 'शरीर', 'संकल्प' भी)

थ-द

थकावट [थकान] ३३, ३४, ३६, १५१, १८५
दिखावा [प्रदर्शन] २९५, ४१७अ
दीप्ति
आध्यात्मिक हो या विवेक, संतुलन व विश्वासकी हो ३
दुःख-कष्ट ३०५, ३७९, ४११
'परपीड़नरति ६९-७१
पानेका प्राणिक रस ७०
से मुक्ति १००, १४४-४५, ३४०, ३९६
होता है : छिपी चीजपर प्रकाश फेंकनेसे ११५, २४१; मूल स्वीकारमें ११६; असत्यताको गर्म लोहेसे दागनेमें १२६
व्यक्तिका, भगवान्‌के सामूहिक दुःखमें एक और दुःख .. १४२
और अहं १४३, ३९६
के केंद्रमें पहुंचनेसे असीम 'करुणा' में प्रवेश और चैत्यका द्वार खुल .. १४४
सच्चाईको पानेका अवसर १४५
'दुःखी हूं : सच्चा नहीं हूं २१३-१४
नैतिक, के ही नहीं, भौतिक प्रहारके भी परिणाम भिन्न, अज्ञानकी और ज्ञानकी अवस्थामें २८३-८४; ज्ञानका यहां अर्थ क्या है? २८४
'आघात १५२; और कलात्मक सृजन ३७२, ३७४-७५ (दे० 'शरीर' भी)
'प्रहार ३७९; और भागवत सहायता [कृपा] २३७, ३१७-१९; व विपदाओंका औचित्य ३१७-१८, ३५१; सारा, एक साथ क्यों नहीं? ३१८; -'की संख्या मनुष्यों-

पर निर्भर ३१८; जो मूर्खताके परिणाम और जो महाकालीके ३१८-२० (दे० 'अतिमानसिक ज्ञान' भी)
(दे० 'शारीरिक कष्ट', 'कठिनाई', तथा 'अनुभव', 'अलगाव', 'अहं', 'घटना', 'भगवान्', 'भूल' भी)
दुर्घटना ४०, ४३, ५३, २००, २४४, ३९४, ४०५
के कई कारण १-२
और इंद्रियोंकी शिक्षा ८८
जन्मसे ही, क्या चैत्यपुरुषने ऐसा अनुभव चाहा था? ९०
-ओंपर स्वामित्व १२३
(दे० 'अतिमानसिक ज्ञान', 'निराशा', 'बालक', 'भय', 'शरीर' भी)
दुर्भावना १६७, १९०, २०४, २१३, २६३, ३३९, ३४२
दूसरे [और]
-से संपर्क, कम-से-कम बोलकर ९२-३
-से संपर्क, बिना किसी चीजको आत्मसात् किये कठिन २११-१२, ४३५
-के दोषोंके प्रति एक समय उदार, एक समय कठोर २६०
के दृष्टिकोणसे देखना ३३८-३९
(दे० 'कठिनाई', 'कामना', 'जानना', 'दोष', 'मानसिक रचना', 'मूल्यांकन', 'वाणी', 'विचार', 'संकल्प', 'समझना', 'सहायता' भी)
दृष्टि दे० 'इंद्रियां', 'चैत्य दृष्टि', 'मानव दृष्टि'
देवता २७०
और मानव रचना ६८, २७३
-ओंमें चैत्यपुरुष नहीं १५९
मंदिर या गिरजाघरके १९२-९५
-ओंको पूजासे अधिक पसंद है सद्भावना, निःस्वार्थता, सच्ची अभीप्सा..१९४, १९५
-ओंके चित्र २७१
की मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा २७२
दोष [त्रुटि] १२, ९४, ४२५
या छाया, जिसपर विजय पानी है १८
दूसरोंका: बाहरी प्रभाव या परिस्थितिका ९५-६, ३४१
स्वीकार करना अपने ११६, ३४४; भगवान्‌के आगे व दूसरोंके आगे १२३-२४
भगवान्‌के मत्थे २४०, ४३३
-में और अक्षमताओंको स्वीकार कर लेना ताकि उन्हें जीतनेका प्रयास न करना पड़े २६३
-से छुटकारा चाहना और उन्हें पोसना भी ३८८-८९
बाहरसे नहीं आते ४१८
अपने अंदर न हों तो दूसरोंमें उनके होनेका मान नहीं..४१८
-को देखते रहना श्रद्धाका उत्साह भंग': मतलब ४२९-३० दे० 'आलोचना' अपनी भी
दूर करनेके लिये कुछ करना होगा ४५२

(दे० 'काला तत्त्व', तथा 'उद्-घाटन', 'दूसरे', 'नियति' भी)
द्वार
बंद ११६, १९७, ३१७, ४०७
खुल जाता है १३०, १४४, १५२, १९७, ३२६, ३२७
यदि पुनः बंद, तो भी वह स्मृति [अनुभूति] भूलती नहीं १३०, १४४, ३२७, ४११

ध

धन [संपत्ति] ४१८
शक्तिका ही यहां कार्यमें अपव्यय नहीं होता, चेतना, ऊर्जाका अपव्यय . . १५४-५५
-लोलुपके प्रति मानवीय न्याय-दृष्टि २३५अ
और सुख २३६
वैश्व शक्तिका प्रत्यक्ष चिह्न २४६
आसुरिक प्रभावोंकी पकड़में २४६, २४८
'नोट या सिक्के २४६; यह विशुद्ध परंपरा है २४९-५०
शक्तिको नियंत्रित करना २४६-४७
-शक्ति उपयोगसे बढ़ती २४६-४७
-शक्तिका रंग २४६
-शक्तिका संचालन, भौतिक साधन न होते हुए भी २४७
-शक्ति प्राण-जगत्की चीज २४८
-शक्तिको जीतकर भगवान्को लौटाना होगा २४८
और पहले जमानेके योगी २४८
मनुष्योंने बनाया है; वह भागवत शक्ति कैसे? २४८-४९
'सोना २४९
को शक्ति बनानेवाली चीज २४९
को फरासीसीमें 'आर्जा' २४९अ
'कागजोंपर लिखे दस्तावेज २५०
(दे० 'उदाहरण', 'श्रीअरविंद' भी)
धर्म २५, २९, ५५
और अंधविश्वास १९१, १९३
(दे० 'भय' भी)
धैर्य [धीरज] १९०-९१, ३२४, ३७९, ४१०, ४२८, ४३०
(दे० 'भागवत धैर्य' भी)
धोखा देना (अपने-आपको) १२५, १३१, २९४, ४१७, ४२१
(दे० 'कपट', 'सच्चाई' भी)
ध्यान
न कर सकना : कारण १५०
'एकाग्रताके समय नाना प्रकारके विचार क्यों? ३०३-४
में रंग या बिंब देखना ३७०-७१; इन्हें समझनेकी कोशिश ३७१
और बाह्य सत्ताका परिवर्तन ४१६-१७
(दे० 'उदाहरण' भी)
ध्वनि
के स्पन्दनोंमें शक्ति ९१, ९७
(दे० 'मनुष्य' भी)

न

नमनीयता दे० 'बालक', 'मन', 'श्रीमाताजी', 'सीखना'
नम्रता दे० 'विनम्रता'

नया जीवन पाना १३०
नयी शक्ति
का आवाहन, जो अभीतक अभिव्यक्त नहीं हुई : व्याख्या ३१-२
नाड़ी-दौर्बल्य ७५-६
नाम एक रिवाज है २५६-५७
निद्रा [सोना] ७३, १४६, १५०
-वस्थामें चलना-फिरना ५२अ
में भगवान्‌की झलक १३५, १४६
आधी रातसे पहलेकी आराम देनेवाली क्यों? १८३
विश्रांतिदायक सोपान १८४-८६
घंटोंकी, की जरूरत नहीं १८४-८५
से पहले और सवेरे जागनेपर रोज केवल एक मिनट यदि भगवान्‌से सचेतन होनेकी अभीप्सा करो ३९१
(दे० 'स्वप्न', तथा 'भोजन', 'श्रीमाताजी', 'सीखना' भी)
निम्न गतियां दे० 'अभिव्यक्ति', 'त्याग', 'प्रकाश'
निम्न प्रकृति
कबतक क्रियाशील २१८
का शासन ३३६
के नहीं, सर्वोत्तम भागके अनुसार प्रतिक्रिया करो ४३३
(दे० 'विजय' भी)
नियंत्रण ३९, ७५, १०८, १२९, १६५, २२२, ३११
नियति २६८, ४३६
-योंके विभिन्न स्तर ४८
को बदलना ४९, ५१-२, २८१-८२
'भाग्यको दोष देना ९५, २४०
और विरोधी परिस्थिति ३५०-५१
(दे० 'चीज', 'चैत्यपुरुष' भी)
नियतिवाद
और स्वतंत्रताका विधान दो सहगामी चीजें २८०-८२
निराशा [अवसाद, निरुत्साह] २७, ३०, ३४, ४३०
और दुर्घटनाएं व रोग २
कारण और उपाय ३२-३
और मूल २८५
(दे० 'अंतरात्मा' भी)
निरीक्षण ३८
की शक्ति सत्ताके कौनसे भागमें विकसित होती है? ८
और विवेक : भेद ८
(दे० 'आत्मनिरीक्षण', 'संवेदन' भी)
निर्णय ८ (दे० 'चुनाव' भी)
निर्वाण
अभावात्मक : अर्थ ३८४
(दे० 'पूर्णयोग' भी)
निष्क्रियता २०७
और अचल निष्क्रियता : भेद २०८
(दे० 'ग्रहणशीलता', 'यंत्र', 'सहजता' भी)
निश्चय दे० 'संकल्प'
निश्चलता
खाली लगती हो तो भी ३२३ टि०
पीड़ाके स्थानपर : संवेदनहारीका-सा असर ३९७-९८
(दे० 'नीरवता', 'शांति' भी)
निश्चेतना ८६, ३४१
(दे० 'अचेतना' तथा 'ग्रहणशीलता', 'भोजन' भी)

निष्ठा [वकादारी] १८१-८२
निष्कपट : अर्थ २३४
(दे० 'आनंद', 'काम', 'मनुष्य' भी)
नीरवता ९७, ९८, १३५, ३८८
निश्चल, पत्ता कठिन ३०४
ऊपरसे अवतरणके द्वारा आसानी-से प्रतिष्ठित : अर्थ ३२२-२३
(दे० 'निश्चलता', 'शांति' तथा 'काम' भी)
नीरव आत्मा की अनुभूति ३५४
नैतिकता
और शुद्धि ४२७अ
सामाजिक और आध्यात्मिक ४२८
से ऊपर उठनेका दावा ४२८

प

पतन [गिरना, फिसलना] २५, ९५, १६२, १६७
'तलीमेंसे फिर ऊपर उठा जा सकता है अगर..४३२
पत्थर २०८
में भी ग्रहणशीलता २२६-२७
पथ-प्रदर्शन
आंतरिक, पानेके लिये ३४, १११
(दे० 'जानना' भगवान् भी)
पदार्थ
मानसिक, प्राणिक, भौतिक, ईथरीय ३०१-२
परिवर्तन [बदलना] २६०
अंदरकी परिवर्तनीय चीजका : सचाई और संकल्प अपेक्षित २३१-४१
उग्रताके द्वारा ४१०
कठिन, माननीय लोगोंका ४२८
(दे० 'रूपांतर' तथा 'कामकेंद्र', 'नियति', 'प्रकृति', 'प्राण' 'प्राणिक सत्ताएं', 'विरोधी शक्ति', 'सत्ता' बाह्य भी)
परिस्थिति ३१६, ३३३, ३५२, ३५३, ४११
या घटना, विरोधी दिखायी देती प्रगतिके लिये जरूरी थी १७५, ३४३ दे० 'नियति' भी
-यां अग्नि-परीक्षाके रूपमें आरोपित", क्या भगवान् आरोपित करते हैं? ३५०-५१ दे० 'कठिनाई' भी
या परिणामकी चिंता न कर अपनी राह चलते चलो ३६३, ३७९
-योंकी व्यवस्था दे० 'अभीप्सा', 'चेतना', 'चैत्यपुरुष', 'भगवान्' बाहरी, पर क्रिया योगमें ३८४
कठिन दे० 'कठिनाई'
-यां दैनिक, परीक्षाएं हैं, उन्हें लापरवाहीसे मत लो ४३१, ४३३
(दे० 'घटना' तथा 'आध्यात्मिक वातावरण', 'आश्रम', 'दोष', 'वृत्ति', 'सीखना', 'स्वामित्व' भी)
परीक्षा
में रह जाओ तो अगली ज्यादा कठिन..४३१
पहले जमानेमें और अब ४३१
(दे० 'परिस्थिति', 'सफलता' भी)
पवित्रता १०४, २८८

पशु [जानवर]
-ओंको भी भय ४९, ५१
जो, मजबूत, वे शांत ३६५
(दे० 'उदाहरण', 'प्रेम', 'बलि' भी)
पागल ७४, २४४, ३१२, ३६९
पापी और भागवत कृपा २१५
पीछे हटना ३५३, ४३०, ४३२
का मतलब ३६७
(दे० 'प्रगति', 'भागवत शुभ चिंता' भी)
पुरस्कार २६३
और दंडकी पद्धति ४२०
(दे० 'आनंद', 'आश्रम' भी)
पुरुष और प्रकृति ११५, ११६-१८, १२६-२७, २६९अ
पुरुष और स्त्री ६, ११८
पुस्तक
पढ़ना और रूपांतर २७, १५६
में पृष्ठचिह्नद्वारा सहायता पाना, कठिनाई या प्रश्न या आवश्यकताका उत्तर पाना १७४
(दे० 'अध्ययन' भी)
पुस्तकालयों की व्यवस्था १५
पूजा दे० 'देवता', 'प्राणिक सत्ताएं'
पूर्णता १५५, २७९, २८५, ३४८, ४०८
और वर्तमान जगत् ४३५-३६
पूर्णयोग [रूपांतरयोग]
और उद्घाटन ३७९
को स्वीकार करनेवालोंकी संख्या ..४४२
और निर्वाणका लक्ष्य ४४२-४३
सफल तभी ४४३
(दे० 'लक्ष्य', 'वृत्ति', 'श्रीमाताजी' भी)
पूर्वकी जातियां : संवेदनशीलता कुंद ७०
पूर्वदृष्टि ३४७, ४१७
पृथ्वी [धरती, भूमि]
की चेतनाका अपना लिखित अभिलेख है २२अ
के लिये अधिकतम लाभकारी लोग ३५
जो देती है, वह उसे लौटाना २२९
पर जब तुम गिरते हो तो सिरके बल .. २९१
(दे० 'काम', 'चैत्यपुरुष', 'तादात्म्य', 'भगवान्', 'वातावरण', 'विजय', 'विरोधी शक्ति', 'सीखना', 'सोचना' भी)
प्रकाश ६, ९६, १७२, ३४६, ४१२
और छाया-पक्ष चरित्रके १२टि०, १७-८
[चेतना, ज्ञान, सत्य] डालो : अप्रिय विचारपर २४, ३२४; भयपर ५२; छिपे भागपर ११५, २४०-४१; असच्चे अंशपर २०९; छाया-पक्षपर २६०, अंधकारपूर्ण तत्त्वोंपर २६८, २८४; निम्न गतियोंपर ३२४
किसी एक भागको ३६, १७९
दे० 'प्रगति' भी
की रचनाकी शक्ति ६२, ३६१
(दे० 'जगत्', 'प्राणिक सत्ताएं' छोटी, 'समर्पण', 'स्पंदन' भी)
प्रकाशका मन ४४०
प्रकृति
का तर्क मानवी तर्क नहीं ३
की मनुष्यके साथ क्रीड़ा ३८अ

की वनस्थली और वगीचा ८८-९
बाहरी, बदलना नहीं चाहती २१९
दे० 'सत्ता' बाह्य भी
(दे० 'कठिनाई', 'जगत्' कुछ, 'विजय' भी)
प्रगति [उन्नति] ३४, ८६, १९७, ३१४, ३४९, ३८१, ३८८, ४१७
को साधन बना लो हर चीजको २९, १५३
एक भागमें ३६, ९४-५, १७९, ४१७
न करें, पर पीछे भी न हटें क्या ऐसा हो सकता है? ९४-५
तेज २३९, ३१८, ३२४, ३२६, ३२८
की चाह और संकल्पमें सचाई होनेपर जो प्रहार आता है २३७, ३१९-२०
के लिये प्रयाससे इंकार २६३
की शुद्ध अभीप्सा, कम ३३१
उग्रताके द्वारा ४१०
बाहरी नियमके रूपमें लादी गयी और सहज रूपमें ४२०
करनेका अवसर है यह ४५१
(दे० 'विकास' तथा 'अतिमानसिक ज्ञान', 'अभीप्सा', 'आलोचना', 'आश्रम', 'उदाहरण', 'कठिनाई', 'काम', 'परिस्थिति', 'विचार', 'स्वामित्व' भी)
प्रतिरोध ११५, ३१८, ३२६
तीव्र : अर्थ ११३
(दे० 'विरोध' तथा 'जगत्' भी)
प्रतीक्षा १११, १५५
करनी होगी, जबतक तुम प्रगति करके अंदरसे बाहर न निकल आओ ३२५
प्रत्यक्षवाद का युग : उपयोगिता १९५
प्रभाव १४४, ३३३, ३४१
-में, बाहरी, से मुक्त १०६, २५३, ३२७, ३२८, ३६६
कक्षापर, सच्चे विद्यार्थीका १५४
हर, के प्रति खुला २११, ३५०
(दे० 'जानना', 'भगवान्', 'विरोधी शक्ति' भी)
प्रयास [प्रयत्न, परिश्रम, मेहनत] ८१, १९१, ३४१, ३४५, ३८३, ४३१
मानसिक और साधना १३७-३८
चैत्य और मानसिक रचना १३८
के बिना भगवान् अभीप्सा, समर्पण आदि सब देंगे ऐसी धारणा २०७
व्यक्तिगत, कबतक जरूरी २१८, २२३-२४
व्यक्तिगत, का मतलब २२४
करो पढ़ेको याद रखने व समझने का २३५, ३९३
तुम हमेशा कर सकते हो २८९
ज्यादा, की मांग अब शिष्योंसे २९३
की जरूरत पहले कदममें ही ३२०
व्यक्तिगत, को भागवत शक्तिकी गतिमें .. ३९०
करो तो धीरे-धीरे प्रगति .. ३९१
सहज, आध्यात्मिक दृष्टिसे [illegible] मूल्यवान् ४२०

ज्यादा, की जरूरत: विरोधी शक्तियोंको अपने-आपको बदलनेमें ४२५; मार्गपर रुककर फिरसे चलनेमें ४३३
जरा अधिक, इस कालमें ४५२
(दे० 'अध्यवसाय', 'काम', 'साधना' तथा 'अहं', 'आत्मसंतोष', 'आश्रम', 'चेतना', 'दोष', 'प्रगति', 'वृत्ति' भी)
प्रलय १६९
प्रशंसा (व यश) २९, २६२, ३३१, ३४६अ, ४२०
प्रश्न दे० 'पुस्तक', 'श्रीमाताजी'
प्रसन्नता [खुशी] २१३, ३१९
मुस्कराना ३६५अ
(दे० 'समर्पण' भी)
प्रहार दे० 'दुःख-कष्ट'
प्राण ३३, ९४, १५६, १६२, १८४, ४१९
के तीन शक्ति-स्रोत ७९-८०
परिवर्तित, एक योद्धा २०१-२
शक्तिका स्थान, साथ ही विद्रोह, स्वतंत्र इच्छाका भी २०१
सहयोग न दे तो २०३
का परिवर्तन, चैत्य प्रभाव-तले ३००
ही क्या कामना-पुरुष है? ३४९
बीमारीमें विकृत आनंद.. ३९७
(दे० 'बालक', 'मन', 'मृत्यु', 'विरोधी शक्ति', 'समर्पण' भी)
प्राणिक जगत् [अदृश्य जगत्, प्राण-क्षेत्र] १९४, १९९
का ज्ञान ३९-४३
स्थूल, और मृत्यु ५५-७, ४३८
में व्यक्तित्व, व्यष्टिकृत लोग २५५
भगवान्‌का विरोधी है ३००
(दे० 'धन', 'बालक', 'मृत्यु', 'विरोधी शक्ति', 'स्वप्न' भी)
प्राणिक मन का क्या अर्थ है? ३१०
प्राणिक सत्ताएं
-ओंमें चैत्यपुरुष नहीं १६०
-ओंका परिवर्तन चैत्य प्रभावसे, उनका मानव शरीर धारण या मानव शरीरके साथ तादात्म्य.. १६०, १७३, ४२४
लोगोंकी पूजा [प्रार्थना] पर पलती हैं १९३-९४, १९९
दे० 'गिरजाघर' भी
छोटी-छोटी सत्ताएं वातावरणमें, बादलोंमें, हवामें ४१, १८९, १९९ दे० 'वातावरण' भी; और काला जादू ६०-२; और प्रकाशकी शक्ति ६२; शरारतसे भरी होती हैं १८९; मूर्तिमें अभिव्यक्त २७१-७२ दे० 'मंदिर' भी; -ओंसे लोग घिरे रहते २७५-७६; -ओंमें छिपनेकी वृत्ति २७७ दे० 'श्रीमाताजी' भी
प्रार्थना ११९, १९१, १९३, २०९
और वर्षा १९९
जब अटल विश्वासके साथ ३९५
(दे० 'फूल' भी)
प्रेम १७२
मानव ७७, १००, १०४
बना है आकर्षण और आत्मदानसे ९८
सेतु, वैयक्तिक चेतना और भागवत चेतनाकी खाईपर ९९

पत्नी, दूसरे व्यक्तिसे, क्या प्रकृति-के रूपांतरसे पहले हो सकता है? १००
क्या है यह जानना चाहते हो तो . भगवान्‌से प्रेम . . १००
जिससे करते हो, उसीके जैसे बनते जाते हो १००
का गुण चेतनाके रूपांतरके अनुपातमें १०१
मनुष्यमें शीघ्र ही गंदला १०१, १०३
की पहली अभिव्यक्ति जगत् व जड़पदार्थमें १०१
के साथ गति आरंभ हुई १०१-२
की एक उच्चतम अभिव्यक्ति: प्रेमपात्रके प्रति पूर्ण समर्पण १०२
है तादात्म्यका आनन्द, मिलनके आनन्दमें वह सर्वोच्च अभिव्यक्ति . . व्याख्या १०२-३
की सर्वोच्च अभिव्यक्ति पूरे विश्व का चक्कर लगाकर १०२
यदि पवित्र रहे तो भी भगवान्‌से संपर्क टिक नहीं . . १०३
बच्चोंके प्रति माता-पिताका १०४
उच्चतर पशुओंका १०४; अधिक पवित्र १०४अ
और स्नेह: अंतर १३२-३३
मानव, से भागवत प्रेममें जा सकता है": व्याख्या १७३
मानव, और दिव्य आनन्द २८८
(दे० 'भागवत प्रेम' तथा 'उदाहरण', 'मृत्यु' भी)

फ

फूल
बहुत ग्रहणशील २२७-२८
-में शक्ति भरना २२७-२८
सड़ जानेपर नहीं, सूख जानेपर शक्ति सुरक्षित . . २२८-२९
जो रोज आप देती हैं उनका क्या करना चाहिये? २२९
रूपांतरके २२९-३०
अभीप्सा व प्रार्थनाके २३१
(दे० 'काली-पूजा', 'श्रीमाताजी' भी)

ब

बनना दे० 'भगवान्'
बलवान्
दुर्बलोंपर शक्ति-प्रयोग . . १६८
कभी उग्र नहीं ३६५
बलि पशुओंकी और क्रूरता ६४-५
बहाना १२५, १३१, १६२, २३४, ३१८, ३३७, ३४१, ३८९
बालक [बच्चे]
जो सदा स्वस्थ रहते हैं और जिनके साथ दुर्घटनाएं . . २-३
-में अंतरात्मा आगे ४अ, ५अ
यहांके, अपवाद हैं ५; इनमें लोभी बच्चे क्यों? ५; कुछ बच्चे क्रूर क्यों? ५
कुछ, विशेष रूपसे दुष्ट ५
व्यक्तिके वायुमण्डलके प्रति संवेदनशील ९
-में कुछ, में एकाग्रता अधिक ९

छोटे, का मन विकसित नहीं होता
क्या उसका प्राण भी .. ११-२
नमनीय होते हैं, मक्खनसे १२-३
और वस्तुओंकी व्यवस्था १३-४
यहां स्कूलके चीजें खो . . १३
'छुटपन दे० 'व्यक्तित्व', 'सीखना'
तबतक शक्ति खर्च करते . . ३६
छोटे, अदृश्य जगत्में निवास करते
हैं ३९
छोटे, अजनबीसे डरते हैं ५०
की निष्कपट निष्ठा २३४
ज्यों ही आता है, सब मुस्कुराने
लगते हैं ... २५२
और पाठशाला २५८
तेरह वर्षकी अवस्थामें सोचने
लगता है: जीवन क्या है,
हम किस लिये जीते .. २६७
को यदि अपनेपर छोड़ .. ३९४
-में मांगते रहनेकी आदत:
क्यों? ४०१; छुड़ानेमें सहा-
यता कैसे? ४०२-५
को पालना मुश्किल काम ४०२
में तर्ककी क्षमता नहीं होती, उन्हें
बात समझा नहीं सकते ४०३
की शिक्षा और व्यक्तिगत स्वा-
धीनताका सिद्धांत ४०४-५
की शिक्षा हुकुम और नियमसे
माता-पिताद्वारा ४१९
का सरल विश्वास और मां-बाप
४३४
(दे० 'आश्रम', 'उदाहरण',
'कामना', 'चरित्र', 'प्रभाव',
'प्रेम', 'मां', 'शिक्षा', 'सीखना',
'स्वप्न' भी)
बुढ़ापा ८६
बुद्धि दे० 'तर्क-बुद्धि'
बुद्धिमान् दुर्बल शरीरोंमें ३-४
बौद्ध धर्म २७४
बौद्ध साधना और मन-यंत्र २७४

भ

भक्ति १७३, १८२
भगवती माता [महाशक्ति]
की चार शक्तियां २६९
के तरीकोंको उनके मूर्त रूपोंद्वारा
देखा .. अर्थ २७०
के चारों रूप एक-दूसरेसे स्वतंत्र
हैं न? २८५-८६
को मौतिक मनसे समझना २९६
(दे० 'आनन्द-सत्ता' भी)
भगवान् ३१-२
संबन्धी विचार वातावरण और
शिक्षापर निर्भर २५-६
संबन्धी विचारसे अनुभूतिको जीना
मुख्य २६-८
के स्थानपर सत्य, न्याय या प्रगति-
का विचार २७
की अनुभूति पानेके लिये २७अ
दे० 'एकाग्रता' पूरी भी
की अनुभूति सबकी, वही एक २८
पर श्रद्धा, भरोसा : अंतर १२०-२२
के ही प्रभावोंको प्रत्युत्तर १२७-
३१ दे० 'संकल्प' कि भी
के सिवाय कुछ नहीं १३१
को अपनी तरफ खींचना १३६
को अनुभव करनेकी कोशिश, अहं-
भाव १३७

धरतीपर अभिव्यक्त होंगे १५८
जेनरेटर और शरीर बत्ती १५९
अंतःस्थ, को पाना १५९, ३३५-३६
को हम उसी तरह ग्रहण क्यों नहीं करते जैसे हम औरोंके प्रभावोंको ग्रहण . . १६७
को पा लेनेपर क्या हमारे शत्रु नहीं रहते? १६७-६८
से अगर कहो: 'मैं केवल आपको ही चाहता हूं' तो भगवान् परिस्थितियोंको ऐसा बना देंगे कि तुम सच्चे होनेके लिये बाधित होगे १७५-७६; एक बार कहना काफी १७६
पर अपनी शर्तें थोपना २०४
से सहायताके लिये कहना २०६अ
को अस्वीकार करना : अर्थ २०९अ
और शक्ति : भेद २१७
साधना कैसे हैं? २२३
में मानवीय न्यायदृष्टि नहीं २२५ दे० 'मानव दृष्टि' भी
वांछित चीज दे देते हैं, सभी पाठोंमें यही . . २३६
को निश्चय करने देना कि तुम क्या बनोगे २४५
से कह सकते हो: 'यह लो, मैं तैयार हूं' २५८
जगतोंमें ईश्वर-शक्तिकी अनन्य और द्विविध चेतनाके रूपमें तथा पुरुष-प्रकृतिके द्विविध सिद्धांतके रूपमें अभिव्यक्त . . अर्थ २६९अ
को मनुष्यने अपने आकारमें गढ़ा है २७२
जब मानव कष्ट अपने ऊपर ले लेते हैं . . २८३-८४
की 'इच्छा' के प्रति समर्पित [वही चाहना] ३३४, ३४२, ३८९
का स्थान पहले ३३४-३६
के लिये बाकी सब कुछ छोड़नेको तैयार ३३६
के प्रति समर्पित हो तो हर मिनट वही होगे जो होना चाहिये . . ३४८
ही सब व्यवस्थित करते . . ३५१
को हर जगह देखना ३५५-५६, ३५७-५८
'सद्वस्तु क्या कोई नहीं, क्या सब हमपर निर्भर है? ३५६-५७
की अनुभूति ही योगमें सब बाहरी क्रियाका आधार ३८४-८५
के संपर्कमें हूं या नहीं? ३८७
के लिये अभीप्साका विरोध जबतक सत्ताका कोई भाग . . ३८९
एक जगह और दूसरी जगह माताजी क्यों कहा? ३९१-९२
व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक, लोगोंकी पसंद भिन्न-भिन्न ३९२
से सहायता मांगो तो अटल विश्वासके साथ मांगो ३९४-९५
का ज्ञान तादात्म्यद्वारा ४१३
के पक्षमें रखें अपनेको ४४२ दे० 'सत्ता' भी
(दे० 'सच्चिदानंद' तथा 'अध्ययन', 'असुर', 'अहं', 'ईसाई धर्म', 'कठिनाई', 'काम', 'खेल', 'चीज', 'चैत्यपुरुष', 'जगत्',

'जानना', 'दुःख-कष्ट', 'दोष', 'धन', 'निद्रा', 'परिस्थिति', 'प्रयास', 'प्राणिक जगत्', 'प्रेम', 'भोजन', 'भौतिक चेतना', 'मानसिक रचना', 'यंत्र', 'विरोधी शक्ति', 'विश्व', 'वृत्ति', 'शरीर', 'संकल्प', 'सच्चाई', 'सत्ता', 'सहायता', 'सृष्टि', 'सोचना' तथा 'भागवत..' के अंतर्गत भी)

भय ४००
और दुर्घटना व रोग २
और गुह्यविद्याका अभ्यास ३९, ४०अ, १९०
ही क्या मृत्युका एकमात्र कारण है? ४७
क्यों लगता है? ४९-५१
पर विजय: उपाय ५०
का प्रयोग धर्म और राजनीति भी करते हैं ५१, ६५अ
धोखा खानेका १८१
(दे० 'ईसाई धर्म', 'उदाहरण', 'पशु', 'प्रकाश', 'विरोधी शक्ति', 'श्रीमाताजी' भी)

भविष्यवाणी ३४८
-यां नयी धरती व नयी मानव-जातिकी १५८
(दे० 'पूर्वदृष्टि' भी)

भागवत आनन्द
और भोगविलासका सुख २८८
(दे० 'आनन्द-सत्ता' भी)

भागवत इच्छा
और सामाजिक संबन्ध ३६३-६६
के साथ पूरी तरह ऐकांतिक रूप-से जुड़े होना ४२७
(दे० 'इच्छा', 'भगवान्', 'सत्ता' भी)

भागवत करुणा १४३-४४
(दे० 'भागवत विरक्ति' भी)

भागवत कृपा ११९, १७५
अगर मिथ्यात्वकी मांगोंके आगे झुक जाय . . अर्थ २०४-५
न धार्मिकको चुनती है, न पापी-को त्यागती है", और "परम कृपा केवल 'प्रकाश' और 'सत्य' की अवस्थामें काम करती है": स्पष्टीकरण २१४-१६
को तुम खुद दूर हटाते हो २१४-१६
में विश्वासका अभाव २६३ दे० 'ग्रहणशीलता', 'श्रद्धा' भी
को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करने-का क्या तरीका है? ३१६-१७
को आदमी बहुत जल्दी भूल जाता है ३१७, ३१८
द्वारा, अभीप्सासे, व्यक्ति बनने-से पहले भी चैत्य संपर्क ३२७; यहां तुम्हारे साथ यह होना चाहिये ३२७
के लिये कुछ असंभव नहीं ४३२
(दे० 'अभीप्सा', 'असफलता', 'कठिनाई', 'दुःख-कष्ट' प्रहार, 'भूल', 'सत्य', 'सहायता' भी)

भागवत चेतना [सत्य-चेतना] १३४, ३८२, ३८४, ४४२, ४४४
(दे० 'अभीप्सा', 'प्रेम', 'भाग-वत प्रेम', 'संकल्प' भी)

भागवत जीवन
में राजनैतिक दलबंदी नहीं ४४५
भागवत धैर्य १५५, ४४६
भागवत प्रेम [दिव्य प्रेम] ७७, १००
की तीव्रता और विक्षोभ १३४
[चेतना, सहायता आदि शक्तियां]
सदैव उपस्थित, कहीं जरा-सा खुलनेपर अनुभूति १३४-३५, १४६-४७ दे० 'चेतना' भी
(दे० 'प्रेम' भी)
भागवत विरक्ति २८२-८३
(दे० 'भागवत करुणा' भी)
भागवत शक्ति
का आवाहन ११४, ३८२
सब कुछ कर देगी चाहे तुम शर्तों-को पूरा न भी . . २०६-७
असुरोंको भी मनचाही चीज दे देती है, इससे उनका अंत जल्दी . . २३७-३८
का दोष नहीं, तुम्हारी बेवकूफी-का परिणाम है वह ३१९
(दे० 'अतिमानसिक शक्ति', 'नयी शक्ति', तथा 'उद्घाटन', 'एका-ग्रता', 'प्रयास', 'सृष्टि' भी)
भागवत शुभ चिंता
से पीछे न हटो : अर्थ ३६६-६७
भागवत सहायता दे० 'भगवान्', 'सहा-यता' तथा 'असफलता', 'कठि-नाई', 'दुःख-कष्ट', 'भागवत प्रेम'
भूतबाधा ४२३, ४२४, ४२६
भूल [गलती] ११६, १५१, १९५, २३९, २४४, ३८५
दोहराते हैं जबतक कि दुःख बड़ा होकर सच्चाईके लिये विवश . . १४५
अज्ञानवश तथा सज्ञान, और भाग-वत कृपा २३४, ३३६
और भागवत करुणा २८३
सज्ञान, के लिये बाधित होते हैं, तब ? ३३६-३७
(दे० 'अतिमानसिक ज्ञान', 'चेतना', 'दुःख-कष्ट', 'निराशा' भी)
भूल जाना
बातें : कारण २१-२
(दे० 'भागवत कृपा' भी)
भोजन [आहार] ४३५
शरीरको कितना, कैसा, कब चाहिये का ज्ञान ३७
रातमें भारी और दुःस्वप्न ७३
बचपनके, की आदत १५७
कम, और इंद्रियसंयम १७६
निरामिष, और इंद्रियसंयम १७६
मांसाहार १७६-७८
शुद्ध, पर मन-प्राण शुद्ध नहीं तो शरीर दुर्बल . . १७८
'अंडा खाना क्या चूजे खाना नहीं है ? १७९
'चूजा खाना और चुकुंदर या गाजर खाना १७९अ
के साथ हम बहुत-सी निश्चेतना-को आत्मसात् . . २१२
से पहले भगवान्‌को भोग २१२
से पहले कहो : शांति, शांति ३०८
(दे० 'आश्रम', 'रूपांतर', 'शक्ति' भी)
भौतिक दे० 'अभीप्सा', 'उद्घाटन'
भौतिक चेतना ६३
को विस्तारित करना १०-१

जब भगवान्‌के साथ जुड़ जाती है क्या उसके बाद रूपांतर होता है? १०७-९
में चैत्य समर्पण ४०८
(दे० 'शरीर' भी)
भौतिक जगत् दे० 'जगत्'
भौतिक प्रकृति
तामसिक है, प्रयास पसंद नहीं करती ४१९
(दे० 'अतिमानसिक शक्ति' भी)
भौतिक मन
मूर्ख है २२२
का काम : शंका करना २२२-२३
सार्वजनिक चौक है २५५ दे० 'मन', बाजार भी
का मूल्यांकन २९६
और यांत्रिक मन ३१२-१३
(दे० 'भगवती माता', 'श्रीमाताजी' भी)
भौतिक रूपांतर
के कार्यका क-ख-ग ३७-८, ४७
अतिमानसिक अवतरणसे ४९
कब और किस क्रमसे १०७-९
कठिन क्यों ११२अ
का मार्ग १२३
और आनंद सत्ता २८८
(दे० 'रूपांतर' तथा 'समय' भी)
भौतिक सत्ता
और आंतरात्मिक सत्तामें संबन्ध ५-६

म

मंदिर
का गिरिजाघर जाना १९१, १९३
या गिरजाघरमें केंद्रित शक्ति और भक्तोंकी श्रद्धा १९२-९३
(दे० 'मूर्ति' भी)
मतवाद से बच सकोगे ३५२
मध्यवर्ती जाति ४०६
और वर्तमान मानव ४०७
मन ८१, १०५, १२२, १२३, १८४, ३१३, ३९२
में विशालता और नमनीयता बढ़ानेके लिये : कई प्रकारके विषयोंका अध्ययन १९-२०
शरीरके विघटनके साथ समाप्त, सिवाय उस अवस्थाके जब वह सुगठित . . २३
उच्चतर और उदासी ३३
किसी भी विषयमें तर्क . . १३८, १५६
को शरीरमें हस्तक्षेप करनेसे कैसे रोका जाय? १४०
विकसित, की आवश्यकता १५३
अपने ही विचारोंसे चिपटा १५६
प्राणका साथी १५६, १६२
तत्त्वतः, घमंडी है २३८
'मनोमय सत्ता'के पर्याय : अर्थ ३०१
में शांति दे० 'शांति', 'नीरवता'
से अपने-आपको अलग कर लेने-पर भी क्या मन विचार करना जारी रखता है? ३१०
बाजारकी जगह है ३१० दे० 'भौतिक मन' भी
मुखौटेके पीछे, और पार्थिव वातावरणमें भी ३१०
निम्न, ही जिम्मेवार ३२२

और प्राणको 'स्वच्छ क्षेत्र' कैसे बना सकते हैं ? ३८७-८८
-प्राणमें झपटनेकी आदत ३८८
और अतिमनके बीचकी नहीं, बल्कि मनकी ही उच्चतम सीमाओंतक पहुंचनेके लिये इतनी अवस्थाएं हैं..४०६-७
में विभक्त लोग ४२६
अपनी क्रियामें रेखाकार ४५०
(दे० 'प्रकाशका मन', 'प्राणिक मन', 'भौतिक मन', 'तर्क-बुद्धि' तथा 'प्रयास', 'बालक', 'मूल्यांकन', 'योग', 'स्मृति' एवं 'मानसिक ..' के अंतर्गत भी)
मनुष्य [लोग, व्यक्ति]
पकाशपूर्ण, प्रसन्न; उदास, असंतुष्ट : उनके जीवनमें दुर्घटनाएं व रोग ३
कोई दो, एक जैसे नहीं ९
की सीमाएं शारीरिक रूपसे २१
आशावादी ३०
अज्ञानमें निवास करते हैं ३६-८, ५०, २७४, ४३८-३९
कई टुकड़ोंसे बना है ७१, ९४, ११६, ३८५ दे० 'सत्ता' भी
इतने अचेतन..७६, ७८, ८६, ९५, ११४, १२५, १४६
के साथ जो होता है वह उसीसे आता है जो वह है ९५अ
अपनी सहज-प्रवृत्तियोंमें निवास करनेवाले १००
कहानियां गढ़नेमें चतुर १०५
सुसंस्कृत : मानव जातिमें झागके समान १०६; और मानसिक नियंत्रण ३११-१२
जो सचमुच मनुष्य हैं १०६-७, ३२७
जो रूपांतरित हो गये पर इतने अचेतन..११४
अन्य वस्तुओंमें इतना व्यस्त..११४, १३५
अपनेमें ही बंद १३५, १५२, ३८१ दे० 'अहं', 'उदाहरण' भी
में चैत्यकी उपस्थिति : एक अपवादिक गुण, पर वह लाभ नहीं उठाता १५९-६०; के प्रभावका कोई असुर देरतक प्रतिरोध नहीं..१७३
की अपने बारेमें राय १५९
जब इतना ऐंठा हुआ हो कि पहचाना न जा सके, तो मुझे लगता है, चेतना पूरी तरह-विकृत..१६५
में ही उच्चतम भौतिक शक्ति अभिव्यक्त १७३
की अपेक्षा क्या कुत्ते ज्यादा वफादार नहीं होते ? १८१
पीछे नहीं लौट सकता १८१
में ही स्पष्ट उच्चारित ध्वनि २२०
जितना विकसित, बोलनेकी आवश्यकता उतनी कम २२०-२१
का स्वभाव सीमित है, वह सीमित चीज ही समझता है २७०
में ऐसी शक्तियां, जिन्हें वह जानता नहीं और जिनका उपयोग वह खराब ढंगसे..२७४

कम-से-कम एक, जो आनन्द-सत्ता-को सह सकने . . २८७अ
बहुत-से विमक्त होते हैं ३१५ दे० 'विरोध' आंतरिक भी
अपनी क्षमतासे संतुष्ट ३१७
आवेग नहीं, अंतरात्मा है ३३७
का कर्तव्य ३३७
कुछ, ग्रहण करनेके लिये हमेशा मौजूद कुछ हमेशा अनुपस्थित ३९४अ
एक भी ऐसा नहीं जिसे अपने अंदर किसी चीजके खुलनेका एक बार भी अनुभव न . . ४१२
कुछ बरसों एड़ियां घसीटते और कुछ उड़ते जाते ४३३
का जीवन इसपर निर्भर कि उसका चैत्य कैसे अनुभव पाना चाहता है ४३६
(दे० 'सत्ता' तथा 'उदाहरण', 'परिवर्तन', 'पृथ्वी', 'प्रकृति', 'प्रेम', 'विरोधी शक्ति', एवं 'मानव . . ' के अंतर्गत भी)

मनोमय पुरुष
साक्षीकी स्थितिमें : अर्थ ३५३

मस्तिष्क [दिमाग, सिर] ८, १४, ७४, २३१, ४२६
से योग करना कठिन १३७-३८
से बाहर सोचना ३०२, ३०५, ३०९
(दे० 'संकल्प', 'समझना', 'स्मृति' भी)

महत्त्वाकांक्षा २३५, २४५, ३३१, ४२४

महाकाली
की मूर्ति २७२
को महाशक्ति कह सकती है: "शांत रहो" २८६
(दे० 'काली', 'दुःख-कष्ट' प्रहार भी)

महाकाली-पूजा १९१-९२

महालक्ष्मी
का रूप सशरीर सत्ताओंके लिये इतना आकर्षक : अर्थ २७८
भगवान्‌की मादक मधुरताका जादू . . २७८अ

महासरस्वती
और महालक्ष्मी देखनेमें कैसी हैं? २७१
के चित्र २७१-७२
पर निर्भर अपनी पूर्तिके लिये अन्य शक्तियोंका काम २७९
चारोंमें छोटी क्यों हैं? २८५

महेश्वरी
जगत्‌की शक्तियोंकी महान् रेखाएं खींचती . . अर्थ २७९

मां और बच्चेका बंधन १०५

माता-पिता दे० 'प्रेम', 'बालक'

मानव जाति [मानव समुदाय]
आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये संसार छोड़ दे . . ३५
और सचेतन व्यक्ति ३५, ३२७
(दे० 'मध्यवर्ती जाति', 'सफलता' भी)

मानव दृष्टि
बहुत तंग ४४६-४७
और भगवान्‌की दृष्टि ४४७ दे० 'भगवान्' भी

रेखाकार ४४७
मानसिक असंतुलन: कारण ४२६
मानसिक रचना [रचना] १३७
लौटकर अपने निर्मातापर प्रतिघात . . ४२-४
अपना काम कर विलीन ४३अ
और भागवत प्रभाव १२९
दूसरोंकी बुरी, से रक्षा २१२-१३
सुनिर्मित, कर लेनेपर उसे तोड़ना होगा ताकि भगवान्‌के साथ एक हो सको २५६
-ओं, अपनी छोटी-छोटी, से तुम हमेशा घिरे . . २७३, २७६
-ओं, अपनी ही, से पीड़ित लोग २७३-७४
का अपना स्वतंत्र जीवन २७४
अपनी, से छुटकारा २७५, ३६१
और मानसिक नियंत्रण ३११, ३१२
समय-विशेषपर होनेवाले रोगकी ३५९-६०
(दे० 'कामना', 'प्रकाश', 'प्रयास', 'विचार', 'सोचना' भी)
मानसिक शक्ति [मानसिक क्रियाकलाप]
मस्तिष्कसे स्वतंत्र ३०२, ३०५, ३०९
मानसिक संयम ३११-१२
मानसिक सत्ता
और प्राणिक सत्तामें संबन्ध ५-६
मार्ग [रास्ता] १२८
भगवान्‌की अनुभूतिका २७, २८
कोई भी: सचाई चाहिये १३१
का अनुसरण बिना भय व भूलके कब ३८४अ
अपनानेसे पहले सोचो, पर चलना शुरू करनेके बाद उसे छोड़ना . . ४२९-३०, ४३२-३३
पर जिन चीजोंकी जरूरत ४३० से हटना केवल इस जन्मके लिये या . . ४३०, ४३२
पर सही वृत्ति ४३४
लंबा: कारण ४३५, ४४६
सीधा, गोलाकार हो सकता है ४४७
(दे० 'प्रयास', 'भौतिक रूपांतर' भी)
मिथ्यात्व १७२, २०१, २१५, ४२७
हो और यह जानता भी न हो कि मिथ्यात्व उसमें कहां है १२४-२६
का क्षेत्र १६४
और झूठ १६४
(दे० 'जगत्', 'भागवत कृपा' भी)
मिथ्यात्वके स्वामी
का बहुत प्रभाव है १७२
ने क्या देहधारणकी कोशिश नहीं की? १७२अ
मुक्ति ३५, ३८२
(दे० 'चैत्यपुरुष', 'प्रभाव' भी)
मूर्तियां देवताओंकी २७२
मूल्यांकन २४४, २६२
बाहरी सफलताके आभाससे २३६
मनके २३८-३९
करते समय सोचो: दूसरा मेरे जितना बुद्धिमान् तो है ही २३८
कठोर २६०
(दे० 'भौतिक मन' भी)

मृत्यु
के क्षेत्रमें सचेतन प्रवेश : का ज्ञान ३८-४१; और शरीरसे बाहर जानेमें क्या अंतर है? ५२-३; और अमरत्व ५३-४
की घड़ीको टाला जा सकता है या उसका क्षण निश्चित है? ४७-९, ५०अ
के क्षेत्र" का क्या अर्थ है? ५५
के बादकी यात्रा ५५-७
एक दुर्घटना, एक आघात है ५५
'मृत व्यक्तिपर प्रेमपूर्ण विचार केंद्रित करना ५६
के क्षेत्रमें "सुरक्षित मार्ग" ५७
की शक्तिने जन्म लेनेकी कोशिश की १७२
के समय अंतरात्मा नहीं, प्राण शरीरको छोड़ता है ३४९
के बाद हरेक प्राणिक क्षेत्रमें जाता है ४३८
के समय : चेतनाकी अंतिम अवस्था महत्त्वपूर्ण ४३८; इर्द-गिर्दके लोगोंकी जिम्मेदारी ४३८
(दे० 'आश्रम', 'उदाहरण', 'चुनाव', 'भय', 'स्वप्न' भी)

य

यंत्र ३२३
'सत्य' की शक्तियोंके तभी १९५
अचल, और अचल निष्क्रियता : भेद २१०
सुनिर्मित, में भी आत्मा २१०
तब तुम भगवान्‌के कामके लिये बन जाते हो २५८
को पहले गढ़ना जरूरी २५८
(दे० 'काम', 'विरोधी शक्ति', 'शरीर' भी)
यश दे० 'प्रशंसा'
योग ३७३
और मानसिक तैयारी ३४४
शुद्धिके बिना या अहंकारपूर्ण इरादेसे जब ४२४
का मार्ग दे० 'मार्ग', 'श्रीमाताजी'
के लिये जिनमें सबसे अधिक शक्ति उन्हींमें सबसे अधिक अपूर्णताएं भी : व्याख्या ४३५-३६
द्वारा नियतिसे सचेतनता ४३६
से कई जन्मोंकी बचत ४३६-३७
(दे० 'पूर्णयोग' तथा 'आश्रम', 'गुह्यविद्या', 'मस्तिष्क', 'विजय' भी)
योगमाया २१७टि०, २१८
योद्धा ३३
आंतरिक, कौन है? २०१

र

रंग
, रूप व आकारकी दृष्टिसे अवलोकन शक्तिका प्रशिक्षण ८३-५
(दे० 'धन', 'ध्यान' भी)
राजसिक उत्सुकता
का क्या मतलब है? ३२१
और तीव्रता : भेद ३३१
(दे० 'अभीप्सा' भी)
राष्ट्रोंका स्वामी १७०

रूप १००, १८४ अ
(दे० 'कल्पना', 'रंग' भी)
रूपांतर १६९, २२४
और आहार ४७, १७८
के विषयमें लोगोंकी कल्पना १०८
के मार्गमें तीन बाधाएं १५६टि०
शुरू करना चाहिये अंदरसे १७८
अटल : अर्थ २०२
तारागणका २४२
(दे० 'पूर्णयोग', 'भौतिक रूपांतर' तथा 'पुस्तक', 'फूल', 'भौतिक चेतना', 'स्वप्न' भी)
रोग [बीमारी] १५१, १७८
और आंतरिक स्थिति २
को पोसना १३९
के प्रति उचित भाव ३३३
बंधे समयपर होनेवाले : कारण और इलाज ३५९-६१
-मुक्त होना चाहो तो शरीरसे रोग-की स्मृतिको नष्ट . . ३६०-६१
भौतिक उपचार ३६१
(दे० 'शारीरिक कष्ट' तथा 'उदाहरण', 'कल्पना', 'चुनाव', 'निराशा', 'भय', 'मानसिक रचना', 'विचार', 'शरीर' भी)

ल

लक्ष्मी-पूजा १९१
लक्ष्य [उद्देश्य] ४०८
जीवन व जगत्का १६, ५७, १०२-३, १६६, ४१३
हमारे योगका १०७-९
अंतिम १०८ टि०
तब सुनिश्चित है १७६, ३३३टि०
का अनुसरण अज्ञानतामें ४३८अ
(दे० 'विकास' भी)
लड़ाई-झगड़ा
से बच सकोगे ३५२, ४१३
लीला २६४
लेखक ३१०, ३१३
लोभ दे० 'बालक'

व

वर्ष
अगला (१९५५) कठिन होगा : ४४१, ४४७-४८; अपनाने योग्य वृत्ति ४४१, ४५१-५२
(दे० 'संदेश' भी)
वाणी [बोलना] ३४८
'बेकार बातें करना ७५, ३५०; कारण और उपाय २२०-२१
'बुरा कहना किसीके बारेमें ९१
'कम बोलकर दूसरोंसे आंतरिक समझ . . ९२-३
'बात करनेसे पहले सोचो २२१
'बोलो, जब अनिवार्य हो २२१
'चीजोंको शब्दोंमें व्यक्त करना और अनुभूति २८२ दे० 'विचार' भी
'कहना कुछ, सोचना कुछ ३८८
'बोलना रेखाकारमें ४५०-५१
(दे० 'आलोचना', 'शब्द', तथा 'कठिनाई', 'काम', 'दूसरे', 'मनुष्य', 'संकल्प', 'समझना', 'साधना', 'सोचना' भी)

वातावरण ५७
मंदिर या गिरजाघरका १९३
भागवत अभीप्सा और समर्पणका, सुरक्षा और छत्रेका काम करता है २१२-१३
में अप्रिय रचनाएं २१२, ३००
दे० 'प्राणिक सत्ताएं' भी
आश्रमका ही नहीं, धरतीका अद्‌भुत संभावनाओंसे भर गया था आनंद-सत्ताके उतरनेपर २८७, २८९
आश्रमका पहला २९२, २९३
(दे० 'आध्यात्मिक वातारण' तथा 'कामना', 'शरीर' भी)
विकास १२६
के लिये जलती शिखा बन.. २९
सत्ताका, मानव जीवनका उद्देश्य ५७
करना और अपने-आपको तैयार करना व्यक्तिका पवित्र कर्तव्य है ऐसा कौन सोचता है? १५५
दे० 'खोज' भी
के नाजुक क्षणमें दो संभावनाएं: सीढ़ी पार करने या ढीले पड़ जानेकी ४३२
(दे० 'प्रगति' तथा 'इंद्रियां', 'काम', 'खेल', 'विश्व', 'सोचना' भी)
विचार
[इच्छाएं] विरोधी, एक साथ अव्यवस्थित १४, २५३अ
अप्रिय, से मुक्ति कैसे २३-४, ३२३-२४
उच्चतर, से उदासी दूर ३३
अशुद्ध और नाड़ी-दौर्बल्य ७५
जब वाणीमें अभिव्यक्त.. ९१
दे० 'वाणी', 'शब्द' भी
बिना शब्दोंके ९६, ९७
-ोंका, हमारे, दूसरोंपर असर १६६
गृहदेवी कालीके प्रकोपका १९५
समन्वित: लंबा काम २५६
द्वारा रूप-रचनाका निर्माण २७३-७५
मस्तिष्कपर निर्भर नहीं ३०२, ३०९
-ोंको मत देखो, मत सुनो ३०७
-ोंका कारखाना ३१०
और भाव मनसे ऊपरसे भी ३१३
नीचेसे नहीं, ये आवेग.. ३१३
चेतनाकी गतिका रूपमात्र ३२२
का सत्य, विचारकी शुद्धि.. ३३७अ
प्रगतिमें जबतक सहायता दे उसे रखो ३५१-५२
और शाश्वत सत्य ३५१-५२
पुराने रोगका ३६०-६१
(दे० 'मानसिक रचना' तथा 'चेतना', 'तादात्म्य', 'प्रकाश', 'मन', 'व्यवस्था' भी)
विजय
अपनी प्रकृतिगत छायापर १८
आंतरिक, से बाहरी विजय आती है योगमें: मतलब ३८४
एक छोटी-सी निम्न सत्तापर, अगले कदमके लिये शक्ति ..४३१
अंततोगत्वा निश्चित है ४४२, ४४६

प्रथम धरतीपर हीं ४४८
(दे० 'आवेग', 'कठिनाई', 'कामना', 'भय', 'विरोधी शक्ति' भी)
विनम्रता [नम्रता] ११६, २९७, ३१६, ३९०, ४२८
विभाजन ९९
जरूरी था, सृष्टिके लिये २७०
(दे० 'अलगाव' भी)
विभूति का मतलब क्या है? २७०
विरोध
परिवर्तनका १३१, २०३, २१९
आंतरिक २३९-४०, २६१, ३४०-४१, ३६३, ३८९
(दे० 'प्रतिरोध' तथा 'अभीप्सा' भी)
विरोधी शक्ति १, १९०, १९५
और भय ४९, ५१
-योंके आक्रमण १२०, १८५, २१५, २१६, ३७९
-यां भगवान्‌की विरोधी हैं और भगवान्‌को पानेवालोंकी भी १६७-६८, ३००
-योंको प्रत्युत्तर, उनके प्रभावके प्रति खुला होना १६८, १७१, २१५, २१६, ३००, ४२६
[आसुरिक शक्ति] -योंका पृथ्वीपर शासन, वे अधिकार खोना नहीं चाहतीं १६८, १७१
-योंका विलयन १६९ दे० 'असुर'
सचेतन भी
योंका अस्तित्व तबतक १७१, ४५०
यां मानव तुलनामें १७१, २३७, ४४७अ
-योंके लिये मनुष्य आकर्षणका केंद्र क्यों? १७३
-योंका आसन प्राण जगत्‌में २०२
को हरानेकी शक्ति प्राणमें २०२
-यां सबसे ज्यादा क्रियाशील, जब महान् चीजें सिद्ध होनेवाली होती हैं २३८
-योंसे ग्रस्त व्यक्तियोंकी स्थिति २४३-४५; विशेष फर्क मृत्युके बाद २४३अ
-योंका निर्गमन और उसका आत्मसात्करण २४४
-योंके निर्गमनसे छुटकारा पानेकी मांग २४५
-योंका प्रभाव और महत्त्वाकांक्षा २४५, ४२४
-यां कौन-सी हैं? ३००
से अधिकृत व्यक्तिके चैत्यपुरुषका क्या होता है? ४२२-२४
[आसुरिक शक्ति] -योंका परिवर्तन ४२४, ४२५-२६
-योंके प्रभावसे पिंड छुड़ाना बहुत बड़ी विजय, यह धरतीके लिये प्रगतिका प्रतीक ४२५
-यां भगवान्‌के कामका अद्‌भुत यंत्र बन सकती हैं ४२५
-योंकी अंतिम आशा ४४७-४८; संघर्ष धरतीपर केंद्रित ४४८
(दे० 'असुर', 'प्राणिक सत्ता' तथा 'कठिनाई', 'काम', 'चैत्यपुरुष', 'जगत्', 'प्रयास' भी)
विवेक दे० 'निरीक्षण'
विशालता ३२८, ३३८-३९
(दे० 'वैश्व चेतना' तथा 'भौतिक चेतना', 'मन' भी)

विशेषज्ञता पाना
किन्हीं विषयों या खेलोंमें १९-२०
विश्राम ३३, ३६, १८६
(दे० 'निद्रा' भी)
विश्व
की तुम्हारी अनुभूति : तुम केंद्रमें ...१३५, २५२
सारा अभिव्यक्त, भगवान् है २४८
को भगवान्‌की लीला क्यों कहते हैं ? २६४
प्रभुकी अशंविभूतिका मूर्त रूप, पर प्रगतिशील २८०
के बारेमें सचेतन उसी हदतक ३५७
के विकासमें विराम नहीं ४०७-८
में हर चीजका स्रोत वही **एक** ४२५
(दे० 'जगत्', 'सृष्टि' भी)
विश्वास २१३, २२५, २८५
बच्चे-जैसा, मुस्कराता ३९४-९५
आंतरिक उद्‌घाटन है ३९४
(दे० 'श्रद्धा' तथा 'अभीप्सा', 'कहानी', 'ग्रहणशीलता', 'चैत्य-पुरुष', 'प्रार्थना', 'भागवत कृपा' भी)
वीर २५५ (दे० 'योद्धा' भी)
वृत्ति
ठीक, इस पथपर ११८
पर निर्भर वस्तुओं व परिस्थितिका हमपर प्रभाव १२२-२३ ; यह अनुभूति सबको हो १२२अ
सब कुछको भगवान्‌के कार्यके लिये अपने-आपको तैयार करनेके अवसरके रूपमें लेनेकी १५३-५४
ठीक, आश्रमकी शिक्षाका लाभ उठानेके लिये १५४, २६५
आत्म-निर्माणके प्रयासमें १८६
उचित, सब परिस्थितियोंमें ३३३-३४
कि जब कोई चीज आये तो ले लो, चली जाय तो खेद मत . . ४१८
(दे० 'अहं', 'कठिनाई', 'क्रोध', 'शक्ति', 'शरीर', 'समर्पण' भी)
वैश्व चेतना [वैश्व भाव]
का विकास ४०८-९
का मतलब ४०८-९
(दे० 'विशालता' तथा 'शक्ति' भी)
व्यक्तित्व ४०९
'सचेतन वैयक्तिक सत्ता लाखोंमें एक १०६; ३२७
'व्यष्टीकरणका काम २५३-५८
की भावना जब एक पिंजरा, जेल ३२६ दे० 'उदाहरण' भी
-निर्माणके कालमें हो तुम ३२६अ
-निर्माणके बाद अपने महत्त्व और क्षमताका भान ३२८
का कार्य छुटपनसे ३२९
'वास्तविक सत्ता और संकल्प ३४१
(दे० 'अहं', 'प्राणिक जगत्', 'शिक्षा' भी)
व्यवस्था ८५, ३१४
वस्तुओंकी १३-६; और गरीबी १५
का आदर्श १५
वस्तुओंकी, जो कर सकते हैं वे विचारों, क्रियाओं व चरित्रको भी व्यवस्थित . . १५-६
-रहित जीवन १६
आसान, अवचेतना न हो तो ३१४
(दे० 'उदाहरण', 'चेतना', 'जगत्',

'बालक', 'विचार', 'श्रीअरविंद' भी)
व्यायाम को जानना १०९

श

शक्ति ५०
से भरपूर एक दिन, अगले दिन क्लांत, क्यों ? ३६
का खर्च नुक्सान नहीं .. ३६
प्राणिक, नीचेसे भोजन व संवेदनों-से ८०
वैश्व प्राणसे ८०
उच्चतर क्षेत्रोंसे ८०
पथ-प्रदर्शक, पाना चाहो तो १११
का आवाहन और प्रत्युत्तर ११४
वृत्तिकी १२२-२३
पानेकी महत्त्वाकांक्षा २३५, २४५
ऐसे लोगोंको क्यों मिलती है जो सच्चे नहीं, २३५-३६
एक ही है, अभिव्यक्तिमें वह विभाजित हो जाती है २७०
का ऊपरसे अवतरण निचले क्षेत्रोंमें नीरवता स्थापित .. ३२२-२३
का उपयोग स्व-आलोचनामें नहीं, आत्म-निर्माणमें ३४३-४४
(दे० 'अतिमानसिक शक्ति', 'नयी शक्ति', 'भागवत शक्ति' तथा 'कामना', 'धन', 'प्राण', 'फूल', 'बालक', 'भगवान्', 'भागवत प्रेम', 'मनुष्य', 'विजय' भी)
शत्रु
-ता हानि पहुंचनेसे ही नहीं १६८
को अपने अंदर कभी बर्दाश्त न करना चाहिये ४२७
(दे० 'भगवान्' भी)
शब्द १३३, ३१३
-ोंका प्रयोग कम-से-कम ९२-३
विचारकी शक्तिको क्षीण कर देते हैं ९३, ९७ दे० 'विचार' भी
-ोंमें अपनी सद्भावनाको व्यक्त करना क्या आवश्यक है ? ९६
का क्या अर्थ है ? ९६-७
में मंत्र-शक्ति भरना ९७-८
जड़पदार्थपर सीधा कार्य .. ९७
'शब्दावली ३१५-१६
(दे० 'श्रीमाताजी', 'सत्य', 'सोचना' भी)
शराब ७३-५
शरीर
-रचना और चरित्र १-२
का रूपांतर दे० 'भौतिक रूपांतर'
से बाहर जाना और सावधानी ४१, ५२-३, ५४-५, १८९-९० दे० 'मृत्यु' भी
बहुत ही अचेतन है, उसमें जरा-सी चेतना लानेके लिये कितना कार्य .. ५१
तुम्हारा सुरक्षा-स्थल ५५, ४३७
एक रोड़ा, पुरानी आध्यात्मिक शिक्षामें ६३
के साथ बुरा व्यवहार ६३, ७६
को कष्ट देना ७०, १८०अ, ४१७
और तमाखू व शराब ७३-५
अछूते जंगलकी जगह इंद्रियोंके प्रशिक्षणसे सुन्दर बगीचा बन सकता है ८८; तुम्हें प्रकृति को बदलनेके लिये नहीं जोतनें

के लिये कहा जाता है ८८
के लिये जाननेका अर्थ १०८-९
आश्चर्यजनक व पूर्ण यंत्र ११२; में अमूल्य, अज्ञात निधियां १३९
दो विरोधी वस्तुओंको एक साथ अनुभव कर सकता है ११२
सक्रिय व निष्क्रिय एक-साथ ११२
पर आघातका फल वृत्तिपर निर्भर १२३, २८४
में रोग व दुर्घटनासे आक्रांत होनेपर सहायता पानेके लिये अभीप्सा, सहज संकल्प.. १३८-३९
को यदि अपनेपर छोड़ दो १३९
चेतना मन-प्राणके हस्तक्षेपसे दूषित १३९
में संतुलन-स्थापनकी शक्ति १३९
अपनी आदतोंसे चिपटा १५६टि०, १५७, १६१
के साथ थोड़ा धीरज.. १६२
कठोर रूपसे बना है व्यष्टीकरणके कामके लिये २५४-५५, २५७
कठोर है, की शिकायत २५५
भगवान्‌को देना २५६
सचेतन हो, साथ ही उसमें समता, प्रभुत्व भी हो, वह वातावरणमें प्रभावकी क्रियाओंको अस्वीकारकर फेंक सके", कैसे ? ३३२-३३
का उद्‌घाटन ३८०
-चेतना और चैत्यपुरुष ४३६-३७
(दे० 'प्राणिक सत्ताएं', 'बुद्धिमान्', 'भोजन', 'मन', 'स्वभाव' एवं 'रोग', 'शारीरिक कष्ट' व 'भौतिक..' के अंतर्गत भी)
शांति [शांत-स्थिर रहना] १११, १२९, १३५, १४४, ३२८, ३३३, ३५०, ४५१
पानेका उपाय ३०४, ३०७-८
पाये बिना क्या हम निश्चल-नीरव हो सकते हैं? ३१४-१५
साक्षीभावके द्वारा ३५३, ४१५
ठोस, और नकारात्मक ३५४
ध्यानमें बिंब देखते समय ३७१
'स्थिरता' और अचंचलता क्या एक ही हैं? ३१५; को पाना एक बड़ी प्रगति ३२०; अभावात्मक चीज नहीं, सत्पुरुषका अपना रूप ३२०; एक आधार ३२१; को कैसे नीचे बुलायें, जब हम उत्तेजित हों ३६९
(दे० 'निश्चलता', 'नीरवता' तथा 'अतिमानसिक सत्य', 'अनुभव', 'कठिनाई', 'कल्पना', 'पशु', 'भोजन' भी)
शारीरिक कष्ट [पीड़ा]
में डाक्टरके पास दौड़े जाना ३८
भी क्या अहंके कारण? ३९६
एक खतरा-संकेत ३९६-९७
का उपचार, पीड़ाको रोकनेसे भी ३९७-९८
(दे० 'रोग' तथा 'निश्चलता' भी)
शाश्वतता
में जीना १५५, १८६, ३२८, ३३९-४०

शिक्षा
के लिये छोटे बच्चे लेना १२
की युक्तिसंगत प्रणाली १२टि०
'अपने-आपको शिक्षित करनेके अवसर निरंतर ८४ दे० 'सीखना' भी
और व्यक्तित्वकी संरचना २५८
और मानसिक नियंत्रण ३११
महान्, और शाश्वत सत्य ३५१
(दे० 'आश्रम', 'इंद्रियां', 'बालक', 'विशेषज्ञता', 'संवेदन' भी)
शुद्धि ३४०
का मतलब ४२७
आध्यात्मिक ४२७-२८
(दे० 'योग' भी)
शुभ चिंता ३६७
श्रद्धा १९१
विश्वास, भरोसा: अंतर ११९-२२
का आधार क्या है? ११९
पाना या बढ़ाना: उपाय ११९-२०, ३८५-८६, ३९४
बुद्धिजीवियोंमें १२०
-विश्वास ही काम करता है १९३, २३१, २३३
महत्त्वाकांक्षासे रंजित: अर्थ २३५
-विश्वास यदि भागवत कृपापर २३९, ४३४
कि जो अच्छे-से-अच्छा होगा वही होगा ३४२-४३
आत्मसमर्पणकी अभिव्यक्ति ३४३
का तत्त्व सबमें ३८६
-विश्वास कठिनाईके समय ३९५, ४२९-३०, ४३३-३४, ४४१
भागवत कृपामें और उद्यमकी सुनिश्चित सफलतामें ४२९
खोना या श्रद्धाका अभाव ४२९-३० दे० 'भागवत कृपा' भी
बनाये रखनेका मतलब ४३०
(दे० 'विश्वास' तथा 'कठिनाई', 'दोष', 'भगवान्', 'मंदिर' भी)
श्रीअरविंद १५८
भौतिक वस्तुओंके बारेमें १३अ
की वस्तुएं: व्यवस्था १४-५
के घरमें पत्थर बरसनेकी घटना ४३
भौतिक रूपांतर पर १०९
की लिखी चीजपर शंका करते हुए एक पत्र, अंतमें था: "वह कम-से-कम हमारे जितना बुद्धिमान् तो है ही!" २३८
के कार्यके लिये धन इकट्ठा करनेवालेको यह चिट्ठी २४७
के शरीर-त्यागसे पहले आनन्द-सत्ताका अवतरण..२९०
की कविता: एक दिन ४४४; फटे हुए चिथड़ेमें भी मैं.. ४४४
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)
श्रीमाताजी
चौबीस वर्षतक मुझे इन बातोंके विषयमें कुछ पता न था, पर मैं अपनी इन क्रियाओंमें विभेद..७
'बचपनमें डांट, कई भिन्न-भिन्न कार्य करनेके लिये २०
'मैंने गुह्यविद्याका अभ्यास बारह वर्षकी अवस्थामें..४१
'मुझमें भय बिलकुल न था ४१

'मृत्युका भय' यह लेख आपने इन दिनों क्यों लिखा? ४६
'मैंने गणपति और मुंडमाला-धारिणी कालीको देखा है ६८
द्वारा पैरिसकी जर्मनोंसे रक्षा ६८-९
को जापानीका उत्तर, चीनमें पीड़ाविधियोंके आविष्कारके बारेमें ७०
की कक्षामें दूसरोंके प्रश्न ८९
'मुझे यह सब शब्दोंमें रखना पड़ रहा है क्योंकि.. ९७
'मैंने बिल्लीके मातृप्रेममें आश्चर्य-जनक बातें देखीं.. १०४
पुरुष और प्रकृतिपर ११६-१८
'शरीर मुझे निरुत्साहित नहीं करता, यह तो प्राण है.. १६२
मानों हमेशा तुम्हें देख रही हैं ऐसा व्यवहार करो.." (श्री-अरविंद) १६२
से चीजोंको छिपानेकी वृत्ति १६२
'रातको मैं निरीक्षणके लिये.. १६२, १६५, १९५-९६
जब हम आपके पास आते हैं तो ऐसा लगता है आप कुछ नहीं जानतीं १६३
'मैं उनकी चैत्य सत्ताको बाहरी तलपर लाती हूं, मेरा सारा काम यही है १६३
'जब मैं प्रश्न पूछती हूं तो मैं जो जानती हूं उसमें तथा तुम अपने बारेमें जो जानते हो उसमें फर्क देखने.. १६३-६५
'मैंने कभी सीखना बंद नहीं किया १६४-६६
"मैंने रातोंको सचेतन रूपसे काम करना १९०४ में शुरू..१६५
'चीजोंकी स्वीकृति, आवश्यकता-की दृष्टिसे, न कि इच्छाकी पूर्तिके लिये १७९
का अनुभव टोकियो और फ्रांस-में अपने बगीचेकी तरकारियों-के बारेमें १८०
का अध्यवसाय अपनी रातोंपर काम करते हुए सूक्ष्म भौतिक और स्थूल भौतिक प्राणके बीचके क्षेत्रको विकसित करने-के लिये १८५-८६
'लक्ष्मी-पूजा व महाकाली-पूजाके दिन आशीर्वाद १९२
'आप पहलेसे ही जानती हैं तो हर विभागाध्यक्षको आपके पास सूचना देनेके लिये आनेकी क्या जरूरत है? १९६
तो जानती ही हैं' यह सोचकर किये खराब कामको न कहना या कह देना बेहतर? १९७
से कक्षामें प्रश्न पूछना १९७-९९
को पुकारना प्रतियोगिता या कार्यक्रम या कठिन काममें अच्छे-से-अच्छा करनेके लिये १९९-२००; यह खींचता है, पर यह ठीक है २००
को खींचना, बंद रहनेसे ज्यादा अच्छा २००
का परीक्षण, भौतिक मनके बारे-में २२२-२३

का अनुभव, श्रीमती गुह्यवादी-द्वारा भेजे 'भागवत प्रेम' के फूलोंके बारेमें २२७-२८
का परीक्षण, प्रकृतिके साथ सम-झौतेसे, मौसमके फूलोंपर २२९-३१, २४०-४१; इसमें समय-का तत्त्व .. २४२
व श्रीअरविंदकी तस्वीरकी अंगूठी पहनना २३१-३२
'जब हम आपके सामने आते हैं तो हमारे इर्द-गिर्द छोटी सत्ताएं क्या करती हैं? २७६-७७; ये सत्ताएं आपसे डरती नहीं? २७७
के पास न जानेके सुझाव २७७-७८
'आप आश्रमके इन सब व्यक्तियों-के साथ समय नष्ट कर.. २९१ दे० 'आश्रम' में जिन भी
'वे मेरी चेतनामें समाये हुए थे, मैं उनके लिये साधना .. २९३
'१८ और २० के बीच भागवत उप-स्थितिके साथ सचेतन ऐक्य, संकेत देनेके लिये किताब मिली, आदमी मिला और एक महीने-में सारा काम .. २९३-९५
'मुझसे आकर दिव्य चीजोंकी चर्चा न करो जब कि वे हों निरी मानव २९४अ
'आपके स्पर्शके प्रति हम नमनीय कैसे बन सकते .. २९५अ
का शरीर और आनन्द-सत्ताके ठहरनेकी बात २९७-९९
'अब हमने योगको मनसे प्राणमें उतारा .. एक महीने बाद मैं अठारहकी लगती थी २९८अ
'चैत्यको अनुभव करनेका तुमने निश्चय किया होता तो मेरा समय नष्ट न .. २९९
'सवेरे आशीर्वादके कार्यक्रममें परिवर्तन .. ३०२अ
'जापानमें एक आदमी मिला, उस-के दलका सिद्धांत: पेटसे भी सोच सकते हो ३०५-६
'मेरे शब्दोंका अर्थ [समझना] हर एक अपना ही करता है ३१५
'मुझे प्रतीक्षा करनी होगी ३२५
'यहां मैं तुम्हें सोने नहीं देती ३२८, ३३०; ठीक चीज आयेगी ३३०
'मैं उन लोगोंके प्रश्न [बात] नहीं समझ पाती, जो स्पष्टतासे नहीं सोचते या जो छिपानेके अभ्यस्त हैं ३६८
का एक संगीतकार मित्र, जो सीधा कागजपर संगीत तैयार .. ३७३
का संगीत: कमी ज्यादा अच्छा कमी उतना नहीं ३७५-७६; किस लोकसे? ३७६; अगर मेरे पास दो सौ वादकोंका आरकेस्ट्रा होता .. ३७७
के प्रतीकमें बारह पंखुड़ियां ३८६
'मेरी समालोचना, बच्चोंके साथ दुर्घटनाओंको रोकनेके लिये ४०४अ
'मैं किसीको यह पथ लेनेके लिये नहीं धकेलती ४३३

(दे० 'भगवती माता' तथा 'कठिनाई', 'गिरजाघर', 'भगवान्', 'स्वप्न' भी).
श्रेष्ठता का संतोष ३३१

स

संकल्प [निश्चय] १२, २७, ७८, १११, ११७, १२०, १३६, १४५, १५६, २४१, २५१, २५९, २९५
का मूल्य उद्देश्यपर निर्भर २९
कहांसे आता है? १२०
मस्तिष्कमें नहीं, हृदयमें १३८
पर डटे रहो तो तुम कठिनाईपर एक दिन विजय.. २८५
कि किसी भी कीमतपर केवल सत्य-चेतनामें ही रहोगे ३२०, ३८२; कि उसी चीजको व्यक्त करें जो ऊपरसे आती है ३३३अ दे० 'भगवान्' के ही, 'स्वामित्व' भी
'एकमनका होना ३२०, ४४९
अस्वीकार करनेका ३३३
सत्य व स्पष्ट, में गलत गतिको अस्वीकार करनेकी शक्ति ३३७
'तुम चाहते ही नहीं, सचमुच चाहो तो दुनियाकी कोई चीज तुम्हें .. ३३७, ३४०-४१
को दृढ़ कैसे बनायें? ३४०-४२, ३८३
और सत्ताका एकीकरण ३४१
चाहिये, वही चाहनेके लिये जो भगवान् चाहते हैं ३४२
अपना, जब औरोंकी भावनाओंके साथ टकराये ३६२-६३
भगवत्प्रेरित यदि.. ३६३
गप्पें न लगानेका और दूसरोंकी नाराजगी ३६४
तेज धारवाली तलवार है ३८२
(दे० 'इच्छा' तथा 'कठिनाई', 'परिवर्तन', 'प्रगति' भी)
संगीत
वैरलिओज़का ३७२-७३, ३७५
सुननेका तरीका ३७४
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)
संगीतज्ञ १८८, ३४६
संतुलन ७, १७२, ३४४
के लिये सत्ताके सब भागोंकी साथ-साथ प्रगति १७९
(दे० 'शरीर', 'सृष्टि' भी)
संदेश
जनवरी १९५४ का ९६टि०
नये वर्ष १९५५ का ४४१अ
संदेह [शंका] १३१, १६६, २१३, ३९५
को पोसना खतरनाक १२०
भौतिक मनका १९१, २२२-२३
(दे० 'ग्रहणशीलता', 'सत्य' भी)
संबन्ध [नाता]
पारिवारिक २९२
सामाजिक, में कमजोरी ३६५
लोगोंके साथ और अज्ञान ४३९-४०
(दे० 'दूसरे' -से संपर्क भी)
संयम [आत्मसंयम] ४०, ७६, १७६, ३४८, ३४९
के तपस्वियोंके तरीके ४१७-१८

(दे० 'तपस्या', 'भोजन' भी)
संवेदन ३२४
उग्र, पानेकी अस्वस्थ चाह ६९-७०
को सुखकर या असुखकरके रूपमें लेनेकी जगह यदि उनका वैज्ञानिक निरीक्षण और अध्ययन करो . . ७८, ८२
ज्ञान और शिक्षाके यंत्र ८१-८
(दे० 'इंद्रियां', 'खेल', 'शक्ति', 'सीखना' भी)
संवेदनशीलता ७०, १२९, २२७
सक्रियता दे० 'साधना'
सचेतनता ३९, ५२, ८७, १२५, १६३, २५९, २६१, ३२९, ३३३, ३४१, ४५२
(दे० 'जागरूकता' तथा 'अवचेतना' भी)
सच्चाई ११८
का अभाव ११५, ३४०, ३८८अ, ३९१ दे० 'कपट', 'धोखा देना', 'बहाना', 'सौदेबाजी' भी)
की आवश्यकता ११५अ, १२०, १४५, २३९, २६१, ४२८अ
न हो और उसे उसका ज्ञान न हो . . १२४-२६
'सच्चा बनना : उपाय १२६, १३१, २०९
भगवान्‌का द्वार खोलनेकी कुंजी है : व्याख्या १२६
पूर्ण, बहुत कठिन १३१, ३१७, ३८९
का सच्चा अर्थ १३१, ३८८-८९
के कई स्तर ३८८-८९
पूर्ण, तब आती है ३८९
अभीप्सामें इतनी . . ३९३
(दे० 'दुःख-कष्ट', 'परिवर्तन', 'प्रकाश', 'प्रगति', 'भगवान्', 'शक्ति', 'समय' भी)
सच्चिदानन्द
-चेतनामें तीन मिनट . . १८५
सत्ता
की ऊंचाईपर टिके रहना कठिन २५
का सत्य २८अ, १६४
के छिपे भाग ११५, १३२, १४५, २४०-४१, ३४०
के हर भागका समर्पण २१७अ
की भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न घनता और उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व ३०२
का हर भाग चार भागोंमें बंटा हुआ है ३१०-११
के क्या कुछ भाग ऐसे हैं जो हमारे जाने बिना भगवान्‌की सेवा करते हों? ३७८
को दिव्य शक्तियोंके पक्षमें रखना" : मतलब ३८१
की केंद्रीय इच्छा : भागवत इच्छाकी अभिव्यक्ति ४१०; का भान कैसे? ४११
के सभी भागोंमें एक साक्षी ४१५
बाह्य, का परिवर्तन ४१६-१७, ४४२, ४४३, ४४४
(दे० 'मनुष्य' तथा 'संकल्प', 'संतुलन' भी)
सत्पुरुष किसे कहते हैं? ३२१
सत्य [सच] १७२
जो बात कल, थी वह आज सत्य नहीं, जो आज सत्य . . १६६

की चरितार्थता भागवत कृपाका काम २०४
कहनेसे हम डरते क्यों हैं? २१९
पर शंका क्यों होती है? २२२
भागवत, आध्यात्मिक, अतिमानसिकमें क्या भेद है? २३३अ
'अंदरकी अधिक सत्य वस्तु ३३५
को जब शब्दोंमें कहते.. ४५१
(दे० 'जगत्', 'प्रकाश', 'यंत्र', 'विचार', 'शिक्षा', 'सत्ता', 'सफलता' भी)
सत्यचेतना दे० 'भागवत चेतना'
सत्त्व ३२१
सद्भावना ९६, ४२८, ४३०
सफलता २०, २९, ४२९
मानव जातिको ही प्राप्त हुई है यह सोचनेकी प्रवृत्ति ३५
बाहरी और 'सत्य' २३६-३७, २४३
अंतिम परीक्षा २३६, २३७
को सह सकनेके लिये २३६, २३७
असुर व विरोधी शक्तियोंकी २३८, २४३
(दे० 'चेतना', 'मूल्यांकन' भी)
सभ्यता और मानसिक नियंत्रण ३१२
समझना
का स्थान क्या सिरमें है? ३०८
एक-दूसरेकी बातको ३१५-१६
भिन्न परिवेशसे आये व्यक्तिकी बातको ३१५
पढ़ेको उसी हदतक ३५७
(दे० 'जानना' तथा 'चेतना', 'ध्यान', 'प्रयास', 'भगवती माता', 'श्रीमाताजी' भी)
समय ४३०
लगता है: अंतरात्मासे स्थायी संपर्क पानेमें ३४; भौतिक परिवर्तनमें ३७, १०७; व्यक्ति [illegible] २५७, ३२८; पूर्ण सच्चिदानंद [illegible] कई जीवनोंका, अहंमें [illegible] विकासमें ३२५; अहंको [illegible]
'यह वह घड़ी है जब महान् [illegible] की जाती हैं २६९
अधिक नहीं, की व्यथा जब समाप्त हो जाती है ३२८
लंबे, तक सभी गतिविधियां अपनी ही ओर मुड़ी.. ३३२
'कालका माप ३२८, ४४६
(दे० 'श्रीमाताजी' का परीक्षण भी)
समर्पण १२३, २०४, २१८, २३५, ३३५
शांत, और कृतज्ञतापूर्ण: अंतर ६३-४
पूर्ण, का संकेत १२७-२८, १३१
की वृत्तिका लाभ १३०-३१, २१२-१३
उपाय: अहंसे मुक्तिका १३६-३७
अंधविश्वासी व घृणित १९५
प्रसन्न, सशक्त, सहायक, २०१टि०; व्याख्या २०८-९, २१०-११
उच्चतर प्राण व निम्नतर प्राणका २०२-३
करवा दीजिये' २०६
के प्रकाशमें यदि लिपटे.. २१३
पूर्ण नहीं: संकेत २१३-१४
चेतनाके हर स्तरका: अर्थ २१७अ
तामसिक २१९, २२३

समग्र व सच्चा २३९अ
से पहले तुम्हारा अस्तित्व, तुम्हें व्यष्टिकृत सत्ता, होना चाहिये २५४, २५६
(दे० 'आत्मनिवेदन' तथा 'चुनाव', 'प्रयास', 'प्रेम', 'भगवान्', 'भौतिक चेतना', 'वातावरण', 'श्रद्धा', 'सुख' भी)
समाधि
में जाना बिना संरक्षणके १८९-९०
और जाग्रत अवस्थाकी समस्या ४१६-१७
सरलता २४५, ३०८, ३९३, ४०१
सहन-शक्ति १५५, ३९७, ४३०
सहायता ३२७
भगवान्‌की २३७, ३७९, ४३४, ४४९
भागवत कृपाकी २४०, ३१६-१७
दूसरेकी और अज्ञान ४३९-४०
(दे० 'अभीप्सा', 'पुस्तक', 'भगवान्', 'शरीर' भी)
साक्षी [साक्षी पुरुष] ११७, ३५४, ३६५
का मतलब ३५३, ४१५
मानसिक ४१४अ
(दे० 'शांति', 'सीखना' भी)
साधना ८१, १२७, ३४५
और निरर्थक शब्द-प्रयोग ७५-६
में सक्रियता और निष्क्रियता : अर्थ ११०-११
करना चाहते हो तो कोई निःस्वार्थ काम . . १५१
(दे० 'प्रयास' तथा 'भगवान्' भी)
सापेक्षता ३५२, ४०७, ४०८
साहस ५०, १२०, ४३०
सिद्धांत १३८
[नियम] बनाना ३६३, ४०५
सिर-दर्द ३०५
: इलाज ३०६-७
सीखना २७३, २९३
के लिये, जीवनके क्यों और कैसे-को, हम पृथ्वीपर आये हैं १६-७
छोटी उम्रसे १६, १५१, १५२
[विकास] संवेदनोंके द्वारा ७८-९, ८१-९
'सिखाया नहीं जाता जीवनको ठीकसे जीना १५०-५१
का अवसर हर परिस्थिति, हर वस्तु १५३-५४
अज्ञानी बालकसे भी १५३
निद्रामें, उच्चतर क्षेत्रोंसे १८४
पाठशालामें २५८
का भाव और नमनीयता २९६
अपने बारेमें, साक्षीभावद्वारा ३५३
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)
सुख
'व्यक्तिगत तुष्टियां ४७
समर्पणका २०९, २१३, २४५
गंवारु २९६अ
(दे० 'भागवत आनन्द', 'त्याग' भी)
सुरक्षा [रक्षा, संरक्षण] २००, २१२-१३, २२७, २३१, २५३
सृष्टि
चेतनासे ही उत्पन्न हुई २३
में नयी शक्तिकी अभिव्यक्ति ३२
[विश्व] का हेतु १०२-३, ४१३
दे० 'लक्ष्य' भी

की वापसी कालमें नहीं १०३
-यां पहली छः १६९, १७०
यह सातवीं १६९; प्रगतिशील संतुलनपर आधारित १७०
में अगर प्रत्येक वस्तु ठीक अपने स्थानपर हो . . १७०
बाहरी रूपसे, बाहरी चीजोंसे बनी है, पीछे भागवत शक्तियां २४८अ
में सब कुछ पहलेसे ही नियत है", "सृष्टि हर क्षण नये सिरेसे बनती है" दोनों बातें सच्ची २८०
में नये तत्त्वका संयोजन कैसे? २८१
सच्ची ३२१
में सब भगवान्‌का कार्य ३५१
(दे० 'जगत्', 'विश्व' तथा 'विभाजन' भी)
सेवक और कार्यकर्ता : भेद २६२
सोचना १०२, १०३, ३१०
किसी अन्य वस्तुको, अप्रिय विचारसे मुक्तिके लिये २३, २४
कमी-कदास भगवान् या आत्म-विकासके बारेमें ५७, ३३५, ३९०
शब्दोंमें ९६
बोलकर २२०
की अपनी पद्धति बनाना २५५-५६
तुम्हारा पाचन, हवा, धूप, वर्षा, भूदृश्य . . पर निर्भर २५६
रचनाएं बनाना है २७३, २७५
'बंगाली हृदयसे सोच . . ३०४अ
किसी भी अंगसे : पेटसे, हृदय-से, ऊपर . . ३०५, ३०९
, कल्पना करना, अनुभव करना : समुद्रकी विशालता, आकाशकी अनंतता, पृथ्वीके विस्तार, कालकी शाश्वतताको ३३८-४०
रेखाकारमें ४५०अ
(दे० 'आदत', 'बाणी', 'श्री-माताजी' भी)
सौंदर्य-भावना [सुरुचि] ८५, ८७ और क्रूरता ७१
सौदेबाजी १८१, १८२, २०४
स्थिरता दे० 'शांति'
स्पंदन ३०१
-ोंका आदान-प्रदान २१२, ४३५
अंधकारपूर्ण, को अपने ऊपर ले-कर प्रकाशमय स्पन्दनमें बदल देना २८२अ, २८४, ४३५अ
-ोंका पता है जो बाहरसे आते और जो अंदरसे? ३२९
दूसरेके क्रोधके ३६५अ
को रोको, पीड़ाके ३९८
बाहरसे आते हैं ४०९
बाहरके, का प्रवेश तमी ४१८अ
(दे० 'जानना', 'ध्वनि' भी)
स्मृति [याद रखना]
मानसिक, मस्तिष्कपर निर्भर २१-२, २३
चेतनाके द्वारा २२-३; हजारों वर्ष पहलेका भी? २२अ
(दे० 'कठिनाई', 'द्वार', 'रोग' भी)
स्वप्न
छोटे बच्चोंके ३९

डरावने [दुःस्वप्न] ५५, ७३; में जो वीर योद्धा १९०
में श्रीमाताजीको देखना १४०-४१
प्रतीकात्मक १४१-४२, १४६-४९
में आपने मुझे अपनी बाहोंमें.. १४२, १४६-४७
में आपको रोते देखा १४२-४४
-गत अनुभूतिका मस्तिष्कमें उल्था १४६-४७
पांडिचेरीसे संबंधित १४७-४९
में तीन फूल १४९
आध्यात्मिक प्रतीकवाला और रूपांतर १५५-५६
में निम्न प्राणके लोकोंमें घूमनेवालेको क्या मृत्युके बाद बहुत कष्ट..४३७-३८
(दे० 'उदाहरण', 'कहानी', 'निद्रा', 'भोजन' भी)
स्वभाव और शरीर-रचना १
स्वाधीनता [स्वतंत्रता]
'आत्म-स्वाधीनता : मतलब ३६६
'स्वच्छन्दताकी भावना ३६७
(दे० 'अभीप्सा', 'आश्रम', 'नियतिवाद', 'बालक' भी)
स्वामित्व १०८
अपनेपर १२३
अपनी परिस्थितियोंपर १२३, ४५२
दे० 'परिस्थिति' बाहरी भी
और प्रगति किसी भी कीमतपर का जब निश्चय..३२०, ४३२, ४३३
(दे० 'दुर्घटना', 'शरीर' भी)
स्वार्थ ३५, ४०, २६१
(दे० 'अहं' भी)

ह

हृदय
की गहराईमें, अंदर, पैठो तो . १५९, २६८, २९१
में एकाग्रता, सिरमें एकाग्रतासे क्यों ज्यादा अच्छी ? ३८०-८१
(दे० 'आवेग', 'खोज', 'चैत्यपुरुष', 'संकल्प', 'सोचना' भी)

नामानुक्रमणिका

अलस्टाईन (संत) २१४
इंगरे (चित्रकार) की वायलिन २१
किन्नलिंग ९०
क्यूरी दंपति १९, २०
गणपति (देवता) ६८
गीता (पुस्तक) २४३, २९४
चीन में पीड़ाकी विधियां..७०
जार्दे द प्लांत (पौधेके बगीचे) ४४
थियोसोफी और कर्म-न्याय २
दाविद नील (श्रीमती)
'विचारद्वारा महात्माकी रचना २७४, २८६
नैपोलियन ३०६
पहलेकी बातें (पुस्तक) २६३
पांडिचेरी १४८, १४९, २९२
पैरिस
और काली ६८-९
की सड़क खुली पड़ी देख जर्मन

वापस (महाबुद्ध पहला) ६९
प्रार्थना और ध्यान (पुस्तक) १४३
में कहा है: 'जो होना होगा वह होगा' १५८
बाइबल दे० 'कहानी'
बुद्ध (महात्मा)
इसे 'धर्म' कहते थे २९
बुलेटिन (पत्रिका) ४१
भागवत मुहूर्त (पुस्तक) २६९
भारत ३५
मूसे (भावुक कवि, रोगी-सा) ४
मोरिस माग्र (लेखक) २७५
रवींद्रनाथ ठाकुर २५२, ३०६
रामायण (पुस्तक) १६९
रोदें (मूर्तिकार) दे० 'कहानी'
रोम ९०
लेटर्स आन योग — वोल्यूम २४
से उद्धरण: 'अशुभ व्यक्ति' १८ टि०
विवेकानन्द की 'राजयोग' पुस्तक २९४
वीरमपट्टनम् (मंदिर) दे० 'कहानी'
बैरलिओज ३७५, ३७६
संगीतका अवतार ३७२-७३
शिव के गलेपर काला दाग २८३
श्रीकृष्ण २९४
सली प्रूधोम (फ्रेंच कवि) ४
सेंट-सीन (संगीतकार) ३७३

काली, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, महेश्वरी, श्रीअरविंद, श्रीमाताजीके लिये देखो विषयानुक्रमणिका।

सूची

शिक्षा

२७ जनवरी	'शारीरिक शिक्षा' पर	१
३ फरवरी	'प्राणकी शिक्षा' पर	१०
१० फरवरी	'मनकी शिक्षा' पर	१९
१७ फरवरी	'चैत्य और आध्यात्मिक शिक्षा' पर	२५
२४ फरवरी	" "	३१
३ मार्च	'मृत्युका भय और उसपर विजय पानेकी चार विधियां' पर	३८
१० मार्च	" "	४६
१७ मार्च	'चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति' के पहले भागपर	६३
२४ मार्च	"	७३
३१ मार्च	"	७९
७ अप्रैल	" के दूसरे भागपर	९१
१४ अप्रैल	" के तीसरे भागपर	९८

योगके तत्त्व

२१ अप्रैल	पहले अध्याय "पुकार और योग्यता" और दूसरे अध्याय "आधार" पर	१०७
२८ अप्रैल	तीसरे अध्याय "अभीप्सा" पर	११३
५ मई	चौथे अध्याय "सच्चाई" और पांचवे अध्याय "श्रद्धा" पर	११८
१२ मई	छठे अध्याय "समर्पण" पर	१२६
१९ मई	सातवें अध्याय "प्रेम" पर	१३२
२६ मई	आठवें अध्याय "चैत्य उद्घाटन" पर	१४०
२ जून	नवें अध्याय "अनुभूतियां और अंतर्दृष्टियां" और दसवें अध्याय "काम" पर	१४९
९ जून	ग्यारहवें अध्याय "रूपांतर" पर	१५५
१६ जून	बारहवें अध्याय "विपत्तियां और प्रगति" पर	१६६
२३ जून	तेरहवें अध्याय "सेक्स—भोजन—नींद" पर	१७६
३० जून	चौदहवें अध्याय "कुछ व्याख्याएं" पर	१८७

माता

७ जुलाई	पहले अध्यायपर	२०१
१४ जुलाई	दूसरे अध्यायपर	२१७
२१ जुलाई	तीसरे अध्यायपर	२३३
२८ जुलाई	चौथे अध्यायपर	२४६
४ अगस्त	पांचवें अध्यायपर	२६२
११ अगस्त	छठे अध्यायपर	२६९
१८ अगस्त	"	२७८
२५ अगस्त	"	२८७

योगके आधार

८ सितंबर	अध्याय १ "स्थिरता—शांति—समता" पर	२९९
१५ सितंबर	"	३१०
२२ सितंबर	"	३२०
२९ सितंबर	"	३३२
६ अक्तूबर	"	३४२
१३ अक्तूबर	"	३५३
२० अक्तूबर	"	३६६
३ नवंबर	अध्याय २ "श्रद्धा—अभीप्सा—समर्पण" पर	३७९
१० नवंबर	"	३८४
१७ नवंबर	"	३९१
२४ नवंबर	"	३९९
८ दिसंबर	"	४०८
१५ दिसंबर	"	४१४
२२ दिसंबर	"	४२२
२९ दिसंबर	"	४३४
३१ दिसंबर	नये वर्षकी प्रार्थनापर	४४१